हिन्दू, मुसलमान तथा मानव मात्र का एक ही रास्ता है अहिंसा और संयम

शब्द-10

संतो राह दुनों हम दीठा॥ 1॥
हिन्दू तुरुक हटा नहिं मानें, स्वाद सबन को मीठा॥ 2॥
हिन्दू बरत एकादशि साधे, दूध सिंघारा सेती॥ 3॥
अन्न को त्यागे मन को न हटके, पारन करे सगौती॥ 4॥
तुरुक रोजा निमाज गुजारे, बिसमिल बाँग पुकारे॥ 5॥
इनको बिहिस्त कहाँ से होवै, जो साँझै मुरगी मारे॥ 6॥
हिन्दु की दया मेहर तुरुकन की, दोनों घट से त्यागी॥ 7॥
ई हलाल वै झटका मारें, आग दुनों घर लागी॥ 8॥
हिन्दू तुरुक की एक राह है, सतगुरु सोई लखाई॥ 9॥
कहहिं कबीर सुनो हो संतो, राम न कहूँ खुदाई॥10॥

शब्दार्थ—दीठा=देखा। हटा=रोकना, मना करना। सेती=सहित, द्वारा। हटके=रोके। पारन=पारण, उपवास समाप्त होने पर किया जाने वाला भोजन। सगौती=मांस, गोश्त। तुरुक=तुर्क, तुर्क देश का रहने वाला, तात्पर्य में मुसलमान। गुजारे=अदा करते हैं, पेश करते हैं। बिसमिल=बिस्मिल्लाह—ब-इस्म-अल्लाह, ब=सहित, इस्म=नाम, अल्लाह=ईश्वर—ईश्वर के नाम के सहित, मुसलमान किसी काम के शुरू करने पर बिस्मिल्लाह कहते हैं। इसका अर्थ होता है—शुरू करते हैं ईश्वर के नाम के सहित। बाँग=आवाज, अजान। बिहिस्त=बिहिश्त, स्वर्ग। मेहर=मेह्र, दया। हलाल=विहित, जायज, पशु के गले को रेतकर उसे मारना, ऐसे मृत पशु का मांस मुसलमान जायज मानते हैं। झटका=एक ही बार में पशु का गला काट देना, ऐसे मृत पशु का मांस हिन्दू ग्रहण करना उचित समझते हैं।

भावार्थ—हे संतो! मैंने दोनों के रास्ते देख लिये हैं॥ 1॥ हिन्दू और मुसलमान—दोनों मना करने पर नहीं मानते। दोनों को जीभ का स्वाद मीठा लगता है॥ 2॥ हिन्दू लोग दूध और सिंघाड़ा आदि का हलुवा तथा बहुत-से फल-कंद आदि खाकर एकादशीव्रत रहते हैं॥ 3॥ वे उस दिन अन्न तो त्याग देते हैं, परन्तु अपने मन को गलत मार्ग से नहीं रोकते, और दूसरे दिन पारण में मांस तक खाते हैं॥ 4॥ मुसलमान लोग रमजान के महीने में दिन में खाना छोड़कर रात में खाते हैं। इसे वे रोजा रहना कहते हैं। वे पांच वक्त नमाज पढ़ते हैं। अल्लाह का नाम लेकर मसजिद में बांग पुकारते हैं॥ 5॥ परंतु

इनको स्वर्ग कैसे मिलेगा जब ये रोजा के दिनों में शाम को मुरगी की हत्या कर उसे खा जाते हैं॥ 6॥ हिन्दू लोग दया की बड़ी महिमा गाते हैं और मुसलमान लोग मेहर की बड़ी बड़ाई करते हैं। परंतु इन दोनों ने अपने दिल से दया और मेहरबानी का त्याग कर दिया है॥ 7॥ मुसलमान लोग पशु-पक्षियों के गला रेतकर और हिन्दू लोग एक झटके में मारकर उनकी हत्या कर देते हैं। अतएव दोनों के हृदय तथा मत में निर्दयता एवं बेरहमी की आग लगी है॥ 8॥ यदि निर्दयता, बेरहमी एवं हिंसा-हत्या छोड़ दें तो हिन्दू और मुसलमान का रास्ता एक दया, करुणा एवं प्रेम का है। सच्चा सद्गुरु यही बतलाता है॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो ! इन प्राणियों से अलग न कहीं राम है और न खुदा है। अतएव प्राणिमात्र पर दया एवं मानव मात्र पर प्रेम का भाव रखकर अहिंसा के पथ पर चलना ही धर्म का सच्चा पथ है॥ 10॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने कभी गलत बातों से समझौता नहीं किया। वे एक साथ प्यार तथा फटकार देना जानते हैं। वह कौन-सा धर्म है जिसमें प्राणियों की हत्या की जाये? सद्गुरु कहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दोनों भूल में हैं। कबीर साहेब के सामने सन्दर्भ दो का था। इसका अर्थ यह है कि चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, ईसाई हो या यहूदी, या अन्य, अपने जीभ-स्वाद के लिए या धर्म के नाम पर यदि कोई जीव-हत्या करता है, तो वह धर्म से लाखों कोस दूर है।

रोज-रोज खाते-खाते पेट खराब हो सकता है। इसलिए कभी-कभी किसी-किसी दिन कुछ न खाना पेट को शुद्ध करने के लिए अच्छा तरीका है। साधारण लोग इसका महत्त्व नहीं समझते। इसलिए लोगों ने धर्म का पुट देकर एकादशी आदि व्रत कायम कर दिया, और उसके करने से स्वर्गादि प्राप्ति के बड़े-बड़े फल बता दिये। इसलिए साधारण लोग एकादशी आदि को अन्न छोड़कर व्रत रहने लगे। परन्तु व्रत का लाभ वे न ले सके। उन्होंने उस दिन अन्न तो छोड़ दिया परंतु दूध-सिंघाड़ादि के हलुवा तथा कंद-फल आदि डटकर खाने लगे। कितने लोग व्रत के दिनों में ज्यादा मूल्यवान तथा मात्रा में भी ज्यादा भोजन खाने लगे। उनके डोज की क्वालिटी और क्वांटिटी दोनों बढ़ गयीं। इसलिए पेट शुद्ध होने की अपेक्षा अधिक खराब होने लगा। मनुष्य को पेट शुद्ध करने के लिए जिस दिन उपवास रहना हो, उस दिन कुछ भी नहीं खाना चाहिए। उस दिन केवल जल पीना चाहिए। जल में नींबू का रस या ऋतु के अनुसार एक या दो बार शर्बत लिया जा सकता है।

सच्ची एकादशी तो दस इंद्रियां और ग्यारहवां मन—इन एकादशों को वश में करना है, परंतु लोग यह तो करते नहीं। वे उपवास रहकर पेट को भी

ठीक नहीं रख पाते, बल्कि एकादशी के दिन अल्लमगल्लम खाकर पेट को अधिक खराब कर लेते हैं। और इतना ही नहीं, एकादशी के बाद द्वादशी को सुबह पारण के समय मांस-गोश्त भी गटक जाते हैं। भारत के कुछ क्षेत्र वाले यह पढ़कर चौंक जायेंगे कि क्या कोई हिन्दू पारण में मांस भी खाता है? हां साहब, बिलकुल खाता है। जब देवी-दुर्गा के नाम पर पशु-पक्षियों को काटकर प्रसाद मानकर खाते हैं, तब उन्हें पारण में मांस खाने से क्या परहेज हो सकता है? कबीर साहेब के समय में तो हिन्दुओं में अधिक मांसाहार था। आज भी इसकी कमी नहीं है। हिन्दू-धर्मप्राण नेपाल, भारत के बिहार, बंगाल, उड़ीसा आदि प्रदेश के शुद्ध हिन्दू लोगों में मांस का अधिक प्रचलन है। ब्राह्मणों में यह प्रचलित ही है—"दक्षिणे मातुली कन्या उत्तरे मांसभक्षणम्" भारत के दक्षिण हिस्से में मामा की लड़की से शादी करना तथा उत्तरी भारत में मांस खाना—ब्राह्मणों के लिए वैध है। आदमी को जो मन में भाता है नियम बना लेता है।

सारे व्रत, उपवास तथा बाह्याचार तभी निरर्थक हो जाते हैं जब किसी जीव की हत्या की जाती है। मुसलमानों के रोजा, नमाज, बांग आदि वही निरर्थक हो जाते हैं जब वे मुरगी, बकरी, गाय आदि पर छूरी चलाते हैं। दुनिया के सभी मुसलमान बड़ी खुशी से बकरीद त्योहार मनाते हैं। त्योहार के दूसरे दिन प्रायः सभी समाचार पत्रों में छपता है कि बड़ी खुशी, बड़े अमनचैन एवं शांति के साथ बकरीद मनायी गयी। परन्तु मूक पशुओं की तरफ से कोई समाचार पत्र में यह लिखने वाला नहीं रहता कि बकरीद के दिन संसार में करोड़ों पशुओं की हत्या करके वातावरण को पीड़ा से भर दिया गया। ईश्वर के सामने प्रेम प्रदर्शित करने के लिए मासूम पशुओं की हत्या करना—यह गहरी भूल तथा जंगलीपन आज भी संसार से नहीं गया। जब ईश्वर निहायत रहम वाला है, तब वह बेरहमी के काम से खुश कैसे होगा?

हिन्दुओं, ईसाईयों तथा मुसलमानों की किताबों को पढ़िए तो उनमें दया, प्रेम, अहिंसा, रहम आदि शब्दों की भरमार है। आश्चर्य है कि इनके अनुगामी दया तथा मेहर को एकबारगी तिलांजलि देकर मूक प्राणियों के गले पर छूरी रेतते हैं। छूरी से प्राणियों का गला रेतकर कहते हैं कि यह जायज है। अपने जीभ-स्वाद के लिए जो मूक प्राणियों की हत्या करता है, उसके हृदय में कहां धर्म है? और उसका कल्याण कहां है? जीव-हत्या करने वाले वे चाहे अपने को हिन्दू कहें या मुसलमान, ईसाई कहें या यहूदी या अन्य कुछ, न उनमें धर्म है, न उनका कल्याण है। वे पतनपथ में हैं; क्योंकि उनके हृदय में निर्दयता की आग लगी है।

सद्गुरु कहते हैं कि हिन्दू-मुसलमान आदि सबका रास्ता एक है दया, करुणा, प्रेम, मानवता। सभी मानव मुख से खाते हैं, आंख से देखते हैं, कान से सुनते हैं, पैर से चलते हैं और हाथ से काम करते हैं। क्या कोई कान से देखेगा या आंख से सुनेगा? जल-भोजन प्राणिमात्र की प्यास तथा भूख के निवारण करने के लिए समान आवश्यक हैं। रोग लगने पर दवाई सबको चाहिए। इसी प्रकार मानसिक शांति के लिए दया, करुणा, अहिंसा, मानवता सबके लिए समान आवश्यक हैं। मन के उलझाव से सबको दुख होता है तथा मन के सुलझाव से सबको सुख होता है। पर-हिंसा तथा आत्म-असंयम से ही मन उलझता है और अहिंसा तथा संयम से मन सुलझता है। मानव मात्र के लिए यह नियम लागू है। अतएव मानव मात्र का रास्ता एक है। वे औपचारिकतों एवं बाह्याचार कुछ भी करें, परंतु बुनियादी बातें सब में एक ही होंगी। कबीर देव कहते हैं कि मानव मात्र के लिए कल्याण का रास्ता एक है अहिंसा और संयम। किसी परम्परा का हो, सच्चा सद्गुरु यही बतायेगा। जीवन में अहिंसा तथा संयम न हो, तो बाह्याचार केवल ढकोसला एवं पाखंड बनकर रह जाता है।

"कहहिं कबीर सुनो हो संतो, राम न कहूँ खुदाई।" इस पंक्ति का भाव अत्यन्त क्रांतिकारी और परम सत्य है। लोग प्राणियों से अलग ईश्वर, खुदा, अल्लाह, देवी, देवता मानकर उनकी प्रार्थना करते हैं, पूजा करने का उपक्रम करते हैं और प्रत्यक्ष प्राणधारियों की हत्या करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि तुम्हें प्राणधारियों में तो देव तथा ईश्वर नहीं दिखाई देते, इसलिए उनका वध करते हो, और शून्य में तथा पत्थरों में देव तथा ईश्वर दिखाई देते हैं और उन्हें पूजते हो। यह तुम्हारी भूल है। जो शून्य और पत्थर में देव तथा ईश्वर देख ले और चलते-फिरते प्राणियों में देव तथा ईश्वर न देख सके, वह कितने गहरे भ्रम में है, यह सहज समझा जा सकता है। कबीर साहेब कहते हैं कि इन प्राणियों से अलग न कहीं राम है और न खुदा है। यदि तुम राम, खुदा या देवता की पूजा करना चाहते हो तो प्राणिमात्र पर दया तथा मेहरबानी का व्यवहार करो। यही परम धर्म है और यही देव तथा ईश्वर की पूजा है।

पूजा के नाम पर हत्या करने वाले पुरोहितों की भर्त्सना

शब्द-11

सन्तो पाँड़े निपुण कसाई॥ 1॥
बकरा मारि भैंसा पर धावैं, दिल में दर्द न आई॥ 2॥
करि स्नान तिलक दै बैठे, विधि सों देवि पुजाई॥ 3॥

आतमराम पलक में बिनसे, रुधिर की नदी बहाई॥ 4॥
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये, सभा माहिं अधिकाई॥ 5॥
इन्हते दीक्षा सब कोइ माँगे, हँसी आवै मोहि भाई॥ 6॥
पाप कटन को कथा सुनावैं, कर्म करावैं नीचा॥ 7॥
हम तो दूनों परस्पर देखा, यम लाये हैं धोखा॥ 8॥
गाय बधे ते तुरुक कहिये, इनते वै क्या छोटे॥ 9॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, कलिमा ब्राह्मण खोटे॥10॥

शब्दार्थ—पाँड़े=पांडेय, ब्राह्मणों की एक उपाधि, तात्पर्य में ब्राह्मण-पुरोहित। निपुण=चतुर। दर्द=पीड़ा, दया। अधिकाई=विशेषता। दीक्षा=मंत्र। कलिमा=कलियुग में। खोटे=बुरे।

भावार्थ—हे सन्तो ! धर्म के नाम पर जीव हत्या करने वाले ब्राह्मण-पुरोहित चतुर कसाई हैं॥ 1॥ ये बकरों की बलि देकर भैंसों पर भी टूट पड़ते हैं। इनके हृदय में दया नाम का भाव नहीं है॥ 2॥ ये लोग स्नान करते हैं, तिलक लगाते हैं और देव-मंदिर में बैठकर विधि-विधानपूर्वक देवी की पूजा करते हैं॥ 3॥ परन्तु क्षण मात्र में बलि के नाम पर जीवों की हत्या कर देते हैं और रक्त की नदी बहाने लगते हैं॥ 4॥ इनको लोग अत्यंत पवित्र तथा उच्च कुलोत्पन्न मानते हैं। सभा में इनकी बड़ी विशेषता मानी जाती है॥ 5॥ सब लोग इनसे दीक्षा-मंत्र मांगते हैं। परन्तु हे भाई, मुझे तो इस अंधविश्वास एवं अज्ञान पर हंसी आती है॥ 6॥ ये यजमानों के पाप कटने के लिए उन्हें कथा सुनाते हैं और उनसे कर्म कराते हैं नीच हिंसा का। एक तरफ इनकी धर्मकथा और दूसरी तरफ धर्म के नाम पर जीव-वध की बात देखते हुए लगता है कि ये हिंसक पुरोहित यमराज हैं और धर्म-कथा रूपी धोखे की टट्टी लगाकर उसकी आड़ में हत्या करते-कराते हैं तथा जनसमाज को नरकवास में ले जाने का बंदोबस्त करते हैं॥ 7-8॥ मुसलमान गाय का वध करते हैं। इसलिए उनसे घृणा कर उन्हें तुर्क कहा जाता है। परन्तु क्या ये हिंसक पंडित तुर्कों से कम हैं ! राम कहो, पूरे तुर्किया ब्राह्मण हैं॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो ! कलिकाल में ब्राह्मण नामधारी लोग नीचकर्मी हो गये हैं॥ 10॥

व्याख्या—कबीर साहेब के समय में ब्राह्मण नामधारी पुरोहितों में बलि के नाम पर जीव-वध का अधिक प्रचलन था। आज विक्रम की इक्कीसवीं शताब्दी में ब्राह्मणों में इसका प्रचलन बहुत कम हो गया है, परन्तु समाप्त नहीं हुआ है। अभी भी भारत तथा सर्वाधिक हिन्दू धर्मप्राण नेपाल में देवी-देवता के नाम पर ब्राह्मण-पुरोहितों द्वारा बराबर जीव-हत्या की जाती है। प्राणियों के अलावा देवी-देवता, भगवान-भवानी की कोई सत्ता नहीं है। फिर इन झूठे

देवी-देवताओं को खुश करने के भ्रम में पड़कर जीवों का वध करना घोर अविवेक नहीं तो क्या है ! दुर्जन-तोष न्याय मान भी लें कि देवी-देवता तथा भगवान-भवानी होते हैं तो क्या वे क्रूर जानवर हैं, जो पशु-पक्षी की बलि चाहते हैं।

प्रज्ञा से पंडा तथा पंडा से पांडेय शब्द बना हुआ है। प्रज्ञा का अर्थ है बुद्धि, मति या विवेक। पंडा का भी यही अर्थ है। सत्य-असत्य का विवेक करने वाली बुद्धि ही पंडा है। जिसकी बुद्धि पंडा है वह पंडित है। पंडा से ही पाण्डेय शब्द बना। पांडेय का ही अपभ्रंश पांडे है, जो ब्राह्मण नामधारियों के एक वर्ग की उपाधि है। ब्राह्मणों में शुक्ल, तिवारी, द्विवेदी, मिश्र आदि बहुत उपाधियां हैं। यहां कबीर साहेब ने पांडे शब्द ही को क्यों चुना? क्या वे केवल पांडे नामधारी को ही कहते हैं, शुक्ल, तिवारी आदि को नहीं कहते? ऐसी बात नहीं है। वे यहां उस हर ब्राह्मण-पुरोहित को कहते हैं जो देवी-देवताओं के नाम पर जीव-वध करता-कराता है। ब्राह्मण पुरोहितों को गर्व है कि हम पण्डित हैं, विवेकी हैं और बुद्धि-विवेकपूर्वक काम करते हैं। इसलिए मानो कबीर साहेब विवेक-व्यंजक पांडेय शब्द को चुनकर जनभाषा में उन्हें संबोधित करते हैं कि तुम अपनी प्रज्ञा-पंडा एवं विवेक-बुद्धि की परख तो करो ! क्या यही विवेक है कि कल्पित देवी-देवताओं के नाम पर मूक पशु-पक्षियों पर छूरी चलाओ ! हां, तुम्हारी प्रज्ञा-पंडा एवं पांडित्य इसमें अवश्य सफल है कि तुम निपुण कसाई हो। तुम हत्यारे होकर भी पूज्य बने रहते हो, यह तुम्हारा धार्मिक हथकंडा सफल है।

भारत और नेपाल के अनेक देवस्थानों में देखा जा सकता है कि वहां चोटी तथा जनेऊधारी पंडित बैठे बलि-पशुओं को पूत-मन्त्रों से अभिषिक्त कर उनका वध कर रहे हैं। बकरे मार रहे हैं, भैंसे मार रहे हैं। ऐसे देवस्थान बूचड़खाना बने हैं। दयालु मनुष्य का वहां ठहरना कठिन है। ये प्रज्ञावान पुरोहित आतमराम की पल में हत्या कर देते हैं। कबीर साहेब ने "आतमराम पलक में बिनसे, रुधिर की नदी बहाई।" इस पंक्ति में 'आतमराम' शब्द का प्रयोग जान-बूझकर किया है। सब जीव ही तो रामरूप हैं और सजाति होने से वे आत्मारूप ही हैं। इतनी भी अक्ल जो नहीं रखता है उसे पंडित कहा जाये तो मूर्ख किसे कहा जाये !

अगली पांचवीं तथा छठीं पंक्ति में कबीर साहेब ऐसे ब्राह्मण नामधारियों पर करारा व्यंग्य करते हुए मार्मिक वचन कहते हैं कि इन्हें बड़ा पवित्र और ऊंचे कुल का कहना चाहिए। सभाओं में इनको ऊंचा स्थान देना चाहिए।

इनसे लोग दीक्षा-मन्त्र लेकर अपना उद्धार भी चाहते हैं, परन्तु मुझे तो हंसी आती है। जिनमें दया छू नहीं गयी है, जो इतनी भी अक्ल नहीं रखता कि देव तो चेतन प्राणी है, पत्थर की पिंडी देवता नहीं होती और चेतन को मारकर जड़ की पूजा अक्ल का और दीवाला निकल जाना है। ऐसे गंदे विचार तथा गंदे कर्म वाले लोग पवित्र, श्रेष्ठ तथा पूज्य कैसे हैं? ऐसे लोगों द्वारा किसी का उद्धार कैसे होगा? फिर भी मूढ़ और अंधविश्वासी जनता इनसे अपना कल्याण चाहती है। कितनी हास्यास्पद है यह स्थिति?

कबीर साहेब ऐसे धार्मिक हत्यारों को यम कहते हैं। यमराज बन्धनप्रद वासना का एक प्रतीकात्मक नाम है। यमराज वह है जो जीव को बांधकर नरक में डाल दे। धर्म के नाम पर जीव-वध करने तथा कराने वाले तथाकथित धार्मिक पुरोहित यमराज हैं। ये एक तरफ पाप काटने के लिए कथा सुनाते हैं और दूसरी तरफ जीवहत्या रूपी नीच कर्म कराते हैं। ये धर्म के धोखे में फंसाकर जीवों को नरक में ढकेलने वाले हैं। सद्गुरु हत्या करने वाले ब्राह्मण-पुरोहितों को गो-घातक तुर्कों के समकक्ष रखकर इन पर करारा व्यंग्य करते हैं, "गाय बधे ते तुरुक कहिये, इनते वै क्या छोटे।" वही कसाई है जो दूसरे का गला काटे, अब चाहे बकरे का गला काटे, भैंसे का गला काटे या गाय का गला काटे अथवा अन्य प्राणी का।

ध्यान रहे, सद्गुरु ने सभी ब्राह्मणों, पण्डितों एवं सभी पांडेय लोगों को कसाई या खोटे नहीं कहा है। जो लोग जीव-वध करते हैं उन्हीं को कसाई कहा है जो एक वास्तविकता है। कबीर साहेब सच्चे पंडितों का आदर करते हैं। कुछ उदाहरण लें—

पंडित सो बोलिये हितकारी। मूरख सो रहिये झखमारी॥ (रमैनी 70), कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय बिचारा। (शब्द 53), कहहिं कबीर सुनो तो संतो, बूझो पण्डित ज्ञानी। (शब्द 94)।

नाना मातों के भक्तों की मस्ती

शब्द-12

सन्तो मते मातु जन रंगी॥ 1॥
पियत पियाला प्रेम सुधारस, मतवाले सत्संगी॥ 2॥
अर्धे उर्धे भाठी रोपिनि, लेत कसारस गारी॥ 3॥
मूँदे मदन काटि कर्म कस्मल, सन्तति चुवत अगारी॥ 4॥
गोरख दत्त वशिष्ठ व्यास कपि, नारद शुक मुनि जोरी॥ 5॥
बैठे सभा शम्भु सनकादिक, तहाँ फिरै अधर कटोरी॥ 6॥

अम्बरीष औ याज्ञ जनक जड़, शेष सहस मुख फाना॥ 7॥
कहाँ लौं गनौं अनन्त कोटि लौं, अमहल महल दिवाना॥ 8॥
ध्रुव प्रहलाद विभीषण माते, माती शेवरी नारी॥ 9॥
निर्गुण ब्रह्म माते वृन्दावन, अजहूँ लागु खुमारी॥10॥
सुर नर मुनि यति पीर औलिया, जिन रे पिया तिन जाना॥11॥
कहैं कबीर गूँगे की शक्कर, क्यों कर करे बखाना॥12॥

शब्दार्थ—मते=नाना मतों में। मातु=मतवाला होना। जन रंगी=भक्त एवं ज्ञानी जन। अर्धे=पिंड, शरीर का निचला हिस्सा। उर्धे=ब्रह्मांड, शिरोभाग। भाठी=मदिरा बनाने का चूल्हा या स्थान। कसारस=कषायरस, सुगन्धयुक्त रस, परिपक्व रस। गारी=निचोड़ना। मूँदे=दमन। मदन=काम। कर्मकस्मल= कर्मकश्मल, कर्म संस्कारों की मूर्च्छा, मोह। सन्तति=संतत, निरंतर। अगारी=आगे, अंतःकरण में। दत्त=दत्तात्रेय। कपि=हनुमान। शुक=शुकदेव। याज्ञ=याज्ञवल्क्य। जड़=जड़भरत। शेष=शेषनाग। अमहल=त्यागी। महल= गृहस्थी। खुमारी=नशा। यति=त्यागी। पीर=मुसलिम गुरु। औलिया= मुसलमानों के सिद्ध संत।

भावार्थ—हे सन्तो! भक्त एवं ज्ञानी जन अपने-अपने मतानुसार आध्यात्मिक विचारों में मतवाले हैं॥ 1॥ वे मतवाले सत्संगी प्रेम-अमृत-रस के प्याले छकते हैं॥ 2॥ वे साधक जन शरीर के निचले तथा ऊपरी भाग को मानो भट्ठी बनाकर अनुभव का परिपक्व रस निचोड़ लेते हैं॥ 3॥ वे काम को जीत लेते हैं और कर्मसंस्कारों की मूर्च्छा तथा मोह को काटकर निर्मल हो जाते हैं। उनके हृदय में निरंतर अनुभव का अमृतरस चूता रहता है॥ 4॥ इस अध्यात्म के अमृतरस को चखने के लिए गोरखनाथ, दत्तात्रेय, वसिष्ठ, वेदव्यास, हनुमान, नारद, शुकदेव, मुनिजन, शिव, सनकादि सभा में जुड़कर बैठ चुके हैं और उनके होठों पर वह अमृत-रस की प्रेम-कटोरी फिर चुकी है॥ 5-6॥ इतना ही नहीं, अंबरीष, याज्ञवल्क्य, विदेहीजनक, जड़भरत, हजार मुख एवं फण वाले शेषनाग—कहां तक गिनाया जाये, असंख्य करोड़ तक त्यागी और गृहस्थ इस अध्यात्म अमृतरस को पीने के लिए दीवाने हुए॥ 7-8॥ ध्रुव, प्रहलाद और विभीषण भी मतवाले बने, शबरी नारी भी मतवाली बनी॥ 9॥ निर्गुण ब्रह्म ही ने सगुण साकार कृष्ण बनकर वृन्दावन में गोपियों के साथ रास किया है—ऐसा मानकर माधुर्य-भक्ति के रसिक आज भी वृन्दावन में मतवाले बने घूमते हैं और इनको सदैव नशा चढ़ा रहता है॥ 10॥ देव, मनुष्य, मुनि, त्यागी, पीर, औलिया—जिसने भी इस भक्तिरस एवं अनुभवरस को पिया है वही उसका स्वाद जान सका है॥ 11॥ सद्गुरु

कहते हैं कि यदि गूंगा शक्कर खाये तो वह उसके स्वाद की व्याख्या कैसे कर सकेगा !॥ 12॥

व्याख्या—संसार में कुछ सात्त्विक संस्कार के जीव होते हैं। उन्हें विषय-भोगों में आनन्द नहीं लगता। इन्द्रियों के विषय-भोग क्षणिक हैं। इनमें गंभीर समझ वाले व्यक्ति नहीं रमते। वे दृश्यमान भोगों से विरक्त होकर अविनाशी सुख खोजते हैं। इन्हीं को अध्यात्म-पथ-गामी कहा जाता है। इनमें अनेक देश, क्षेत्र, भाषा, काल, मान्यता एवं संस्कार वाले साधक होते हैं। इसलिए इनकी मान्यताओं तथा बाह्याचारों में काफी अन्तर रहता है और कहीं-कहीं परस्पर विरोध भी रहता है। परन्तु ये सभी अध्यात्म-पथ के रसिक अपनी-अपनी समझ के अनुसार जड़प्रकृति से भिन्न अविनाशी तत्त्व एवं चिरंतन सुख की खोज में रहते हैं।

इन नाना मतों के अध्यात्म-रसिकों को सद्गुरु कबीर ने यहां एक ही शब्द में पिरोकर उनके आध्यात्मिक मतवालेपन का रोचक एवं सामंजस्यपूर्ण वर्णन किया है। सद्गुरु कहते हैं कि प्रेम सुधारस के प्याले छकने वाले मतवाले सत्संगी संसारियों के लक्षणों से अलग होते हैं। चाहे जिस मत के साधक हों, उनका यह सार्वभौमिक लक्षण होता है कि वे विषयों से विरत होते हैं और प्राणिमात्र को आत्माराम मानकर सबके साथ प्रेम का व्यवहार करते हैं। इस लक्षण के परिपाक में परमार्थ-लाभ तो होता ही है, व्यावहारिक जीवन भी इसी में समुज्ज्वल होता है तथा इसी लक्षण में धरती स्वर्ग बन सकती है। भूमंडल के किसी कोने का, किसी देश का, किसी काल का, किसी भाषा का एवं किसी मान्यता का साधक हो, यदि सच्चा साधक है तो वह भोगों का त्यागी होगा ही। जो भोगों का त्यागी होगा, वह विश्वप्रेम का स्वरूप होगा। रागी भोगी-मोही होता है, त्यागी प्रेमी होता है। इसलिए यहां सद्गुरु ने उक्त साधकों को "पियत पियाला प्रेम सुधारस, मतवाले सत्संगी" कहकर उनको प्रदर्शित किया है।

यहां प्रेम में मतवाला होने की बात है। मदिरा पीने से ही लोग मतवाले होते हैं। यहां प्रेम की मदिरा है। मदिरा बनाने की अपनी विधि होती है। रूपकों द्वारा अपनी बातें कहने में माहिर कबीर साहेब यहां कैसे चूक जाते कि वे मदिरा बनाने का रूपक न कहते। मदिरा बनाने के लिए भट्ठी बनायी जाती है। सड़ाया हुआ महुआ हंडी में भरकर तथा उसके मुख को बन्दकर भट्ठी पर रख दिया जाता है। उस हंडी में एक छेद कर एक नली लगा दी जाती है जिसका दूसरा सिरा दूसरी हंडी में पहुंचा दिया जाता है। भट्ठी में मंद-मंद आंच दी जाती है, अतः महुआ का रस भाप बनकर नली द्वारा दूसरी हंडी में इकट्ठा होता जाता है। यही मदिरा है।

"अर्धे उर्धे भाठी रोपिनि, लेत कसारस गारी। मूंदे मदन काटि कर्म कस्मल, सन्तति चुवत अगारी।" इन पंक्तियों में सद्गुरु कहते हैं कि साधक जन शरीर के निचले तथा ऊपरी हिस्से को मानो भट्ठी बना लेते हैं। वे कर्मसंस्कारों के सम्मोह रूपी महुआ को सड़ाकर अर्थात उसे जीर्ण कर तथा मन रूपी हंडी में भरकर और उसके काम रूपी मुंह को बन्दकर भट्ठी पर चढ़ा देते हैं और ज्ञान, भक्ति एवं वैराग्य-रूपी अग्नि प्रज्वलित कर उसके परिपाक रस-प्रेमसुधारस को निचोड़ लेते हैं। उत्तम महुआ का रस जैसे नली द्वारा दूसरी हंडी में निरंतर गिरता रहता है, वैसे ज्ञान, भक्ति तथा वैराग्य की अग्नि से प्रदीप्त अंतःकरण में सदैव प्रेमसुधारस एवं अनुभवरस टपकता रहता है। 'सन्तति चुवत अगारी' में मालूम होता है 'सन्तत' का ही कभी किसी लिपिकार की भूल से संतति हो गया है। संतत का अर्थ निरंतर एवं लगातार है और संतति का अर्थ संतान है। यह संतति संतत ही है। वैसे संतति शब्द का शाब्दिक अर्थ लेने पर संतान एवं शिष्य हो जायेगा। अर्थात अनुभवी गुरुओं के आगे बहुत-से शिष्य-प्रशिष्यों का विस्तार होता जाता है। परन्तु संतत-निरंतर अर्थ ही यहां उपयुक्त है।

ज्ञानी, भक्तों एवं साधकों को प्रेम-मदिरा निचोड़ने के लिए शरीर ही भट्ठी है। वे इस शरीर को साधना में कसकर, इसके एक-एक क्षण का दोहन कर मन को साध लेते हैं। जो साधक अपनी अधोगामिनी ऊर्जा को ऊर्ध्वगामिनी बना लेता है, विषयासक्ति से सर्वथा निवृत्त होकर अविनाशी तत्त्व-बोध में रम जाता है वह मानो जीवन के कषायरस को गार लेता है। कषाय का अर्थ कसैला तथा गन्दा भी होता है और सुगंधयुक्त एवं परिपाक-रस भी होता है। यहां अर्थ सुगंधयुक्त एवं परिपाक-रस है। साधक शरीर एवं मन को साधकर जीवन का परिपाक-रस गार लेता है। सर्वत्र अनासक्त होकर तथा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' जानकर प्रेम में छके रहना ही तो जीवन का रस है। यही वह मदिरा है जिसे पीकर साधक मतवाले रहते हैं। संसार के साधक, भक्तों एवं सन्तों पर दृष्टि दौड़ाइए, देखिए उनके लिए घर और वन, अपना और पराया बराबर हो गया है। जगत से निर्मोह हुए वे मानवता एवं प्रेम के दीवाने, मानवता के लिए समर्पित हो गये। उन्होंने 'मूंदे मदन काटि कर्म कस्मल' मदन का दमन कर दिया है। उनकी कामवासना निवृत्त हो जाती है। काम की तरफ बहने वाली उनकी ऊर्जा राम में लग जाती है। जो मन विषय-चिंतन एवं काम-चिंतन करता था, वही अब राम-चिंतन करने लगता है। जब चित्त निष्काम हो गया, उसमें राम-चिंतन का प्रवाह चलने लगा तब इसकी स्वाभाविक परिणति होती है कर्म-कश्मल का छिन्न हो जाना। कश्मल का अर्थ है मूर्च्छा, सम्मोहन। पाप-पुण्य कर्म-संस्कारों के ही मूर्च्छा एवं

सम्मोहन होते हैं, जिसमें मनुष्य सदैव तंद्रित रहता है। जब यह सम्मोह छंट जाता है, तब मन के सामने निरंतर दिव्य अनुभव-रस टपकने लगता है। वह विषय-रस से मुक्त होकर आत्म-अनुभव-रस में सदैव लीन रहता है। गोरख, दत्तात्रेय, वसिष्ठ, व्यास, हनुमान, शुकदेव, मुनिगण, शिव, सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार, अम्बरीष, याज्ञवल्क्य, जनक, जड़भरत, शेषनाग, ध्रुव, प्रहलाद, विभीषण, शबरी, विवेकी—स्वरूप-चिंतक, भावुक माधुर्य भक्ति-रसिक, सुर, नर, मुनि, यति, पीर, औलिया आदि सभी परमार्थ-प्रेमी अपने-अपने ढंग से इस अमृत-रस, प्रेम-रस, परमार्थ-पियूष के प्रेमी रहे हैं। इन उम्मीदवारों में से जिसने जितनी गहराई में पहुंचकर इस सुधा-रस को जितना पिया हो वही जान सकता है। गूंगे के शक्कर खाने न्याय इसका स्वयं ही अनुभव किया जा सकता है, ज्यों-का-त्यों बताया नहीं जा सकता।

संसार के जितने भक्त, साधक, योगी, ज्ञानी, साधु, संत आदि हुए हैं अपनी-अपनी सूझ-बूझ के अनुसार सब परमार्थ-पथ के पथिक रहे हैं। जितने उच्च कोटि के साधक हुए हैं उनकी सूझ-बूझ अलग-अलग होने से उनकी मान्यताओं में कम तथा ज्यादा अन्तर अवश्य रहा है, परन्तु वे सब अपने साधना-पथ में तीव्र लगन वाले रहे हैं। गोरखनाथ योग के विरही; दत्तात्रेय, जड़भरत अवधूत; शुकदेव, सनकादि, जनकादि ब्रह्मज्ञान के मतवाले; हनुमान, नारद, अंबरीष, ध्रुव, प्रह्लाद, शबरी आदि भक्ति-भाव में मतवाले; वसिष्ठ, व्यास, याज्ञवल्क्यादि विद्या द्वारा तत्त्वचिंतक। इसी प्रकार अन्य भी अपने-अपने पथ में दीवाने थे।

किसने कितना सत्य को पाया यह अलग विषय है। व्यक्ति का अपना चेतन स्वरूप ही परम सत्य है। विषयों को त्यागकर जो अपने चेतन स्वरूप में स्थित हुआ, वही वास्तविकता को पाया। जो इसको न समझकर अपने लक्ष्य को बाहर खोजता रहा, वह भटकता रहा। परन्तु जो बाहर भटकने वालों में अपनी भावना एवं अपने मत में मतवाले थे वे भी स्थूल विषय-वासनाओं के जंजाल से मुक्त होकर किसी अविनाशी तत्त्व की भावना में ही लगे रहे, भले ही वह काल्पनिक रहा हो। काली अपने आप में कुछ नहीं है। केवल काल्पनिक देवी है, परन्तु उसकी भावना में मतवाले हो श्री रामकृष्ण परमहंस वैराग्य में मस्त रहे। राम, कृष्ण, ईसा आदि कभी हुए होंगे। हजारों वर्ष उनके बीते हो गये। वे आज हमारा कुछ भी सहयोग नहीं कर सकते। हम उनके जीवनादर्श एवं पवित्र वचनों से प्रेरणा लेकर अपने जीवन-सुधार में सहयोग ले सकते हैं। परन्तु उनकी भावना में मतवाले हजारों साधक सांसारिक उलझनों से रहित होकर अपने मत में मतवाले हैं। वे सदाचार में लगे हुए संसार को भी कुछ सदाचार की सुगन्धी बांटते हैं।

भावनाओं में लोग किस प्रकार मतवाले हो जाते हैं, इसके लिए यहां एक उदाहरण काफी होगा। ईसा की लगभग सोलहवीं शताब्दी में बंगाल के फरीदपुर जिले के कोटालपाड़ा ग्राम के प्रमोदन सुन्दर ब्राह्मण के पुत्र कमलनयन हुए हैं। उन्होंने नवद्वीप के हरिराम वागीश से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया और काशी जाकर दंडी स्वामी श्री विश्वेश्वराश्रम से वेदांत पढ़ा और वहीं संन्यास ले लिया। संन्यास का नाम पड़ा 'मधुसूदन सरस्वती'। उन्होंने अद्वैतसिद्धि, सिद्धान्तविंदु, वेदान्तकल्पलतिका, अद्वैतरत्नरक्षण, गीता एवं भागवत की व्याख्या तथा प्रस्थान भेद लिखे। वे शास्त्रार्थ के बड़े रसिक थे। शास्त्रार्थ कर पण्डितों को हराते रहते थे। एक वृद्ध दिगंबर परमहंस संन्यासी से प्रेरणा पाकर शास्त्रार्थ छोड़कर श्री कृष्ण के भक्त हो गये। तो श्री कृष्ण की भक्ति में इतने मतवाले हुए कि उनकी दिशा ही बदल गयी। वे कहते हैं—

"ध्यान के अभ्यास से जिनका चित्त वश में हो गया है, वे योगी यदि उस निर्गुण और निष्क्रिय परम ज्योति को देखते हैं, तो देखा करें। हमारे नेत्रों को तो यमुनापुलिनविहारी नीले तेजवाला सांवरा ही चिरकाल तक सुख पहुंचाता रहे।[1] जिसके हाथों में वंशी सुशोभित है, जो नव-नील-नीरद-सुन्दर हैं, पीतांबर पहने हैं, जिसके ओठ बिंबफल के समान लाल हैं, जिसका मुखमंडल पूर्ण चन्द्र के सदृश और जिसके नेत्र कमलवत हैं, उस श्री कृष्ण से परे तत्त्व हो तो मैं उसे नहीं जानता।[2] प्रमाणों से निर्णय दिये हुए श्री कृष्ण के अद्भुत माहात्म्य को जो मूढ़ नहीं सह सकते, वे नरकगामी होंगे।[3] यह ठीक है कि अद्वैतज्ञान के मार्ग पर चलने वाले मुमुक्षु मेरी उपासना करते हैं, यह भी ठीक है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्तकर मैं स्वराज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हो चुका हूं, किन्तु क्या करूं, एक कोई गोपवधुओं का प्रेमी शठ है, उसी हरि ने बलपूर्वक मुझे अपना दास बना लिया है।"[4]

---

1. ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते। अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति॥
2. वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
   पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥
   (मधुसूदन, गीता तेरहवें अध्याय के शुरू में)
3. प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम्।
   न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः॥ (मधुसूदन, गीता पंद्रहवें अध्याय के अंत में)
4. अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
   शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥
   (भक्त चरितांक, पृ. 493-494, वर्ष 26, सन् 1952, गीता प्रेस, टीका सहित)

मधुसूदन सरस्वती जैसे श्री कृष्ण के अलावा कोई परमतत्त्व नहीं जानते, वही भोलापन की दशा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की है। वे कहते हैं—"हे राम, क्या तुम मानव हो? क्या तुम सर्वत्र व्याप्त ईश्वर नहीं हो? यदि तुम ईश्वर नहीं हो तो मैं निरीश्वर हूं। मुझे ईश्वर क्षमा करे। तुम नहीं रमते हो तो मेरा मन तुम में रमा करे।"[1]

मधुसूदन सरस्वती अपने समय में लब्धप्रतिष्ठ विद्वान और संन्यासी थे। परन्तु उनका अपने मत का मतवालापन कितना अद्भुत था। इसीलिए तो कबीर देव कहते हैं "निर्गुण ब्रह्म माते वृन्दावन, अजहूँ लागु खुमारी।" श्री कृष्ण को निर्गुण ब्रह्म का ही सगुण रूप मानकर उनकी भावना में लोग वृन्दावन में आज भी मतवाले बने रहते हैं। यह नशा आज भी नहीं उतरता।

इस शब्द में आये हुए नामों के जीवन-परिचय इस प्रकार हैं—

गोरखनाथ या गोरक्षनाथ

विक्रम की दसवीं शताब्दी में पैदा हुए नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक एक प्रसिद्ध योगी महात्मा। इनके बनाये हुए हिन्दी और संस्कृत ग्रन्थ हैं। चौरासी सिद्धों तथा नौ नाथों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। चौरासी सिद्धों के नाम दो सौ पचपनवीं साखी की टीका में हैं। नौ नाथों के नाम ये हैं—मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, जालन्धरनाथ, चर्पटनाथ, मंगलनाथ, चम्बानाथ, घग्घूनाथ, प्राणनाथ और गोपीनाथ।

दत्तात्रेय

ये भागवत के अनुसार एक ब्रह्मज्ञानी थे। ये अत्रि के पुत्र अनसूया के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। इनके विषय में भी लोगों ने अवतार होने की कल्पना की है। भागवत के अनुसार इन्होंने चौबीस गुरु किये थे।

वसिष्ठ

एक बार उर्वशी को वरुणालय में क्रीड़ा करते हुए देखकर मित्र-वरुण दोनों देवता कामपीड़ित हो गये। एक घड़े में उन दोनों ने वीर्यपात कर दिये। उसमें से पहले अगस्त्य पीछे वसिष्ठ पैदा हुए (वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड 55वां सर्ग)।

---

1. राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर, ईश्वर क्षमा करे।
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे॥ साकेत॥

घड़े से उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव है, वास्तव में उर्वशी से उत्पन्न हुए होंगे।

हिन्दू धर्म के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में साफ लिखा है कि मित्र, वरुण तथा उर्वशी अप्सरा से वसिष्ठ जी पैदा हुए (ऋग्वेद 7/33/11)। वसिष्ठ जी प्रसिद्ध श्री राम जी के गुरु थे।

व्यास

धीमर की कन्या सत्यवती नाव खे रही थी। वहां पराशरमुनि पहुंच गये। वे सत्यवती को देखकर आसक्त हो गये। उन्होंने उससे अपनी कामना की बात कही। उसने कहा—महाराज! चारों ओर मनुष्य घूम रहे हैं, दिन में ही यह बरताव कैसे होगा? झट पराशर ने कोहरा पैदा कर दिया और चारों ओर अंधेरा छा गया। पराशर से सत्यवती ने कहा—महाराज! ऐसा करने से मेरा कौमार्य नष्ट हो जायेगा। पराशर ने कहा—तेरा कौमार्य नष्ट नहीं होगा, तू जो चाहे वर मांग। उसने कहा मेरे शरीर से मछली की-सी गंध आ रही है वह न आये। मुनि ने कहा ऐसा ही होगा। अतः उसी समय से सत्यवती का शरीर सुगंध से पूर्ण हो गया और उसका नाम गन्धवती से योजनगंधा पड़ा। उसके शरीर से चारों ओर सुगंधी बिखरने लगी। फिर पराशर ने अपनी मनोकामना उससे पूरी की; फलतः योजनगन्धा के गर्भ से व्यास जी पैदा हुए (महाभारत)।

कहा जाता है कि व्यास जी ने ही वेदों का सम्पादन और पुराणादि की रचना की।

उक्त कथा में पराशर जी का कोहरा उत्पन्न करना और सत्यवती का शरीर सुगन्धमय कर देना, यह असम्भव कार्य तो वे कर दिये; परन्तु अपने कामवेग को रोकना जो सर्वथा सम्भव था, वह नहीं कर सके; कैसा उपहास है! वास्तव में कोहरा और गंध का उत्पन्न करना केवल कल्पित है।

हनुमान

हनुमान जी के पिता का नाम केसरी और माता का नाम अंजनी था। वाल्मीकि रामायण के अनुसार वायु नाम के एक देवता ने एक समय अंजनी से संबन्ध किया, तब हनुमान जी पैदा हुए तथा पवन-सुत कहलाये। शंकर सुवन होने में यह प्रमाण है कि विष्णु का मोहिनी रूप देखकर कामवश शंकर का जब वीर्यपात हुआ तब ऋषियों ने उसे उठाकर एक दोने में रखकर राम जी के कार्य सिद्ध होने के लिए अंजनी में प्रवेश कराया और गर्भ रह गया, फिर हनुमान जी हुए। यह कृत्रिम गर्भाधान का नमूना है।

एक कथन यह भी है कि वायु तथा शंकर का तेज केसरी में पहुंच गया और उसी काल में उन्होंने अपनी पत्नी अंजनी से संबंध किया, फिर हनुमान जी पैदा हुए, इत्यादि। वायु देवता और शंकर का तेज कैसे केसरी में पहुंच गया, यह भी एक कल्पना है। हनुमान जी की श्री राम-भक्ति प्रसिद्ध है।

नारद

ये ब्रह्मा के मानसपुत्र (शिष्य) कहे जाते हैं और दासीपुत्र भी। ब्रह्मा ने इनका स्वभाव जब विरक्त का देखा, तब उनको बुरा लगा; परन्तु कुछ विशेष कह नहीं सके। फिर सनकादि चारों भाई पैदा हुए; नारद ने इनको भी वैराग्य का उपदेश दिया और कहा कि स्त्री के चक्कर में न पड़ना, गृहस्थीजाल बड़ा बन्धनप्रद है। यह सुनकर ब्रह्मा को बड़ा क्रोध हुआ और नारद को शाप दिया कि यदि तू ऐसा वैराग्य छांटता है तो विवाह करके कुछ काल अवश्य ही स्त्री के साथ रहेगा।

कहा जाता है कि जब नारद काम-विजयी हुए तब विष्णु की प्रेरणा से श्रीनगर के राजा शीलनिधि की कन्या मोहनी के स्वयंवर में वे उस लड़की से ब्याह करना चाहे, परन्तु विफल रहे।

महाभारत के अनुसार एक बार नारद जी राजा सृञ्जय के यहां रहे। राजा ने अपनी लड़की को उनकी सेवा करने के लिए नियुक्त कर दिया, तो नारद जी धीरे-धीरे उसमें आकर्षित होकर उससे विवाह कर लिये।

नारद जी भगवत्भक्त कहे जाते हैं।

शुकदेव

शुक पक्षी का टाटेम (गण चिह्न) रखने वाली आदिम जाति की शुकी नाम की स्त्री को वेदव्यास ने गर्भवती कर दिया। इसी से शुकदेव पैदा हुए। इसलिए वे वेदव्यास के पुत्र कहे जाते हैं। लोगों की कल्पना है कि ये संसार के दुख से घबराकर बारह वर्ष या सोलह वर्ष तक गर्भ में ही रह गये, फिर व्यास जी के अनुरोध पर पैदा हुए, परन्तु वन को चल दिये। ये परम विरक्त थे। इन्होंने राजा परीक्षित को श्रीमद्भागवत की कथा सुनायी थी। ऐसा पुराण का कथन है। वैसे भागवत-रचनाकाल से बहुत पहले शुकदेव का काल है।

संसार से कम दुख गर्भवास में नहीं है, प्रत्युत अधिक ही है। बारह या सोलह वर्ष गर्भवास में ही रहना और वेदव्यास के अनुरोध से पैदा होना, यह कल्पना है।

शम्भु

शिव का एक नाम शम्भु भी है। शिव जी की उत्पत्ति के विषय में भिन्न-भिन्न कल्पनों हैं; अतः एक भी प्रामाणिक नहीं है। इनकी कथों पुराणों में विविध भांति से महिमा सहित वर्णित है।

सनकादिक

सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार ये चारों ब्रह्मा के मानस-पुत्र थे, तथा बालब्रह्मचारी एवं विरक्त थे। कहा जाता है ये चारों महात्मा पांच वर्ष की अवस्था में हर समय रहते थे, परन्तु यह असम्भव है। इसका यह तात्पर्य हो सकता है कि ये बालक के समान सरल हृदय के थे। किसी से राग-द्वेष की गांठ नहीं बांधते थे। परन्तु एक बार जब ये विष्णु जी से मिलने जा रहे थे, तब द्वारपाल जय-विजय ने रोका कि भगवान से हम आज्ञा ले आवें, तब आप जायें। इस पर सनकादि क्रोध प्रकट कर उन्हें शाप दिये कि तुम दोनों तीन जन्मों तक राक्षस होओ। जय-विजय तो कोई बुरा नहीं किये, परन्तु तनिक-सी बात में सनकादिकों को इतना क्रोध करना और इतना भयंकर शाप देना कहां तक हृदय की सरलता का परिचायक है ! वस्तुतः अवतारवाद सिद्ध करने के चक्कर में यह कहानी गढ़ी गयी और सनकादिकों को क्रोधी बना दिया गया। सनकादि ब्रह्मा के मानस-पुत्र थे। वस्तुतः शिष्य को मानस-पुत्र कहा जाता है।

अम्बरीष

ये अयोध्या के एक सूर्यवंशी राजा थे। इनके पिता का नाम नाभाग तथा पितामह का नाम वैवस्तमनु था। ये प्रसिद्ध वैष्णव भक्त थे। एक बार ये दुर्वासा को निमंत्रण दिये थे। उनके आने तक पारण की अवधि बीत जाने के भय से केवल जल का आचमन कर लिये थे। इतने में दुर्वासा आ गये और देखकर कुपित हुए कि मुझे बिना खिलाये क्यों आचमन कर लिया ! दुर्वासा अम्बरीष को मरवाना चाहे, परन्तु विष्णु का चक्र दुर्वासा का पीछा किया। अन्त में दुर्वासा ने अम्बरीष से क्षमा मांगी।

याज्ञवल्क्य

ये ब्रह्मवादी पुरुष थे। बृहदारण्यक के अनुसार इन्होंने जनक की सभा में गार्गी आदि सब पर विजय पायी थी। परन्तु यह भी बात है, जब गार्गी प्रश्न-पर-प्रश्न करती गयी और अन्त में याज्ञवल्क्य विवश-से होने लगे, तब उन्होंने कहा कि हे गार्गी ! तू अति प्रश्न मत कर, नहीं तो तेरा सिर (धड़ से

कटकर)गिर जायेगा।[1] यह सुनकर गार्गी चुप हो गयी। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने केवल विद्वता से नहीं, प्रत्युत धमकी देकर गार्गी[2] को चुप किया था।

याज्ञवल्क्य की दो पत्नियां थीं। एक का नाम मैत्रेयी और दूसरी का नाम कात्यायनी था। मैत्रेयी ज्ञानी थी और कात्यायनी केवल स्त्री-स्वभाव वाली, एक गृहिणी मात्र थी। जब याज्ञवल्क्य ने गृहत्याग कर संन्यास लेना चाहा, तब दोनों पत्नियों को आधा-आधा धन बांट दिया। कात्यायनी तो चुप रही, परन्तु मैत्रेयी ने पूछा—क्या धन से अमरता मिल सकती है? याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं। मैत्रेयी ने कहा—जिससे अमरता मिले वह उपदेश कीजिये। अतएव याज्ञवल्क्य ने उसे ज्ञानोपदेश किया।

जनक

राजा इक्ष्वाकु के एक पुत्र का नाम 'निमि' था। इन्होंने वसिष्ठ को अपने यज्ञ में 'होता' बनाने के लिए बुलाया। उस समय वे इन्द्र के यज्ञ में लगे थे, अतः कहला भेजे कि राजा कुछ दिन रुक जायें फिर मैं आऊंगा। राजा निमि ने इसका कुछ उत्तर न दिया। वसिष्ठ ने समझा निमि को हमारी बात स्वीकार है, परन्तु विलम्ब होते देखकर निमि ने गौतम आदि ऋषियों को बुलाकर यज्ञ करा लिया।

वसिष्ठ ने जब सुना तब निमि को शाप दिया। निमि ने भी वसिष्ठ को शाप दिया। फलतः दोनों के शरीर नष्ट हो गये। राजा का कोई उत्तराधिकारी न था, अतः राज्य-व्यवस्था के लिए ऋषियों ने राजा के शरीर का अरणि से मंथन किया। पश्चात उनके शरीर से एक पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम जनक पड़ा। मंथन करके उत्पन्न होने से उसका नाम मिथि पड़ा तथा पिता की विदेह अवस्था में पैदा होने से विदेह भी पड़ा। उन्होंने ही मिथिलापुरी बसायी। कहा जाता है इन्हीं की सत्ताइसवीं पीढ़ी में राजा सीरध्वज जनक पैदा हुए थे जिनकी पोष्य पुत्री जानकी थीं, जो श्री राम से ब्याही गयी थीं। उपनिषदों को देखने से पता चलता है कि मिथिलाधीश लोग ब्रह्मज्ञानी होते थे। सीरध्वज स्वयं ब्रह्मज्ञानी थे।

अपने स्वार्थवश निमि को शाप देना वसिष्ठ की बड़ी भूल है। शाप मात्र से निमि का मर जाना असम्भव है। निमि की देह मथकर पुत्र पैदा करना अनर्गल कल्पना है।

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद, 3/6/1।
2. गार्गी 'वचक्नु' की पुत्री थी।

भरत

ये प्रसिद्ध राजा ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे। ये बहुत दिनों तक राज्य करके अन्त में पुत्रों के हाथ राज्य सौंपकर वन में तपस्या करने चले गये। एक दिन इन्होंने एक अनाथ मृग का बच्चा देखा। ये उसे लाकर दयावश पालने लगे। धीरे-धीरे राजा की उसमें ममता हो गयी। फिर भजन-साधन छूट गये। केवल मृगशावक के मोह में ही सदैव निमग्न रहने लगे। कहा जाता है शरीर छूटते समय तक उनका मन उस मृग में लगा रहने के कारण मरने पर वे मृगा का तन पाये। जब कुछ काल मृगा का तन भोगकर वह शरीर भी छूट गया, तब तीसरी बार में एक ब्राह्मण कुल में जन्म लिये।

इस जन्म में भी इनका नाम भरत पड़ा। पिता ने पढ़ाना चाहा, परन्तु ये न पढ़े। पिता का शरीर छूट गया। भाई लोगों ने इनको पढ़ने को कहा, परन्तु इनको पूर्वजन्मों के शुद्ध वैराग्य के संस्कार थे। इन्होंने सोचा पुनः विद्यादि के चक्कर में पड़ूंगा तो वैराग्य शून्य हो जायेगा। अतः जड़-भाव धारणकर आत्मचिंतन करते हुए विचरने लगे। इससे इनके नाम में जड़-विशेषण लग गया। लोग जड़भरत कहने लगे। इनसे और राजा रहूगण से धार्मिक सम्वाद हुआ था। विस्तार के लिए श्रीमद्भागवत देखिए।

शेष

हजार फण को धारण करने वाला सर्प, जो क्षीरसागर में रहता है, जिसके ऊपर विष्णु जी की शय्या रहती है। शेष जी अपने हजारों फणों (मुखों) से विष्णु जी के गुण गाते हैं।

क्षीरसागर और शेष वास्तव में दोनों कल्पित हैं। जगत प्रचलित कहानियों के अनुसार कबीर साहेब ने उदाहरण दे दिया है। वस्तुतः नागजाति के मनुष्यों का शेषनाग नाम का महापुरुष राजा था और विष्णु का मित्र था। पीछे विष्णु के भक्तों ने शेषनाग को विष्णु का भक्त घोषित कर दिया। पीछे अज्ञानवश लोग शेषनाग को मनुष्य न समझकर हजार फण वाला सांप मान लिए।

ध्रुव

इनके पिता का नाम उत्तानपाद तथा पितामह का नाम स्वायम्भुव मनु था। इनकी माता का नाम सुनीति और विमाता (सौतेली माता) का नाम सुरुचि था। एक दिन ये अपने पिता की गोद में बैठना चाहे, किन्तु विमाता सुरुचि ने ध्रुव को व्यंग्य वचन कहा कि यदि तुम्हें राजा की गोद में बैठना था, तो मेरे

पेट से क्यों नहीं पैदा हुआ? नन्हा ध्रुव दुखी होकर अपनी माता के पास गया और यह बात कह सुनाया। माता ने कहा—बेटा! राजा तुम्हारा रक्षक नहीं, रक्षक विष्णु भगवान हैं। ध्रुव घर छोड़कर पांच वर्ष की अवस्था में तपस्या करने वन को चले गये। कहा जाता है कि वे बहुत कठोर तप के पश्चात विष्णु जी के दर्शन पाये, फिर लौटकर घर आये और राजा तथा विमाता आदि सबने आदर किया तथा बहुत काल राज्य भोगकर अन्त में स्वर्ग गये, ऐसी कल्पनों कर रखी हैं। विस्तार के लिए श्रीमद्भागवत का चौथा स्कंध देखिए।

प्रह्लाद

इनके पिता का नाम हिरण्यकश्यपु था। हिरण्यकश्यपु का विष्णु से वैर रहता था। परन्तु प्रह्लाद विष्णु-भक्त थे। इनकी कल्पित कथों जगत-प्रसिद्ध हैं। विस्तार के लिए श्रीमद्भागवत का सातवां स्कंध देखिए।

विभीषण

इनके पिता का नाम विश्रवा, माता का नाम कैकसी तथा पत्नी का नाम सरमा था। ये अपने बड़े भाई रावण के दुश्चरित्र से घबराकर तथा साथ-साथ राजा बनने की कामना से रावण से विमुख होकर राम के दल में मिल गये और रावण के मारे जाने के पहले ही लंका राजधानी का राजतिलक राम द्वारा अपने तयीं करा लिये और लंका दुर्ग तथा रावण का सारा भेद देकर राम द्वारा लंका पर विजय करवायी और अंत में स्वयं लंका का राजा बन गये तथा रावण की पत्नी मन्दोदरी को भी पत्नी के रूप में रख लिये।

शबरी

यह एक नारी थी और मातंग ऋषि की शिष्या थी, जो श्री राम जी के जीवनकाल में थी। यह भक्तिमती थी। सीता की खोज करते हुए लक्ष्मण सहित श्री राम जी इसके आश्रम पर गये थे। अध्यात्म रामायण तथा रामचरित मानस के अनुसार श्री राम ने शबरी को नौधा-भक्ति का उपेदश दिया। वाल्मीकीय रामायण में शबरी-राममिलन प्रसंग में नौधा-भक्ति नहीं है।

कृष्ण

वसुदेव-देवकी द्वारा जन्मे तथा नन्द-यशोदा द्वारा पालित ये तो जगत-प्रसिद्ध हैं। इनके श्रद्धालु लोग इन्हें पूर्ण निर्गुण ब्रह्म कहते हैं। कहा जाता है

इन्होंने वृन्दावन में गोकुल के अहीरों की युवती स्त्रियों को बुलाकर रास-क्रीड़ा (नाच-गान और अमर्यादित व्यवहार) किया था। कहा जाता है इनके स्वयं की भी सोलह हजार एक सौ आठ रानियां थीं। यह निर्गुण ब्रह्म की कितनी बड़ी विडम्बना है? इनकी सोलह हजार स्त्रियों का होना कल्पना ही है। लीला विस्तारपूर्वक जानना हो तो श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध, ब्रह्म-वैवर्तपुराण तथा गर्गसंहिता देखें। वस्तुतः ऋग्वेद (8/85/13-16)[1], छांदोग्य उपनिषद् (3/17/6) तथा महाभारत में जहां श्री कृष्ण की चर्चा है कहीं भी उनके द्वारा पर-स्त्री-गमन तथा रास-क्रीड़ा नहीं है। यह तो विषयी पंडितों ने शृंगाररस के जोश में कृष्णचरित्र में रास तथा पर-स्त्री-गमन आदि का प्रसंग जोड़कर उनके चेहरे को विकृत किया है। श्री कृष्ण गृहस्थ अवश्य थे, परन्तु वे राजनीतिज्ञ, शूरवीर, ज्ञानी तथा दार्शनिक थे। वे पर-स्त्रियों को लेकर न रास करते थे न उनके साथ क्रीड़ा और न उनकी सहस्रों पत्नियां थीं।

माया-मोह की सारहीनता

शब्द-13

राम तेरी माया दुन्द मचावै॥ 1॥
गति मति वाकी समुझि परेनहिं, सुर नर मुनिहि नचावै॥ 2॥
क्या सेमर तेरि शाखा बढ़ाये, फूल अनूपम बानी॥ 3॥
केतेक चातृक लागि रहे हैं, देखत रुवा उड़ानी॥ 4॥
काह खजूर बड़ाई तेरी, फल कोई नहिं पावै॥ 5॥
ग्रीषम ऋतु जब आनि तुलानी, तेरी छाया काम न आवै॥ 6॥
आपन चतुर और को सिखवै, कनक कामिनी सयानी॥ 7॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, राम चरण ऋतु मानी॥ 8॥

शब्दार्थ—माया=धोखा, सम्मोहन, भ्रम, मूर्च्छा। दुन्द=द्वंद्व, कलह, राग-द्वेष, हर्ष-शोक। गति=चाल। मति=बुद्धि। शाखा=डाली। अनूपम=अनुपम, विलक्षण। बानी=वाणी मात्र। चातृक=पक्षी, जीव। रुवा=रोवांटा, भूई। सयानी=बुद्धिमानी। ऋतु=रति, प्रेम।

भावार्थ—हे रमैया राम! तेरे मन की माया कलह मचाती है॥ 1॥ सामान्य लोगों को उसकी गति-मति नहीं समझ पड़ती। यह मन की माया सुर, नर तथा मुनि को नचाती रहती है॥ 2॥ सेमल पेड़ की डालियां बहुत बढ़ीं और उनमें फूल भी अनोखे लाल-लाल लगे, परन्तु उनकी प्रशंसा वाणी

---

1. जहां खिल्य भाग है उस संस्करण में यह विषय ऋग्वेद 8/96/13-16 में पड़ता है।

मात्र ही तो हुई॥ 3॥ क्योंकि उसके बड़े-बड़े फूल और फल को देखकर कितने ही पक्षी सुमिष्ट आहार की आशा में उनमें लगे, परन्तु देखते-देखते जब उसके फल पककर फूटे और उनमें से निस्सार रूखे रोयें उड़े, तो पक्षियों को निराश होना पड़ा। संसार के प्राणी-पदार्थों एवं ऐश्वर्य की यही दशा है॥ 4॥ हे खजूर! तुम्हारी भी क्या प्रशंसा की जाये! तुम्हारे फल तो कोई पाता नहीं है॥ 5॥ और ग्रीष्म ऋतु आने पर जब गरमी बढ़ती है तब तुम्हारी छाया पथिक का काम नहीं देती। इसी प्रकार मनुष्य के नाम-रूप के साथ लगे बड़प्पन उसको या अन्य को शांति नहीं दे सकते॥ 6॥ सद्गुरु कहते हैं—हे संतो! सुनो, लोग मायावी पदार्थों की उन्नति में स्वयं बुद्धिमान बनते हैं और दूसरे को उसी की सीख देते हैं। कनक-कामिनी के नैतिक-अनैतिक संग्रह तथा उपभोग में ही अपनी श्रेष्ठता मानते हैं, और अभिमान रखते हैं कि हम राम के चरणों के प्रेमी हैं॥ 7-8॥

व्याख्या—कबीर साहेब के विचारों का राम सबकी अपनी अंतरात्मा है। उन्होंने स्वयं कहा है—"हृदया बसे तेहि राम न जाना।"..."दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।"[1] बेलि प्रकरण में सद्गुरु ने जीव ही को राम शब्द से 46 बार सम्बोधित किया है। अतएव जीव ही राम है और उसके मन का मोह माया है। सद्गुरु ने साखी प्रकरण में कहा है—'मन माया की कोठरी' तथा 'मन माया तो एक है'[2] अतएव मनुष्य के मन का धोखा, सम्मोह, मूर्च्छा, अज्ञान एवं विषयासक्तिजनित मोह ही माया है।

इसलिए सद्गुरु मनुष्य को ही सम्बोधित कर कहते हैं कि हे राम! तुम्हारी माया द्वंद्व मचा रही है। द्वंद्व है राग-द्वेष, हर्ष-शोक, जन्म-मरण। यह द्वंद्व किसी आकाशीय राम का कृत्य नहीं है। यह जीव का ही कृत्य है। जिस द्वंद्व, कलह, दुख-सुख के प्रपंच को हम झेल रहे हैं वह किसी दूसरे राम के कर्मों का फल नहीं है। हम अपने ही बनाये जाल में उलझते हैं। हम दूसरे के स्थूल जाल में भी तब तक नहीं उलझ सकते, जब तक स्वयं उसमें न पड़ें और यह सूक्ष्म जाल, मन एवं कर्मों का जाल तो केवल हमारा ही बनाया रहता है जिसमें हम उलझते हैं। अतएव सद्गुरु जीव ही को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे रमैया राम! तुम्हारे मन की मोह-माया ने तुम्हारे लिए दुखद झगड़ा खड़ा कर रखा है।

---

1. बीजक, रमैनी 41, शब्द 97।
2. बीजक, साखी 104, 105।

"गति मति वाकी समुझि परे नहिं, सुर नर मुनिहि नचावै।" मनुष्य माया की गति-मति नहीं समझ पाता। वह तो सुर, नर तथा मुनि को भी नचाती है। माया कोई चेतन व्यक्ति नहीं है कि उसके गति के साथ मति एवं बुद्धि भी हो। अतः यहां गति-मति का अभिधा अर्थ नहीं, किन्तु लक्षणा अर्थ है 'रहस्य' एवं 'भेद'। अपने मन की माया का रहस्य साधारणतया देवता, मनुष्य एवं मुनि भी नहीं जान पाते। मनुष्यों से अलग न कहीं देवता है न दानव, किन्तु लोकधारणानुसार जैसे पुराणों में देवता माने गये हैं और उनके चरित्रों का वर्णन मिलता है, तो वे काफी मलिन आचरण के बताये गये हैं। साधारण मनुष्य तो सामने ही हैं, मुनिजन भी अनेक ऐसे हैं जो माया के चक्कर में विमोहित होकर भटके हैं। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि साधारणतया मनुष्य, देवता एवं मुनिजन भी अपने मन की माया का भेद नहीं समझ पाते और उनका मायालिप्त मन उनसे घिनौने कर्म करा डालता है। संसार के प्राणी-पदार्थों का मोह ही माया बनता है। सद्गुरु उसकी निस्सारता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

"क्या सेमर तेरि शाखा बढ़ाये, फूल अनूपम बानी। केतेक चातृक लागि रहे हैं, देखत रुवा उड़ानी।" सेमल का पेड़ बड़ा विशाल हुआ, उसमें शाखों बहुत बढ़ीं, लाल-लाल बड़े-बड़े फूल बहुत लगे और फल भी बहुत लगे। लेकिन आप जानते हैं कि उसके फूल में न गंध है और न फल में रस। उसके फूल गंध-रहित हैं ही, पककर फूटने पर उसके फल में भी नीरस रुई निकलती है। बहुत-से पक्षी सेमल के बड़े-बड़े फल देखकर उनसे मिष्ट स्वाद एवं भोजन पाने की आशा करते हैं। परन्तु जब फल पककर फूटते हैं तब उनमें से नीरस रोयें निकलते हैं और पक्षी निराश होकर उड़ चलते हैं।

जवानी, सुन्दरता, स्त्री, पुत्र, मित्र, परिवार, धन, बल, शासन, स्वामित्व आदि सांसारिक ऐश्वर्य की यही स्थिति है। ये सब दो दिन के लिए देखने भर के हैं। चमकती जवानी थोड़े दिनों में सिकन लिये हुए चेहरे में बदल जाती है और चाम के लावण्य-माधुर्य रूखे दृश्य में परिवर्तित हो जाते हैं। मुंह, हाथ सब में मोटी-मोटी नसें निकल आती हैं, उभरी छाती बैठ जाती है। रस-भरी खिली आंखें धंस जाती हैं। सुन्दर चमकती दंतपंक्ति खिड़बिड़ी हो जाती तथा उखड़ जाती है और कुछ दिनों में मुंह कुं के समान हो जाता है। रमणीय पत्नी एक दिन देखने लायक नहीं रह जाती। मनोहर पुत्र कुछ दिनों में जवान तथा प्रौढ़ होकर अपने बीबी-बच्चों में उलझकर अनसुहाते हो जाते हैं। हार्दिक मित्र विमुख या शत्रु हो जाते हैं। धन-दौलत के जाने में देरी नहीं लगती। यदि पास में रहें भी, तो उनसे सन्तोष नहीं मिलता। अधिकार छूट जाते हैं।

परिवार और समाज पर शासन करने वाला वही व्यक्ति एक दिन अपने ही घर के कोने में उपेक्षित पड़ा-पड़ा बिलखता रहता है।

तो क्या जिन प्राणी, पदार्थों, पद आदि की अहंता-ममता में पड़कर हमारे मन में माया अर्थात धोखा, सम्मोह, मूर्च्छा आदि बनते हैं, वे प्राणी-पदार्थादि सेमल के फूल-फल के समान निस्सार नहीं हैं? संयोगजनित सारे ऐश्वर्य को सेमल के फूल तथा फल के समान सारहीन समझ लेने पर हमारे मन में माया, धोखा, सम्मोह बन ही नहीं सकते। हमें अपने मन में विवेक जगाना चाहिए और संसार के भोगों की सारहीनता तत्त्व से समझना चाहिए।

भोगों की आसक्ति और श्रेष्ठता का अभिमान होने से मन में माया एवं सम्मोह बनते हैं। सद्गुरु ने सेमल का उदाहरण देकर भोगों की सारहीनता पर प्रकाश डाला। अब वे बड़प्पन की सारहीनता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—"काह खजूर बड़ाई तेरी, फल कोई नहिं पावै। ग्रीषम ऋतु जब आनि तुलानी, तेरी छाया काम न आवै।" खजूर का पेड़ बहुत बड़ा होता है, परन्तु सहजतया उसका फल कोई नहीं पा सकता। गरमी में जब पथिक को छाया की आवश्यकता होती है, तब उसकी छाया भी उसे नहीं मिलती, क्योंकि पेड़ ऊंचा होने से उसकी छाया पेड़ के आस-पास न होकर दूर किसी खाईं-खंदक, खेत-कांटे आदि में पड़ती है।

यही दशा बड़प्पन के अहंकार की है। जाति, वर्ण, विद्या, पद, अधिकार, अवस्थादि चाहे जिसके बड़प्पन का अहंकार हो, उससे किसी का लाभ नहीं होता। किसी वस्तु की क्या बड़ाई है जब उससे किसी का कल्याण नहीं होता। खजूर-पेड़ की तरह अनुपयोगी बड़प्पन का अहंकार मनुष्यों के लिए केवल मन में माया एवं अहंता-ममता का धोखा ही पैदा करता है।

"आपन चतुर और को सिखवै, कनक कामिनी सयानी।" कनक-कामिनी के संग्रह एवं भोग में अपनी बुद्धिमानी समझने वाले लोग स्वयं तो इस लाइन में चतुर होते ही हैं, दूसरों को भी यही सीख देते हैं। दूसरों को कैसे बेवकूफ बनाकर धन ऐंठ लिया, भाई-पट्टीदार तथा दूसरों को किस तरह पट्टी पढ़ाकर अपना धन बढ़ा लिया, अपना हर स्वार्थ का काम बना लेने के लिए कैसे दूसरों को मूर्ख बना देते हैं, कैसे वैध-अवैध, प्राकृतिक-अप्राकृतिक इंद्रिय-भोग करने में अपनी निपुणता दिखा देते हैं, इन सबका वर्णन वे बड़े समारोह के साथ करते हैं, और अगले आदमी को भी सीख देते हैं कि ऐसे ही करने में बहादुरी है। वे कहते हैं अरे यार, आदमी की जिन्दगी पाकर क्या किया यदि चालाकी न सीखी, इच्छा भर भोगों को न भोगा!

उनको पता नहीं है कि यह उनकी अपनी बनायी चतुरता ही उनके मन की माया है जो उन्हें ही निरंतर छल रही है। दूसरों को छलने वाला और

इंद्रियों का लंपट कभी विश्राम नहीं पा सकता। ऐसे लोग जीवन के उतार तथा आखिर में तो दुखों के पात्र ही बन जाते हैं। जन्मांतर तो उनका दुखदायी होगा ही। जिनका आज बिगड़ा है, उनका आगे बनने की तो कोई आशा ही नहीं है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, राम चरण ऋतु मानी।" यहां 'रति' का कभी लिखावट में ऋतु हो गया लगता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे सन्तो, ऐसे आकंठ माया में डूबे लोग भी कहते हैं कि हम राम के चरणों में प्रेम करते हैं। गोस्वामी जी ठीक ही कहते हैं—

बंचक भक्त कहाय राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥

संयोगजनित प्राणी-पदार्थों की अहंता-ममता ही माया है, जो सारे द्वंद्वों का कारण है। विवेक से इसे दूर कर निर्द्वंद्व एवं परम शांतिमय जीवन जीना चाहिए।

संशय-छेदन

शब्द-14

रामुरा संशय गाँठि न छूटै, ताते पकरि पकरि यम लूटै॥ 1॥
होय कुलीन मिस्कीन कहावै, तू योगी संन्यासी॥ 2॥
ज्ञानी गुणी सूर कवि दाता, ये मति किनहु न नासी॥ 3॥
सुमृति वेद पुराण पढ़ें सब, अनुभव भाव न दरसे॥ 4॥
लोह हिरण्य होय धौं कैसे, जो नहिं पारस परसे॥ 5॥
जियत न तरेउ मुये का तरिहो, जियतहि जो न तरै॥ 6॥
गहि परतीत कीन्ह जिन जासों, सोई तहाँ अमरे॥ 7॥
जो कुछ कियउ ज्ञान अज्ञाना, सोई समुझ सयाना॥ 8॥
कहहिं कबीर तासों क्या कहिये, जो देखत दृष्टि भुलाना॥ 9॥

शब्दार्थ—रामुरा=रमैया राम जीव। संशय=अनिश्चय, संदेह। यम=वासनों। कुलीन=उच्च कुल। मिस्कीन=गरीब। ये मति=संशय। सुमृति=स्मृति। अनुभव=प्रयोगसिद्ध ज्ञान, अनु (पीछे) भव (उत्पन्न), प्रयोग के पीछे उत्पन्न हुआ ज्ञान। भाव=भावना, अवस्था। हिरण्य=सोना। अमरे=पहुंचना; 'अमरे' शब्द छत्तीसगढ़ी बोली का है जिसका शाब्दिक अर्थ ही है 'पहुंचना'।

भावार्थ—हे रमैया राम! तुम्हारे मन के संशय की गांठ नहीं छूटती, इसलिए कामादि वासनों तुम्हें पकड़-पकड़कर लूटती हैं॥ 1॥ तू विवेकसम्पन्न उत्तम मानव कुल में उत्पन्न होकर स्वरूपज्ञान बिना दीन बना है। अथवा तू अनेक बार उच्च कुल वाला बना तथा नीच कुल वाला और

गरीब बना, योगी बना, संन्यासी बना और ज्ञानी, गुणी, शूर, कवि, दाता बना; परन्तु इस अनिश्चयात्मक एवं संशयात्मक बुद्धि का नाश नहीं कर पाया॥ 2-3॥ सब लोग स्मृति, वेद, पुराणादि पढ़ते हैं और वाक्य तथा बौद्धिक ज्ञान में निपुण हो जाते हैं, परन्तु प्राप्त ज्ञान का जीवन में प्रयोग कर उस उच्च दशा में स्थित नहीं होते॥ 4॥ यदि लोहा पारस का स्पर्श नहीं करता तो वह भला, सोना कैसे बनेगा?॥ 5॥ यदि तुम आज इस जीवनकाल में भव-बन्धनों एवं प्रपंच से मुक्त नहीं होते हो तो मर जाने पर क्या मुक्त होओगे?॥ 6॥ जो व्यक्ति जिसमें दृढ़ विश्वास कर लेता है वह वहां अवश्य पहुंचता है॥ 7॥ हे बुद्धिमान मानव ! तूने जितने कर्म ज्ञान तथा अज्ञान में किये हैं, उनको समझने की चेष्टा कर और उनके संस्कारों से मुक्ति पा ले॥ 8॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो, ऐसे आदमी को क्या सीख दी जाये, जो जान-समझकर भी गलत रास्ते पर जा रहा है !॥ 9॥

व्याख्या—शब्द प्रकरण के शुरू से बारह शब्दों तक सद्गुरु ने सन्तों को सम्बोधित कर अपने शब्द कहे हैं। वे तेरहवें से लेकर इक्कीसवें तक राम को लेकर अपने विचार कहते हैं। राम-प्रकरण का यह दूसरा शब्द है। सद्गुरु कहते हैं कि हे रामुरा, हे रमैया राम ! तेरे संशय की गांठ नहीं छूटती है, इसलिए यमराज तुम्हें पकड़-पकड़कर लूटता है। 'रामुरा संशय गाँठि न छूटै, ताते पकरि पकरि यम लूटै।' इस पंक्ति में रामुरा, संशय-गाँठि तथा यम—ये तीन शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। रामुरा जीव है, संशय-गाँठि वस्तु-बोध का अनिश्चय है और यम वासनों हैं।

संशय, अनिश्चय, दुविधा, संदेह मनुष्य की किसी भी दिशा की उन्नति के महान बाधक हैं। कितने लोग वर्षों इसी बात पर विचार करते रह जाते हैं कि कपड़े का व्यापार करें कि बरतन का या कि अनाज का। यहां तक कितने सोचते हैं कि आज बाजार जाकर सौदा ले आवें। फिर मन में विकल्प आता है, कि आज नहीं कल जायेंगे। फिर सोचते हैं आज ही ले आवें। वे उठकर दस कदम चलते हैं और पुनः रुक जाते हैं और सोचते हैं कि कल ही जायेंगे। इस प्रकार सोचते-सोचते उनके सप्ताहों निकल जाते हैं और बाजार जाकर घरेलू काम की चीजें नहीं ला पाते। यह मन की बहुत बड़ी कमजोरी है।

आध्यात्मिक तत्त्वबोध के विषय में जिन साधकों की संशयात्मक दशा रहती है, न वे निर्भ्रांत बोध प्राप्त कर सकते हैं और न अपने लक्ष्य को पा सकते हैं। "मेरा अपना विश्राम-स्थल, मेरी अपनी स्थिति-दशा मेरी अपनी आत्मा एवं अपना चेतन स्वरूप ही है, या इससे अलग कोई दूसरा ईश्वर-

परमात्मा है? मैं जड़ से सर्वथा भिन्न हूं या अभिन्न हूं? कल्याण के लिए कामादि विषयों का सर्वथा त्याग करना चाहिए या उनका उपभोग करते हुए भी कल्याण हो सकता है?" यदि ऐसे संशय मन में बने हैं तो कल्याण का पथ प्रशस्त नहीं हो सकता। निर्भ्रांत दृष्टि के बिना मंजिल नहीं पायी जा सकती।

अच्छे-अच्छे विद्वान ही नहीं साधन-सम्पन्न साधु-संन्यासी भी केवल परमात्मा को पाने के लिए ही बाहर नहीं भटकते, किन्तु जादू, टोना, मंत्र, तंत्र, यंत्र, दिशाशूल, शकुन-अपशकुन, भूत-प्रेत, देवी-देवादि जो केवल मिथ्या मान्यतों हैं, इनमें भटकते रहते हैं। ज्ञान के क्षेत्र में वेदांत की बड़ी महिमा है जिसका नवीन ढंग से अर्थ लगाया जाता है जड़-चेतन अभिन्न अद्वैत ब्रह्म, और यह इतना उलझा हुआ है कि इसमें निश्चयात्मक निर्णय है ही नहीं। अद्वैतवादी सुन्दर दास जी कहते हैं—"यदि एक ब्रह्म ही सर्वत्र भरपूर व्याप्त है और उसके अलावा कुछ नहीं है, तो यह कौन बता रहा है कि एक ब्रह्म व्यापक है? यदि कहो यह सब जीव कह रहा है, तो क्या जीव ब्रह्म से अलग है? यदि अलग है तो द्वैत हो गया। यदि कहो कि सर्वज्ञ तथा सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म में से अल्पज्ञ एकदेशी जीव पैदा हो गया, तो यह सूर्य में से अंधियारी कैसे पैदा हुई? सुन्दरदास जी कहते हैं कि मैं यह जानकर मौन हो गया हूं कि अद्वैत ब्रह्म के सिद्धांत में किसी प्रकार भी निर्णय नहीं हो सकता।"[1]

जड़-चेतन अभिन्न अद्वैतवाद पहले जड़-चेतन तथा भोग-त्याग का पृथक्करण करता है और कहता है कि जड़ से हटकर तथा भोगों को त्यागकर अपने चेतन स्वरूप में स्थित होओ। परन्तु आगे चलकर वह जड़-चेतन तथा भोग-त्याग मिला देता है। परम पारखी श्री रामरहस साहेब ने अपने महान ग्रंथ पंचग्रंथी में कहा है कि अद्वैतवादी लोग "अज्ञानी ज्ञानी करे, ज्ञानिहिं करे अचेत।" अर्थात साधारण आदमी को तो वे यह बताते हैं कि देहादि का अहंकार त्यागकर तथा विषयों से विरत होकर अपने चेतन स्वरूप में स्थित होओ। परन्तु जब आगे बढ़ते हैं तब कहते हैं कि तुमसे अलग कुछ नहीं है। सारा जगत तुम्हारा स्वरूप है। अर्थात ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि जड़ तत्त्व भी तुम्हारा स्वरूप है, भोग-त्याग में कोई अन्तर नहीं। "भोगे युवति

---

1. व्यापक ब्रह्म रह्यो भरपूर, तो दूसरे कौन बतावन हारो।
जो कहि जीव करो परमान, तो जीव कहा कहु ब्रह्म सो न्यारो॥
जो कहि जीव भयो जगदीश से, तो रवि माहि कहा को अन्धारो।
सुन्दर मौन गही यह जानि के, कौनिउ भांति न होय निस्तारो॥

सदा संन्यासी, शिष्य लहि यह अद्‌भुत संवाद।"[1] अर्थात युवती स्त्री का उपभोग करते हुए भी ज्ञानी सदैव संन्यासी है।

वेदांतोक्त संन्यास की पुनर्स्थापना करने के लिए जिन स्वामी शंकराचार्य जी महाराज ने बीड़ा उठाया था, वे मंडन मिश्र की पत्नी भारती को कामकला का उत्तर देने के लिए मृतक राजा अमरुक की सौ से भी अधिक सुन्दर पत्नियों से सवा महीने भोग-विलास करते रहे। जब वे उन स्त्रियों से भोग-विलास करने के लिए जाना चाहे, तब उनके शिष्यों ने मत्स्येन्द्रनाथ।[2] की कथा कहकर उन्हें रोका कि यह काम संन्यासी का नहीं है। यह बहुत बड़ा पतन है। इसके उत्तर में स्वामी शंकराचार्य से कहलाया गया है—जिस प्रकार गोपियों के संग रहने पर भी श्रीकृष्ण चन्द्र में किसी प्रकार की काम-वासना उत्पन्न नहीं हुई थी, उसी प्रकार आसक्ति-रहित मनुष्य के हृदय में काम उत्पन्न नहीं होता। हे वत्स! इस बज्रोली नामक योग से हमारे व्रत में किसी प्रकार की क्षति नहीं होगी।[3] स्वामी शंकराचार्य आगे और कहते हैं—"घड़ा आदि वस्तुें मिट्टी से बनी हुई हैं। वे मिट्टी को छोड़कर एक क्षण के लिए भी अलग नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार परमात्मा से उत्पन्न होने वाला यह संसार परमात्मा को छोड़कर त्रिकाल में भी अपनी पृथक सत्ता नहीं धारण कर सकता।"[4] इसका सार यह हुआ कि जब सारा संसार परमात्मा ही है, तब संसार की किसी भी वस्तु में रमण करने से मानो परमात्मा में ही रमण करते हैं। यहां जड़-चेतन का विवेक नितांत खो दिया गया है।

---

1. विचारसागर।
2. शंकराचार्य आठवीं शताब्दी में हुए हैं तथा मत्स्येन्द्रनाथ जो गोरखनाथ के गुरु थे नवीं-दसवीं शताब्दी में हुए हैं, तब शंकराचार्य के शिष्य अपने गुरु के सामने मत्स्येन्द्रनाथ का उदाहरण कैसे दे सकते हैं! मत्स्येन्द्रनाथ शंकराचार्य से कम-से-कम डेढ़ सौ वर्ष के बाद हुए होंगे।
3. असङ्गिनो न प्रभवन्ति कामा हरेरिवाऽऽभीरवधूसखस्य।
   वज्रोलियोगप्रतिभूः स एष वत्सावकीर्णित्वविपर्ययो नः॥ (शंकरदिग्विजय 9/90)
   यहां इस सन्दर्भ में जितने उदाहरण दिये जा रहे हैं सब माध्वाचार्यविरचित शंकरदिग्विजय के हैं तथा उन पर काशीवासी पं. बलदेव उपाध्याय की टीका है। मैं टीका भी अपनी तरफ से न कर उन्हीं की दे रहा हूं। पं. बलदेव उपाध्याय बज्रोली पर अपनी टिप्पणी देते हुए लिखते हैं—"बज्रोली हठयोग की बड़ी उन्नत साधना है। जिसे यह सिद्ध हो जाती है उसे स्त्री-प्रसंग करने पर भी वीर्य-क्षय नहीं होता। यह कठिन साधना अन्य साधनाओं के समान गुरु-कृपा से ही संवेद्य है।" टीकाकार पं. बलेदव जी बज्रोली को बड़ी उन्नत साधना बताते हैं। यह नहीं कहते कि कामवासना की पूर्ति के लिए यह बहुत बड़ा पतन का खुला द्वार है। ऐसे लोग काम-भोग को भी नहीं छोड़ना चाहते हैं और अपने त्याग की प्रतिष्ठा भी बनाये रखना चाहते हैं।
4. कलशादि मृत्प्रभवमस्ति यथा मृदमन्तरा न जगदेवमिदम्।
   परमात्मजन्यमपि तेन विना समयत्रयेऽपि न समस्ति खलु॥ (9/94)

स्वामी शंकराचार्य आगे कहते हैं—"चाहे वह (ब्रह्मज्ञानी) सौ अश्वमेध यज्ञ करे, चाहे ब्राह्मणों की अगणित हत्या करे, परन्तु परमार्थ को जानने वाला पुरुष सुकृत या दुष्कृत में लिप्त नहीं होता, क्योंकि इन कार्यों के करने में उसका कर्तृत्वभाव नष्ट हो गया रहता है।"[1]

अश्वमेध यज्ञ वैसे ही महापाप है, क्योंकि इसमें सैकड़ों पशु काटकर होमे जाते थे। देखिए वाल्मीकि-रामायण के बालकांड का दशरथ का अश्वमेध यज्ञ, फिर ब्राह्मण आदि मनुष्यों को मारना तो पाप है ही। दुराचरण करने पर भी ज्ञानी को पाप नहीं छूता—यह मान्यता अपनी दुर्बलता छिपाने एवं पाप को अक्षुण्ण रखने का षड्यंत्र है।

उक्त ग्रंथ शंकरदिग्विजय में लिखा है कि शिष्यों के संरक्षण में अपना शरीर छोड़कर स्वामी शंकराचार्य जी ने मृतक अमरुक राजा के शरीर में प्रवेश कर स्त्रियों का सहवास किया। शंकरदिग्विजय के दसवें सर्ग में शंकराचार्य का सौ रानियों के साथ हुए शराबपान तथा काम-क्रीड़ा का जो सविस्तार वीभत्स वर्णन है वह अत्यन्त शर्मनाक है। एक संन्यासी के लिए यहां जो वर्णन है, वह काम-शास्त्र को भी फीका कर देता है।

यह तो विश्वास नहीं पड़ता कि स्वामी शंकराचार्य ने यह सब किया होगा। परकाया प्रवेश तो अपने आप कपोल-कल्पित है। परन्तु अद्वैत ब्रह्मवाद का ऐसा सैद्धान्तिक दोष है कि उसमें यह मान ही लिया गया है कि जड़-चेतन तथा भोग-योग में कोई अन्तर नहीं है। इसीलिए तो शंकराचार्य के अनुगामी-भक्त ही ने ब्रह्मज्ञान तथा संन्यास के नाम पर शंकराचार्य ही पर काम-भोग थोपकर ज्ञान और आचरण में गड्डबड्ड पैदा करने का रास्ता खोल लिया है।

सद्गुरु कबीर कितने जागरूक थे। वे कहते हैं— "होय कुलीन मिस्कीन कहावै, तू योगी संन्यासी। ज्ञानी गुणी सूर कवि दाता, ये मति किनहु न नासी।" अर्थात लोग चाहे तथाकथित कुलीन हों चाहे साधारण कुल के एवं गरीब हों, चाहे योगी, संन्यासी, ज्ञानी, गुणी, शूर, कवि, दाता हों, परन्तु उनके मन की संशय-ग्रंथि नहीं छूटती। अनेक विषयों के आचार्य, विद्वान एवं त्याग-तपोनिष्ठ संन्यासी साधुओं में से कोई ग्रन्थ के ऊपर फूल-पत्ती चढ़ाकर उसकी पूजा करता है, कोई पत्थर की पिंडी पूजता है। शकुन-अपशकुनादि नाना भ्रांतियां तो लोग पालते ही रहते हैं। तात्पर्य यह कि सारी

---

1. तदयं करोतु हयमेधशतान्यमितानि विप्रहनानन्यथवा।
परमार्थविन्न सुकृतैर्दुरितैरपि लिप्यतेऽस्तमितकर्तृतया ॥ (शंकर दिग्विजय 9/ 96)

भ्रांतियों एवं संशयों से सर्वथा मुक्त होकर वस्तुपरक एवं आत्मपरक ज्ञान तथा आचरण में ठहरना दुर्लभ है और इसी की महत्ता है। मुंडक उपनिषद् के भी ऋषि कहते हैं—"जिसके हृदय की सारी ग्रन्थियां (आसक्तियां) टूट जाती हैं, मन के सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्मों के उद्वेग समाप्त हो जाते हैं, उसकी दृष्टि पर-अवर आर-पार को देख लेती है। वह कृतकृत्य हो जाता है।"[1]

"सुमृति वेद पुराण पढ़ें सब, अनुभव भाव न दरसे। लोह हिरण्य होय धौं कैसे, जो नहिं पारस परसे।" कबीर साहेब ने काशी में पंडितों को बहुत निकट से देखा था कि वे वेदों-उपनिषदों का अध्ययन करते हैं, स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते हैं, और महाकाव्यों तथा पुराणों का अध्ययन करते हैं। पंडितजन शास्त्र-अध्ययन तो खूब करते हैं, परन्तु उन बातों का वे अपने जीवन में प्रायः आचरण नहीं करते। इसलिए उनकी वाचिक तथा बौद्धिक बातें उनके जीवन में नहीं उतरतीं। जीवन में जब तक अनुभव-भाव के दर्शन नहीं होते अर्थात जो कुछ बुद्धि से जाना गया है उसका जीवन में जब तक आचरण नहीं होता, तब तक जीवन में मधुमयता एवं शांति नहीं आती। सद्गुरु कहते हैं कि पारस पत्थर का नाम लेने मात्र से लोहा सोना नहीं बन सकता। जब तक लोहा सोना को नहीं छूता तब तक वह सोने के रूप में नहीं बदल सकता। पारस तो एक काल्पनिक पत्थर है जिसका प्रयोग साहित्य-जगत में होता है। यह केवल बातों को समझाने के लिए है। लोहा और पारस के नाम लेकर यहां सद्गुरु यह समझाना चाहते हैं कि जब तक हम जानी हुई वास्तविकता का जीवन में प्रयोग नहीं करेंगे तब तक पवित्र एवं सच्चे अर्थ में सुखी नहीं हो सकते। सिद्धांततः एवं स्वरूपतः जीव कल्याणरूप हैं, परन्तु उस प्रकार जीवन में रहनी बनाये बिना कल्याण का अनुभव नहीं हो सकता। ज्ञान केवल कहने की बात नहीं है, किन्तु रहने की बात है।

मानो पंडितों ने कबीर साहेब से कहा हो कि हम उच्च वर्ण के हैं, विद्वान हैं। हम शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। हम मरने के बाद अवश्य संसार से तर जायेंगे, मुक्त हो जायेंगे। मानो कबीर साहेब ने उत्तर में कहा हो कि "जियत न तरेउ मुये का तरिहो, जियतहि जो न तरे।" जो इस जीवन में संसार से नहीं तर सका, वह मर जाने पर क्या तरेगा? जब तक हमारे हृदय में काम, क्रोध,

---

1. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ (मुंडक उपनिषद् 2/2/8)

लोभ, मोह, राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, संताप, विकलता, कलह, कल्पना, आशा, तृष्णा आदि बने हैं, तब तक तरने, मुक्त होने तथा कल्याण की छाया भी दूर है। निष्प्रपंच, निर्दोष एवं वासना-मुक्त जीवन ही मुक्त जीवन है। जब हमारे जीवन में कोई वासना नहीं रहती, कोई क्षोभ नहीं रहता, कोई पीड़ा नहीं रहती और हृदय सदैव आनन्द का सागर बना रहता है, तब यही जीवन्मुक्ति है। "अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा।"[1] अतएव जो जीवनकाल में मुक्त नहीं है मरने पर क्या मुक्त होगा! हमें आज ही संसार से तर जाना है। जो संसार से अनासक्त है वह इससे तरा हुआ है।

"गहि परतीत कीन्ह जिन जासों, सोई तहाँ अमरे।" जो मनुष्य जिसमें दृढ़ विश्वास कर लेता है, वह वहां पहुंचता है। जो वस्तु हो ही नहीं, केवल नाम हो, और उसमें कोई विश्वास कर ले तो वह उसे कहां पा सकता है? वह तो केवल भटकाव का कारण बन सकती है। बिना आधार के विश्वास मनुष्य को भटकाता है। वस्तुतथ्य हो और उसमें विश्वास हो तो वह उसे पा सकता है। शराब का प्रेमी शराब की दुकान पर जाता है, सिनेमाबाज सिनेमाहाल में, लम्पट वेश्यागृह में जाता है, परन्तु सत्संगी सत्संग में पहुंचता है। विषयों का रागी प्रपंच में भटकता है और विषयों से विरक्त व्यक्ति शांति में रमता है। यह नियम है कि जिसका जिसमें विश्वास होगा, जिसमें प्रेम होगा, जिसमें लगन होगी, वह उसके पाने में सफलता अवश्य प्राप्त करेगा देर हो या सबेर।

यदि किसी को अपने स्वरूप का ठीक बोध हो गया है और दृढ़ विश्वास के साथ स्वरूपस्थिति के अभ्यास में लगा है, तो वह स्वरूपस्थिति अवश्य प्राप्त करेगा। संसार की वस्तुें तो विश्वास और प्रयत्न के बाद भी हो सकता है कि न मिलें, और मिल भी जायें, तो उनका छूट जाना निश्चित ही है। परन्तु पूर्ण विश्वास, निष्ठा एवं प्रयत्न के साथ साधना में लग जाने पर स्वरूपस्थिति मिलना तो निश्चित है और वह मिलकर छूट नहीं सकती। जीवन में सबसे सहज, सुलभ और स्वाभाविक है स्वरूपस्थिति का पाना, क्योंकि वही मेरा अपना आपा है, अपना स्वत्व है, केवल विश्वास के साथ उसमें लगना चाहिए।

"जो कुछ कियउ ज्ञान अज्ञाना, सोई समुझ सयाना।" हे बुद्धिमान! तूने जो कुछ ज्ञान तथा अज्ञान में किया है, उन्हें समझ। 'सयाना' शब्द का प्रयोग कर सद्गुरु उनको सम्बोधित करते हैं जो अपने आप को बहुत बड़ा बुद्धिमान एवं विद्वान मानते हैं, लेकिन जो अपने कर्मों पर ध्यान नहीं देते। वे अपने

---

1. बीजक, साखी 322।

बौद्धिक तथा शास्त्रीयज्ञान के बल से ही संसार-सागर से पार जाना चाहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे विद्या-बुद्धि में प्रवीण लोग, तुम अपने ज्ञान तथा अज्ञान में जो कुछ कर्म किये हो, उसको समझने की चेष्टा करो। कर्मों के संस्कारों से अपने आप को मुक्त करो। पूर्व के हुए ऐसे कर्म पुनः न दोहराओ जो तुम्हारे लिए बंधनों का कारण बने। ध्यान रहे, तुम्हारा बौद्धिक तथा शास्त्रीय ज्ञान तब तक कोई काम नहीं देगा, जब तक तुम अपने कर्मों को न सुधारोगे। ईश उपनिषद् के ऋषि भी हमें मरणकाल के लिए उपदेश देते हैं "क्रतो स्मर कृतं स्मर"[1] अर्थात जो आगे करना है तथा जो कर चुके हो उनका स्मरण कर।

"कहहिं कबीर तासों क्या कहिये, जो देखत दृष्टि भुलाना।" सद्गुरु कहते हैं कि उसको क्या सीख दी जाये जो आंखों से देखते हुए भी भूले मार्ग पर जा रहा है। कबीर साहेब विद्वानों की जड़ता पर दुखी होकर इस पूरे शब्द में उनकी वास्तविकता पर प्रकाश डालते हैं। वे इस शब्द में शुरू से ही कहते हैं कि लोग कुलीन, मिस्कीन, योगी, संन्यासी, ज्ञानी, गुणी, कवि, दाता आदि बनकर भी न संशय से मुक्त हैं और न ज्ञान के अनुसार आचरण करते हैं। इस अन्तिम पंक्ति में सद्गुरु कहते हैं कि इन विद्या तथा अपने बड़प्पन के अहंकारियों को समझाना बड़ा कठिन है। ये देखकर नहीं देखते, जानकर नहीं जानते। सोते हुए को जगाना सरल है, परन्तु जागते हुए जो सोने की नकल कर रहा है उसे जगाना कठिन है। यद्यपि प्रयत्न तो करना ही चाहिए।

भवसागर से अपने आप को बचाओ

शब्द 15

रामुरा चली बिनावन मा हो, घर छोड़े जात जोलाहा हो॥ 1॥
गज नौ गज दस गज उन इस की, पुरिया एक तनाई॥ 2॥
सात सूत नौ गण्ड बहत्तर, पाट लागु अधिकाई॥ 3॥
ता पट तुला तुलै नहिं गज न अमाई, पैसन सेर अढ़ाई॥ 4॥
तामें घटै बढ़े रतियो नहिं, करकच करे गहराई॥ 5॥
नित उठि बैठि खसम सो बरबस, तापर लाग तिहाई॥ 6॥
भींगी पुरिया काम न आवै, जोलहा चला रिसाई॥ 7॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जिन यह सृष्टि बनाई॥ 8॥
छाँड़ पसार राम भजु बौरे, भवसागर कठिनाई॥ 9॥

---

1. ईश उपनिषद्, मंत्र 17।

शब्दार्थ—रामुरा=रमैया राम जीव। बिनावन=शरीर रूपी वस्त्र बिनाने के लिए। मा=माया, वासना। हो=हे, संबोधन। घर=शरीर। जोलाहा=नाना कर्म एवं शरीर रूपी वस्त्र बीनने वाला जीव। गज=वस्त्र नापने की एक नाप, तात्पर्य में मन। नौ गज=शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—इन नवों का कर्मवासनामय सूक्ष्म शरीर। दस गज=दस इन्द्रियां—आंख, नाक, कान, जीभ, त्वचा, हाथ, पैर, मुख, गुदा, उपस्थ। उनइस=उपर्युक्त नौ तथा दस मिलकर उन्नीस। पुरिया=ताना, थान, शरीर। सात सूत=रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा वीर्य। नौ=नौ नाड़ी—पुहूखा, गंधारी, गणेशिनी, कुहू, अलंबुषा, पयस्वनी, हस्तिनी, वारुणी तथा शंखनी। गण्ड=गांठ। बहत्तर=बहत्तर नाड़ियां—16 कंडरों (महास्नायु—मोटी नसें), 16 जाल (महीन नसें), 4 रज्जु, 7 सेवनी (सीवन जैसा शरीर के किसी अंग का योग—मस्तक में पांच, जीभ में एक, शिश्न में एक), 14 अस्थि संघात, 14 सीमंत, 1 त्वचा। अथवा बहत्तर हजार नाड़ियां। पाट=फैलावा, पनहा, वस्त्र। अधिकाई=उत्तम। गज न अमाई=मन शांत नहीं हुआ। करकच=झगड़ा। गहराई=बहुत। खसम=पति, जीव। बरबस=बलात। तिहाई=तीसरापन-बुढ़ापा। भींगी=विषय-लिप्त या जरजर। पुरिया=बाना फैलाने की नरी, ताना, तात्पर्य में स्थूल-सूक्ष्म शरीर। जोलाहा=जीव। रिसाई=क्रुद्ध, दुखी। जिन=जीव। पसार=माया का विस्तार। भवसागर=वासना, जन्म-मरण।

रूपक—एक जोलाहा तथा जोलाहिन में झगड़ा हुआ। जोलाहा घर छोड़कर चल दिया और जोलाहिन कपड़ा बिनवाने के लिए अन्यत्र चल दी। उसने नौ गज, दस गज, उन्नीस गज एवं नाना आकार में कपड़े बिनवाने के लिए पुरिया तनवायी। उसमें कहीं सात सूत का किनारा लगा, कहीं नौ का और कहीं बहत्तर सूतों की गांठ देकर चित्र-विचित्र बहुत कपड़े बनवाये। कपड़े बहुत बन गये। वह उसे बेचने बैठी तो गज से नाप कर बेचने की बात ही दूर, तराजू में तौलकर बेचने में भी संभव नहीं हुआ। कपड़ा इतना सस्ता पड़ गया कि एक पैसे का ढाई सेर बिकने लगा। यद्यपि जोलाहिन ग्राहकों से बहुत झगड़ा करती थी, परन्तु दाम बढ़ने की तो बात ही दूर, उलटे गिरता गया। वह रोज सुबह उठकर पति से भी झगड़ा करती। फिर भी कपड़े का दाम तीन हिस्सा और गिर गया। फिर जोलाहिन ने क्रोधावेश में नये सूत के गट्ठों पर पानी डाल दिया और सारी पुरियां भींग गयीं। अतएव उसका पति क्रुद्ध होकर पुनः घर से निकल गया। वह कबीर साहेब के पास गया। कबीर साहेब अपनी संतमंडली के साथ बैठे थे। उसने अपना दुख कबीर साहेब से कहा। साहेब ने कहा—'हे पगले, तू ही तो यह माया की सृष्टि बनाकर इसमें

उलझा है, इसे छोड़ और राम का भजन कर, अन्यथा संसार-सागर से तरना कठिन है।'

भावार्थ—हे रमैया राम! जब जीव रूपी जोलाहा शरीर रूपी घर छोड़कर अन्य खानियों में जाता है, तब उसके साथ आगामी शरीर रूपी वस्त्र बुनवाने के लिए कर्म-वासना रूपी माया चलती है॥ 1॥ जीव के साथ माता के गर्भ में जाकर वहां उसने जीव के लिए शरीर रूपी वस्त्र बुनने के लिए एक ताना तनवाया जिसमें मन, नौ तत्त्व का सूक्ष्म शरीर, दस इन्द्रियां, सप्त धातु, नौ नाड़ियां एवं बहत्तर कोठे, नसें या बहत्तर हजार नाड़ियां रूपी सामग्री लगी। यह मानव शरीर रूपी वस्त्र अन्य शरीरों से उत्तम बना॥ 2-3॥ इसकी तुलना मानवेतर शरीरों से नहीं की जा सकती; परन्तु खेद है कि व्यक्ति का मन स्ववश एवं शांत न होने से यह एक पैसे का ढाई सेर बिकने लगा। अर्थात मोक्ष-साधना योग्य मानव शरीर तुच्छ विषयों के लिए बिकने लगा॥ 4॥ उसमें भी मानव के जीवन के जितने दिन बीतते हैं उतना ही उसका मूल्य घटता जाता है; क्योंकि उसके मन में सांसारिक वासना, तृष्णा, कलह एवं द्वन्द्व गहरे होते जाते हैं॥ 5॥ मनुष्य की सुबह नींद खुलते ही वासना-माया रूपी पत्नी नित्य उठकर बैठ जाती है और अपने जीव रूपी पति से जबर्दस्ती तृष्णा एवं चिन्ता रूपी झगड़ा ठान देती है। इसी माया के द्वंद्व में जीव का तीसरापन बुढ़ापा बीत जाता है॥ 6॥ तृष्णाओं तथा चिन्ताओं से भींगा मन और जरजरता से ढीला तन कल्याण-साधना में काम नहीं देते। अंततः जीवन का आखिर आ जाता है और बारम्बार शरीर रूपी वस्त्र का वयन करने वाला जीव रूपी जोलाहा दुखी होकर पुनः दूसरा शरीर-वस्त्र-वयन करने चल देता है और पूर्व गर्भवास की स्थिति में पहुंच जाता है॥ 7॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, जिस आत्माराम ने अपने स्वरूप की भूल से विषयासक्त होकर यह जन्म-मरण की सृष्टि की रचना की है, हे पगले! सारे विषयप्रपंच का पसारा छोड़कर उस आत्माराम का भजन कर, अन्यथा इस विषयवासना तथा जन्म-मरण रूपी भवसागर से तरना कठिन है॥ 8-9॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस शब्द में जोलाहे का सुन्दर रूपक देकर जीव के जन्मान्तर का रहस्य समझाया है, साथ ही मानव वासनाओं में उलझकर किस तरह अपने शरीर का दुरुपयोग करता है इस पर प्रकाश डाला है।

इस शब्द में पहली पंक्ति में यह बात बतायी गयी है कि जीव जब शरीर छोड़कर जन्मान्तर में चलता है तब वह अकेला नहीं जाता है, प्रत्युत अपने साथ वासनाओं को लेकर जाता है। जोलाहा कपड़ा बुनता है। जोलाहिन उसके काम में सहयोग करती है। जीव-जोलाहा बारम्बार शरीर रूपी वस्त्र

बुनता है। उसमें वासना रूपी जोलाहिन सहयोग करती है। बिना वासना के शरीर धारण हो ही नहीं सकता।

दूसरी और तीसरी पंक्ति में शरीर के भीतर लगी सामग्रियों का वर्णन है। इसके साथ 'पाट लागु अधिकाई' कहकर यह बताया गया कि यह मानव शरीर श्रेष्ठ है और 'ता पट तुला तुलै नहिं' कहकर बताया गया है कि मनुष्येतर कोई शरीर मानव-शरीर की तुलना में नहीं तुल सकता। मानव शरीर में सबसे दुखद घटना है 'गज न अमाई' अर्थात मन शांत न होना। जो शांत-मन वाला नहीं होता उसका शरीर 'पैसन सेर अढ़ाई' में बिकता है। अशांत मन वाला अनेक व्यसनों एवं दुर्गुणों में फंसकर जीवन को कौड़ी के मोल में खोता है। मनुष्यों पर दृष्टि डालिए तो पता लगेगा कि ये कल्याणसाधना करने योग्य अत्यंत मूल्यवान मानव-शरीर कैसे तुच्छ बातों में खो रहे हैं। लोग ताश, जुआ, गप्पबाजी, परनिन्दा, शराब, गांजा, भांग, सिगरेट, तम्बाकू, राग-द्वेष, कलह-कल्पना आदि में अनोखा जीवन नष्ट कर रहे हैं।

"तामें घटै बढ़े रतियो नहिं, करकच करे गहराई।" सद्गुरु कहते हैं कि ऐसी स्थिति में मानव-जीवन का मूल्य निरंतर घटता ही जाता है, बढ़ने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। क्योंकि ऐसे आदमी निरंतर गहरे कलह में पड़ते जाते हैं। जीवन जीने का गलत तरीका अपनाने से आदमी के जितने दिन बीतते हैं उतना ही वह उलझता जाता है। गेंद छत से जीने पर जब गिरती है तब वह बीच में नहीं रुक सकती। वह एक से दूसरे जीने पर गिरती हुई नीचे आ जाती है। यही दशा जीवन की है। यदि आदमी राग-द्वेष, कलह-कल्पना, चिन्ता-शोक और नाना दुर्व्यसनों एवं विकारों के कारण नीचे जा रहा है और उनसे बचने का प्रयत्न नहीं कर रहा है, तो वह निरंतर नीचे ही जायेगा। मन मलिन होने से जीवन के आचरण गिरते हैं तथा आचरण गिरने से मन और अधिक मलिन होता है। उसके पश्चात वही क्रम चालू रहता है और जीवन उत्तरोत्तर गिरता जाता है। जीवन गिरने का मुख्य लक्षण है 'करकच करे गहराई' मन के द्वन्द्व अधिक बढ़ते जाना। मन में जितना अधिक कलह होगा उतना अधिक कलह जीवन के व्यवहार में बढ़ेगा।

"नित उठि बैठि खसम सो बरबस, तापर लागु तिहाई।" आदमी सुबह उठता है और उसके साथ उसके मन की वासनों तथा गलत आदतें भी उठ बैठती हैं और वे अपने पति देवता जीव से जबर्दस्ती अपनी इच्छों पूरी कराने में लग जाती हैं। कितने लोग हैं कि वे बिस्तर पर जागने के बाद ठीक से कुल्ला नहीं करेंगे, किन्तु बीड़ी-सिगरेट जलाकर मुख में खोंस लेंगे या

तम्बाकू-चूना मुंह में ठूंस लेंगे। पढ़े-लिखों में तो 'बेड-टी' का प्रचलन ही हो गया है। नींद खुलते ही बिस्तर पर चाय चाहिए। इतना ही क्या, जागते ही गाली-गुप्ता, ईर्ष्या-द्वेष, दूसरों को बेवकूफ बनाने का षड्यंत्र करना, और चिन्ता-शोक में जलना शुरू हो जाता है। जीव ने अपने स्वरूप की महत्ता न समझकर वासनाओं को ही बलवान बना लिया है। अब वे वासनों जीव को निरंतर रुलाती रहती हैं। सद्गुरु कहते हैं 'तापर लागु तिहाई' इन्हीं वासनाओं की उलझन में तीसरापन बुढ़ापा आ जाता है और इन्हीं उलझनों में वह बीत भी जाता है।

"भींगी पुरिया काम न आवै, जोलहा चला रिसाई।" सूत का बंडल यदि पानी में भींग जाये तो वह कपड़ा बुनने में काम नहीं दे सकता, इसी प्रकार अनेक वासनाओं, चिन्ताओं एवं उलझनों में डूबा मन तथा जरजरता से पीड़ित शरीर साधना के योग्य नहीं रह जाता। जिसने जीवन भर या जीवन के उत्तरार्ध में खुराफाती काम किये हैं, उनका मन अनेक मानसिक विकारों में उलझ जाता है। इसके साथ शरीर कमजोर होने से शरीर के सारे अंग-सहित बुद्धि भी कमजोर हो जाती है। फिर ऐसी जरजरता में कल्याण-साधना का काम क्या बन सकता है! भर्तृहरि जी कहते हैं "जब तक देह निरोग है, बुढ़ापा दूर है, अंग बलवान हैं, आयु शेष है, तब तक अपने कल्याण का साधन कर लो। अन्यथा घर में आग लगने पर कुआं खोदने न्याय जरजर मन और तन हो जाने पर कुछ नहीं कर सकोगे।"[1] ऐसी मन की उलझी हुई अवस्था में तो जीव दुखी होकर अंततः शरीर छोड़ देता है और पुनः नया शरीर रूपी वस्त्र बनाने चल देता है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जिन यह सृष्टि बनाई। छाड़ पसार राम भजु बौरे, भवसागर कठिनाई।" सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तूने ही तो यह माया-मोह की सृष्टि बनायी है। तू अपने ही बनाये दुखों की सृष्टि में स्वयं फंसा है। तेरे दुखों के लिए किसी दूसरे ने सृष्टि नहीं बनायी है। तुझे दुख भोगने के लिए कोई तुम्हारे लिए सृष्टि बना दे, यह संभव ही नहीं है। तूने ही

---

1. जौ लौं देह निरोग और जौ लौं न जरा तन।
अरु जौ लौं बलवान आयु अरु इन्द्रिन के गन॥
तौ लौं निज कल्याण करन को यत्न विचारत।
वह पंडित वह धीर वीर जो प्रथम सम्हारत॥
फिर होत कहा जरजर भये जप तप संयम नहिं बनत।
भव काम उठ्यो निज भवन जब तब क्यों कर कूपहिं खनत॥

अपने स्वरूप को न समझकर स्वयं माया-मोह एवं अनेक विकारों की सृष्टि बनायी है और उसी में उलझा दुख पा रहा है। हे पगले ! इस माया के पसारा को छोड़, प्रपंच से अलग हो और राम का भजन कर। तेरा चेतन स्वरूप ही राम है। तू ही तो राम है। विषयों को छोड़कर अपने चेतन स्वरूप में विश्राम कर, यही राम-भजन है। जो व्यक्ति स्वरूप राम में रमण करता है, वह विषय-वासनाओं एवं संसार के प्रंपच रूपी भवसागर से सहज ही मुक्त हो जाता है और जो राम-भजन नहीं करता उसको भवसागर तरना कठिन है। मन के विकार ही तो भवसागर है। जो आत्माराम हो जाता है, उसके मन के विकार अपने आप समाप्त हो जाते हैं। तू ही मानसिक-सृष्टि रचकर उसमें दुखी है। तेरा कर्तव्य है कि तू उससे उपरत होकर अपने आप में स्थित हो।

हठयोग की कल्पनाओं की परख

शब्द-16

रामुरा झीझी जन्तर बाजै, कर चरण बिहूना नाचै॥ 1॥
कर बिनु बाजै सुनै श्रवण बिनु, श्रवण श्रोता सोई॥ 2॥
पाटन सुबस सभा बिन अवसर, बूझो मुनि जन लोई॥ 3॥
इन्द्रि बिनु भोग स्वाद जिभ्या बिनु, अक्षय पिण्ड बिहूना॥ 4॥
जागत चोर मन्दिर तहाँ मूसै, खसम अछत घर सूना॥ 5॥
बीज बिनु अंकुर पेड़ बिनु तरिवर, बिनु फूले फल फरिया॥ 6॥
बाँझ कि कोख पुत्र अवतरिया, बिनु पग तरिवर चढ़िया॥ 7॥
मसि बिनु द्वाइत कलम बिनु कागद, बिनु अक्षर सुधि होई॥ 8॥
सुधि बिनु सहज ज्ञान बिन ज्ञाता, कहहिं कबीर जन सोई॥ 9॥

शब्दार्थ—रामुरा=जीव। झीझी=झींझीं, अनाहतनाद, ध्वनि। जन्तर=यन्त्र, शरीर, ब्रह्मांड, खोपड़ी। बिहूना=रहित। पाटन=नगर। सुबस=भलीभांति बसा हुआ। बिनु अवसर=निरन्तर, सदैव। पिण्ड=शरीर। मन्दिर=हृदय। खसम=स्वामी, जीव। अछत=रहते हुए। घर=हृदय। बाँझ=वंध्या। कोख=पेट, उदर। मसि=स्याही। द्वाइत=दवात। सुधि=याद, चेत, होशहवास। जन=मनुष्य।

भावार्थ—हे रमैया राम ! योगी लोगों को बड़ा भ्रम है। वे कहते हैं कि खोपड़ी में जो झींझीं करके आवाज होती है वह अनाहतनाद है। वही ब्रह्मध्वनि है। वहां हाथ और पैर के बिना नाच होता है॥ 1॥ वहां हाथ के बिना बाजा बजता है तथा श्रवण के बिना सुना जाता है। वहां श्रवण और श्रोता स्वयं साधक ही है॥ 2॥ वहां सुन्दर नगर बसा है और हर समय वहां

सभा लगी रहती है। हे मननशीलो ! उसे समझो॥ 3॥ वहां इन्द्रियों के बिना भोग होता है और जीभ के बिना स्वाद लिया जाता है। वहां शरीर रहित अखंड तत्त्व है॥ 4॥ सद्गुरु कहते हैं कि यह सब तो वैसे ही हुआ जैसे घर वाले के जागते-जागते घर में से चोर धन चुरा ले जाये और घर में मालिक के रहते भी घर सूना-जैसे लगे॥ 5॥ इतना ही नहीं, जैसे बीज के बिना अंकुर पैदा हो जाये, पौधे के बिना वृक्ष बन जाये, फूल के बिना फल लग जायें, वंध्या के पेट से पुत्र पैदा हो जाये और बिना पैर के ही पेड़ पर चढ़ जाये॥ 6-7॥ वस्तुतः निजस्वरूप की स्थिति तो ऐसी है कि उसमें न उक्त योगियों के द्वारा दर्शाये गये नाद, दृश्य आदि की आवश्यकता है और न बाहरी शास्त्र ज्ञान की आवश्यकता है। उसकी याद तो स्याही, दवात, कलम, कागज तथा अक्षरों के बिना ही होती है॥ 8॥ वह बाहरी याद भी नहीं है, शास्त्रज्ञान के बिना ही वह सहज ज्ञाता ज्ञान-निधान है। कबीर साहेब कहते हैं कि वही मनुष्य सच्चा ज्ञानी है जो अपने सहज ज्ञानस्वरूप में रमता है॥ 9॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस शब्द में हठयोगियों की मान्यताओं का दिग्दर्शन कराया है। हठयोगी लोग मानते हैं कि कान बन्द करने पर जो खोपड़ी में झींझीं आवाज सुनाई देती है वह अनाहतनाद है। वही ब्रह्मध्वनि है। उस आवाज में वे लोग घंटा, भेरी, मृदंग, शहनाई, बांसुरी आदि के अनेक स्वरों की कल्पना करते हैं। वस्तुतः कान बंदकर और चित्त एकाग्रकर जब उसे सुना जाता है तब उसमें अनेक स्वरों की कल्पना होने लगती है। ये सब नसों की झनकारें हैं। जैसे बिजली के तार के खंभों के पास खड़ा होकर सुनो तो वहां गनगनाहट की आवाज आती सुनाई देगी, वैसे कान बंद करने पर नाड़ियों की गति से उत्पन्न हुई ध्वनि खोपड़ी में सुनाई देती है। न वह ब्रह्मध्वनि है और न उसमें स्थित होने के मोक्ष-गति है। हां, साधक प्रथम अवस्था में अपने मन को रोकने के लिए अनेक साधनाओं में एक साधना यह भी कर सकता है। जब वह ध्वनि में मन लगायेगा, तब संसार-प्रपंच भूल जायेगा। परन्तु साधक को यह समझ लेना चाहिए कि वह ध्वनि उसका अपना आत्मस्वरूप एवं चेतन स्वरूप नहीं है, अपितु जड़-शब्द है। उसमें ज्यादा समय के लिए तन्मय होना एक जड़ाध्यास ग्रहण करना है। जैसे कोई गुरु के चित्र का ध्यान करता है, तो यह आरंभिक काल में केवल मन रोकने का साधन है, न कि गुरु के चित्र में मन को सदैव के लिए लगा देना चाहिए। क्योंकि गुरु का चित्र भी जड़ विजाति है। वह जीव का अपना स्वरूप नहीं बन सकता।

इस ग्रन्थ की व्याख्या में इस बात पर कई बार निवेदन किया गया है कि अनाहतनाद का अर्थ होता है बिना चोट के उत्पन्न हुई ध्वनि। परन्तु बिना दो

पदार्थों की टक्कर के ध्वनि पैदा ही नहीं हो सकती। नसों में जो रक्त का वहन होता है एवं शरीर की गतिविधि में जो नस-नाड़ियां कंपित होती हैं, उसी से ही ध्वनि पैदा होती है; अतएव जिसे हठयोगी अनाहतनाद कहते हैं वह वस्तुतः आहतनाद ही है। विवेक से देखा जाये तो अनाहतनाद है अन्तरात्मा की आवाज। हर मनुष्य की चेतना बताती है कि उसका क्या कर्तव्य है तथा क्या अकर्तव्य। मन की एकाग्रता से इसका साफ अनुभव होता है।

हठयोगी लोग तथाकथित अनाहतनाद श्रवण के अलावा त्राटक मुद्रा करके त्रिकुटी में ज्योति-दर्शन करते हैं। किसी जगह नेत्र से एकटक देखने से या आंख बन्दकर अंधकार या गरमी को देखने से अनेक रंगों की ज्योति दिखाई देती है। वह सब भी जड़ दृश्य है। हठयोगी लोग जीभ को उलटाकर तालुमूल में लगाते हैं तो ऊपर से जो पानी टपकता है, उसे पीते हुए उसका स्वाद लेते हैं। उसे वे अमृतरस-पान कहते हैं। हठयोगी लोग शरीर के भीतर सारा संसार देखने की चेष्टा करते हैं। उनकी साधना का एक अलग लोक है। वे शरीर के भीतर ही घन-गर्जन, मेह-बरसन, बिजली-चमकन आदि की कल्पना करते हैं। सद्गुरु ने इस शब्द में इन्हीं लहजों में उनकी मान्यताओं का दिग्दर्शन कराया है।

हठयोगियों की कल्पना है कि शरीर के भीतर झीं-झीं स्वर में अनाहतनाद बजता है और वहां बिना हाथ-पैर के नाच होता है। संसार में देखा जाता है कि बिना पैर चलाये तथा बिना हाथ मटकाये किसी का नाचना असंभव है। परन्तु शरीर के भीतर के नाच के लिए हाथ-पैर की आवश्यकता नहीं होती। हठयोग की साधना में तत्त्व-प्रकृतियां मानो अपने आप नाचती हैं। वहां हाथ के बिना अनाहतनाद का बाजा बजता है और उसे कान के बिना, बल्कि कान को बन्द करके ही सुना जाता है। वहां पर श्रोता ही मानो श्रवण है। अर्थात सुनने वाला ही कान बन जाता है। "पाटन सुबस सभा बिनु अवसर" हठयोग की साधना करने पर जब ज्योति-दृश्य में एकाग्रता होती है तब कभी लगता है कि मानो मैं किसी नगर में, देवमन्दिर में, प्रकाशपुंज-पथ में पहुंच गया हूं। कभी-कभी लगता है मैं एक विशाल सभा में पहुच हूं और वह सभा निरन्तर लगी रहती है। वहां इन्द्रियों के बिना भोग भोगने का भास होता है और जीभ के बिना स्वाद चखने का आभास होता है। हठयोगी भीतर एक ज्योति की कल्पना करते हैं। वे उसे ब्रह्म तथा अखण्ड स्वरूप मानते हैं। कहना न होगा कि यह सब उनके मन-इन्द्रियों के भास-अध्यास हैं।

उक्त सारे हठयौगिक प्रपंचों पर व्यंग्य करते हुए सद्गुरु अगली पंक्ति में कहते हैं—"जागत चोर मन्दिर तहाँ मूसै, खसम अछत घर सूना।" मकान

मालिक जाग रहा हो और उसके घर के भीतर से उसके देखते-देखते धन की चोरी हो जाये, और घर के भीतर घर का मालिक बैठा हो, परन्तु घर सूना लगे, यही दशा हठयोगियों की है। वे स्वयं चेतन स्वरूप होकर जड़ शब्द, ज्योति, दृश्य आदि में भूले हैं। यही मानो उनके जागते हुए भी उनके हृदय-घर से उनके आत्मधन की चोरी हो रही है। जो अपने आत्माराम एवं अपने चेतन स्वरूप में न स्थित होकर मन के भास-अध्यास में रहता है, उसका ज्ञानधन मानो चुरा गया।

"जागत चोर मन्दिर तहाँ मूसै" पर एक मनोरंजक कहानी है। एक दम्पती (पति-पत्नी) घर में लेटे थे। दोनों जाग रहे थे। पीछे से ऊपर छत पर चोर चढ़ा और आंगन में उतर आया। पत्नी ने पति से कहा कि घर में चोर घुस आया है। पति ने कहा कि मैं देख रहा हूं, जान रहा हूं। चोर उस कमरे में गया जहां रुपये, कपड़े तथा जेवर की पेटियां थीं। पत्नी ने उसे पुनः सावधान किया। पति ने पुनः वही बात दोहरायी कि मैं देख तथा जान रहा हूं। जब चोर पेटी लेकर घर के पिछवाड़े के दरवाजे से निकलने लगा, तब पत्नी ने पुनः पति को बताया कि चोर पेटी लेकर जा रहा है। पति ने कहा—तू घबराती क्यों है, मैं जान रहा हूं, देख रहा हूं। जब चोर सामान लेकर चला गया तब पुरुष उठकर तथा तलवार-बन्दूक लेकर अपनी बहादुरी दिखाने लगा। वस्तुतः पुरुष डरपोक था और उसके जागते-जागते घर से धन चुरा गया। यही दशा हठयोगियों की है। वे गर्व रखते हैं कि हम ज्ञानी हैं, हमने सत्य का मोती पा लिया है, परन्तु वे भास-अध्यास में पड़कर कंकड़ बटोरते हैं। "खसम अछत घर सूना" खसम मालिक को कहते हैं। इस घर का मालिक, ज्ञान-विज्ञान का स्वामी मनुष्य की अन्तरात्मा है, चेतन जीव है, परन्तु उसका ज्ञान तथा स्थिति न कर मन-इन्द्रियों के दृश्यों में उलझना मानो मालिक के घर में रहते हुए भी घर सूना हे। हठयोगी जड़भास में फंसकर अपने आपा को भूल गये हैं। अपना आपा अपनी चेतना है और उसे भूलकर जो कुछ श्राव्य, दृश्य आदि जड़ भास है उसे ही लक्ष्य मान रहे हैं।

"बीज बिनु अंकुर पेड़ बिनु तरिवर, बिनु फूले फल फरिया। बाँझ कि कोख पुत्र अवतरिया, बिनु पग तरिवर चढ़िया।" अर्थात हठयोगियों को उनके योगाभ्यास में जो कुछ प्राप्त होता है उसका उनका परमतत्त्व एवं निजस्वरूप होना वैसे ही असंभव है जैसे बीज के बिना अंकुर होना, पौधे के बिना वृक्ष होना, फूल के बिना फल होना, बांझ को पुत्र होना तथा बिना पैर के पेड़ पर चढ़ना। ये सब जैसे असंभव हैं, वैसे शब्द, ज्योति, भास आदि का मेरा निजस्वरूप, मेरा परमनिधान एवं मेरी चिरस्थिति होना असंभव है।

"मसि बिनु द्वाइत कलम बिनु कागद, बिनु अक्षर सुधि होई। सुधि बिनु सहज ज्ञान बिनु ज्ञाता, कहहिं कबीर जन सोई।" इस दोनों पंक्तियों में सद्गुरु बताते हैं कि जो अपना प्राप्तव्य है, परमतत्त्व एवं निजस्वरूप की स्थिति है उसके लिए न हठयोग की आवश्यकता है और न शास्त्रज्ञान की आवश्यकता है। उसके लिए तो स्थितप्रज्ञ सद्गुरु की सेवा कर निज स्वरूप का भेद जानना चाहिए और उसमें स्थिति होना चाहिए। उसके लिए स्याही, दवात, कलम, कागज तथा अक्षर की आवश्यकता नहीं है। उन सबके बिना केवल गुरु उपदेश, स्वविवेक तथा स्वसमाधि से ही अपने घर की सुधि हो जाती है। सुधि कहते हैं याद को, होशहवास एवं चेत को। यह सुधि भी संसारी सुधि नहीं है। यदि आप संसारी याद, संसारी ज्ञान की बात करें, तो मैं कहूंगा कि तो फिर उस सुधि और ज्ञान के बिना ही यह सुधि एवं ज्ञान है। यह सुधि, यह ज्ञान अपने सहज चेतन स्वरूप का है। संसार को भूल जाना ही अपने आप की सुधि में आना है। "सुधि बिनु सहज ज्ञान बिनु ज्ञाता" संसारी सुधि, संसारी व्यवहार, संसारी ज्ञान से हटकर सहज स्वरूप का ज्ञान, स्वरूप की सुधि रखने वाला ही सच्चा ज्ञानी है।

पुरोहित-मीमांसा

शब्द-17

रामहि गावै औरहि समझावै, हरि जाने बिनु बिकल फिरे॥ 1॥
जेहि मुख वेद गायत्री उचरे, ताके बचन संसार तरे॥ 2॥
जाके पाँव जगत उठि लागे, सो ब्राह्मण जीव बद्ध करे॥ 3॥
आपन ऊँच नीच घर भोजन, घीन कर्म हठि वोद्र भरे॥ 4॥
ग्रहण अमावस ढुकि ढुकि माँगे, कर दीपक लिये कूप परे॥ 5॥
एकादशी व्रत नहिं जाने, भूत प्रेत हठि हृदय धरे॥ 6॥
तजि कपूर गाँठी विष बाँधे, ज्ञान गवाँये मुग्ध फिरे॥ 7॥
छीजै साहु चोर प्रतिपाले, सन्त जना की कूटि करे॥ 8॥
कहहिं कबीर जिभ्या के लम्पट, यहि विधि प्राणी नर्क परे॥ 9॥

शब्दार्थ—घीन कर्म=घृणित कर्म। ढुकि-ढुकि=घुस-घुस। मुग्ध=मूर्ख, अज्ञानी।

भावार्थ—वाचिक ज्ञानी लोग राम के गीत गाते हैं और दूसरों को समझाते हैं, परन्तु राम क्या है इस तत्त्व का उन्हें बोध न होने से अशांत होकर भटकते हैं॥ 1॥ जिसके मुख से वेदमंत्र और गायत्री मंत्र का उच्चारण होता है संसार के लोग उन्हीं के उपदेशों से मुक्ति प्राप्ति की आशा करते हैं॥ 2॥ परन्तु

जिस तथाकथित ब्राह्मण के पैरों में संसार के लोग सुबह उठकर प्रणाम करते हैं, वे देवी-देवताओं के नाम पर जीव-वध करते हैं॥ 3॥ ब्राह्मण नामधारी अपने आप को ऊंचा मानते हैं, परन्तु स्वार्थ पड़ने पर नीच काम करने वालों के यहां भोजन कर लेते हैं। हिंसा एवं वध-कर्म, प्रेत-कर्म, श्राद्ध, तेरही, सोरही, नितकुम आदि घृणित कर्म करके हठपूर्वक पेट पालते हैं॥ 4॥ सूर्य-चन्द्र-ग्रहणादि या अमावस्या के दिन घर-घर घुस-घुसकर भिक्षा मांगते हैं। शास्त्ररूपी ज्ञान-दीपक हाथों में लेकर दुष्कर्म रूपी कुं में गिरते हैं॥ 5॥ दस इन्द्रियां और ग्यारहवां मन इन एकादशों को अपने वश में करना मानो एकादशी व्रत है, परन्तु इसे तो वे जानते नहीं, केवल एकादशी तिथि के दिन उपवास रहते हैं और दुराग्रहपूर्वक भूत-प्रेत आदि अनेक भ्रांतियों की बातें अपने हृदय में धारण करते हैं॥ 6॥ स्वरूपज्ञान रूपी कपूर को त्यागकर अपने पल्ले में भ्रांति रूपी विष बांधते हैं और आत्मज्ञान को खोकर मूर्ख बने भटकते हैं॥ 7॥ साधु-सज्जनों को पीड़ा देते हैं और छली तथा धूर्तों की रक्षा करते हैं तथा विवेकवान सन्तों की मसखरी करते हैं कि ये मुड़िया लोग वेद-शास्त्र के रास्ते से दूर हैं॥ 8॥ कबीर साहेब कहते हैं कि इस प्रकार जो जीभ के लम्पट लोग हैं वे नरक में जाने के अधिकारी हैं॥ 9॥

व्याख्या—इस शब्द में उन ब्राह्मण नामधारी पुरोहितों का वर्णन है जो देवी-देवताओं के नाम पर मूक तथा निरीह प्राणियों की हत्या करते-करवाते रहते हैं। फिर भी वे राम एवं ईश्वर की व्याख्या कर जगत के उद्धार करने का ढोंग करते हैं। वे राम के नाम पर खूब कथा-कीर्तन करते हैं, परन्तु रामतत्त्व के ज्ञान से शून्य ही होते हैं। वे घट-घटवासी आत्मा को राम न समझकर उसे या तो एक व्यक्ति विशेष के रूप में मानते हैं जो कभी जन्म लेकर शरीर त्याग चुका होगा अथवा वे राम की परोक्ष में कल्पना करते हैं। निज स्वरूप चेतन एवं व्यक्ति की आत्मा ही राम[1] है, यह समझ न होने से वे सदैव अशांत बने भटकते रहते हैं। वस्तु अपने पास है, परन्तु उसे न जानकर जो उसे बाहर खोजता फिरता है, वह अशांत न होगा तो क्या होगा ! शांति तो तब मिलती है जब भटकना छूट जाता है और आत्मा-राम में विश्राम मिल जाता है।

संसार के लोगों को विश्वास है कि ब्राह्मणों के मुख से उपदेश एवं दीक्षा

---

1. श्रुति भी कहती है—
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ (कठ. उप. 2/2/3)
जो प्राण को ऊपर उठाता तथा अपान को नीचे त्यागता और शरीर के मध्य (हृदय में) स्थिर रहता है, उस भजने योग्य की देवगण (सज्जन लोग) उपासना करते हैं ।

पाकर ही जीव का कल्याण है। यदि वैज्ञानिक-दृष्टि से देखा जाये तो यह सच है। ब्राह्मणत्व एक उच्चतम मानसिकता है। "जो जितेन्द्रिय हो, धर्मपरायण हो, स्वाध्यायनिरत और भीतर-बाहर पवित्र हो, तथा जिसने काम-क्रोध आदि पर पूर्ण विजय पा ली हो उसे विवेकी लोग ब्राह्मण कहते हैं।[1] शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिक भाव—ये व्यक्ति के स्वभाव से उत्पन्न हुए ब्रह्मकर्म हैं।"[2] ये हैं ब्राह्मणत्व के लक्षण और ऐसे ब्राह्मणों के मुख से उपदेश पाकर तथा उनके आदर्शों का अनुकरण कर तथा उनकी उपासना करके ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है। ऐसे ब्राह्मणों का न कोई कुल-गोत्र होता है, न कोई वर्ण-जाति और न कोई वंश-परम्परा। ये तो स्वभाव से उत्पन्न हुए तथा त्याग-तप द्वारा अर्जित किये हुए सद्गुणों के धनी लोग हैं। ऐसे सद्गुणों से सम्पन्न लोग ब्राह्मण हैं। ऐसे ब्राह्मण थे सनत्कुमार, बुद्ध, महावीर, ईसा, कबीर, नानक, रैदास, दयानन्द, विवेकानन्द आदि। पूर्ण संत ही सच्चा ब्राह्मण होता है। इसकी वंश-परम्परा नहीं चलती। यह स्वतः निर्माण का विषय है।

परन्तु खेद है कि भारतवर्ष में ब्राह्मण नामधारियों का एक बहुत बड़ा समूह है और उसमें से लोग आचरण से चाहे जितने गिरे हों, वे भी ब्राह्मण हैं। वे भी जगत-तारक हैं। जो वेद पढ़ता हो, गायत्री जपता हो या यह भी न करता हो, केवल उसका ब्राह्मण नाम हो, फिर चाहे वह देवी-देवताओं के नाम पर जीव-वध करता-कराता हो और सभी घृणित कर्म करता हो, परन्तु वह जगत का उद्धारकर्ता है। "पूजिय विप्र शील गुण हीना" आचरण से भ्रष्ट भी ब्राह्मण नामधारी पूज्य है, भूसूर है, ऐसे महीसुर-चरण की वन्दना करनी चाहिए, इत्यादि। इस मानसिकता ने ब्राह्मणत्व को नष्ट करके रख दिया है।

सद्गुरु कबीर ने इस शब्द में ब्राह्मण कहलाने वाले पतित पुरोहितों का नक्शा खींचा है। यहां जाति के रूप में रूढ़ ब्राह्मण-समाज की निंदा नहीं है। आज-कल कुर्मी, काछी, बनिया आदि की तरह ब्राह्मण एक रूढ़ जाति है जिसके सदस्य भी अन्यों की तरह कमाते-खाते और जीते हैं। जैसे अन्य वर्गों में अच्छे-बुरे सभी प्रकार के लोग होते हैं वैसे ब्राह्मण नामधारी समूह में भी अच्छे-बुरे सभी प्रकार के लोग होते हैं। कोई तथाकथित जाति या समूह न पूरा-का-पूरा शुद्ध होता है और न पूरा-का-पूरा अशुद्ध। अच्छे-बुरे हर जगह

---

1. जितेन्द्रियः धर्मपरः स्वाध्याय निरतः शुचिः।
   कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥ (महाभारत, वनपर्व 206/34)
2. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
   ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ (गीता 18/42)

होते हैं। अतः कमाते-खाते ब्राह्मण कहलाने वाले आम लोगों को यहां कुछ नहीं कहना है। यहां तो सद्गुरु उनको धिक्कारते हैं जो जगत-तारक पुरोहित बनते हैं और घृणित कर्म करते हैं।

ऐसे पुरोहित लोग अपने आप को तो ऊंचा मानते हैं, परन्तु उनके कर्म घिनौने हैं। वे किसी प्रकार कर्मकांड का जाल फैलाकर समाज को चूसना चाहते हैं। आम जनता अनेक आपत्ति-विपत्ति और अभावों से पीड़ित होती ही है, अतः पुरोहित लोग दुख दूर करने का झांसा देकर उन्हें अपने कर्मकांड के जाल में फंसाते हैं। इस प्रकार साधारण मनुष्यों की अज्ञानजनित कमजोरियों से पुरोहितवर्ग अपने भौतिक स्वार्थ का लाभ उठाता है। रोग काटने, धन प्राप्त कराने, मुकदमा में विजय दिलाने, भूत-प्रेत पकड़ने, पुत्र पैदा कराने, प्रशासनिक या राजनैतिक पद दिलाने या उसे सुरक्षित रखने, मृत पितरों को स्वर्ग दिलाने-जैसी अगणित बातें हैं, जो आम जनता को फंसाने के लिए प्रलोभन का एक भयंकर जाल है। कर्मकांड, पूजा और तंत्र-मंत्र के नाम पर पुरोहित लोग जनता को मूर्ख बनाते हैं। अपवादस्वरूप कुछ सरल पुरोहितों को छोड़कर शेष पुरोहित लोग यह नहीं चाहते कि जनता में ज्ञान फैले। क्योंकि उनको यह भय रहता है कि जनता जितना प्रबुद्ध होती जायेगी उतना वह कर्मकांडों के जाल तथा तंत्र-मंत्र से दूर हटती जायेगी। यह दोष केवल ब्राह्मण पुरोहितों का ही नहीं है, किन्तु प्रायः संसार के सभी समाजों के पुरोहितों का है।

जन्म, मृत्यु, विवाहादि में कुछ संस्कारगत क्रियाकलाप करना पुरोहितों का काम है। उसमें विवाह ही मुख्य है। क्योंकि जन्मा हुआ बच्चा कुछ नहीं जानता कि पुरोहित क्या संस्कार का काम कर रहा है तथा मृतक मनुष्य तो कुछ जान ही नहीं सकता। पुरोहितों को इतने संस्कार कराने मात्र से सन्तोष नहीं होता। वे पुरोहिताई को पेट का धन्धा बना लेते हैं, इसलिए अधिक धन पाने के लिए समाज को झांसा देना शुरू करते हैं। यहीं से उनमें छल, छद्म तथा नाना घृणित कर्म आते हैं।

ग्रहण आकाश के चन्द्र-सूर्य को लगता है। यह आज स्कूल का बच्चा भी जानता है कि सूर्य-चन्द्र-ग्रहण सूर्य, चन्द्र तथा पृथ्वी के एक सिधाई में आने से लगता है। यह और कुछ नहीं, किन्तु बीच में एक के आ जाने से दूसरे का अंश या सर्वांश न दिखना मात्र है। इसमें न कोई पाप है और न पुण्य। परन्तु परोहित इसके उपलक्ष्य में भी जनता से दान लेता है। वे कहते हैं कि ग्रहण लगने से सबको छूत लग गयी है, इसलिए सब स्नान-दान करके शुद्ध बनें। इस प्रकार छलपूर्वक दान लेना तो वैसे है जैसे कोई हाथ में दीपक लेकर कुंें में गिरे। हाथ में दीपक होने से तो हमें आगे सब कुछ देखना

चाहिए, परन्तु हम हाथ में प्रकाश लेकर भी कुँ में गिरते हैं तो सुधार का क्या रास्ता है ! दीपक धर्मशास्त्र है। पुरोहित वर्ग हाथ में धर्मशास्त्र लेकर भी कुँ में गिरता है। वह शास्त्र का सदुपयोग न कर दुरुपयोग करता है। वह उसका भौतिक स्वार्थ में उपयोग करता है।

एकादशी या किसी तिथि को आहार न लेकर पेट को हलका बनाना तथा उस दिन अधिक स्वाध्याय एवं भजन-पूजन में मन लगाना अच्छी बात है। परन्तु एकादशी को अधिक तूल देकर यह कहना कि जो एकादशी को अन्न खाता है वह विष्ठा खाता है तथा पानी पीता है तो पेशाब पीता है, एक पागलपन है। पुरोहितों ने एकादशी का बहुत दुरुपयोग किया है। कितने लोग उस दिन तो अन्न जरूर छोड़ देते हैं, परन्तु दूध-सिंघाड़ा एवं फल-कंद आवश्यकता से अधिक खाकर पेट को खराब कर लेते हैं। एकादशी को उपवास रहने से स्वर्ग में निवास होता है इत्यादि जो पुराणों एवं धर्मशास्त्रों में लिख रखा है वह उसकी प्रशंसा कर जनता को उपवास की तरफ केवल उन्मुख करना है। परन्तु यह मिथ्या महिमा लोगों का कल्याणकर न होकर उलटे एक भ्रमोत्पादक हुई।

भारतरत्न महामहोपाध्याय पांडुरंग वामन काणे जी लिखते हैं—"एकादशी पर किये जाने वाले उपवास की अतिशय प्रशंसा में पुराणों एवं निबंधों में विस्तार के साथ अत्युक्तियां भरी पड़ी हैं। नारद-पुराण में एकादशी-माहात्म्य पर एक लम्बी उक्ति है (हेमाद्रि, काल पृष्ठ 146; का. नि. पृष्ठ 273-274)। कुछ श्लोकों का अर्थ यों है—'एकादशीव्रत से उत्पन्न अग्नि से सहस्त्रों जीवनों में किये गये पापों का ईंधन जलकर भस्म हो जाता है। अश्वमेध एवं वाजपेय जैसे सहस्त्रों यज्ञ एकादशी पर किये गये उपवास के सोलहवें अंश तक भी नहीं पहुंच सकते। एकादशी स्वर्ग एवं मोक्ष प्रदान करती है, राज्य एवं पुत्र देती है, अच्छी पत्नी देती है और शरीर को स्वास्थ्य देती है। गंगा, गया, काशी, पुष्कर, कुरुक्षेत्र, नर्मदा, देविका, यमुना, चन्द्रभागा हरि के दिन (एकादशी) के समान नहीं हैं।' देखिये पद्मपुराण (आदि खंड 31/157, 160, 161 एवं 162)। अनुशासन (107/136, 137 एवं 139) में उपवास की अतिशयोक्ति पूर्ण प्रशंसा है। पद्मपुराण (ब्रह्मखंड 15/2-4) में आया है—'एकादशी नाम श्रवण मात्र से यमदूत शंकित हो जाते हैं। सभी व्रतों में शुभ एकादशी पर उपवास करके हरि को प्रसन्न करने के लिए रात्रि भर जागना चाहिए और विष्णु मन्दिर के मंडप को पर्याप्त रूप से सजाना चाहिए। जो व्यक्ति तुलसीदलों से हरिपूजा करता है वह एक दल (पत्ता) से ही करोड़ों यज्ञों का फल प्राप्त करता है।' वराह० (अध्याय 30) में आया है कि ब्रह्मा ने कुबेर को एकादशी दी और उसने (कुबेर ने) उसे उस व्यक्ति को दिया जो संयमित रहता है, शुद्ध रहता है, केवल वही खाता है जो पका हुआ

नहीं है; कुबेर प्रसन्न होने पर सब कुछ देता है। पद्म (ब्रह्मखंड 13/53) ने एक नारी का आख्यान लिखा है—वह अति झगड़ालू थी, अपने प्रेमी (जार) के विषय में सोचती थी और इसके कारण वह अपने पति द्वारा निंदित हुई और पीटी गयी। वह क्रोधित होकर बिना भोजन किये रात्रि में मर गयी। वह एकादशी की रात थी। वह उपवास करने के कारण (जो जानबूझकर और प्रसन्नतापूर्वक नहीं किया गया था, प्रत्युत क्रोधावेश में किया गया था) शुद्ध हो गयी। गरुड पुराण (1/127/12) में आया है कि यदि एक पलड़े पर सम्पूर्ण पृथ्वी का दान रखा जाये और दूसरे पर हरि का दिन (एकादशी) तो एकादशी महापुण्य एवं श्रेष्ठ ठहरती है। आषाढ़ शुक्ल की एकादशी को महा-एकादशी एवं शयनी कहा जाता है।[1] पुराणों एवं मध्यकाल के निबन्धों में एकादशी के विषय में एक विशाल साहित्य है। यथाशूलपाणि का एकादशी विवेक, रघुनन्दन का एकादशी तत्त्व। इसके अलावा कालविवेक, हेमाद्रि, कालनिर्णय, व्रतराज, कालतत्त्व विवेचन आदि में एकादशी पर बहुत लिखा गया है।"[2]

उक्त लम्बे उद्धरण से सहज समझा जा सकता है कि एकादशी के नाम पर पुरोहितों ने कितना बड़ा भ्रम पैदा किया है। जैसे भाट किसी भी अच्छे-बुरे व्यक्ति की प्रशंसा करता है, वैसे पुरोहित किसी भी सड़ी-गली बात की प्रशंसा का पुल बांधता है। सद्गुरु कहते हैं कि सच्ची एकादशी है आंख, नाक, कान, जीभ, चाम, हाथ, पैर, मुख, गुदा, लिंग तथा मन—इन ग्यारहों को अपने वश में रखना। एकादशी तिथि के दिन उपवास रहना जीव के सुख, शांति एवं मोक्ष में कारण नहीं बन सकता, किन्तु मन-इन्द्रियों पर विजय उसमें कारण बनती है।

भूत, प्रेतादि योनि केवल कल्पित हैं, परन्तु पुरोहित वर्ग उन्हें भी हठपूर्वक सिद्ध कर जनता की मानसिकता को दुर्बल बनाता है। पुरोहित पहले भूत-बाधा, प्रेत-बाधा तथा अन्य भी अनेक भावनात्मक भय देकर मनुष्यों के मन को कमजोर बनाता है और पीछे किसी को किसी प्रकार कष्ट होने पर उसके निवारणार्थ वह पूजा करता है और जनता से धन ऐंठता है। पुरोहितों ने सारी दैवी कल्पनों मनुष्यों के मन को दुर्बल बनाकर उनसे अपना स्वार्थ साधने के लिए की है।

"तजि कपूर गाँठी विष बाँधे, ज्ञान गवाँये मुग्ध फिरे।" पुरोहितों के उक्त सारे आचरणों को देखते हुए कहना पड़ता है कि इन्होंने ऐसा भोलापन किया है कि जैसे कोई कपूर को त्यागकर अपने पल्ले में विष बांध ले। आत्मज्ञान,

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 4, पृ. 41-42।
2. वही, पृ. 40।

सद्गुण, सदाचार, विश्व के नियम एवं नैतिकता पर न जोर देकर पुरोहित वर्ग भूलभुलैया में स्वयं भटकता रहा और समाज को भटकाता रहा। उसने दैवीकल्पना कर तत्त्वज्ञान को नष्ट कर दिया तथा कर्मकांड की मिथ्या महिमों बढ़ाकर नैतिकता को खोखली कर दिया। जब अंजान में एकादशी का व्रत तथा कोई साधारण-सा कर्मकांड सारे पापों को भस्म कर देता है तब नैतिकता से रहने की क्या आवश्यकता ! अतः तत्त्वविवेक तथा नैतिकता रूपी कपूर को छोड़कर पुरोहितों ने अंधविश्वासपूर्ण मिथ्या दैवी कल्पना, चमत्कार, कर्मकांड, मिथ्या महिमों रूपी विष को अपनी गांठ में बांध लिया और उसी को समाज में फैलाकर सबको कायर और अनैतिक बनने में सहारा दिया। यही "ज्ञान गवाँये मुग्ध फिरे" का अर्थ है। सत्यज्ञान को खोकर मूढ़ बना संसार भटक रहा है। इसमें बहुत कुछ नाना मत के पुरोहितों का योगदान हैं।

"छीजै साहु चोर प्रतिपाले" सत्यवादी एवं साधु जन का तिरस्कार तथा चोर की रक्षा यह महा अशुभ लक्षण है। जो सच्चे ज्ञान तथा सच्चे आचरण से रहता है और उन्हीं का प्रचार करता है, पुरोहित वर्ग उससे नाराज रहता है। वह उसे किसी प्रकार शिकस्त देना चाहता है। परन्तु जो मिथ्या महिमा, चमत्कार एवं कर्मकांड का झांसा देकर समाज के ज्ञानधन को चुराता है, लोगों को बेवकूफ बनाता है और उनसे धन ऐंठता है, पुरोहित उसकी प्रशंसा करता है; क्योंकि वे समान पेशेवर हैं।

"संत जना की कूटि करे" अपवादस्वरूप कुछ भले पुरोहितों को छोड़कर, शेष पुरोहित संतों का मजाक उड़ाता है। वह कहता है कि ये मुड़िया साधु वेद-शास्त्र-विरोधी हैं। पुरोहितश्रेष्ठ मंडनमिश्र पहली बार आदि शंकराचार्य को देखकर तुरन्त बोल पड़े थे—'कुतो मुंडी' यह अशुभ मुड़िया कहां से आ गया ! बहुधा पुरोहित वर्ग नहीं चाहता कि संतों का सच्चा ज्ञान जनता में फैले। उसे अपने पेशे के मिटने का भय हो जाता है। एक पुरोहित भक्त-संतों पर व्यंग्य करते हुए लिखता है—"वेद-विहीन लोग शास्त्र पढ़ते हैं, शास्त्र-विहीन लोग पुराण पढ़ते हैं, पुराण-विहीन लोग खेती करते हैं और जो सब प्रकार से भ्रष्ट (गये-बीते) हो जाते हैं वे भगवान के भक्त हो जाते हैं।"[1] पुरोहितों ने देखा कि वैष्णव सन्त कहते हैं कि कर्मकांड के पचड़े की कोई आवश्यकता नहीं, भगवान की भक्ति से सब प्रकार का कल्याण है, तब

---

1. वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥
(अत्रि 384, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 153)

वे क्षुब्ध हो गये और भगवान के भक्तों को ही भ्रष्ट-बुद्धि कहने लगे। फिर खरे पारखी संतों को पुरोहित जो कुछ कह दे वह थोड़ा है।

सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार जो असत बोलता है, समाज को अपनी बातों से गलत निर्देश देता है, अपने भौतिक स्वार्थ में पड़कर दूसरों को बहकाता है, वह स्वयं पतन के गर्त में जाता है तथा समाज को भी पतन के गर्त में ले जाता है।

उपर्युक्त लम्बे विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि पुरोहित वर्ग का कोई व्यक्ति सत्य समझता ही नहीं है। पुरोहित बुद्धि वाला होता ही है। वह केवल अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करता है। पुरोहितों में भी जिसकी बुद्धि सत्य की तरफ लौट जाती है वह सच्चा ज्ञानी हो जाता है। पुरोहितों में से अनेक सत्यान्वेषी होकर कर्मकांड के जंजाल से मुक्त हो जाते हैं और ज्ञानपथ के सच्चे राही हो जाते हैं। जिस मंडनमिश्र का उदाहरण ऊपर आया है जिन्होंने प्रथम मिलन में स्वामी शंकर का मजाक उड़ाया था, शंकर के ज्ञान से प्रभावित होकर वे उनके संन्यासी शिष्य—मुड़िया ही हो गये थे। पुरोहित वर्ग के कितने ही लोग बौद्ध, जैन, कबीरपंथ तथा अन्य अनेक संत-मत में आकर ज्ञान का कीर्तिमान स्थापित किये या करते हैं। आज इस ईसा की बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में तो पुराहितों की नयी पीढ़ी के युवक पुरोहिताई करना ही नहीं चाहते। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अंधविश्वास समाप्त हो गया है। इसको बढ़ाने वाले नाना मत के बड़े-बड़े महारथी पुरोहित लगे हैं। सत्य-पथ-पथिकों को मिथ्या दैवी कल्पनाओं, कर्मकांड की मिथ्या महिमाओं, चमत्कारों एवं अंधविश्वासों से सदैव जूझना पड़ेगा, और विश्व के शाश्वत नियमों, कारण-कार्य-व्यवस्थाओं, कर्म-फल-भोगों की सत्यताओं तथा नैतिकता एवं सदाचार का सदैव प्रचार करते रहना पड़ेगा।

अवतार-समीक्षा

शब्द-18

राम गुण न्यारो न्यारो न्यारो॥ 1॥

अबुझा लोग कहाँ लों बूझै, बूझनहार विचारो॥ 2॥
केतेहि रामचन्द्र तपसी से, जिन्ह यह जग बिटमाया॥ 3॥
केतेहि कान्ह भये मुरलीधर, तिन्ह भी अन्त न पाया॥ 4॥
मच्छ कच्छ बराह स्वरूपी, बामन नाम धराया॥ 5॥
केतेहि बौद्ध निकलंकी कहिये, तिन्ह भी अन्त न पाया॥ 6॥
केतेहि सिद्ध साधक संन्यासी, जिन्ह बनवास बसाया॥ 7॥
केतेहि मुनिजन गोरख कहिये, तिन्ह भी अन्त न पाया॥ 8॥

जाकी गति ब्रह्मै नहिं जानी, शिव सनकादिक हारे॥ 9॥
ताके गुण नर कैसेक पैहौ, कहहिं कबीर पुकारे॥10॥

शब्दार्थ—गुण=स्वभाव, धर्म, वास्तविकता। अबुझा=अविवेकी। बिटमाया=भ्रम, छल। अन्त=निश्चय, भेद। बौद्ध=बुद्ध। निकलंकी=कल्कि।

भावार्थ—राम की वास्तविकता बिलकुल अलग है॥ 1॥ अविवेकी लोग इसे कहां तक समझेंगे, विवेकवान ही इस पर विचार करते हैं॥ 2॥ अयोध्याधीश श्री रामचन्द्र-जैसे तपस्वी, जिनकी कथाओं से लोग उनकी ईश्वरता के भ्रम में छले गये हैं, इस पृथ्वी पर बहुत हो चुके हैं; परन्तु वे स्वयं ईश्वर के विषय में थाह नहीं पा सके॥ 3॥ वंशी बजाने वाले श्री कृष्ण-जैसे अनेक महापुरुष हो गये वे भी ईश्वर का भेद नहीं जान सके॥ 4॥ मत्स्य, कच्छप, वराह, वामन, बुद्ध तथा कल्कि जैसे नाम ईश्वरावतार के लिए जाते हैं, परन्तु वे स्वयं ईश्वर का भेद नहीं पा सके॥ 5-6॥ कितने साधक, सिद्ध तथा संन्यासी हुए जिन्होंने वन में जाकर कुटिया रमायी और ईश्वर को खूब खोजा परन्तु रह गये कोरे-के-कोरे॥ 7॥ कितने ही मननशील मुनि हुए तथा कितने गोरख-जैसे योगी हुए, परन्तु ये सब भी ईश्वर का भेद नहीं जान सके॥ 8॥ कबीरदेव कहते हैं कि जिस ईश्वर की दशा ब्रह्मा नहीं जान सके तथा शिव, सनकादि जिसे खोजते-खोजते हार गये, हे मनुष्य ! तुम उस ईश्वर का भेद कैसे पाओगे !॥ 9-10॥

व्याख्या—"राम गुण न्यारो न्यारो न्यारो" इस पंक्ति में आये हुए राम शब्द के अर्थ में श्लेष प्रतीत होता है। श्लेष कहते हैं चिपकने को। इसका रूढ़ अर्थ है किसी शब्द में एक से अधिक अर्थ होने की संभावना। कबीर का राम बहुत साफ है। वे कहते हैं— "हृदया बसे तेहि राम न जाना।[1] दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो इहै करीमा रामा।[2] सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान।[3] जेहि खोजत कल्पौ गया, घटहि माहि सो मूर।"[4] अतएव यह राम न अज्ञेय है न दुर्विज्ञेय, जिसका भेद ही न मिले। वस्तुतः यहां उस राम का वर्णन है जिसे रूढ़ अर्थ में ईश्वर या ब्रह्म कहा जाता है, और जिसके विषय में यह धारणा है कि वह सर्वत्र व्याप्त, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान सत्ता है। यह केवल धारणा ही है। इसका कोई साक्षात्कार नहीं कर सकता। परन्तु व्यक्ति की अपनी चेतना रूपी राम स्वयं स्वरूप ही है। वह मैं के रूप में विद्यमान

---

1. रमैनी 41।
2. शब्द 97।
3. साखी 345।
4. साखी 282।

सबका द्रष्टा है। इस शब्द में बताया गया है कि जितने माने गये अवतार हैं वे न नित्य उपासनीय आत्माराम बन सकते हैं और न वे वह कल्पित सत्ता ही हो सकते हैं जिसे सर्वव्यापी ब्रह्म कहा जाता है।

इस शब्द का मुख्य विषय है अवतारवाद का खण्डन। पुराणकारों ने मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि ये दस तथा व्यास, दत्तात्रेयादि चौदह गौण अवतारों की कल्पना की है, जो एक भ्रांति है। उक्त अवतारों में मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह आदि तो निरे काल्पनिक ही हैं, परन्तु जो राम, कृष्णादि मनुष्य रूप में हैं वे स्वयं अपने जीवनकाल में ईश्वर के विषय में कल्पनों करते रहे, परंतु उसके विषय में कुछ जान नहीं सके।

देश अनन्त है तथा काल अनन्त है और अवधारणा यह है कि अनन्त देश-कालव्यापी संसार उस ब्रह्म की सत्ता से चलता है। ब्रह्म देश-काल से भी अतीत तथा परे है। अब ऐसे ब्रह्म से तथा अवतार माने गये जीवों से तुलना की जाये तो कोई अर्थ ही नहीं निकलता। जितने अवतार माने गये हैं सब संसारी जीव हैं। वे सब थोड़े दिनों की जिंदगी पाकर अच्छे-बुरे कर्म कर तथा सुख-दुख भोगकर मर गये। उनमें केवल एक बुद्ध हैं जो राग-द्वेष रहित संत के रूप में हैं, शेष तो राग-द्वेष से भी मुक्त नहीं थे।

सद्गुरु कहते हैं कि जिनमें विवेक नहीं है वे अवतार माने गये जीवों को ही जगतनियंता, जगत-उत्पादक और अपना परम आश्रय मान लेते हैं। व्यक्ति की आत्मा से भिन्न जिस ईश्वर की अवधारणा मनुष्यों ने की है उसका रहस्य कोई नहीं जान सका है। राम, कृष्ण, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सनकादि, गोरख, सिद्ध, साधक, संन्यासी कोई उस ईश्वर का भेद नहीं पाया है। फिर हे मनुष्य! तुम उसका भेद क्या पाओगे? केन उपनिषद् के ऋषि कहते हैं— "वहां न आंखें पहुंचती हैं, न वाणी, न मन पहुंचता है और न हम उसे जानते हैं। हम नहीं समझ पाते कि शिष्यों को उसका उपदेश कैसे करें। वह ज्ञात तथा अज्ञात वस्तु से परे है। (बस यही कह सकते हैं कि) हम उसे अपने पूर्वजों से ऐसा ही सुनते आये हैं।"[1]

कबीर साहेब के विवेचन के अनुसार जगतकर्ता के रूप में राम को खोजना एक मिथ्या भ्रम है। अवतार कहे जाने वाले तो जगतकर्ता हैं ही नहीं,

---

1. न तत्र चक्षुः गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनो, न विद्मो, न विजानीमो यथा एतद् अनुशिष्यात् अन्यद् एव तद् विदितात् अथ उ अविदितात् अधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नः तद् व्याचचक्षिरे। (केन उपनिषद् 1/3)

किन्तु जगत के स्वाभाविक नियमों, विश्व के शाश्वत गुण-धर्मों एवं कारण-कार्य-व्यवस्था जिसे ऋग्वेद में ऋत भी कहा गया है, उससे अलग नियामक की तलाश करना आकाश नापना है। जगत को समझने के लिए जड़-चेतन के गुण-धर्मों को समझना चाहिए। यदि हम जगत के नियमों को समझ जायें तो उसके नियामक की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं है। ऐसा राम जिसका कोई पता ही न पाया हो, किस काम का? इसलिए इस बीजक में सद्गुरु ने पदे-पदे 'निज तत्त्व'[1] पर प्रकाश डाला है। उन्होंने यहां तक कहा "राम नाम निजु जानि के, छाड़ि देहु बस्तु खोटि।"[2] राम ऐसा नाम तुम्हारी अपनी आत्मा का ही है ऐसा जानकर खोटी वस्तु (कल्पनाओं) को छोड़ दो।

कबीर साहेब जिस राम की उपासना करने की बात करते हैं, वे जिस राम में रमने तथा स्थित होने की बात कहते हैं वह मेरा अपना 'स्व' है, 'आपा' है, 'चेतना' है। वह कल्पना का विषय एवं अज्ञेय नहीं है, किन्तु वही सबका कल्पक, सबका ज्ञाता एवं स्वयं प्रत्यक्ष, अपरोक्ष स्वस्वरूप है।

राम-भजन

शब्द-19

ये तत्तु राम जपो हो प्रानी, तुम बूझहु अकथ कहानी॥ 1॥
जाके भाव होत हरि ऊपर, जागत रैनि बिहानी॥ 2॥
डाइनि डारे स्वनहा डोरे, सिंह रहै बन घेरे॥ 3॥
पाँच कुटुम मिलि जूझन लागे, बाजन बाजु घनेरे॥ 4॥
रेहु मृगा संशय बन हाँके, पारथ बाणा मेलै॥ 5॥
सायर जरे सकल बन डाहे, मच्छ अहेरा खेलै॥ 6॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जो यह पद अर्थावै॥ 7॥
जो यह पद को गाय बिचारे, आप तरे औ तारै॥ 8॥

शब्दार्थ—तत्तु राम=राम तत्त्व, राम स्वरूप। हरि=राम, आत्मस्वरूप। बिहानी=बिहान, सबेरा, दिन, अंत। डाइनि=माया। डारे=त्यागना। स्वनहा=कामादि कुत्ते। डोरे=संयम की रस्सी में बांध लेना। सिंह=मन। पाँच कुटुम=पांच ज्ञानेन्द्रियां। रेहु=रोह, नीलगाय, मानसिक विकार। पारथ=पारधी, शिकारी, साधक। सायर=समुद्र, संसार। बन=संसार। मच्छ=मछली, मन, शुद्ध मन।

---

1. साखी 2।
2. रमैनी-साखी 36।

भावार्थ—हे मनुष्यो! तुम निजस्वरूप राम तत्त्व का निरन्तर स्मरण करो, और मन की अकथनीय कहानी को बूझो, अर्थात मन को अपने वश में करो॥ 1॥ जिसका प्रेम निजरूप राम में होता है वह मन-माया से रात-दिन सावधान रहता है, अथवा सावधान होकर माया रूपी रात का अंत कर देता है॥ 2॥ वह माया का त्याग कर देता है, कामादि कुत्तों को संयम की डोरी में बांध लेता है और अपने हृदय-वन में मन-सिंह को घेरकर स्ववश कर लेता है॥ 3॥ जब साधक पांचों ज्ञानेन्द्रियों के पतनकारी विषयों का त्याग करता है तो ये इन्द्रिय रूपी कुटुम्बी आपस में लड़ने लगते हैं। अर्थात एक इन्द्रिय का दमन दूसरी इंद्रिय के दमन में सहयोग करता है। जैसे शिकारी वन में बाजा बजाते हुए बनैले पशुओं को एक तरफ हांकते हैं और फिर उनका शिकार करते हैं; वैसे साधक रूपी शिकारी अपनी रुचि और समझ के अनुसार अनेक प्रकार के साधन-भजन रूपी बाजे बजाकर अज्ञान, विषयासक्ति तथा संशय रूपी नीलगायों एवं पशुओं को हृदय-वन से हांककर और उन पर ज्ञान एवं साधना के बाण चलाकर उनका शिकार करता है॥ 4-5॥ ऐसे साधक के लिए मानो भवसागर तथा संशय-वन जल जाते हैं और शुद्ध मन रूपी मछली रहे-सहे वासना-पशुओं का शिकार करती है॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो, जो इस पद का अर्थ करेगा और इस पद को गाकर इसका विचार करेगा, वह स्वयं संसार-सागर से तर जायेगा और दूसरों के तारने में कारण बनेगा॥ 7-8॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर की उक्ति बीच-बीच में बड़ी अद्भुत-अद्भुत आती है। उनके कहने की शैली अपनी निराली है। उनका मस्तिष्क ऐसा था कि उन्हें गजब-गजब की उक्ति सूझ आती थी। इस शब्द में राम-भजन और मन-इन्द्रियों पर स्ववशता प्राप्त करने की चर्चा है। पूरे शब्द में इसी का प्रवाह है। वे कहते हैं कि हे प्राणी, तू माया में क्यों भूल रहा है! सारी माया छूट जायेगी, परन्तु राम तेरे से कभी न छूटेगा; क्योंकि राम तो तेरी आत्मा ही है, तेरा चेतन स्वरूप ही है। इसलिए तू निरन्तर राम का भजन कर, राम का जप कर। राम का जप करना क्या है? विषयों से लौटकर अपनी आत्मा में डूबना ही राम-भजन है। निज स्वरूप की स्थिति ही राम-भजन है। अतः सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे प्राणी, इस राम तत्त्व का भजन करो। राम तत्त्व ही तुम्हारा चेतन स्वरूप है अथवा तुम्हारा चेतन स्वरूप ही राम तत्त्व है। काम से हटो, राम में रमो।

"जाके भाव होत हरि ऊपर, जागत रैनि बिहानी।" जिसका प्रगाढ़ प्रेम निज ज्ञानतत्त्व रूपी हरि में है, वह रात-दिन जागता रहता है। "रैनि रात है

और बिहानी दिन है।" रात-दिन जागने का मतलब है सदैव मन-माया से सावधान होना। सावधानी ही साधना है। शिथिल साधक विषयों का चिंतन करता है, परन्तु जिसका हृदय वैराग्य से कसा है उसके मन में विषय-चिंतन आ ही नहीं सकता। उसके मन में तो सदैव निज स्वरूप का चिंतन होता है। वह सदैव आत्मा राम में रमता है। "जागत रैनि बिहानी" का अर्थ इस ढंग से भी किया जा सकता है कि वह सावधान साधक जागते ही रात का अंत करता है, अर्थात निरन्तर सावधानी ही में रहकर माया-मोह का अन्त करता है। जब साधक का मन विषयों से सर्वथा मुक्त हो जाता है तभी वह आत्माराम में रमता है। विषयों से सर्वथा मुक्त हुए बिना मन स्वरूपस्थिति में नहीं लीन हो सकता। इसीलिए सद्गुरु कबीर की भाषा में विषय-त्याग ही सच्चा राम-भजन है। इसे आगे चालीसवें शब्द में विस्तार से देखेंगे।

"डाइन डारे स्वनहा डोरे" वही मानो राम-भजन करता है जो डाइन को डाल देता है और कुत्ते को डोरिया लेता है। डाइन है माया। माया है विषयों का एवं संसार का प्रलोभन। जो संसार के आकर्षण का त्याग कर देता है वही मायातीत है। जब हृदय में पूर्ण विवेक उदित होता है, तब संसार में कहीं आकर्षण रह ही नहीं जाता। सारे शरीर हाड़-मांस हैं, सारा धन मिट्टी है और सारा संसार हल्ला-गुल्ला तथा कीचड़-पानी है। विवेकवान की दृष्टि में संसार में कुछ रह ही नहीं जाता है जिसके लिए वह आकर्षित हो। विषयों के प्रति आकर्षण तो मन की एक मूर्खता है। हम चाहे किसी व्यक्ति में ममता-मोह करते हों या पदार्थों, पदों एवं सम्मान के प्रति, सब हमारे मन की मूर्खता है। जिस दिन हमारे मन की मूर्खता समाप्त हो जायेगी उस दिन मानो हमने माया-डाइन का त्याग कर दिया।

स्वनहा कुत्ते को कहते हैं। स्वनहा का शुद्ध शब्द श्वान है। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि कुत्ते हैं जिन्हें कितने ही भोग दो, तो भी वे घर-घर चाटने चले जायेंगे। संत पल्टू साहेब कहते हैं "लाख खाय जो श्वान चाटने जायेगा। तजि के काग कपूर विष्ठा को खायेगा।" विवेकवान इन कामादि कुत्तों को संयम की डोरी में बांध लेते हैं। साधक काम संयमित होने पर विकारी वृत्ति त्यागकर केवल शरीर के व्यवहार का सम्पादन करता है, क्रोध संयमित होने पर किसी जीव को कष्ट न देकर अपनी बुराइयों का हनन करता है, लोभ संयमित होने पर भौतिक वस्तुओं का लालच न कर ज्ञानार्जन में लग जाता है, मोह संयमित होने पर प्राणियों के प्रति राग न कर गुरु-सन्तों के प्रति श्रद्धालु तथा प्राणिमात्र के प्रति प्रेमी बन जाता है। इस प्रकार साधक कामादि कुत्तों को संयम की डोरी में बांधकर रचनात्मक दिशा में लग जाता है।

"सिंह रहै बन घेरे" बीजक में सिंह का बहुतायत अर्थ जीव है, परन्तु कहीं-कहीं मन भी है। यहां सिंह मन को समझना चाहिए। जैसे शिकारी वन में सिंह को घेरकर मार देता है। वैसे साधक मन को अपने हृदय में घेरकर उसे मार देता है। इसका अर्थ यह है कि साधक अपने मन को बाहर नहीं भटकने देता। वह उसे साधना एवं विचारों के द्वारा घेर-घेरकर हृदय में रखता है और उसके रागात्मक हिंसक स्वभाव को मार देता है। फिर तो मन शुद्ध सात्त्विक बन जाता है।

"पाँच कुटुम मिलि जूझन लागे, बाजन बाजु घनेरे।" पांच कुटुम्बी हैं आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी—पांच ज्ञानेन्द्रियां। साधना काल में यह आपस में जूझने एवं लड़ने लगते हैं। एक इन्द्रिय का दमन दूसरी इन्द्रिय के दमन में सहयोग करता है। जैसे जीभ की रसासक्ति का त्याग होने से स्पर्शासक्ति का त्याग होना। इस प्रकार पांचों आपस में मानो लड़कर मर जाती हैं। अर्थात पांचों इन्द्रियां विषय-वासनाओं का त्यागकर सत्यपथ-गामिनी बन जाती हैं। पहले जब राजे-महाराजे वन में शिकार करने जाते थे तब अपने सिपाहियों द्वारा बाजा बजवाकर वन में हांका कराते थे। इससे बनैले पशु वन के झुरमुटों से निकलकर एक तरफ भागते थे और अंततः सिपाहियों से घिर जाते थे और इतने में रजवाड़े उनका शिकार कर लेते थे। यहां साधक शिकारी है। वह मानो अनेक प्रकार के साधन-भजन के बाजे बजवाता है। जिस साधक को जैसा विश्वास होता है, जैसी समझ होती है, वैसा वह साधना एवं भजन करता है। इस प्रकार नाना प्रकार के साधन-भजन, मानो हृदय-वन में बहुत-से बाजे बजाकर हांका डलवाना है।

"रेहु मृगा संशय बन हाँके" रेहु का शुद्ध रूप है 'रोह'। रोह कहते हैं नीलगाय को। मृग पशु मात्र का नाम है; किन्तु जंगली जानवर के लिए मृग नाम ज्यादा रूढ़ है। वैसे मृग का अर्थ हिरन भी होता है। मनुष्य के हृदय-वन के नीलगाय एवं बनैले पशु हैं अज्ञान, संशय, विषयासक्ति एवं नाना मनोविकार। साधक अनेक साधना-भजन के हांका देकर इन्हें घेरकर इनका शिकार कर लेता है। "पारथ बाणा मेलै" पारधी बाण चलाता है। साधक मनोविकारों को घेर-घेरकर नष्ट करता है। यही तो राम-भजन है। मन के विकारों को त्यागना ही राम-भजन है।

"सायर जरे सकल बन डाहे, मच्छ अहेरा खेलै।" समुद्र जलता है और वन भी जलता है और मछली उनमें शिकार खेलती है। कबीर साहेब की यह अद्‌भुत उक्ति है। भव का सागर है और संशय का वन है। परिपक्व साधक के ये दोनों जल जाते हैं। साधक का शुद्ध मन उसमें शिकार खेलता है। हृदय

के विकार जल जाने पर भी जब तक देह है तब तक पूर्व संस्कार तथा वर्तमान के प्राणी-पदार्थों के संयोग से समय पर विकार आने की सम्भावना रहती है। साधक का शुद्ध मन उन आये हुए विकारों का शिकार करता रहता है। सावधान साधक वही है जो सदैव अपने हृदय को देखता है कि उसमें कुछ अन्यथा विचार तो नहीं उठ रहे हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि जो साधक इस पद का गायन-मनन एवं अर्थ विचार करता है वह स्वयं भी माया से तरता है और दूसरों को तरने में सहयोग करता है। माया-मोह एवं मनोविकार से मुक्त होने पर ही शुद्ध मन स्वरूपराम में विश्राम पाता है। सद्गुरु कहते हैं—हे प्राणी ! काम तजो, राम भजो।

रामरस-पान

शब्द-20

कोई राम रसिक रस पीयहुगे, पीयहुगे युग जीयहुगे॥ 1॥
फल लंकृत बीज नहिं बकला, शुक पन्छी तहाँ रस खाई॥ 2॥
चुवै न बुन्द अंग नहिं भीजै, दास भँवर सब सँग लाई॥ 3॥
निगम रसाल चारि फल लागे, तामें तीनि समाई॥ 4॥
एक दूरि चाहें सब कोई, जतन जतन काहु बिरले पाई॥ 5॥
गये बसन्त ग्रीषम ऋतु आई, बहुरि न तरिवर तर आवै॥ 6॥
कहैं कबीर स्वामी सुखसागर, राम मगन होय सो पावै॥ 7॥

शब्दार्थ—लंकृत=अलंकृत, शोभायमान, सुन्दर। बकला=छिलका। अंग नहिं भीजै=मन शीतल नहीं होता। दास भँवर=भक्त भंवरे। निगम=वेद। रसाल=आम का पेड़। चारि फल=अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष। समाई= सामान्य, नाशवान। एक=मोक्ष। जतन-जतन=साधना करते-करते। बसन्त= वसन्त ऋतु, जवानी, वासना। ग्रीषम ऋतु=गरमी ऋतु, बुढ़ापा, ज्ञानाग्नि की प्रचंडता। तरिवर=वृक्ष, शरीर। मगन=मग्न, डूबा हुआ, तन्मय।

भावार्थ—है कोई राम का रसिक ! यदि है, तो क्या वह रामरस पीयेगा ! यदि पीयेगा तो निश्चित ही अमरत्व प्राप्त करेगा॥ 1॥ जिसमें रामरस भरा है वह स्वरूपस्थिति रूपी फल बड़ा सुन्दर है। उसमें न बीज है न छिलका है। साधक रूपी शुक पक्षी उसके अमृत का रसास्वादन करते हैं॥ 2॥ यद्यपि भक्त-भंवरे भी उसके इर्द-गिर्द मंडराते हैं, परंतु उनके ऊपर राम-रस की बूंद भी नहीं चूती और न उनका मन संतुष्ट होता है॥ 3॥ वेद रूपी आम के पेड़ में अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष—चार फल लगे हुए हैं। इनमें पहले वाले तीन तो सामान्य एवं क्षणभंगुर हैं, परंतु अन्त का एक चौथा मोक्ष फल अमर और

आत्यंतिक सुखद है, पर वह बहुत दूर लगा है। उसे चाहते तो सब हैं, परंतु निरन्तर साधना करते-करते कोई बिरला पाता है॥ 4-5॥ हे मानव ! इस फल के लिए शीघ्र प्रयत्न कर ! देख, जवानी चली जा रही है। चार दिनों में बुढ़ापा आ जायेगा और मृत्यु हो जायेगी। फिर तो मोक्ष फल फलने वाले मानव शरीर रूपी इस वृक्ष के नीचे आने का अवसर पता नहीं कब मिले, अथवा जिसका विवेक द्वारा वासना की वसन्त ऋतु बीत गयी और ज्ञान की प्रचंड गरमी तप रही है, वह पुनः संसार वृक्ष के नीचे नहीं आता॥ 6॥ सद्गुरु कहते हैं कि निजात्माराम अनन्त अमृत-रस का स्वामी तथा सुख का सागर है, जो उसमें डूबता है वही उसका अनुभव करता है॥ 7॥

व्याख्या—कबीर साहेब मानो एक भीड़ में चले गये हों और अचानक उससे पूछ बैठे हों—'है इसमें कोई राम-रसिक !' राम-रसिक मिलना दुर्लभ है। संसार में अधिकतम लोग विषय-रसिक हैं। साधनाक्षेत्र में आने वाले लोगों में भी बहुत थोड़े लोग होते हैं, जिनके मन में राम-रस की चाह ज्यादा होती है। जो रात-दिन राम-रस में ही डूबे रहते हैं ऐसे सन्त पुरुष दुर्लभ हैं। राम व्यक्ति का अपना चेतन स्वरूप है। "मैं" के रूप में विद्यमान आत्मसत्ता ही रामतत्त्व है। स्वरूपचिंतन एवं आत्मचिंतन ही राम-रस है। जो साधक आत्मचिंतन रूपी राम-रस निरन्तर पीता है, उसी के लिए 'युग जीयहुगे' वाक्यांश का प्रयोग यहां किया गया है। 'युग जीयहुगे' का अर्थ शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक है। यहां का अर्थ है कि राम-रस का रसास्वादन करने वाला अमरत्व को प्राप्त करेगा।

स्वरूपस्थिति ही वह फल है जिसमें राम-रस भरा हुआ है। स्वरूपस्थ व्यक्ति ही तो आत्मचिंतन करता है। उसे आत्मचिंतन करना नहीं पड़ता, किन्तु उसका तो वह स्वभाव बन जाता है। यह स्वरूपस्थिति रूपी फल बड़ा सुन्दर है। अन्य फलों में प्रायः बीज और छिलके होते हैं, परंतु इस फल में ये दोनों नहीं हैं। इस फल में संसार में पुनः जन्म लेने के बीज नहीं होते और न मोह-माया का आवरण रूपी छिलका ही होता है। संसार के सुख दुखमिश्रित हैं, परंतु रामरस का सुख केवल सुख है। इसमें दुख रूपी बीज-छिलके नहीं हैं। यह खालिस सुख है। जैसे पेड़ के फलों को सुग्गे तथा अन्य पक्षी खाते हैं वैसे स्वरूपस्थिति रूपी अमृत का आस्वादन साधक एवं सन्त जन करते हैं।

"चुवै न बुन्द अंग नहिं भीजै, दास भँवर सब सँग लाई।" यह पंक्ति सगुण उपासकों पर व्यंग्य है। सगुण उपासक राम को निज स्वरूप न समझकर उसे कहीं बाहर खोजते हैं। वे मन से उसके नक्शे बनाते हैं धनुर्धारी रूप में, चतुर्भुज रूप में, वंशीधारी रूप में; शून्य, ज्योति, सर्वव्यापक, लोक

विशेष, एकदेशी आदि रूपों में, परन्तु यह सब मन के कल्पित नक्शे हैं। जहां तक मन का सृजा राम है, काल्पनिक है। जब मन मौन हो जाता है, मन के शांत होने पर निजस्वरूप की अनुभूति होती है। मनोवृत्ति स्वरूपज्ञान को ढाकती है। मनोवृत्ति के समाप्त हो जाने पर व्यक्ति को अपनी आत्मा का बोध होता है। यह निज चेतन स्वरूप ही राम है। सगुण-उपासकों को ऐसा ज्ञान न होने से वे मन से कल्पित राम की भावना में भटकते हैं। इसलिए उनको सच्चा राम-रस नहीं मिलता। उनका मन सन्तुष्ट नहीं होता। वे तो समझते हैं कि हमें एक दिन राम आकर मिलेगा। निश्चित समझ लो कि ऐसा कोई राम मिलने वाला नहीं है। यदि किसी भक्त को राम-दर्शन होते हुए प्रतीत होता है तो वह उसके मन का भास-अध्यास है। अतएव अच्छे-अच्छे रामभक्त भी माने हुए राम के दर्शन न पाकर जीवन से निराश हो जाते हैं। "चुवै न बुन्द अंग नहीं भीजै" यह उनके लिए मार्मिक वचन है। फल के रस का आस्वादन पक्षी ही करते हैं, भंवरे नहीं। इसी प्रकार राम का अनुभव विवेकवान साधक करते हैं, भावुक भक्त नहीं।

"निगम रसाल चारि फल लागे" इस वाक्यांश में सद्गुरु के मन में वेदों के लिए कितना आदर झलकता है! वे कहते हैं कि वेद रूपी आम्रवृक्ष में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—ये चार फल लगे हैं। फल तो दो हैं काम और मोक्ष, अर्थ और धर्म उनके साधन हैं। परंतु चारों को ही फल या पुरुषार्थ कहा जाता है। अर्थ, धर्म और काम तो साधारण कोटि के फल हैं, चौथा मोक्ष ही सर्वोच्च फल है। इसे सभी विवेकियों ने दुर्लभ कहा है। वस्तुतः मनुष्य का मन विषयों का अध्यासी है। विषय-वासनाओं का त्याग हुए बिना किसी को मोक्ष नहीं मिलता। वासना-त्याग ही तो मोक्ष है। मन की सारी वासनों, सारी इच्छों शांत हो जायें, यही मोक्ष है। मनुष्य वासनाओं को शीघ्र नहीं छोड़ता, इसीलिए मोक्ष को दुर्लभ कहा जाता है।

मोक्ष के विषय में सद्गुरु कहते हैं "चाहें सब कोई" जान तथा अंजान में सब मोक्ष चाहते हैं। हर आदमी जो अप्रिय से छुटकारा चाहता है यही तो मोक्ष की इच्छा है। और सारी वासनाओं का त्याग किये बिना कोई सारे अप्रिय से नहीं छूट सकता। वासनाओं के छूट जाने पर जीव असंगता का अनुभव करता है। मन से असंग हो जाना मोक्ष है। मनुष्य को सदैव प्रिय के छूटने का भय रहता है, परन्तु विजाति जो कुछ है चाहे वह कितना ही प्रिय हो, अन्ततः छूटकर रहेगा। विवेकवान पहले ही प्रिय-अप्रिय सबकी वासना छोड़ देते हैं, इसलिए शरीर रहते-रहते मुक्त हो जाते हैं। मिलने-छुटने की लालसा और भय से सर्वथा छूटा हुआ व्यक्ति मुक्त है।

कहा जा सकता है कि ऐसा होना बड़ा कठिन है। परन्तु कठिन काम भी धीरे-धीरे सरल हो जाता है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं "जतन जतन काहु बिरले पाई।" उद्योग करते-करते, निरन्तर साधना में लगे-लगे कोई बिरला ही इस उच्चतम दशा को पहुंचता है। साधक को निश्चय करना चाहिए कि हम इस दशा को प्राप्त कर सकते हैं। जो काम दूसरे मनुष्य कर सकते हैं, हम क्यों नहीं कर सकते !

"गये बसन्त ग्रीषम ऋतु आई, बहुरि न तरिवर तर आवै।" साहेब चेतावनी देते हैं कि हे मानव ! जवानी ही साधना करने का समय है। तू इसमें ही अपने आप को साधना में लगा। यह थोड़े दिनों में बीत जायेगी, फिर बुढ़ापा आ जायेगा। मृत्यु तो किसी भी समय सम्भव है। जो सुनहला समय आज मिला है, आगे पता नहीं मिले या न मिले। तुम किसलिए अपने कल्याण का काम रोक रहे हो। सब कुछ छूटने वाला है। किसी के राग-द्वेष में फंसकर अपने कल्याण का काम न रोको।

"गये बसन्त ग्रीषम ऋतु आई, बहुरि न तरिवर तर आवै।" इसको इस तरह भी समझा जा सकता है कि विवेकज्ञान द्वारा जिसकी वासना रूपी वसंत ऋतु बीत गयी है और स्वरूपज्ञान रूपी गरमी प्रचंड है वह पुनः शरीर रूपी वृक्ष के नीचे नहीं आता। इस अर्थ में उलटवांसी का पुट है। वसन्त ऋतु बीतने पर जब ग्रीष्म ऋतु आती है तब गरमी के कारण लोग पेड़ों की छाया ढूंढते हैं। परन्तु साहेब कहते हैं कि वासना का वसन्त बीतने पर जब ज्ञान का ग्रीष्म आता है, तब जीव पुनः पेड़ के नीचे नहीं आता। यह पेड़ शरीर एवं संसार है। ज्ञान की प्रचंड गरमी साधक के हृदय को शीतल करती है और वह मुक्त हो जाता है।

"कहैं कबीर स्वामी सुख सागर, राम मगन होय सो पावै।" वासनाओं से मुक्त आत्मा ही स्वामी है, सुखसागर है। वासना ही विष है, पीड़ा है और भवव्याधि है। इसका सर्वथा अन्त ही अमृत है, परमानन्द है, परमसुख है। सद्गुरु ने कहा है—"हो हजूर ठाढ़ कहत हौं"[1] अर्थात मैं खड़ा होकर कहता हूं कि तुम स्वयं हुजूर हो, स्वामी हो। व्यवहार में कोई पूज्य, संत एवं गुरु तुम्हारा स्वामी हो सकता है, परन्तु परमार्थ एवं अध्यात्म स्थिति में तुम्हारा कोई दूसरा स्वामी हो ही नहीं सकता। तुम स्वयं अपने स्वामी हो। इस तुम्हारे स्वामित्व की चरितार्थता तुम्हारी वासना-विजय में है। जो सचमुच अपने आप का स्वामी हो जाता है वह सुखसागर हो जाता है। यह अवस्था तभी

---

1. रमैनी साखी 24।

मिलती है जब राम में ही रात-दिन डूबा रहे। जो निरन्तर आत्माराम में लीन है, वह कृतकृत्य है, सुखसिंधु एवं आनंदकंद है।

तीर्थ, मंत्रादि के पाखंड एवं विषयों को छोड़कर राम में रमो

शब्द-21

राम न रमसि कौन डण्ड लागा, मरि जैबै का करिबे अभागा॥ 1॥
कोइ तीरथ कोइ मुण्डित केसा, पाखण्ड मन्त्र भरम उपदेसा॥ 2॥
विद्या वेद पढ़ि करे हंकारा, अन्तकाल मुख फाँके छारा॥ 3॥
दुखित सुखित होय कुटुम जेवाँवै, मरणबार एकसर दुख पावै॥ 4॥
कहहिं कबीर यह कलि है खोटी, जो रहै करवा सो निकरै टोटी॥ 5॥

शब्दार्थ—डण्ड=दंड, पाप। छारा=छार, धूल। कलि=समय की एक काल्पनिक माप, कलह, झगड़ा, पापबुद्धि। करवा=मिट्टी या धातु का लोटे का काम देने वाला टोंटीदार बरतन। टोटी=टोंटी, नली।

भावार्थ—हे मानव ! तू विषयों को छोड़कर राम में लीन नहीं होता, तुझे कौन-सा पाप लगा है। हे अभागे ! आज-कल में मरकर संसार से बिदा हो जायेगा तब क्या कर सकेगा?॥ 1॥ मुक्ति के लिए कोई तीर्थों में भटकता है, कोई प्रयागादि में केश मुड़वाता है, कोई मन्त्र-तन्त्र के पाखंड में उलझता है और कोई उपदेश तो सुनता है परन्तु भ्रम से भरे हुए॥ 2॥ कोई कुछ विद्यों पढ़कर तथा वेद-शास्त्र-अध्ययन कर उसी के मद में चूर रहता है, परन्तु ये सब लोग आत्मशांति से विहीन बने अन्त समय में निराशा ही में शरीर छोड़ते हैं॥ 3॥ आदमी पाप-पुण्य सारे काम करके तथा जीवन में नाना सुख-दुख सहकर कुटुम्ब का पालन करता है, परन्तु मरती बार या मरणांतर में कर्मफल का दुख तो अकेला ही भोगता है॥ 4॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह पापबुद्धि बुरी बात है। जो करवा में रहेगा वही उसकी टोंटी से निकलेगा। जीवन में जिसकी कमाई होगी, उसी का फल उसके सामने आयेगा॥ 5॥

व्याख्या—परम तृप्ति, आत्यंतिक सुख, पूर्ण सन्तोष, अनन्त आनन्द तथा चिरशांति की प्राप्ति हर जीव की लालसा है। इसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि दुखों की अत्यन्त निवृत्ति सबको प्रिय है। इसका एक ही उपाय है राम में लीन होना। जो सदैव राम में रमता है वह मानो सब समय परम सुख के सागर में निमज्जन करता है। राम व्यक्ति का निज स्वरूप है। निज चेतन स्वरूप में विश्राम ही तो संसार-सागर से पार जाना है। स्वस्वरूपस्थिति ही राम में रमण है। यही परम सुखसिंधु है। परन्तु यह अभागा आदमी इधर झांकता भी नहीं। वह तो निरन्तर विषयों में ही लीन

रहना चाहता है। सद्गुरु कहते हैं, हे मानव ! तुझे कौन-सा पाप लगा है जो पवित्र निजात्मराम को छोड़कर मलिन काम में डूबता है !

मुक्तिसुख को प्राप्त करने के लिए अनेक लोग तीर्थों में भटकते हैं। इसमें कारण है कि पुरोहित पंडितों ने अनेक धर्मशास्त्रों एवं महाकाव्यों में तीर्थों की अति महिमा लिख डाली है। उसे पढ़-सुनकर विद्वान-अविद्वान सबको एक सनक सवार हो गयी है कि तीर्थों में स्नान करने मात्र से कल्याण हो जायेगा। महाभारत के वनपर्व में आता है—"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र कोई भी महात्मा ब्रह्मा जी के तीर्थ (पुष्कर) में स्नान कर लेते हैं, वे किसी योनि में जन्म नहीं लेते।[1] स्त्री हो या पुरुष जीवन भर में जितने भी पाप किये हों, पुष्कर तीर्थ में स्नान करने से वे सब नष्ट हो जाते हैं।"[2] तीर्थों के विषय में अति महिमों तथा उसके कुफल का चित्रण साखी प्रकरण की 214 से 216 वीं साखियों की व्याख्या में पढ़ें , देखें किस तरह पुरोहितों ने तीर्थों के नाम पर समाज को बेवकूफ बनाया है। यह ठीक है कि मनोरंजन, देशाटन, जानकारी, जलवायु-परिवर्तन, देशभक्ति, राष्ट्रीय एकता, सन्तों एवं विद्वानों के दर्शन तथा उनके उपदेश सुनने के लिए तीर्थों में जाइये, परंतु वहां जाते ही मुक्ति मिल जायेगी, यह धारणा एक पागलपन है। परंतु इस पागलपन में आज भी हजारों लोग तीर्थों की खाक छानते हैं।

"कोई तीरथ कोई मुंडित केसा" तीर्थ तो तीर्थ, तीर्थ में सिर के बाल का मुंडन करा लेने मात्र से भी कल्याण की प्राप्ति मान ली गयी। कहा गया "यदि प्रयाग में मुंडन करा लिया तो गया में पिंडदान, काशी में मरण एवं कुरुक्षेत्र में दान करने की क्या आवश्यकता।"[3] त्रिस्थली सेतु, तीर्थ चिंतामणि, गंगा वाक्यावली, तीर्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में प्रयाग में गये यात्री स्त्री-पुरुषों के बालमुंडन की लम्बी-लम्बी व्याख्यों की गयी हैं। कहा गया— सधवा स्त्री को भी अपनी वेणी (बालों की चोटी) को काटकर प्रयाग की त्रिवेणी में फेंककर यह कहना चाहिए "वेणी में इस वेणी को फेंकने से मेरे सारे पाप नष्ट हो जायें, और आने वाले जीवन में मेरा सधवापन वृद्धि को

---

1. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वा राजसत्तम।
   न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मनः ॥ 82/30-31 ॥
2. जन्मप्रभृति यत् पापं स्त्रिया वा पुरुषेण वा।
   पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणस्यति ॥ 33-34 ॥ (महाभारत, वनपर्व, अध्याय 82)
3. किं गयापिण्डदानेन काश्यां वा मरणेनकिम्।
   किं कुरुक्षेत्रदानेन प्रयागे वपनं यदि ॥ (नारदीयपुराण, उत्तर 63/104)

प्राप्त हो।"[1] डॉ. पांडुरंग वामन काणे ने लिखा है—"ऐसा सम्भव है कि सधवा स्त्रियों का वेणी को काटकर फेंकना 'वेणी' (दोनों नदियों के संगम) शब्द से निर्देशित हो गया है, क्योंकि संगम स्थल पर गंगा कुछ दूर तक टेढ़ी होकर बहती है (त्रिस्थली, पृष्ठ 8)।"[2] इस प्रकार बहुत-से भोले लोग प्रयाग में सिर मुड़ाकर ही अपना मोक्ष मान लेते हैं।

'पाखंड मंत्र' मंत्र का पाखंड संसार में खूब है। कुछ अक्षरों तथा शब्दों का जोड़ मंत्र होता है, परन्तु पुरोहित लोग विचारकों को पहले ही नरकगामी होने की घोषणा कर देते हैं—"जो गुरु को केवल मनुष्य मानता है, मंत्र को मात्र अक्षर और प्रतिमा को केवल पत्थर, वह नरक में जाता है।"[3] परन्तु गुरु मनुष्य के अलावा दूसरा क्या हो सकता है ! हां, वह ज्ञानी पुरुष है, श्रद्धेय है। मन्त्र केवल अक्षरों का जोड़ होता ही है। उसमें कुछ अर्थ निकलता है तो ठीक है, अन्यथा एक पागलपन है। प्रतिमा पत्थर ही है। उसमें किसी महापुरुष की याद होती है। यही उसका सार है।

नाना मत के पुरोहित जनता को पुत्र, धन, विजय, निरोग्यता, पद, शत्रुनाश, मित्रलाभ, स्वर्ग, मोक्ष—सब कुछ मन्त्र-जप के बल पर देने के लिए तैयार बैठे हैं। इसके लिए वे जनता से मोटी रकम लेते हैं। गजनवी ने जब सोमनाथ के मन्दिर पर हमला किया था, तब पुरोहित मन्त्र के बल पर ही उसे भगाने की दुराशा में थे। फल यह हुआ कि मन्दिर टूटा, शिवलिंग टूटा तथा अपार सम्पत्ति लुटी। पुराणों तथा महाकाव्यों में कथा के माध्यम से भी ये बातें जगह-जगह जड़ दी गयीं कि अमुक ने मन्त्र से अभिषिक्त करके बाण चलाया तो शत्रु पर विजय हो गयी। मन्त्र के बल पर सारी ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने का झूठा दावा धर्मग्रन्थों में किया गया। आज भी पुरोहित मन्त्र के नाम पर जनता को वर्गलाने का प्रपंच करता है। नाना मत के पुरोहितों ने अनेक मंत्र बनाये हैं और उनके द्वारा संसार के लोगों की सारी मनोकामनों पूर्ण करने का झांसा देते हैं। और तो और, पुराकाल में विश्वामित्र ने जिस गायत्री मन्त्र का प्रणयन ऋग्वेद (3/62/10) में सूर्य की उपासना में किया था और उससे सद्बुद्धि के लिए प्रेरणा लेने का भाव प्रकट किया था उससे पुरोहितों ने सारी ऋद्धि-सिद्धि पाने का झांसा देना शुरू किया। कहा गया—"ब्रह्म हत्यादि सारे

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ. 1331।
2. वही, पृ. 1331।
3. गुरौमनुष्यबुद्धिं च मन्त्रे चाक्षरबुद्धिकम्।
   प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत॥

पाप बड़े हों या छोटे, गायत्री जप से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।[1] ब्रह्महत्या, शराबपान, चोरी, गुरुपत्नी के साथ गमन आदि जो महान पाप हो गया हो, वह सब गायत्री मंत्र के स्मरण मात्र से नष्ट हो जाता है।[2] दिन के पाप दिन में और रात के पाप रात में गायत्री के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं।[3] बेल पेड़ के नीचे एक महीना निवासकर (गायत्री का) जप करने से राज्य की प्राप्ति होती है। बेल पेड़ की जड़, फल, फूल तथा पत्रों को मिलाकर हवन करने से भी राज्य की प्राप्ति होती है।"[4]

'श्री विद्यामंत्र' की महिमा में कहा गया—"करोड़ों वाजपेय एवं सहस्रों अश्वमेध-फल 'श्री विद्या' के उच्चारण मात्र के बराबर नहीं हो सकते, इसी प्रकार करोड़ों कपिला गायों का दान भी 'श्री विद्या' के एक उच्चारण के समान नहीं है (ज्ञानार्णव, पटल 24, श्लोक 74-76)। अग्निपुराण (125/51-52) में मंत्र के बल पर शत्रुओं को मारने की बात कही गयी है।"[5]

बौद्ध ग्रन्थों में भी मंत्र-तंत्र का जोर है। बौद्ध ग्रन्थ साधनमाल (पृष्ठ 575) में कहा गया है कि यदि उचित विधि अपनायी जाये तो मंत्र द्वारा सभी कुछ प्राप्त हो सकता है। डॉ. पांडुरंग वामन काणे लिखते हैं—उदाहरणार्थ, इसमें आया है कि एक मंत्र, जो मंत्रों का राजा है, बुद्धत्व देता है, फिर अन्य सिद्धियों के विषय में कहने की आवश्यकता ही क्या है।[6] दूसरे मंत्र से अति दुर्लभ बुद्धत्व हाथ के तल में पड़े बदरी फल के समान है।[7] एक अन्य मंत्र (जो निरर्थक शब्दों वाला है) यदि पांच बार कहा जाये और दिन में तीन बार

---

1. ब्रह्महत्यादि पापानि गुरूणि च लघूनि च।
   नाशयत्यचिरेणैव गायत्री जपतो द्विजः॥ पद्मपुराण॥
2. ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेय गुर्वङ्गनागमः।
   महान्ति पातकादीनि स्मरणान्नाशमाप्नुयः॥ गायत्री पुराण 2/27॥
3. यदह्नात्कुरुते पापं तदह्नात्प्रतिमुच्यते।
   यद्रात्रियात्कुरुते पापं तद्रात्रियात्प्रतिमुच्यते॥ ते.अ.प्र. 10 अ. 34॥
4. जपेद् विल्व समाश्रित्य मासं राजमवाप्नुयात्।
   विल्वं हुत्वाप्नुयाद् द्रव्यं समूलं फल पल्लवम्॥
   (श्रीराम शर्मा कृत गायत्री महाविज्ञान, भाग 2, पृष्ठ 26-29)
5. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 5, पृष्ठ 53।
6. ओं आः ह्री हुं हँ हः अयं मन्त्रराजो बुद्धत्वं ददाति किं पुनरन्याः सिद्धयः।
   (साधनमाल, पृष्ठ 575)
7. यातु किं बहुवचनीयं परमति दुर्लभं बुद्धत्वमपि तेषां पाणितलावलीनबदरकफलमिवावतिष्ठति।
   (वही, पृष्ठ 270)

(प्रातः, दोपहर और संध्या) तो एक गधा अर्थात मूर्ख भी तीन सौ ग्रन्थों का जानकार हो जाये।[1]

गणपति का सिद्धि मंत्र है—"ओं लवंग चले, सुपारी चले, चन्द्रमा सूरज का बहन चले, तैंतीस करोड़ देवता का बहन चले, आगे अगाड़ी पीछे पछाड़ी, ताला तोड़ भंडार खोल ऋद्धि-सिद्धि खैंच लाओ मेरे पास, गुरु सकत मेरी भगति। पुरो मंत्रा ईश्वरम् वाचा।" इस मंत्र के जप से सारी ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति बतायी गयी है।

सांप-बिच्छू के मंत्र भी इसी प्रकार अन्धविश्वास पर चलते हैं। यह सब पाखण्ड नहीं तो क्या है! पारदर्शी दृष्टि वाले कबीर देव कहते हैं कि बहुत-से लोग मंत्र-तंत्र के पाखंड में उलझे रहते हैं।

आजकल तन्त्र के नाम पर लोगों को बेवकूफ बनाने वाले बड़े-बड़े वंचक हैं। अनेक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक तक मन्त्र-तन्त्र विशेषांक निकालते, भूत-प्रेत सिद्ध करते तथा येनकेन प्रकारेण समाज को मूर्ख बनाने पर तुले हैं।

'मननात् मन्त्रः' मनन द्वारा जो निष्कर्ष निकले वह मन्त्र है। या कुछ शब्दों का समूह मन्त्र कहलाता है जिसमें कुछ अर्थ होता है। मनुष्य को चाहिए कि उसका विचार करके जो ग्राह्य-त्याज्य हो उसका ग्रहण-त्याग करे। ऋद्धि-सिद्धि आदि देने के झांसे में चलाये गये सारे मन्त्र केवल पाखंड हैं।

"भरम उपदेशा" कितने गुरुओं के उपदेश भी भ्रम से पूर्ण होते हैं। सुनिये कहीं कथावाचकों की कथा तो वे आकाश-पाताल के कुलावे मिलाते मिलेंगे। कथा की सारी किताबों में तो कारण-कार्य व्यवस्थाओं, विश्व के शाश्वत नियमों एवं प्रकृति के गुण-धर्मों से हजारों कोस दूर की बातें भरी हैं। आत्मविवेक और विज्ञान से वहां कोई सरोकार नहीं है। अन्धविश्वास और चमत्कार से पूर्ण ही तो अधिक गुरुओं एवं पंडितों के उपदेश रहते हैं। वे जिस महापुरुष के विषय में कथा कहते होंगे, उन्हें या तो सर्वहर्ताकर्ता ईश्वर सिद्ध करते होंगे या उसका अवतार, पुत्र या पैगंबर। आंख मीचने पर दिखती ज्योति ईश्वर है, कान बन्द करने पर सुनाई पड़ता शब्द ईश्वर है, शून्य ईश्वर है, हमारे या हमारे गुरु के उपदेश या दीक्षा मात्र से मोक्ष मिलता है, अमुक तथाकथित देवी-देवता की उपासना से सब कुछ मिल जायेगा इत्यादि भ्रमपूर्ण

---

1. ओम् चलचल चिलचिल चुलुचुलु कुलुकुलु मुलुमुलु हुंहुंहुंहुं फट्फट्फट्फट्। पद्महस्ते स्वाहा दिने दिने पञ्चवारान् त्रिसन्ध्यमुच्चारयेत्। गर्दभोपि ग्रन्थशतत्रय गृह्णाति। (वही, पृष्ठ 62) (धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 5, पृष्ठ 53-54 से उद्धृत)

उपदेश हैं जिनमें पड़कर संसार के लोग ठगा गये हैं।

"विद्या वेद पढ़ि करे हंकारा, अन्त काल मुख फाँके छारा।" कितने लोग नाना विद्यों एवं वेद-शास्त्र पढ़कर उसका अहंकार करते हैं, परन्तु उनकी दशा अंततः दयनीय ही होती है। सारी भाषों काल्पनिक रूढ़ियां हैं, और सारी लिपियां सांकेतिक चिह्न हैं। बातों को समझने और समझाने के लिए इन्हें सीखा जाता है। इनका अहंकार करना व्यर्थ है। यदि कई बोलियां, भाषों तथा लिपियां सीख लीं, यदि कुछ विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लिया तो इनके द्वारा समाज का कल्याण करना चाहिए। इनका अहंकार करना तो केवल अज्ञान है। हमने कई शास्त्र पढ़ लिये, बहुत-से धर्मग्रन्थों को मथ डाले, वेदों के अर्थ करबदर कर लिये तो क्या हुआ यदि राम में नहीं रमते। कितने धुरंधर विद्वान एवं वेद-शास्त्रों के ज्ञाता देखे गये जिन्हें विद्या का सागर कहा जा सकता है, परन्तु वे विषयों के वश, इन्द्रियों के अधीन और कामनाओं में कुम्हार-चक्रवत नाचने वाले हैं, तो उनकी अन्तरात्मा में शांति कहां आ सकती है! शास्त्रज्ञान तथा आत्मसंतुष्टि में कोई सम्बन्ध नहीं है। पढ़ने वाला विद्वान बनता है तथा त्यागी आत्मसंतुष्ट होता है। वासनाओं के त्याग-बिना शांति नहीं मिल सकती।

नारद जी सनत्कुमार जी से कहते हैं—"भगवन! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण रूप पांचवां वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पादज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और देवजन विद्या (नृत्यसंगीतादि) यह सब मैं जानता हूं। परन्तु मैं केवल मन्त्रवेत्ता हूं। मैंने आप-जैसों से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक से पार हो जाता है, और मैं शोक करता हूं, अतः मुझे शोक से पार कर दीजिये।"[1]

इसके बाद सनत्कुमार का लम्बा उपदेश चला है और उन्होंने सार रूप में कहा है कि जितना कुछ संयोगजनित है सब अल्प है, क्षणिक है, उसमें चिर सुख नहीं है, भूमा ही, आत्मा ही पूर्ण सुख रूप है जो अनन्त है, न समाप्त होने वाला एवं पूर्ण है। उसी में रमो[2] और कहा कि सारे मन-इन्द्रियों के आहार (विषय) जब शुद्ध हो जाते हैं अर्थात जब विषय-वासनाओं का त्याग हो जाता है तब हृदय शुद्ध हो जाता है, जब हृदय शुद्ध हो जाता है तब चित्त एकाग्र हो जाता है और जब चित्त एकाग्र हो जाता है तब मन की सभी गांठें

---

1. छांदोग्य उपनिषद्, अ. 7, खण्ड 1, मन्त्र 2-3।
2. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्। (वही, अ. 7, खण्ड 23, मंत्र 1)

खुल जाती हैं।[1] मन की ग्रंथियों का कट जाना ही तो परम सुख है। और भी ऋषि कहते हैं—"जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं वे अविवेकमय निविड़ अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या अर्थात शास्त्रज्ञान में आसक्त हैं, वे उससे भी घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं।"[2]

अतएव जो विद्या एवं शास्त्रज्ञान के अहंकार में चूर रहते हैं, उनको अन्त में अशांति में बिलबिलाना पड़ता है।

"दुखित सुखित होय कुटुम जेवाँवै, मरणबार एकसर दुख पावै।" आदमी अपने आप को एकदम भूलकर धन-परिवार ही सब कुछ माने रहता है और उन्हीं के मोह-लोभ में रात-दिन आकंठ डूबा रहता है। वह अपने माने हुए परिवार के परवरिश के लिए पता नहीं कितने लोगों के हक को मारता है। आदमी जैसे एक सम्मोह में जीता है। वह रात-दिन न करने योग्य कर्म करके अपने माने गये परिवार को सम्पन्न बनाना चाहता है, परन्तु परिवार के वे लोग उसका कोई कल्याण नहीं कर सकते। उसे जीवन भर अपने कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं और मरणकाल में तथा मरणांतर भी अपने कर्मों का भुगतान करना पड़ता है। आदमी मरकर चाहे अपने घर के दरवाजे पर ही कुत्ते-बिल्ली की योनि में जन्म ले, परन्तु उस घर, धन, परिवार से क्या सम्बन्ध रह जाता है!

"कहहिं कबीर यह कलि है खोटी, जो रहै करवा सो निकरै टोटी।" सद्गुरु कहते हैं कि यह पापबुद्धि बुरी बात है। कलियुग ऐसा कुछ नहीं है जो समान रूप से सब पर हावी हो। कलियुग है पापबुद्धि, दुर्बुद्धि। यही सारे अनर्थों की जड़ है। यदि हमारे मन में दुर्बुद्धि है तो हमारा पतन रखा-रखाया है। मनुष्य जो कुछ जीवन भर क्षण-क्षण करता है, उन्हीं सबके संस्कार मन में इकट्ठे होकर भीतर जमा होते हैं और उन्हीं के फल उसको आज तथा आगे मिलते हैं। करवा में पानी भरा होगा तो उसकी टोंटी से पानी निकलेगा, दूध भरा होगा तो दूध और यदि कहीं विष भरा है तो विष ही तो निकलेगा! यदि हमने जीवन में अच्छे संस्कारों की कमाई की है तो हमारा मन स्वच्छ एवं प्रसन्न रहेगा, जीवन में शांति रहेगी और आगे भी शांति रहेगी; परंतु यदि हमने जीवन भर खुराफात किये हैं और बुरे संस्कार बनाये हैं तो उनके फल में हमें

---

1. आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
   स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥ (छांदो. 7/26/2)
2. अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपास्ते।
   ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
   (शुक्ल यजुर्वेद, अ. 40, मंत्र 9, तथा ईश उप. मं. 9)

आज और आगे सदैव भटकना ही भटकना है। यह आज के परिवार, धन, विद्या, पद, पूज्यता सहारा नहीं दे सकते। आदमी इस बात को नहीं समझता। वह केवल स्थूल बुद्धि से बाहरी चमक-दमक ही देखता है और उसी में भूलकर अपने आप को खो देता है।

इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे अभागे ! तू अपना माना हुआ सब कुछ छोड़कर एक दिन यहां से चला जायेगा। तेरा कोई साथी नहीं होगा। अतः सबका मोह छोड़कर राम में रमण कर। सब छूटेगा, परन्तु राम नहीं छूटेगा। संसार में तेरा कुछ नहीं है, बस केवल राम तेरा है। तेरी चेतना ही राम है जो तेरा अभिन्न स्वरूप है, सारी वासनों छोड़कर उसी में निमग्न हो जा, निज स्वरूप-राम में लीन हो जा।

उच्चतम एवं परमपद की दशा

शब्द-22

अवधू छाड़हु मन विस्तारा॥ 1॥

सो पद गहो जाहि ते सद्गति, पारब्रह्म सो न्यारा॥ 2॥
नहीं महादेव नहीं महम्मद, हरि हजरत कछु नाहीं॥ 3॥
आदम ब्रह्मा नहिं तब होते, नहीं धूप नहिं छाहीं॥ 4॥
असी सहस पैगम्बर नाहीं, सहस अठासी मूनी॥ 5॥
चन्द्र सूर्य तारागण नाहीं, मच्छ कच्छ नहिं दूनी॥ 6॥
वेद कितेब सुमृत नहिं संजम, नहिं जीवन परिछाँई॥ 7॥
बाँग निमाज कलमा नहिं होते, रामहु नाहिं खुदाई॥ 8॥
आदि अन्त मन मध्य न होते, आतश पवन न पानी॥ 9॥
लख चौरासी जीव जन्तु नहिं, साखी शब्द न बानी॥10॥
कहहिं कबीर सुनो हो अवधू, आगे करहु विचारा॥11॥
पूरण ब्रह्म कहाँ ते प्रगटे, कृत्रिम किन्ह उपराजा॥12॥

शब्दार्थ—अवधू=अवधूत, संन्यासी, त्यागी, विरक्त। मन विस्तारा=मनः कल्पना। सो पद=निजस्वरूप चेतन। सद्गति=छुटकारा, मोक्ष। हजरत= महाशय, महात्मा। संजम=संयम, धर्माचरण। परिछाँई=माया। आतश=आग। कृत्रिम=बनावटी। उपराजा=उत्पन्न किया।

भावार्थ—हे त्यागियो ! मन के फैलावे एवं कल्पनाओं का त्याग करो॥ 1॥ और उस निजस्वरूप चेतन की स्थिति ग्रहण करो जिससे तुम्हें दृश्य जगत एवं भव-बंधनों से छुटकारा मिले, यह स्थिति तुम्हारे माने हुए परब्रह्म से भी परे है॥ 2॥ जब बोधवान मन के फैलाव को छोड़ देता है तब

वहां क्या रह जाता है ! न वहां महादेव है, न हजरत मुहम्मद है और न हरि एवं विष्णु है, न वहां आदम है, न ब्रह्मा है और न धूप तथा छाया है, न वहां अस्सी हजार पैगंबर हैं, न अठासी हजार ऋषि-मुनि, न वहां चांद, सूर्य तथा तारागण और न मत्स्य, कच्छप दोनों या दसों-चौबीसों अवतार; वहां वेद, किताब, स्मृतियों एवं धर्माचरणों की भी गुंजाइश नहीं है और न वहां जगत-प्राणियों तथा माया का अस्तित्व है, वहां पर बांग, नमाज, कलमा की न बात है और न राम तथा खुदा की बात है, वहां शुरू, बीच तथा आखिर की बात नहीं है, न वहां आग, हवा तथा पानी के होने का प्रश्न है, न वहां चौरासी लाख योनियां एवं संसारी जीव-जन्तु हैं और न साखी, शब्द तथा किसी प्रकार की वाणी ही है॥ 3-10॥ मन के विस्तार का अन्त होने पर अर्थात मन समाप्त होने पर तो दृश्यों की शून्यता रहती है। बस, वहां रह जाता है निज चेतन पद। यही सद्गति है। यही मोक्षपद है। कबीर साहेब कहते हैं कि यदि इसके आगे तुम किसी पूर्णब्रह्म का विचार करते हो तो मैं तुमसे पूछता हूं कि वह कहां से प्रकट हो गया? उस कृत्रिम को कौन पैदा किया है? इस पर विचार करो ! उसकी कल्पना करने वाले तुम स्वयं हो॥ 11-12॥

व्याख्या—प्रस्तुत शब्द जीव की उच्चतम स्थिति का निराले ढंग से बोध कराता है। कबीर स्वयं निराले संत हैं। उनको समझने के लिए हमें संस्कारों की चादर को उतारकर अलग रख देना चाहिए। इस पद में वे हमें यही बताते हैं कि तुम राम-रहीम की चादर उतार फेंको और उसकी तली में छिपे हुए सत्य को पहचानो।

अवधू का शुद्ध रूप अवधूत है जिसका अर्थ होता है संन्यासी, विरक्त एवं त्यागी। त्यागी वह है जो सब कुछ त्याग दे। यदि उसने कुछ पकड़ रखा है तो वह त्यागी कैसा? इसका कोई अनर्थ न करेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि त्यागी को खाना-पीना नहीं चाहिए या छत के नीचे रहना नहीं चाहिए। खाना, पीना और छत के नीचे सब को रहना पड़ता है। यहां सब कुछ के त्याग का मतलब है सारी वासनाओं का त्याग। जगत-वासना को सभी बंधन समझते हैं; परंतु यदि हम ब्रह्म के नाम पर जगत की व्याख्या करने लगते हैं तो इस ब्रह्म-वासना को लोग बन्धन नहीं समझते। परन्तु यह जगत-वासना से भी भयंकर बन्धन है। जगत-वासना को तो सभी त्यागी बन्धन समझ लेते हैं, उसको सब यथाशक्ति त्यागने का भी प्रयत्न करते हैं, परन्तु ब्रह्म-वासना को बन्धन नहीं समझ पाते।

अब थोड़ा विचार कीजिए। यदि ब्रह्म की यही परिभाषा है कि सारा जगत ब्रह्म है, तो ब्रह्म और जगत नाम दो हुए, वस्तु तो एक ठहरी। कोई कहे कि मैं

जगत-वासना का त्याग करता हूं, परन्तु ब्रह्म में रमता हूं, तो उसका कहना वैसे है जैसे कोई कहे कि मैं गुड़ खाता हूं, परन्तु गुलगुले से परहेज करता हूं। अथवा और साफ उदाहरण कि कोई कहे कि मैं जल कभी नहीं पीता, केवल पानी पीता हूं। जिसके ख्याल में सारा विश्वप्रपंच ब्रह्म ही है, तो वह ब्रह्म को पकड़कर विश्वप्रपंच से कैसे मुक्त हो सकता है?

यदि कोई कहे कि जड़ विश्वप्रपंच से ब्रह्म परे है और मुझसे भी परे है, तो यह एक कल्पना का विषय है। कल्पना मन का कार्य है। समाधि में जब कल्पनों समाप्त हो जाती हैं तब वहां न जगत दृश्य रहता है और न किसी प्रकार का कल्पित ब्रह्म रहता है। तब तो केवल शुद्ध चेतन रहता है और विजाति दृश्यों का अन्त रहता है।

इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे अवधूतो, हे त्यागियो, तुम्हारा त्याग पूर्ण तभी माना जायेगा जब मन का फैलाव छोड़ दो, मन की सारी कल्पनों, सारी वासनों छोड़ दो। जगत-वासना बन्धन है। यदि जगत ही ब्रह्म है तो ब्रह्म वासना भी बन्धन है। यदि तुम्हारी स्व-सत्ता से भिन्न ब्रह्म है तो उसकी वासना भी बन्धन है। तुम अपने आप से, अपनी चेतना से अलग कुछ भी वासना रखते हो तो वह सब बन्धन है।

यह ज्ञानियों का सर्वमान्य सिद्धांत है कि सारी इच्छाओं का त्याग जीवन्मुक्ति दशा है तथा सारी वासनाओं एवं सारे संकल्पों का त्याग समाधि दशा है। अतएव जब तक हम जगत के विषयों की इच्छा करते हैं और जब तक आत्म-भिन्न किसी ईश्वर-ब्रह्म को पाने की इच्छा करते हैं तब तक वासना में बंधे हैं। मन के संकल्प-विकल्प समाप्त होने पर समाधि होती है। यदि हम समाधि के लिए बैठें और मन में किसी ईश्वर-ब्रह्म का नक्शा बनों तो समाधि कहां हुई? यदि हम किसी शरीरधारी को ब्रह्म मानकर उसके विषय में सोचते हैं तो किसी शरीर की कल्पना होगी और यदि निराकार-निर्गुण एवं सर्वव्यापक मानकर उसका नक्शा बनाना चाहेंगे तो ख्याल में कुछ आ नहीं सकता, बस केवल आकाश, बादल, वन, पर्वत, नगर एवं विश्वप्रपंच ही आयेगा। सार यह कि जब तक मन उपस्थित रहेगा तब तक विजाति दृश्य रहेगा चाहे उसका नाम जगत हो और चाहे ब्रह्म हो; परन्तु जब मन शून्य हो जायेगा, तब विजाति दृश्य शांत हो जायेगा। तब रह जायेगा शुद्ध चेतन स्वसत्ता मात्र। यही समाधि है। यही परमपद है। यही सद्गति है। वस्तुतः यही सच्चा अद्वैत भी है। सद्गुरु कहते हैं कि यह तुम्हारे माने हुए पारब्रह्म से न्यारा है।

इस शब्द की पहली दो पंक्तियां इस सन्दर्भ के प्राणतत्त्व हैं। पहली पंक्ति पर ध्यान दीजिए "अवधू छाड़हु मन विस्तारा"। सद्गुरु कबीर शब्द प्रयोग

करने में बड़े मनोवैज्ञानिक हैं। वे यहां मन के विस्तार, मन के फैलाव, वासनाओं एवं कल्पनाओं के त्याग की बात करते हैं। वे जानते हैं कि इस उच्च उपदेश का अधिकारी अवधूत है, त्यागी एवं संन्यासी है। साहेब कहते हैं कि तुम त्यागी हो तो सब कुछ का त्याग करो। यह ठीक है कि कोई अपने आप का त्याग नहीं कर सकता। अपने आप का त्याग करने की बात सोचना ही अपना पतन है। हम कहीं भी रहें अपने आपा को लेकर रहते हैं। हम अपने आप से कभी अलग नहीं हो सकते। परन्तु अपने आप में हमारी पूर्ण स्थिति तभी हो सकती है जब हम दूसरे सब की वासना का त्याग कर दें। मन का विस्तार ही बन्धन है। मन की कल्पना, वासना ही विजाति दृश्यों को जीव के सामने ला-लाकर उसे स्व-पद से विचलित करती है। यदि वासना का त्याग कर दिया जाये तो स्वरूपस्थिति ही है। कुछ पाना नहीं है, किन्तु केवल मन के विस्तार को छोड़ना है।

"सो पद गहो जाहि ते सद्गति, पारब्रह्म सो न्यारा।" वह स्थिति पकड़ो जिसमें सद्गति हो, मोक्ष हो। मोक्ष किस स्थिति में है? मन के विस्तार छोड़ने में। वासना छोड़ना ही तो मोक्ष है। यदि तुम्हारी यह कल्पना है कि परब्रह्म तुम्हारी स्व-सत्ता से कोई अलग वस्तु है, तो सद्गुरु कहते हैं कि उसे भी छोड़ो। क्योंकि वह भी तुम्हारे मन का विस्तार है, तुम्हारे मन की अवधारणा एवं कल्पना है। जब तक सारी वासनों न छूटेंगी, तुम्हारा अपना स्व-पद न मिलेगा।

अब जरा ध्यान दो, जहां सारी वासनों छूट गयीं, मन का सारा विस्तार समाप्त हो गया और जीव अपने स्वरूप में स्थित हो गया, वहां महादेव, मुहम्मद, हरि, हजरत, ब्रह्मा, आदम, धूप, छाया, पैगंबर, मुनि, सूर्य, चन्द्र, तारागण, कल्पित अवतार, वेद, किताब, स्मृतिग्रंथ, धर्माचरण, जीवन, माया, बांग, नमाज, कलमा, राम, खुदा, देश तथा काल की माप—आदि, मध्य, अन्त, आग, पानी, चौरासी लाख जीव-जन्तु, साखी, शब्द, वाणी विस्तार एवं समस्त दृश्य प्रपंच कहां है?

महादेव-मुहम्मद से लेकर साखी-शब्द-बानी तक ऊपर जितने नाम लिये गये हैं वह तो एक संकेत है। इससे हमें सारे दृश्य प्रपंच को समझ लेना चाहिए। मन का विस्तार समाप्त हो जाने पर कोई दृश्य नहीं रहता। लोग महादेव-मुहम्मद, ब्रह्मा-आदम, पैगंबर-अवतार, औलिया-मुनि, नमाज-पूजा, वेद-किताब, राम-रहीम आदि को लेकर लड़ते हैं, अपने आप को आस्तिक, दीनदार, पवित्र बताकर दूसरों को नास्तिक, काफिर एवं अपवित्र घोषित करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ये सब बीच की चीजें हैं। मुहम्मद तथा

कुरानादि एवं बांग, नमाज और कलमा जब नहीं थे तब भी धर्म था। जब राम-राम नहीं कहा जाता था तब भी धर्म था।

जो लोग यह मानते हैं कि यह सारी सृष्टि एक दिन नहीं थी। उनसे पूछा जा सकता है कि तब ये महादेव-मुहम्मद, वेद-किताब, राम-रहीम की कल्पना कहां थी? इतना तो सच है कि सृष्टि प्रवाहरूप अनादि होते हुए भी जो कुछ आज-कल है वह सब-का-सब वैसे ही सदैव से नहीं था। यहां सब कुछ सब समय बदलता है। ईसा की छठीं शताब्दी तक इस्लाम, मुहम्मद एवं कुरान का धरती पर चिह्न भी नहीं था। बुद्ध के बाद पांच सौ वर्षों तक ईसाइयत की पृथ्वी पर गंध नहीं थी। ईसा के छह सौ वर्ष के पहले बुद्ध और बौद्ध मत के होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। बुद्ध के समकालीन जैन के एक बड़े पुरुष महावीर स्वामी के पहले जैन-मत का कोई ग्रंथ नहीं था। ईसा से छह-सात सौ साल पहले हिन्दू शब्द की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी, फिर हिन्दू धर्म का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है! बुद्ध के बाद जब ईरानियों ने सिन्ध नदी को हिन्द नदी, इस देश को हिन्द देश तथा इस देशवासियों को हिन्दू कहा तब से धीरे-धीरे हिन्दू शब्द का प्रचलन होता चला गया। इसलिए वेद, वैदिक साहित्य एवं महाकाव्यों तक में हिन्दू शब्द नहीं पाया जाता और न भारतीय मूल की भाषाओं—संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि ही में पाया जाता है। राम और कृष्ण जो दो मुख्य अवतार माने गये हैं वे बुद्ध के बाद साहित्य में आये हैं। राम-नाम जप का प्रचलन वाल्मीकीय रामायण तक में नहीं है, वेद-शास्त्रादि में होने की तो बात ही नहीं है। राम-नाम जप का प्रचलन लगभग ईसा के एक हजार वर्ष बाद हुआ है। यदि आज से तीन हजार वर्ष के पूर्व की हमारे पूर्वजों के विषय में बनायी गयी एक फिल्म होती तो हम उसे परदे पर देखकर चकित रह जाते। उसमें आज के धार्मिक प्रचलन का शायद कुछ शतांश ही मिलता।

मानो हम किसी दूसरे लोक में चले जायें। किसी ग्रह में प्राणी हों, मनुष्य हों और हम वहां चले जायें, तो क्या हमें वहां वेद-पाठ, कुरान-पाठ, बाइबिल-पाठ या रामायण-गीतादि का पाठ मिलेगा? क्या वहां राम, कृष्ण, ईसा, मुहम्मद को कोई जानता होगा? क्या वहां हमारी पृथ्वी के धार्मिक रस्मोरिवाज होंगे? यह सब कुछ नहीं होगा? उन सबके कुछ अपने नियम, शब्द एवं संस्कार होंगे। परन्तु यदि वे विकसित हैं तो असली धर्म वहां भी वही होगा जो यहां है। वह यह है कि जब हम एक दूसरे से मिलें तो परस्पर प्रेम का व्यवहार करें और यह बड़ी चित्तशुद्धि का फल है। जिसका चित्त शुद्ध होगा वही दूसरों के साथ सुन्दर व्यवहार करेगा।

हमें धर्म और मुक्ति को सारे जंजालों से ऊपर करके देखना चाहिए। धर्म हिन्दू-मुसलमान, मुहम्मद-महादेव, वेद-किताब में सीमित नहीं है। वह मनुष्य के दिल में है और मोक्ष भी किसी बाहरी नाम-रूप में नहीं है, किन्तु वह सारी वासनाओं का त्याग है, मन के विस्तार का अंत है।

सद्गुरु ने इस शब्द की प्रथम दो पंक्तियों में ही परमपद के विषय में अपना मंतव्य बता दिया है कि मन के संकल्प-विकल्प छोड़ देने पर जो शेष तत्त्व रह जाता है वही सद्गति है। अर्थात वासनाओं के छूट जाने पर निजस्वरूप की स्थिति ही परम पद है। यह माने हुए पारब्रह्म से भी भिन्न है। यदि निजस्वरूप से भिन्न ब्रह्म है तो वह मन की कल्पना होने से मन का ही कार्य है।

इस शब्द की अन्तिम दो पंक्तियों में सद्गुरु बतलाते हैं कि वासना-रहित स्वरूपस्थिति के अलावा यदि तुम ब्रह्म मानते हो तो उस पर यह विचार करो कि वह पूर्णब्रह्म कहां से प्रकट हुआ है? अर्थात उसकी कल्पना किसने की है? यह स्पष्ट है कि जीव ही ने की है। इसका सविस्तार विवेचन 'झगरा एक बढ़ो राजाराम' इस 112 वें शब्द में देखने योग्य है 'ब्रह्म बड़ा की जहाँ से आया' इत्यादि। निजस्वरूप से भिन्न ब्रह्म मानकर उसे कृत्रिम बना दिया जाता है। कृत्रिम का कोई कर्ता होता है। कृत्रिम ब्रह्म का मनुष्य जीव ही कर्ता है। साहेब पूछते हैं "कृत्रिम किन्ह उपराजा?"

शब्द का सार यह है कि साधक को न ब्रह्म प्राप्त करना है और न मुक्ति प्राप्त करना है। क्योंकि जो कुछ निजस्वरूप से भिन्न होगा वह माया होगी, दृश्य होगा, जड़ तत्त्वों का कार्य होगा या मन की कल्पना होगी। अतएव केवल मन के विस्तार को, मन की कल्पना को, मन की वासना को एवं मन के संकल्प-विकल्पों को छोड़ देना है, बस, शेष सद्गति ही है, मोक्ष ही है। अतएव "अवधू छाड़हु मन विस्तारा!"

माया की लीला

शब्द-23

अवधू कुदरत की गति न्यारी॥ 1॥

रंक निवाज करे वै राजा, भूपति करे भिखारी॥ 2॥
याते लोग हरफना लागे, चन्दन फूल न फूला॥ 3॥
मच्छ शिकारी रमे जंगल में, सिंह समुद्रहि झूला॥ 4॥
रेंड रूख भये मलयागिर, चहुँ दिशि फूटी बासा॥ 5॥
तीन लोक ब्रह्माण्ड खण्ड में, अँधरा देखै तमाशा॥ 6॥

पंगा मेरु सुमेरु उलंघै, त्रिभुवन मुक्ता डोलै॥ 7॥
गूँगा ज्ञान विज्ञान प्रकाशै, अनहद बानी बोलै॥ 8॥
अकाशहि बाँधि पतालहि पठवै, शेष स्वर्ग पर राजै॥ 9॥
कहैं कबीर राम है राजा, जो कछु करै सो छाजै॥10॥

शब्दार्थ—कुदरत=माया। निवाज=दया करने वाला। हरफ=अक्षर, उपदेश, ज्ञान। मच्छ=माया। सिंह=जीव। रेंड=एरंड। रूख=पेड़।

भावार्थ—हे अवधू, माया की गति विलक्षण है॥ 1॥ वह गरीब पर कृपाकर उसे राजा बना देती है तथा राजा को भिखारी। अर्थात मनुष्य के मन की अविद्या रूपी माया ने पानी-पत्थरादि को भोग-मोक्ष का दाता बना दिया तथा जीव को उसके सामने घुटने टेककर भीख मांगने वाला॥ 2॥ इसलिए लोग सत्योपदेश को नहीं ग्रहण कर पाते। जैसे चन्दन सुगंधित होता है और यदि उसमें फूल भी हों तो कितना अच्छा है, परन्तु उसमें फूल नहीं होते। इसी प्रकार चेतन ज्ञानस्वरूप है, परन्तु यदि वह इसे समझकर अपने स्वरूप में स्थित होता तो उसे अमृतत्व की उपलब्धि होती॥ 3॥ मछली समुद्रादि जलाशय में तथा सिंह जंगल में रहते हैं, परन्तु यहां तो उलटा है, मछली शिकारी बनकर वन में आखेट करती है और उसके डर से सिंह समुद्र में झूलता है। अर्थात माया संसार-वन में शिकार करती है और जीव उससे प्रभावित होकर भ्रम के समुद्र में झूलता है॥ 4॥ इस अविद्या माया के प्रकोप से एरंड के पेड़ मलयगिरि बन गये और उसकी सुगंधी चारों तरफ फैल गयी अर्थात धूर्त गुरु ज्ञानी तथा सिद्ध कहलाने लगे और उनका देश-विदेश खूब प्रचार हो गया॥ 5॥ जो अन्धे थे वे तीनों लोकों एवं ब्रह्मांड के सभी खंडों में गुप्त-प्रकट वस्तुओं का तमाशा देखने लगे। अर्थात विवेकहीन लोग मंत्र-तन्त्र के नाम पर अपने आप को सर्वज्ञ तथा त्रिकालदर्शी घोषितकर जनता की बुद्धि का शोषण करने लगे॥ 6॥ पंगुला आदमी सुमेरु जैसे ऊंचे पर्वतों को कूद गया और स्वतंत्र होकर तीनों लोकों में विचरने लगा। अर्थात बिना हाथ-पैर वाला मन ऊंची-ऊंची उड़ानें भरकर आकाश-पाताल में तथा सर्वत्र विचरने लगा॥ 7॥ गूंगा असीम वाणी बोलकर ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश करने लगा। अर्थात विवेकहीन लोग वाचिकज्ञानी बनकर उलटे-सीधे उपदेश हांकने लगे॥ 8॥ आकाश को बांधकर पाताल में भेज दिया और पाताल में रहने वाले शेषनाग को आकाश में विराजमान कर दिया। अर्थात जो पवित्र हैं जिनका सम्मान होना चाहिए उनकी उपेक्षा होने लगी और जो नीचकर्मी एवं धूर्त हैं वे समाज में मान्य हो गये, और उनका सर्वत्र आदर होने लगा॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि राम राजा है, वह जो कुछ करता है उसे

शोभा देता है। यह व्यंग्य है। अर्थात जीव अपना कर्ताधर्ता है जो करेगा वह भरेगा॥ 10॥

व्याख्या—यहां 'कुदरत' का अर्थ ब्राह्मांडिक शक्ति न लेकर मनुष्य के मन की माया, अविद्या एवं कल्पना ली गयी है। क्योंकि मनुष्य के मन की माया एवं अविद्या ही से मानव के जीवन में नैतिक अव्यवस्था आती है। जीव ही राम है, अपने आप का ईश्वर है, उसको अपने स्वरूप का बोध न होने से विपरीत दिशा में भटकता है और जो नहीं करना चाहिए वह करता है। राम की माया ही राम को भटकाती है। जीव की अविद्या ही जीव को विपरीत दिशा में ले जाती है। जब जीव सत्संग तथा विवेक से अपने स्वरूप को समझ लेता है तब उसका भटकना बन्द हो जाता है।

इस शब्द का यह अर्थ सरलता से किया जा सकता है कि ईश्वर की शक्ति विलक्षण है। वह गरीब को राजा और राजा को गरीब, एरंड को चंदन, जीव को माया में पतित, अन्धे को सर्वद्रष्टा, पंगुले को सर्वत्र गतिशील, गूंगे को वक्ता आदि बना देती है। ईश्वर सर्व हर्ताकर्ता है, वह जो कुछ करे उसे शोभा देता है इत्यादि परन्तु ये बातें विवेक पर नहीं ठहरतीं। यदि ईश्वर ऐसा तानाशाह एवं उन्मादी है जो ऐसा अन्यथा करता रहता है, उसे कारण-कार्य-व्यवस्था पर कोई ध्यान नहीं है, तो उसके गलत आदर्श से समाज में अव्यवस्था ही फैलेगी। यह भावुकतापूर्वक ईश्वर-भक्ति का चित्रण कबीर जैसे तार्किक पुरुष के विपरीत है। जो कहते हैं—"आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा।[1] कबिरन ओट राम की पकरी, अंत चले पछिताई।"[2] आदि। वे यहां इस प्रकार भावुक होकर कैसे तथाकथित ईश्वर के "कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुम्" सामर्थ्य का गुणगान करने लगेंगे। यदि इस शब्द का यही अभिप्राय लेकर सद्गुरु ने कहा है तो यह उनका व्यंग्यात्मक मनोरंजन ही होगा।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि कबीर साहेब को ऐसा कोई पक्का गुरु नहीं मिला था कि वह उन्हें हर विचार में तुरन्त पक्का कर देता। कहावत के अनुसार उनको गुरु के रूप में स्वामी रामानन्द जी मिले थे, जो स्वयं ईश्वर की शक्ति के गुणगान करने वाले थे। इसी प्रकार उन्होंने योगियों की संगत की थी, हठयोग साधा था। परन्तु पीछे उसकी निस्सारता देखकर उसका खंडन किया था। योग-सम्बन्धी उनकी बहुत-सी वाणियां हैं। पहले कबीर साहेब

---

1. शब्द 77।
2. शब्द 84।

पर उनके इन विषयों का भी प्रभाव कुछ-न-कुछ पड़ा ही होगा परन्तु वे धीरे-धीरे सत्य का शोधन करते-करते आगे बढ़े होंगे और जब उनके हर विचार पक्के हो गये होंगे तब उनके पक्के विचारों के हर वचन निकलने लगे होंगे। उसके पहले उनके मिश्रित वचन रहे होंगे। सन्त की सभी वाणी आदरणीय समझकर सबका संकलन कर लिया गया होगा। बीजक के बाहर की वाणियों में तो ऐसे अंशों की भरमार है। बीजक की वाणियां ठोस हैं, परन्तु इसमें भी साधारण भक्तों के मनोरंजन के लिए यत्र-तत्र वाणियां हैं। परन्तु इससे उनका सिद्धान्त ओझल नहीं है। कबीर का राम, परमात्मा एवं ब्रह्म व्यक्ति की आत्मा से अलग नहीं है, इस भाव का बीजक भर में प्रकाशन है। जो इसके विपरीत है, वह भावुकों के मनोरंजन मात्र के लिए है। कबीर साहेब का सिद्धान्त ईश्वर-सम्बन्धी भावुकता होती, तो वे उसका खण्डन न करते। कोई अपने सिद्धान्त का एक वचन में भी खण्डन नहीं करता है। अतएव कुछ इधर-उधर लोकप्रचलित भावुकता के वचन पाकर कबीर साहेब के स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान विषयक सिद्धान्त को न भूलना चाहिए।

अब थोड़ा मूल शब्द पर विस्तार से विचार कर लें। सद्गुरु कहते हैं कि माया रंक को राजा तथा राजा को रंक बना देती है। यह मनुष्य के मन की माया ही तो है जिसने मिट्टी-पत्थर आदि की पिंडियों, नदियों, पेड़ों आदि को भोग-मोक्ष का दाता बना दिया और श्रेष्ठ मनुष्य को उसके सामने भिखारी। आदमी उन मूर्तियों के सामने अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए भीख मांगता है जो अपने ऊपर बैठी मक्खी को भी नहीं उड़ा सकतीं। सारे ज्ञान-विज्ञान का आधार मानव है, परन्तु वह अपनी ही भूल रूपी माया के वश होकर दीन बन गया।

"याते लोग हरफ ना लागे" इसीलिए लोग सही उपदेश एवं सच्चे ज्ञान की बातों में नहीं लगते। जब थोड़े मन्त्र एवं पूजा ही से सारी कामनों पूर्ण होने की बातें जड़ दी गयीं, तब कर्म, सदाचार, त्याग आदि की बातें कौन माने! जब नदी में नहाने एवं तीर्थ के नाम लेने मात्र से भोग-मोक्ष मिलने की आशा मिल गयी, तब यथार्थ ज्ञान की खोज, साधना एवं त्याग-तप के परिश्रम में कौन पड़े!

"चन्दन फूल न फूला" देहात में पाये जाने वाले लाल चंदन के पेड़ में तो फूल खिलते हैं। हो सकता है मलयगिरि चंदन में फूल न खिलते हों जो मलय पर्वत पर होते हैं। लक्षणा अर्थ में चंदन चेतन मनुष्य है। इसमें सद्गुण के फूल न खिले। जीव माया के अधीन घोर संसारी बन गया। मनुष्य जितना ही विषयों में लीन होता है उतना ही वह सद्गुण रूपी फूलों से शून्य होता है।

अंततः स्वरूपस्थिति ही जीवन का उच्चतम फूल है। यदि यह फूल खिल जाये तो जीवन धन्य हो जाये।

"मच्छ शिकारी रमे जंगल में, सिंह समुद्रहि झूला।" मछली शिकारी बनकर संसार-वन में घूमने लगी और जीव-सिंह भ्रम एवं संशय-समुद्र में झूलने लगा। मछली तुच्छ है, सिंह महान है। परन्तु मछली ही से सिंह भयभीत हो गया। माया के लिए यहां मच्छ शब्द का प्रयोग हुआ है। "मच्छ रूप माया भई, जबरहि खेले अहेर"[1] यहां भी यही भाव है। सद्गुरु यहां माया की निर्बलता बताते हैं, फिर भी जीव उससे मारा जाता है, क्योंकि उसे स्वरूपज्ञान नहीं है।

इस माया, अविद्या एवं मनुष्य के मन की भूल का ही परिणाम है कि धूर्त गुरुओं की प्रतिष्ठा बढ़ती है और सच्चे गुरु का आदर नहीं होता। क्योंकि धूर्तों के पास चमत्कार का झांसा है, परन्तु सच्चे गुरु केवल सत्य कहते हैं और सत्य में रहते हैं।

मन्त्र-तन्त्र का पाखण्ड रचने वाले लोग शिक्षित तथा अशिक्षित सभी मूर्खों को फंसा रखते हैं। तांत्रिक लोग अपने को त्रिकालदर्शी और गुप्त-प्रकट का ज्ञाता सिद्धकर समाज को मूड़ते हैं, परन्तु वे अपने मिथ्या स्वार्थ में अंधे होकर ही यह सब करते हैं।

संसार में अर्थात मनुष्यों के जीवन में जितना व्यतिक्रम है, सब उसके अविवेक का फल है। मनुष्य के मन का अविवेक ही माया है। माया ईश्वरीय नहीं, किन्तु मानवीय है। कोई अलग ईश्वर नहीं बैठा है जो हमारे ऊपर माया रूपी कटही कुतिया छोड़ता हो। माया है हमारा अज्ञान, अविवेक एवं विषय-मोह। इसके त्याग हो जाने पर जीव को कोई भटका नहीं सकता।

हठयोग का वर्णन

शब्द-24

अवधू सो योगी गुरु मेरा, जो यह पद का करे निबेरा॥ 1॥
तरिवर एक मूल बिनु ठाढ़ा, बिनु फूले फल लागा॥ 2॥
शाखा पत्र किछू नहिं वाके, अष्ट गगन मुख गाजा॥ 3॥
पौ बिनु पत्र करह बिनु तुम्बा, बिनु जिभ्या गुण गावै॥ 4॥
गावनहार के रूप न रेखा, सतगुरु होय लखावै॥ 5॥
पन्छिक खोज मीन को मारग, कहैं कबीर दोउ भारी॥ 6॥
अपरम पार पार पुरुषोत्तम, मूरति की बलिहारी॥ 7॥

---

1. रमैनी साखी 46।

शब्दार्थ—तरिवर=पेड़, मेरुदंड, रीढ़ की हड्डी। मूल=जड़। अष्ट गगन=अष्ट कमल के ऊपर का आकाश—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा ये छह चक्र तथा इसके ऊपर सहस्रदल कमल तथा सुरति कमल के ऊपर का आकाश। गाजा=गर्जता है। पौ=पौधा। करह=आधार। तुम्बा=लौकी के खोल का वाद्ययन्त्र। पन्छिक खोज=विहंगममार्ग। मीन को मारग=मीनमार्ग।

भावार्थ—हे अवधूतो ! वही योगी मेरा गुरु है जो प्रस्तुत पद का निर्णय करे॥ 1॥ एक पेड़ है जो बिना जड़ के खड़ा है। उसमें बिना फूल खिले ही फल लगे हैं। अर्थात शरीरस्थ मेरुदण्ड गुदा से खोपड़ी तक एक ऐसा पेड़ है जो बिना जड़ के ही खड़ा है। यही हठयोग का आधार है। इसमें बिना फूल खिले ही षटचक्र रूप फल लगे हैं। इसमें डाली-पत्ते नहीं हैं। यह आठवें सुरति-कमल के आकाश में पहुंचकर गर्जता है॥ 2-3॥ वहां पौधा के बिना पत्ते हैं। अर्थात सुरतिकमल के पत्ते हैं। वहां डंडी के बिना वीणा का तुम्बा है अर्थात खोपड़ी का अन्तरभाग ही वीणा एवं तुम्बा है। वहां वीणा की मधुर ध्वनि होती है और बिना जीभ के वहां गुणगान होता है अर्थात अनाहतनाद बजता है। वहां गाने वाले की रूप-रेखा नहीं है। वह तो सहज ध्वनि है। कोई योगी सद्गुरु ही इसका रहस्य बता सकता है॥ 4-5॥ कबीर साहेब कहते हैं कि पक्षी और मछली के गये हुए मार्ग की खोज कर पाना कठिन काम है, इसी प्रकार योगी का पथ है जहां दूसरे के लिए कोई चिह्न नहीं छूटता, यहां साधक को अपना पथ बनाना पड़ता है अथवा विहंगम-मार्ग और मीन-मार्ग ये दोनों वहां पहुंचने के बड़े पथ हैं॥ 6॥ जो वहां पहुंच जाता है वह वहां विराजमान पुरुष पुरुषोत्तम में समर्पित हो जाता है॥ 7॥

व्याख्या—यह हठयोग का विषय है। कबीर साहेब के समय में उत्तरी भारत में हठयोग की प्रधानता थी। कबीर साहेब ने हठयोगियों के साथ रहकर हठयोग साधा था। उन्होंने हठयोग का गहरे में अनुभव कर उसकी निस्सारता पर बीजक के अनेक शब्दों में प्रकाश डाला है। हम लोगों को तो पहले ही विवेकवान सद्गुरु मिल गये और स्वरूपज्ञान बता दिये, इसलिए नाना मतों के चक्कर में नहीं भटकना पड़ा। परन्तु सद्गुरु कबीर ने नाना मतों की खाक छानकर, उनकी साधनों कर अपने स्वतः बल पर पारखबोध स्थिर किया था। हम लोगों को तो उपार्जित धन मिला है, परन्तु कबीर देव ने तो स्वतः उपार्जन किया था।

हठयोग में मेरुदण्ड का बहुत बड़ा महत्त्व है। मेरुदण्ड वह मजबूत हड्डी का डंडा है जो मनुष्य के गुदा से लेकर खोपड़ी तक पहुंचा है। हठयोगी नाभि

में स्थित एक काल्पनिक कुंडलिनी को जागृतकर इसी मेरुदण्ड के सहारे सुषुम्णा को ब्रह्माण्ड एवं खोपड़ी में ले जाता है, जहां एक कल्पित अपरम्पार पार पुरुषोत्तम का निवास है। योगी मानता है कि जब कुंडलिनी के ऊपर उन्मुख होने पर सुषुम्णा षट्चक्रों को वेधती हुई सातवें सहस्रदल कमल से भी पार आठवें सुरति कमल में पहुंच जाती है, तब वहां दिव्य प्रकाश होता है। वहां बिना डंडे के तुंबा एवं वीणा से, जो सिर ही है, अनाहतनाद उठता है। वहां अनाहतनाद को गाने एवं बजाने वाले की कोई रूप-रेखा नहीं है। अर्थात वहां स्वतः ध्वनि उठती है। भेरी, शंख, शहनाई, बांसुरी आदि के मधुर बाजे वहां बजते हैं। वहां परम पुरुषोत्तम परमात्मा दिव्य ज्योति के रूप में विराजमान रहता है। योगी वहां पहुंचकर उस दिव्य ज्योति एवं नाद को देखता और सुनता है तथा उसी में समर्पित हो जाता है।

योगियों के तीन नाम के मार्ग है 'पिपीलिकामार्ग, विहंगममार्ग तथा मीनमार्ग।" पिलीलिका चींटी को कहते हैं। यह धीरे-धीरे चलती है। जो धीरे-धीरे साधना में अग्रसर हो वह मानो पिपीलिका मार्ग से चल रहा है। विहंगम पक्षी को कहते हैं। वह उड़कर चलता है, तेजगति से जाता है और उसके पीछे रास्ते का कोई चिह्न नहीं रह जाता। मीनमार्ग में दो विशेषतों हैं। एक तो उसके पानी में चलने पर, उसके पीछे भी उसके रास्ते का कोई चिह्न नहीं रह जाता, दूसरा यह कि वह पानी की धारा के उलटे चलती है। यह साधक का विषयों के प्रति उलटा चलने का प्रतीक है। कितने बुधजन मीनमार्ग तथा विहंगममार्ग में भेद नहीं मानते। यह साधकों का तीव्र गति से चलने का प्रतीक है।

प्रस्तुत पद में सद्गुरु ने कहा है "पन्छिक खोज मीन को मारग, कहैं कबीर दोउ भारी।" अर्थात जो विषयों से विमुख होकर तीव्रगति से अपनी साधना में बढ़ते हैं वे मानो विहंगममार्ग एवं मीनमार्ग से जाते हैं। उनके पथ की खोज कर पाना कठिन है। दूसरे साधकों को स्वयं अपना साधना-पथ बनाना पड़ेगा। महाभारत में भीष्मपितामह युधिष्ठिर से कहते हैं—"जैसे आकाश में पक्षियों के और पानी में मछलियों के चलने के पद-चिह्न नहीं दिखते वैसे ज्ञानियों की गति का पता नहीं चलता।"[1]

हठयोग में स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान कम, शरीर के भीतर ज्योति-शब्द आदि को अधिक तूल दिया गया है। श्वास को मस्तिष्क में रोककर

---

1. शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके।
पदं यथा न दृश्यते तथा ज्ञानविदां गतिः॥ (महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय 181, श्लोक 19)

नादश्रवण एवं ज्योतिदर्शन आदि जो कुछ किया जाता है तथा उन्हीं को परम पुरुषोत्तम या सारशब्द आदि का नाम देकर जो उन्हीं में समर्पित होने का भाव प्रकट किया जाता है, वह सब स्वरूपज्ञान से दूर हो जाने की बात है। शब्द से उसका श्रोता तथा ज्योति से उसका द्रष्टा चेतन श्रेष्ठ है।

योग का सामान्य अर्थ किसी से जुड़ना अवश्य है, परन्तु योगदर्शन के अनुसार योग का अर्थ वियोग है। भोज ने इसे बड़े सुन्दर ढंग से कहा है—"पतंजलि मुनि की अपूर्व कही हुई वाणी की जय हो, जिसके द्वारा प्रकृति और पुरुष के वियोग को भी योग कहा गया है।"[1] अर्थात जीव का जड़ से सर्वथा छूटकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना ही योग है।

कबीर साहेब ने इस शब्द में योगियों के योगमार्ग का सकारात्मक वर्णन किया है। इसमें उन्होंने उनका खंडन नहीं किया है। परन्तु बीजक में इसका अनेक स्थलों पर खंडन है। इसके लिए शब्द 25, 66, 74 आदि देखने योग्य हैं। यहां योग के खंडन का मतलब हठयोग का खंडन है, योग के असली तत्त्व का खंडन नहीं जिसमें चित्त एकाग्रकर स्वरूपस्थिति होती है।

हठयोग की उपलब्धि माया के भीतर है

शब्द-25

अवधू वो तत्तु रावल राता, नाचै बाजन बाजु बराता॥ 1॥
मौर के माथे दुलहा दीन्हा, अकथ जोरि कहाता॥ 2॥
मँड़ये के चारन समधी दीन्हा, पुत्र ब्याहिल माता॥ 3॥
दुलहिन लीपि चौक बैठारी, निर्भय पद परकाशा॥ 4॥
भातै उलटि बरातिहि खायो, भली बनी कुशलाता॥ 5॥
पाणिग्रहण भयो भौ मण्डन, सुषमनि सुरति समानी॥ 6॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, बूझो पण्डित ज्ञानी॥ 7॥

शब्दार्थ—वो तत्त्व=ज्योति या नाद। रावल=राव, राजा, योगी, जीव। बाजन=इंद्रियां। बराता=तत्त्व-प्रकृति, नस-नाड़ियां। मौर=मुकुट, ज्योति। दुलहा=जीव। अकथ=न कहने योग्य या जो कहने में न आये। चारन=आचरण, व्यवहार, रीति-रस्म। समधी=सम+धी—समताबुद्धि प्राप्त योगी। पुत्र=जीव। माता=माया, अविद्या। दुलहिन=वृत्ति। लीपि=लय करके। चौक=चतुष्टय अंतःकरण। बैठारी=स्थित किये। भातै=भात, पका चावल,

---

1. पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ।
पुंस्प्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यया॥

तात्पर्य में अंतःकरण। बरातिहि=तत्त्व-प्रकृति को। खायो=लय किया। पाणिग्रहण=वर द्वारा वधू का हाथ पकड़ना, स्वीकारना, विवाह। भौ=भव, संसार। मंडन=शृंगार, सिद्धि। सुषमनि=सुषुम्णा नाड़ी। सुरति=लक्ष्य, मनोवृत्ति।

कबीर साहेब यहां हठयोग के अभ्यास को एक विवाह के रूपक में समझाते हैं।

भावार्थ—हे अवधूतो ! योगी लोग ज्योति तत्त्व में लीन होते हैं। यह ज्योति में लीनता एक मधुर विवाह है। विवाह के समय जब बरात पहुंचती है तब बाजे बजते हैं और बराती नाचते हैं। परन्तु इस विवाह में सब उलटा है। यहां बाजे नाचते हैं और बराती बजते हैं। यहां बाजे इंद्रियां हैं और बराती तत्त्व-प्रकृति हैं। जब योगी ध्यान में तन्मय होता है तब इन्द्रियां कम्पायमान हो जाती हैं यही उनका नाचना है और तत्त्व-प्रकृति बजने लगते हैं। अर्थात अनाहतनाद उठने लगता है॥ 1॥

संसार में दुलहा के सिर पर मौर अर्थात मुकुट पहनाया जाता है, और विनोद के रूप में न कहने योग्य बातें जोड़-जोड़कर स्त्रियां गीत गाती हैं। यहां मौर के माथे पर ही दुलहा को बैठा दिया गया है। मौर ध्यान में दिखती हुई ज्योति है और जीव सबका ज्ञाता होने से दुलहा है। योगी जीव को अर्थात अपने आप को ज्योति ही में समर्पित कर देता है। अपने आप को ज्योति में चढ़ा देता है। यही मानो मौर पर दुलहा को बैठा देना है। योगी ज्योति को अकथ एवं कहने में न आने वाली अनिर्वचनीया कहता है और उस ज्योति को ब्रह्म मानकर उसकी महिमा में अनेक बातें जोड़-जोड़कर कहता है॥ 2॥

जिस मंडप के नीचे विवाह होता है उसे सामान्य लोग माड़व कहते हैं। उसमें पंडित एवं धार्मिक नेता बैठकर वर-वधू द्वारा माड़व का आचरण एवं व्यवहार कराता अर्थात विवाह सम्पन्न कराता है। परन्तु इस यौगिक विवाह में माड़व के रीति-रस्म समधी कराता है। यहां समधी का अर्थ है जिनकी बुद्धि समता को प्राप्त है ऐसे योगी गुरु। सम=समता, धी=बुद्धि—समता बुद्धि को प्राप्त योगी ही यहां समधी है। वह यह यौगिक विवाह कराता है। योगी गुरु ही योगी साधक को योग का मर्म बताकर उसे ज्योति-ब्रह्म तक पहुंचाता है। संसार में भिन्न वंशजों में विवाह होता है। पुत्र माता से विवाह कर ले, यह सोचा भी नहीं जा सकता। यह महापातक है। परन्तु इस विवाह में यही हुआ। जीव ने माया-माता से विवाह कर लिया। माता जन्म देती है, वैसे माया से, निजस्वरूप से भिन्न दृश्य-भास के मोह से जीव संसार में बारम्बार जन्म लेता है। इस यौगिक विवाह में जीव का विवाह एवं सम्बन्ध

माया से ही हो गया है। हठयोगी ज्योति, शब्द आदि जो कुछ अपना प्राप्तव्य मानता है और जिसे वह ब्रह्म भी कहता है, वह भास-दृश्य होने से माया ही है। "पुत्र ब्याहिल माता" यह हठयोगियों की मुख्य मान्यता पर ही व्यंग्य है॥ 3॥

लौकिक विवाह में चौका लीपकर उसमें दुलहिन बैठायी जाती है। परन्तु इस विवाह में दुलहिन लीपकर चौका बैठाया गया। यहां दुलहिन मनोवृत्ति है। उसे लीपकर अर्थात लयकर चौका चतुष्टय अंतःकरण को बैठा दिया गया, स्थित कर दिया गया—मन को चित्त में, चित्त को बुद्धि में, बुद्धि को अहंकार में लीनकर अहंकार को ज्योति-ब्रह्म में लीन कर दिया। योगी इसे निर्भय पद का प्रकाश मानता है। जब मनोवृत्ति तथा चतुष्टय अंतःकरण ज्योति-ब्रह्म में लीन हो गये तब मानो निर्भय पद का प्रकाश हो गया॥ 4॥

लोक में बराती भात को खाते हैं, परन्तु इस विवाह में सब उलटा है तो इसमें भी उलटा होना ही चाहिए। यहां भात ही बरात को खा गया। भात उपभोग की वस्तु है। यहां अंतःकरण भात है जो उपभोग की वस्तु है। अंतःकरण का ही तो जीवन में सर्वाधिक उपयोग होता है और यहां उपयोग ही उपभोग है। परन्तु अंतःकरण रूप भात ने तत्त्व-प्रकृति रूपी बरातियों को खा लिया। तात्पर्य यह कि जब मनोवृत्ति तथा अंतःकरण ज्योति में लीन हुए तब तत्त्व-प्रकृति आदि सब ज्योति में लीन हो गये। तब योगीजन कहने लगे कि जीव का भला हुआ, उसका कल्याण हुआ॥ 5॥

योगी की सुरति जब सुषुम्णा में लय हुई तब वह ब्रह्मज्योति में लीन हुआ, यही मानो पाणिग्रहण हुआ। अर्थात यही उसका ब्रह्मज्योति के साथ विवाह होना है। परन्तु साहेब कहते हैं कि यह "भव मण्डन" ही हुआ। अर्थात सांसारिक शृंगार या संसार की ही सिद्धि हुई। क्योंकि इस प्रक्रिया में जीव अपने स्वरूप में न स्थित होकर विजाति जड़ भास-अध्यास में ही लीन हुआ। ज्योति, अनाहतनाद आदि सब जड़ भास हैं। उनको अपना लक्ष्य मानना सांसारिक वासना की ही सिद्धि करना है॥ 6॥

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे सन्तो! तुम इसे सुनो, और हे पंडित ज्ञानियो! तुम इसे समझने का प्रयत्न करो॥ 7॥

व्याख्या—हठयोगियों की साधना गूढ़, उलझी हुई और रहस्यात्मक होती है, तो उसके भेद को बताने के लिए सद्गुरु के रूपक भी विचित्र-विचित्र होते हैं। हठयोगी पहले नेती, धोती, कपाली, कुंजल आदि क्रियों कर शरीर को शुद्ध करता है, प्राणायाम साधता है, और देह को शून्य कर ब्रह्मरंध्र में

अर्थात खोपड़ी में एकाग्रता कर ज्योतिदर्शन एवं अनाहतनाद श्रवण करता है तथा इसी को वह ब्रह्म प्राप्ति मानकर विजाति जड़ भास में ही रुक जाता है। इसलिए कबीर साहेब बारम्बार योगियों पर व्यंग्य करते हैं। जीव की वास्तविक स्थिति उसकी अपनी चेतना में होती है। चेतना ही जीव का स्वरूप है। ज्योति-नाद सब जड़ हैं, विजाति हैं, उसे अपना लक्ष्य मानना सांसारिकता से अलग नहीं है। इसलिए सद्गुरु ने "पुत्र ब्याहिल माता" तथा "भयो भौ मण्डन" कहकर उन पर व्यंग्य किया है। अन्त में कबीर साहेब ने सन्तों को केवल सुनने के लिए कहा, परन्तु पंडित-ज्ञानियों को समझने के लिए कहा। क्योंकि सन्त तो जानते हैं। पंडित-ज्ञानियों को भी इसे ठीक से जान लेना चाहिए।

सत्य का पथिक बिरला है

शब्द-26

भाई रे बहोत बहोत क्या कहिये, कोइ बिरले दोस्त हमारे॥ 1॥
गढ़न भंजन सँवारन आपै, ज्यों राम रखे त्यों रहिये॥ 2॥
आसन पवन योग श्रुति सुमृति, जोतिष पढ़ि बैलाना॥ 3॥
छौ दर्शन पाखण्ड छियान्नबे, ये कल काहु न जाना॥ 4॥
आलम दुनिया सकल फिरि आये, ये कल उहै न आना॥ 5॥
तजि करिगह जगत्र उचाये, मन मों मन न समाना॥ 6॥
कहहिं कबीर योगी औ जंगम, फीकी उनकी आशा॥ 7॥
रामहिं नाम रटै ज्यों चातक, निश्चय भक्ति निवासा॥ 8॥

शब्दार्थ—गढ़न=उत्पत्ति। भंजन=संहार। सँवारन=पालन। बैलाना=मूर्ख एवं निर्बुद्धि हो गया। छौ दर्शन=योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण। पाखण्ड छियान्नबे=उक्त छहों दर्शनों के छान्नबे भेद। कल=शांति। आलम=संसार, जग जीव। करिगह=करघा, तात्पर्य में गृहस्थी। उचाये=उठाये, सिर पर रख लिये।

भावार्थ—हे भाई ! बहुत ज्यादा क्या कहूं, मेरे विचारों को समझने वाला मित्र कोई बिरला है॥ 1॥ आम लोगों की तो यही धारणा रहती है कि उत्पत्ति, पालन एवं संहार करने वाला स्वयं ईश्वर ही समर्थ है, अतः वह हमें जिस ढंग से रखे वैसे हमें रहना चाहिए॥ 2॥ कितने लोग उस ईश्वर को पाने के लिए आसन लगाते हैं, प्राणायाम साधते हैं, योग करते हैं, वेद, उपनिषद्, स्मृति और ज्योतिष पढ़ते हैं, लेकिन इतना करने के बाद भी वे नासमझ ही बने रहते हैं॥ 3॥ छह दर्शन और छान्नबे पाखण्डों में उलझे हुए ये लोग आत्मशांति को नहीं समझते॥ 4॥ ये संसार के लोग तीर्थादि एवं ईश्वर खोज

के नाम पर सारी दुनिया में घूम आते हैं, परन्तु आत्म-शांति कहीं से नहीं ला पाते॥ 5॥ कितने लोग घर का करघा तो छोड़ देते हैं, अर्थात गृहस्थी की छोटी प्रवृत्ति तो त्याग देते हैं, परन्तु विरक्त वेष धारणकर इतनी बड़ी उलझन ले लेते हैं कि मानो ये सारे संसार को ही उठाकर अपने सिर पर रख लेंगे। इसलिए उनका मन अपने में शांत नहीं होता॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि योगी, जंगमादि और जो चातक की तरह राम नाम रटने में भक्ति का निश्चय निवास समझते हैं वे भक्त, इन सबकी आशा निरर्थक है—"चातृक कहाँ पुकारो दूरी"[1]॥ 7-8॥

व्याख्या—कबीर साहेब का यह कहना "कोइ बिरले दोस्त हमारे" स्वाभाविक है, क्योंकि उनके विचार खरे थे, सारे जड़ संस्कारों से रहित थे। सामान्य जनता यही कहती है कि ईश्वर सब कुछ करने में समर्थ है। वह जैसे रखे वैसे हमें रहना चाहिए। हमें स्वयं विचार-विवेक नहीं करना चाहिए। प्रभु सूत्रधार है। हम कठपुतली हैं। वह हमें जैसे नचावे वैसे हमें नाचना चाहिए। इसी भावधारा में अधिकतम लोग बहते हैं। कबीर साहेब कहते हैं—"आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा।[2] कबिरन ओट राम की पकरी, अन्त चले पछिताई।[3] करु बहियाँ बल आपनी, छाड़ बिरानी आस।[4] हो हजूर ठाढ़ कहत हौं।"[5] इत्यादि, फिर उनका साथी बिरला होगा ही। लोग परावलम्बन की बैसाखी लेकर चलना चाहते हैं, परन्तु कबीर साहेब स्वावलम्बन से स्वयं अपने पथ पर चलते हैं और इसी पथ पर संसार के लोगों को भी चलने की बात बताते हैं। "सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान। जाके किये जग हुवा, सो बेचून क्यों जान॥"[6]

"आसन पवन योग श्रुति सुमृति, जोतिष पढ़ि बैलाना।" केवल इस एक पंक्ति में कबीर साहेब बहुत बड़ी क्रांति की बातें कह देते हैं। कितने योगी नामधारी चौरासी प्रकार के आसन करते हैं, कितने प्राणायाम में अधिक लगे रहते हैं। इस प्रकार हठयोग में ही वे अपने जीवन के सारे समय और शक्ति का व्यय करते हैं। कितने लोग श्रुति-स्मृति पढ़ने में लगे रहते हैं। उनका पढ़ना बुरा नहीं है; परन्तु खेद है कि सारे वेद, उपनिषद् और स्मृतियों को पढ़ डालने के बाद भी न उन्हें अपनी आत्मा का ठीक से बोध होता है और न वे

---

1. बीजक, शब्द 71।
2. शब्द 77।
3. शब्द 84।
4. साखी 277।
5. रमैनी साखी 24।
6. साखी 345।

विषयों को छोड़कर आत्मशांति की प्राप्ति कर पाते हैं। तो उनके शास्त्र-आडोलन का क्या मतलब हुआ? कितने तो ज्योतिष में सदैव लगे रहते हैं। गणित-ज्योतिष की उन्नति पिण्ड-ब्रह्मांड की क्रियाओं को जानने के लिए ठीक है, व्यावहारिक जगत में उनका बहुत बड़ा महत्त्व है, परन्तु अन्ततः स्वरूपबोध एवं स्वरूपस्थिति जीवन की अत्यन्त उच्च उपलब्धि है। उसके बिना सब थोथा है। जो लोग फलित ज्योतिष के चक्कर में रहते हैं, वे तो स्वयं को धोखा देते ही हैं, जनमानस को भी धोखा देते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हठयोग, शास्त्रअध्ययन एवं ज्योतिष पढ़कर भी आदमी स्वरूपबोध और स्वरूपस्थिति से कोरा-का-कोरा रहता है। इन सबके लिए 'बैलाना' शब्द बड़ा मार्मिक है। बैल से बैलाना शब्द बन गया है। बैल का लाक्षणिक अर्थ मूर्ख है। जो सब कुछ पढ़-लिखकर भी अपनी आत्मा को नहीं पहचानता और अपनी आत्मा में शांत नहीं होता, वह मूर्ख ही है।

साहेब कहते हैं गिनकर कहां तक बतावें, छौ दर्शन छान्नबे पाखण्ड का जहां तक विस्तार है, उनमें उलझे हुए लोग आत्मशांति के पथ को नहीं जानते। "ये कल काहु न जाना" कल का अर्थ शांति है, विकल कहते हैं अशांति को। आत्मशांति जीवन का चरम फल है। जो व्यक्ति अपनी आत्मा से अलग कुछ पाना चाहता है उसके जीवन में शांति कैसे आ सकती है।

"आलम दुनिया सकल फिरि आये, ये कल उहै न आना।" आलम सारी दुनिया में घूम आता है। वह दुनिया घूमकर क्या पाता है ! माना कि वह कुछ पेड़-पहाड़, नदी-नाले, मकान-दुकान, नर-नारियों को देखकर एक जानकारी तथा चंचलता बटोर लाता है, परन्तु जीवन की जो खास चीज है "ये कल उहै न आना" वही एक शांति को वह नहीं ला पाता। बाहर से शांति मिलने वाली है भी नहीं। शांति को छोड़कर कोई परमात्मा-ब्रह्म नहीं है। लोग मक्का-मदीना तथा गया-बद्री आदि अनेक तीर्थों के चक्कर क्यों लगाते हैं? भगवान को पाने के लिए, मोक्ष को पाने के लिए। परन्तु आत्मशांति के अलावा न कुछ भगवान है न मोक्ष।

"तजि करिगह जगत्र उचाये, मन मों मन न समाना" यह पंक्ति बड़ी मार्मिक है। करिगह 'करघा' का बिगड़ा हुआ रूप है। मानो कोई घर का करघा एवं तनना-बुनना छोड़कर साधु वेष धर लिया हो, परन्तु वह साधु बन जाने पर मानो 'जगत्र उचा' लिया हो। जगत्र जगत का बिगड़ा हुआ रूप है। हो सकता है लिखने की अशुद्धि से कभी जगत का जगत्र हो गया हो। ऐसी अशुद्धियां उपनिषद्[1] तक में मिलती हैं जो संस्कृत भाषा के ग्रंथ हैं, जिसका

---

1. तैत्तिरीय उपनिषद् (1/2) में 'शीक्षाध्यायः' है जो 'शिक्षाध्यायः' चाहिए। उसी (2/6) में 'त्यत्' है जो 'तत्' चाहिए। उसी (3/10) में 'नीकाम' है जो 'निष्काम' चाहिए।

व्याकरण बड़ा ठोस होता है। फिर कबीर साहेब की हिन्दी भाषा की कविता में क्या पूछना जो लता की तरह टेढ़ी-मेढ़ी चलती है। परन्तु लता की वक्रिमा किसको नहीं अच्छी लगती !

इस पंक्ति में "जगत्र उचाये" है। अर्थ हुआ जगत उठाये। कितने लोग हैं जो घर-गृहस्थी की थोड़ी उलझन तो छोड़ दिये, परन्तु साधु बनकर उससे ज्यादा उलझन में पड़ जाते हैं। साहेब कहते हैं कि वे घर का करघा छोड़कर सारे संसार को ही सिर पर उठा लेना चाहते हैं। ऐसे लोगों को साधु वेष में जाने पर भी शांति नहीं मिलती। ध्यान रहे, इस भाव का कोई अनर्थ न करेगा। कोई ज्यादा व्यवहार लेकर भी शांत रहता है और कोई थोड़े व्यवहार तथा बिना व्यवहार के ही अशांत रहता है। जो राग-द्वेष में उलझा है, वही मानो संसार को उठाकर अपने सिर पर रख लेना चाहता है।

ऐसे लोगों के लिए कहा गया है "मन मों मन न समाना" ऐसे लोगों का मन मन में शांत नहीं होता। अर्थात उनका मन अपने आप में सन्तुष्ट नहीं होता। इसी के लिए सद्गुरु ने कहा है—"जब लग दिल पर दिल नहीं, तब लग सब सुख नाहिं।"[1] आदमी का दिल जब तक अपने आप में सन्तुष्ट नहीं होता तब तक उसे सब सुख, आत्यंतिक सुख एवं अनन्त सुख नहीं मिलता। लोग हजार राम-रहीम रट डालें, परन्तु आत्मसन्तोष के बिना शांति नहीं।

योगी हों, जंगम हों, राम-नाम रटने वाले हों, आत्मबोध एवं आत्मशांति के बिना सब ऊपर-ऊपर भटक रहे हैं। "रामहि राम पुकारते, जिभ्या परिगौ रौंस। सूधा जल पीवै नहीं, खोदि पिवन की हौंस।"[2] तथा "राम के कहै जगत गति पावै, खाँड़ कहै मुख मीठा।"[3] यदि राम-राम रटने से मोक्ष मिलता तो शकर-शकर कहने से मुख मीठा हो जाता।

साहेब कहते हैं कि मेरा दोस्त बिरला होगा। मैंने तो अपने घर में आग लगा दी है और अब हाथ में लुआठी लेकर खड़ा हूं, जिसे मेरे साथ चलना हो वह अपने घर को फूंककर मेरे साथ चले।[4] यह रहने वाले घर को फूंकने की बात नहीं है। यह घर है भ्रम-मान्यताओं का। सारी अहंता-ममता का घर जलाकर ही कोई मेरे साथ चल सकता है। इसलिए "भाई रे बहोत बहोत क्या कहिये, कोई बिरले दोस्त हमारे।"

---

1. साखी 296।
2. रमैनी साखी 33।
3. शब्द 40।
4. कबीर खड़ा बाजार में, लिये लुआठी हाथ।
   जो घर फूंके आपना, चले हमारे साथ॥

स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति

शब्द-27

भाई रे अद्‌बुद रूप अनूप कथ्यो है, कहौं तो को पतिआई॥ 1॥
जहाँ जहाँ देखो तहाँ तहाँ सोई, सब घट रहा समाई॥ 2॥
लक्ष बिनु सुख दरिद्र बिनु दुख, नींद बिना सुख सोवै॥ 3॥
जस बिनु ज्योति रूप बिनु आशिक, ऐसो रतन बिहूना रोवै॥ 4॥
भ्रम बिनु गंजन मणि बिन नीरख, रूप बिना बहुरूपा॥ 5॥
थिति बिनु सुरति रहस बिनु आनन्द, ऐसो चरित अनूपा॥ 6॥
कहहिं कबीर जगत हरि मानिक, देखो चित अनुमानी॥ 7॥
परिहरि लाख लोभ कुटुम तजि, भजहु न सारंगपानी॥ 8॥

शब्दार्थ—अद्‌बुद=अद्‌भुत। अनूप=विलक्षण। पतिआई=विश्वास। सोई=चेतन तत्त्व। लक्ष=लाख की संख्या, तात्पर्य में सम्पत्ति। जस=यश। ज्योति=प्रकाश। आशिक=आसक्त, प्रेम करने वाला। रतन=आत्मतत्त्व। गंजन=अवज्ञा, तिरस्कार, नाश, नीचा दिखाना। नीरख=निरख-परख। थिति=ठहराव, आलम्बन। रहस=आमोद-प्रमोद, राग-रंग। चरित=स्वभाव। हरि=ज्ञान तत्त्व। मानिक=एक प्रसिद्ध रत्न, माणिक्य, लाल। अनुमानी= अनुमान करके, सोच-विचारकर। भजहु=सेवा करो, चिंतन करो। सारंगपानी =विष्णु, तात्पर्य में गुरु या निजस्वरूप चेतन।

भावार्थ—हे भाई! विवेकियों ने आत्मदेव का अद्‌भुत एवं विलक्षण वर्णन किया है। उसे यदि मैं कहता हूं तो उस पर कौन विश्वास करेगा!॥ 1॥ जहां-जहां देखता हूं वहां-वहां सभी शरीरों में वही समा रहा है॥ 2॥ यदि इस निजस्वरूप चेतन का ज्ञान हो जाये तो सांसारिक सम्पत्ति के बिना ही आदमी सुखी हो जाये, परंतु उसका बोध न होने से दरिद्रता के बिना ही दुख है। जिसे उसका ज्ञान हो गया है वह देह की अवस्थाजन्य नींद के बिना ही सब समय मानो सुख से सोता है॥ 3॥ इस दिव्य स्थिति में पहुंचकर बाहरी यश-कीर्ति के बिना ही वह सदैव ज्योतिर्मय एवं प्रकाशमय रहता है। उस शुद्ध ज्ञानमात्र तत्त्व का कोई बाह्य रूप नहीं है, परन्तु ज्ञानी सदैव उसी का प्रेमी बना रहता है। ऐसे निजस्वरूप ज्ञानरत्न का बोध हुए बिना व्यक्ति संसार के सपने में पड़ा रो रहा है॥ 4॥ व्यक्ति थोड़ा ध्यान दे तो इस निजस्वरूप चेतन तत्त्व की सत्ता होने में कोई भ्रम नहीं है। परन्तु इधर ध्यान न देने से वह अपनी आत्मा का ही तिरस्कार कर रहा है। यह ठीक है कि वह कोई भौतिक मणि नहीं है, परन्तु उसे परखो, वह तुम्हीं हो। उसका कोई आंख से दिखने वाला रूप नहीं है, परन्तु सभी देहों के रूप में वही समाया

है॥ 5॥ इसलिए बाहरी आलंबन के बिना ही ज्ञानी की सुरति निजस्वरूप में स्थित हो जाती है। इस दशा में बाहरी राग-रंग के बिना ही परम आनन्द की स्थिति होती है। इसका स्वभाव ही ऐसा विलक्षण है॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे बन्धुओ! ऐसे निजात्म तत्त्व रूपी ज्ञान-रत्न को अपने मन में विचारकर परखो, और धन का लोभ तथा कुटुम्ब का मोह छोड़कर ऐसे सारंगपाणि का भजन करो न! यह तुम्हारा आत्मदेव ही सारंगपाणि विष्णु एवं हरि है॥ 7-8॥

व्याख्या—मनुष्य की अपनी आत्मा एवं अपनी चेतना यद्यपि अपना सहज स्वरूप ही है, परन्तु निजस्वरूप होने से दुर्विज्ञेय-जैसा लगता है। यह नियम है कि निकट की वस्तु दुर्विज्ञेय होती है। हम दूसरों के पहने हुए कपड़ों पर पड़े हुए दागों को खुलासा देख सकते हैं, परन्तु अपने शरीर पर पहने हुए कपड़ों पर पड़े दाग को देखना थोड़ा कठिन होता है। वे तो तब दिखाई पड़ते हैं जब हम अपना सिर झुकाकर अपनी ओर देखें। हम अपनी आंखों से दूर के पर्वत, बादल आदि सहज देख लेते हैं, परन्तु अपनी आंखों में लगे काजल एवं आंखों के पास के बालों को नहीं देख पाते। हम अपनी आंखों से संसार को तो देखते हैं, परन्तु उनसे ही उन्हें नहीं देख पाते। अर्थात हम अपनी आंखों को कभी नहीं देख पाते। यह एक आश्चर्य ही है। परन्तु विवेक से देखा जाये तो यही सहज है। हम अपनी आंखों को जीवन भर भले न देख पायें, परन्तु हमें यह सहज बोध रहता है कि हमारी आंखें हैं। आंखें न होतीं तो देखते कैसे! हम संसार को देखते हैं, इसलिए हमारे शरीर में आखें स्वतः सिद्ध हैं।

इसी प्रकार हम अपनी आत्मा को कभी नहीं देख पाते, परन्तु क्या हम नहीं हैं! सबको प्रमाणित करने वाला क्या स्वयं सत्ताहीन हो सकता है! जीव का अस्तित्व इसलिए निर्विवाद है कि वही तो शरीर में रहकर सबको जान रहा है। सबको जानने वाला स्वयं जाना हुआ है, बस थोड़ा उधर ध्यान देने की आवश्यकता है। मैं ही तो सबको जानता हूं। अतएव मैं निर्विवाद सत्य हूं। आत्म-अनुभव ही सबसे सरल ज्ञान है, परन्तु इस तरफ पहली बार ध्यान देने से यह अद्भुत लगता है। जो कभी न देखा गया हो, उसे पहली बार अकस्मात देखने से वह अद्भुत लगता है। देहाभिमानी जीव ने अनादिकाल से कभी आत्मा की ओर ध्यान नहीं दिया है, इसलिए इसके विषय में यदि बताया जाता है तो उसे आश्चर्य होता है। पढ़े-लिखे से भी यदि पूछो कि तुम कौन हो? तो वह कहता है कि मैं मनुष्य हूं। व्यावहारिक दृष्टि से यह कहना ठीक है। परन्तु इसका अर्थ वह यह मानता है कि मैं शरीर हूं। यदि उससे

कहा जाये कि तुम जड़ शरीर नहीं, इससे सर्वथा पृथक शुद्ध चेतन हो, तो यह बात उसे अद्भुत लगती है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "कहौं तो को पतिआई" कौन विश्वास करता है अपने आपा पर। इसीलिए तो सब दुखी हैं। गीताकार भी कहते हैं—"कोई उसे आश्चर्य के तुल्य देखता है, दूसरा कोई उसे आश्चर्य के तुल्य कहता है, अन्य कोई आश्चर्य के तुल्य सुनता है, परन्तु कोई उसे सुनकर भी नहीं जान पाता है।"[1]

"जहाँ जहाँ देखो तहाँ तहाँ सोई, सब घट रहा समाई।" सद्गुरु कहते हैं कि वह चेतन जहां-जहां देखता हूं, सभी शरीरों में समाया है। कबीर साहेब चेतन राम को घट-घट में ही बताते हैं, कण-कण में नहीं। उसे कण-कण में कहना अतिशयोक्ति है। वस्तुतः चेतन घट-घट में है।

"लक्ष बिनु सुख" लक्ष कहते हैं लाख की संख्या को। इसका लक्षणा अर्थ है अधिक धन-सम्पत्ति। जिसे 'आतम धन' का ज्ञान हो गया है वह लौकिक धन-सम्पत्ति के बिना ही सुखी रहता है। शरीर के लिए रोटी, कपड़े तथा कुछ उपयोगी वस्तुओं की आवश्यकता सबको है। परन्तु मनुष्य का मन आवश्यक निर्वाह की वस्तुओं के अलावा अधिक धन-दौलत, ठाट-बाट एवं तामझाम में आनन्द मानता है। वह इसी इच्छा के अधीन होकर पेट भर दुख भोगता है। परन्तु स्वरूपज्ञानी पुरुष का सुख आत्मानुभव का है जो सम्पत्ति के सुख से उच्चतम है। दुनिया के ऐश्वर्य की उसमें तुलना ही नहीं हो सकती। ऐश्वर्य का सुख खुजली की तरह है। वस्तुजनित सुख क्षणिक होता है और आत्मजनित सुख अनन्त होता है। जिस सुख का आलम्बन बाहरी धन-दौलत है वह सुख स्थिर कैसे रह सकता है! परन्तु जिस सुख का आलम्बन मनुष्य की अपनी आत्मा ही है वह सुख उससे कभी बिछुड़ ही नहीं सकता। न आत्मा से आत्मा बिछुड़ती है और न आत्मजनित सुख बिछुड़ता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि यह सुख इंद्रियों का नहीं है, किन्तु इंद्रियातीत स्वरूपस्थिति का है।

"दरिद्र बिनु दुख" लोक में दरिद्र आदमी दुखी रहता है। सूखी-रूखी रोटी भी पेट भर न मिलना, तन ढकने के लिए ठीक से मोटा-झोटा कपड़ा भी न मिलना, रहने के लिए ठीक से फूस की झोपड़ी भी न मिलना दरिद्रता है और ऐसी स्थिति में मनुष्य को अवश्य क्लेश होगा। ज्ञान न होने से ऐसी दरिद्रता के बिना भी आदमी दुखी रहता है। वह पेट भर खाता है, तन भर पहनता है, छत के नीचे रहता है, परन्तु रात-दिन नाना भोगों एवं सम्मान की

---

1. आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति शृत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ (गीता 2/29)

लालसाओं में दुखी रहता है। श्रीमद्भागवत में ठीक ही कहा गया है—"दरिद्र वही है जो असंतुष्ट है, कृपण वही है जो अ-जितेन्द्रिय है, ईश्वर वही है जो विषयों पर विजयी है और जो विषयों के अधीन है, वही गुलाम है।"[1] किसी को भोजन, वस्त्र एवं आवास न मिले और वह दुखी हो तो यह साधार लगता है, परन्तु खाते-पीते आदमी दुखी रहें तो यह उनका नमकहरामीपन ही है। सद्गुरु तो यहां आध्यात्मिक ढंग से कहते हैं कि हे जीव! तेरे स्वरूप में दरिद्रता नहीं है, परन्तु तू अज्ञान-वश दुखी है। भौतिक दरिद्रता है भोजन, कपड़े तथा आवास का न मिलना और आध्यात्मिक दरिद्रता है भोग-मान की इच्छा होना। जीव के शुद्ध स्वरूप में कोई इच्छा नहीं है। वह स्वभाव से निष्काम है, फिर उसमें दुख कहां है! दुख तो अज्ञान से ही है। अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान न होने से विषयों की इच्छा होती है तथा इच्छा होने से दुख होता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे जीव! तुम दरिद्रता के बिना दुखी हो। अर्थात तुम अपने निष्काम स्वरूप को न समझने से और जगत-कामना करने से दुखी हो।

"नींद बिना सुख सोवै" यह वाक्यांश बड़ा गम्भीर है। सद्गुरु कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष नींद के बिना भी सुख से सोते हैं। यह बात सुनकर धनी लोग तो बिलकुल ही आश्चर्य करेंगे और कहेंगे कि यह तो अद्भुत बात है। हमें तो नींद के अवसर पर अर्थात रात में भी नींद नहीं लगती, सुख से नहीं सो पाते। जब नींद की गोली लेते हैं तब कहीं सपना देखने के समान कुकुरनिंदिया सो पाते हैं और ये फटी हालत के ज्ञानी लोग बिना नींद के सुख से सोते हैं। यह सुनकर धनियों को केवल आश्चर्य नहीं, ईर्ष्या भी होगी। परन्तु बात बिलकुल सच है—"शेते सुखं कस्तु समाधिनिष्ठः।"[2] पूछा गया कि सुख से कौन सोता है, उत्तर मिला जो समाधिनिष्ठ है। 'स्व-अपीति' ही तो असली सुषुप्ति है। स्व सोया है। वह किससे सोया है? प्रपंच से। क्योंकि सोने-जागने की दो दिशों हैं। गीताकार कहते हैं—"समस्त साधारण प्राणियों के लिए जो रात्रि है, उसमें संयमी पुरुष जागता है। जिसमें साधारण प्राणी जागते हैं, तत्त्वदर्शी मुनि के लिए वह रात्रि है।"[3] अर्थात संसारी लोग विषयों में जागते हैं और परमार्थ तत्त्व से सोते हैं—लापरवाह रहते हैं, और ज्ञानी

---

1. दरिद्रो यस्त्वसंतुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः।
   गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसंगो विपर्ययः॥ भागवत 11/19/44॥
2. स्वामी शंकराचार्य की प्रश्नोत्तरी।
3. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
   यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ (गीता 2/69)

पुरुष परमार्थ तत्त्व में जागते हैं और विषय-प्रपंच से सोते हैं—लापरवाह रहते हैं। जिसके अज्ञान की नींद भंग हो जाती है, वही सुख से सोता है। यहां सुख से सोना है सदैव दुखरहित मन वाला रहना। गीताकार कहते हैं—"दुखों के संयोग से अलग हो जाना ही योग कहलाता है।"[1] स्वरूपज्ञानी पुरुष को कहां मोह और कहां शोक ! वह क्या अपना मानकर उसके लिए शोक करे ! जो स्वरूपस्थिति में नित्य सोता है वह धन्य है। संसार के लोग तो जीवनभर बिस्तर बिछाते रह जाते हैं, वे जीवन में सोने का अवसर नहीं पाते और चल देते हैं, किन्तु ज्ञानी जीवन भर निश्चिंतता की नींद में सोता है। यही उसका "नींद बिना सुख सोना" है। जिसकी अज्ञान की नींद भंग हो गयी है वही तो आनन्द से रह सकता है।

"जस बिनु ज्योति" संसार में कई लोग होते हैं जिनका सुयश चारों ओर फैला रहता है। सर्वत्र उनके नाम की महिमा रहती है। ज्ञानी पुरुष को कोई जाने या न जाने, उसकी उच्च स्थिति की ज्योति विलक्षण होती है। हमारे नाम-रूप का यश संसार में हो, हमारे नाम की बहुत महिमा संसार में फैली हो, इससे न हमें आत्मशांति मिलेगी और न शरीर त्याग देने के बाद उसका हमें पता रहेगा। परन्तु हमारी आत्मस्थिति की ज्योति ऐसी है जो अक्षुण्ण है। इसमें हमें जीवन में शांति तो मिलती ही है, अमर जीवन भी मिलता है। नाम-यश का प्रकाश बाहरी है, स्वप्नवत है; किन्तु स्वरूपस्थिति का प्रकाश भीतर का है, यह अपना निज का प्रकाश है और शाश्वत है।

"रूप बिनु आशिक" मेरे आपा का, ज्ञानतत्त्व एवं निजस्वरूप चेतन का कोई ऐसा रूप नहीं है जो आंखों से दिखाई दे। उसके लिए सद्गुरु ने कहा "जागृत रूपी जीव है।"[2] जीव केवल जागृत रूप है, अर्थात ज्ञानस्वरूप है। परन्तु ज्ञानी उसी का आशिक रहता है। यहां आशिक और माशूक अर्थात प्रेमी और प्रिय दो नहीं हैं। सारे सौंदर्य का केन्द्रबिन्दु अपनी आत्मा ही है। जिसने अपनी चेतना की झांकी पायी है, जिसे अपने चेतन स्वरूप का बोध हो गया है, उसकी दृष्टि में बाहर के रूप फीके हो जाते हैं। अतएव ज्ञानी रूप के बिना ही आशिक होता है। वह अपनी स्वरूपस्थिति का प्रेमी होता है।

"ऐसो रतन बिहूना रोवै" ऐसे स्वरूपज्ञान रूपी मणि को पाये बिना जीव रो रहा है। किसी के घर में अपार सम्पत्ति गड़ी हो, परन्तु वह उसे न जानता हो और अपने आप को दरिद्र मानकर रो रहा हो, या कोई राजा सपने में

---

1. दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। (गीता 6/23)
2. साखी 25।

अपने आप को दरिद्र मानकर पीड़ित हो, वही दशा मनुष्य की है। "आतम धन जेहि ठौर है।"[1] उसे न जानकर संसार के सपने में पड़ा हुआ मनुष्य विकल रहता है। दरिद्र रोता है, धनी रोता है, अपढ़ रोता है, विद्वान रोता है, रंक रोता है, राजा रोता है। सारा संसार तो हाय-हाय करके रो रहा है, क्योंकि उसे अपने ज्ञान-रत्न का पता नहीं। "गाँठी रतन मर्म नहिं जाने, पारख लीन्हा छोरी हो।"[2] सबकी गांठ में रत्न है, परन्तु लोग भेद नहीं जानते, इसलिए दुखी बने हैं। यह तो जिसके पास परख होती है, वही उसे पहचान लेता है और पा लेता है। अपने आप को पहचान लेना ही तो वह रत्न पाना है।

"भ्रम बिनु गंजन" भ्रम कहते हैं भूल या मिथ्याज्ञान को। मेरी अपनी सत्ता के होने में क्या भ्रम हो सकता है? परन्तु मनुष्य सारा खगोल-भूगोल पढ़ डालता है, केवल अपने आप को नहीं पढ़ता। अपने आप का शोधन न करने से वह अपने आप का तिरस्कार करता है। गंजन का अर्थ अवज्ञा, तिरस्कार एवं नाश है। इस प्रसंग में तिरस्कार अर्थ उपयुक्त है। जो सबका निर्धारक, निर्णयकर्ता, कल्पक एवं प्रतिष्ठापक है वह स्वयं जीव ही है, आत्मसत्ता ही है, फिर उसकी सत्ता के होने में क्या भ्रम है? परन्तु मनुष्य इस बात पर न ध्यान देकर मानो वह अपने आप का तिरस्कार कर रहा है। गोस्वामी जी के शब्दों में "आतमहन गति जाय" उसकी दशा है।

"मणि बिनु नीरख" जीव कोई भौतिक मणि नहीं है, परन्तु उसे परखना आवश्यक है। जो सबको परखता है उसको न परखकर ही तो सब भटकाव है। जीव सबको परखता है, केवल अपने आप को नहीं परखता। सब कुछ जाना, अपने को न जाना, सब कुछ ठीक किया, अपने आप को ठीक नहीं किया तथा सब कुछ पाया और अपने आप को नहीं पाया तो उसका सब जानना एवं पाना बेकार है।

"रूप बिना बहुरूपा" रूप के बिना भी वह बहुरूपों वाला है। जीव का कोई आंख से दिखने वाला रूप नहीं है। वह तो केवल ज्ञानरूप है। इस प्रकार वह लाल-पीला तथा दुबला-मोटा किसी रूप वाला न होकर भी वही तो मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि आदि सभी रूपों में विद्यमान है। जहां तक ज्ञान का लक्षण मिलता है वह सब चेतन रूप ही है। अतः चेतन रूपरहित होकर भी देहोपाधि से बहुरूप वाला है।

"थिति बिनु सुरति" थिति स्थिति का तद्भव रूप है। इसका अर्थ है ठहराव। ठहराव से अर्थ यहां आलंबन है। सामान्य साधक अपनी सुरति एवं

---

1. बीजक पाठफल, साखी 1।
2. कहरा 6।

ध्यान को किसी आलंबन में ठहराता है, वह चाहे किसी महापुरुष का चित्र हो या ज्योति, नाद हो या कोई भी कल्पित आधार हो। परन्तु यहां तो स्वरूपज्ञानी पुरुष का बिना आलंबन का आधार रहता है। जहां तक लोगों ने ध्यान मान रखा है उन सबका खात्मा ही यहां ध्यान है। किसी पवित्र आलंबन की कल्पना कर मन को उसमें केन्द्रित करना, ध्यान करना, यह प्रथम साधक के लिए ठीक है। परन्तु सहज समाधि तक पहुंचा साधक सारे आलंबनों को तोड़ देता है। वहां मन ही नहीं रह जाता तब मन की कल्पना कहां रहेगी। वहां तो सारे संकल्पों का अन्त है, सारी यादों, स्मृतियों की समाप्ति है। संकल्पों के समाप्त होने पर शेष चेतन सत्ता ही रहती है। इस दशा में किसी दूसरे आलंबन की आवश्यकता नहीं है। जब तक बाह्य आलंबन रहता है, तब तक अंतिम दशा आती भी नहीं।

"रहस बिनु आनंद" रहस आमोद-प्रमोद एवं राग-रंग को कहते हैं। संसार का आनन्द राग-रंग का है, परन्तु उस दिव्य स्वरूपस्थिति का आनन्द राग-रंग से परे है। संसार के राग-रंग क्षणिक हैं, इसलिए उनका आनन्द भी क्षणिक है। परन्तु व्यक्ति की अपनी आत्मा नित्य है, इसलिए जो अपने आत्म स्वरूप में स्थित होता है उसका आनन्द भी स्थिर होता है। कितने राग-रंग वाले संसारी लोग सन्तों को देखकर उन पर तरस खाते हैं। वे सोचते हैं कि इनका जीवन आनन्द से रहित है, क्योंकि संत बाहर से नीरस दिखते हैं। परन्तु भोले दुनियादारों को यह पता नहीं है कि सच्चे और स्थायी आनन्द के उपभोक्ता सन्त ही हैं। भौतिक ऐश्वर्य दिखाई देता है, परन्तु स्वरूपस्थिति का ऐश्वर्य आंखों से दिखने की वस्तु नहीं है। जो अपने आत्माराम में रमता है, वह श्री रामरहस साहेब के शब्दों में भी "बसै आनन्द अटारी" है। अतएव साधक को अपने मन को संसार के ऐश्वर्य एवं राग-रंग से हटाकर स्वरूपस्थिति में रमाना चाहिए जो सदा आनन्द स्वरूप है। "सो जन सदा अनन्दा।"[1] सद्गुरु कहते हैं "ऐसो चरित अनूपा" मनुष्य के भीतर के दिव्य तत्त्व का ऐसा विलक्षण स्वभाव है, जो दुनिया के क्षणिक सुखों से परे नित्य सुखस्वरूप है।

"कहहिं कबीर जगत हरि मानिक, देखो चित अनुमानी।" कबीर साहेब कहते हैं कि इस संसार में हरि ही परम माणिक्य है। कबीर साहेब का हरि मनुष्य का आत्मस्वरूप है। सद्गुरु कहते हैं कि अपने चित्त में विचारकर, खोजकर इसे देखो एवं समझो। "हृदया बसे तेहि राम न जाना।"[2] तथा "दिल

---

1. साखी 322।
2. रमैनी 41।

में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।"[1] साहेब कहते हैं कि पदार्थों का लोभ और प्राणियों का मोह त्यागकर सारंगपाणि का भजन करो। सारंगपाणि का अर्थ होता है धनुर्धारी। सारंग=धनुष, पाणि=हाथ। जो हाथ में धनुष धारण करता हो। सारंगपाणि का रूढ़ अर्थ है 'विष्णु'। कबीर साहेब विष्णु को उपास्य नहीं मानते। वे कहते हैं "माया केरी बसि परे, ब्रह्मा विष्णु महेश।"[2] यदि सारंगपाणि श्री रामचन्द्र को माना जाये तो उनको भी कबीर साहेब उपास्य नहीं मानते। कबीर का राम हृदय-निवासी है। उन्होंने कहा "दशरथ सुत तिहुँ लोकहिं जाना, रामनाम का मर्म है आना।"[3] ऐसे आशय की उनकी बहुत-सी पंक्तियां हैं। फिर उन्होंने सारंगपाणि को भजने के लिए क्यों कहा? वस्तुतः कबीर साहेब के समय में हरि, राम, सारंगपाणि आदि शब्द बहुत प्रचलित थे, इसलिए उन्होंने जगह-जगह इन शब्दों का आदर तो किया, परन्तु इनका अर्थ अन्तरात्मा ही माना। और सिद्धांत को निर्भ्रांत रखने के लिए श्री विष्णु, श्रीराम आदि की जगह-जगह आलोचना भी कर दी। जैसे कोई आत्मज्ञानी पुरुष किसी सगुण उपासक से कहे कि भाई, भगवान का भजन करो। परन्तु उस ज्ञानी का मन्तव्य आत्म-भिन्न कोई भगवान नहीं है, किन्तु अन्तरात्मा ही है। कबीर साहेब के मन्तव्य को समझकर ही उनके शब्दों का अर्थ किया जा सकता है, केवल शाब्दिक अर्थ करने से काम नहीं चलता। यही बात सभी ग्रन्थों की है।

इस पूरे शब्द में जो रहस्यात्मक ढंग से स्वरूपज्ञान का वर्णन है उसे देखते हुए ही समझा जा सकता है कि यह किसी देहधारी का वर्णन नहीं है, और न किसी आकाशीय का है, किन्तु व्यक्ति की अन्तरात्मा का है, हृदय-निवासी का है। इसलिए दूसरी पंक्ति में ही कहा गया है—"सब घट रहा समाई।" यह पूरा शब्द स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति का प्रेरक है।

मनोवृत्ति की स्थिति

शब्द-28

भाई रे गइया एक बिरंचि दियो है, गइया भार अभार भौ भारी॥ 1॥
नौ नारी को पानि पियतु है, तृषा तेउ न बुझाई॥ 2॥
कोठा बहत्तर औ लौ लावै, बज्र केंवार लगाई॥ 3॥
खूंटा गाड़ि दवरि दृढ़ बाँधेउ, तैयो तोर पराई॥ 4॥

---

1. शब्द 97।
2. साखी 149।
3. शब्द 109।

चारि वृक्ष छौ शाखा वाके, पत्र अठारह भाई॥ 5॥
एतिक ले गम कीहिसि गइया, गइया अति रे हरहाई॥ 6॥
ई सातों औरों हैं सातों, नौ औ चौदह भाई॥ 7॥
एतिक ले गइया खाय बढ़ायो, गइया तैयो न अघाई॥ 8॥
पुरता में राती है गइया, सेत सींगि है भाई॥ 9॥
अवरण वरण किछउ नहिं वाके, खद्द अखद्दहिं खाई॥10॥
ब्रह्मा विष्णु खोजि ले आये, शिव सनकादिक भाई॥11॥
सिद्ध अनन्त वाके खोज परे हैं, गइया किनहुँ न पाई॥12॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जो यह पद अर्थावै॥13॥
जो यह पद को गाय विचारै, आगे होय निर्बाहै॥14॥

शब्दार्थ—गइया=गाय, मनोवृत्ति। बिरंचि=विरंच, ब्रह्मा, विधाता, नियम। भार=भारी, बंधनप्रद। अभार=हलका, मोक्षप्रद। भारी=महान। नौ नारी=नौ नाड़ियां—पुहुखा, पयस्विनी, गंधारी, हस्तिनी, कुहू, शंखिनी, अलंबुषा, गणेशिनी तथा वारुणी—तात्पर्य में नौ नाड़ी-ग्रथित शरीर। लौ=धुन, आशा। बज्र केंवार=आंख, नाक, कान, गुदा, उपस्थ बन्द करके योगियों द्वारा लगायी गयी समाधि। खूँटा=आधार, ध्यान का आलंबन। दवरि=रस्सी, ध्यान। चारि वृक्ष=चार वेद—ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व। छौ शाखा=छह वेदांग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष तथा छंद। वाके=वेदों के। पत्र अठारह=अठारह पुराण। गम कीहिसि=खा गयी। हरहाई=हरहट, चंचल। ई सातों=सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, वेदांत तथा महाकाव्य। औरों हैं सातों=सप्त प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि तथा सम्भव। नौ=व्याकरण के नौ ग्रंथ। चौदह=चौदह विद्यों। पुरता=कामना पूर्ण करने में, तृप्ति में। अवरण=अवर्ण, रंगरहित। वरण=वर्ण, रंगवाला। खद्द=भक्ष्य। अखद्द=अभक्ष्य।

भावार्थ—हे भाई! विधाता ने अर्थात प्रकृति के विधान ने मनुष्य को मनोवृत्ति रूपी एक गाय दी है, वह मनुष्य के लिए महान वस्तु है। उसका दुरुपयोग किया गया तो वह बन्धनप्रद बनती है और यदि उसका सदुपयोग किया गया तो वह मोक्षप्रद हो जाती है॥ 1॥ वह नौ नालियों का पानी पीकर भी तृप्त नहीं होती अर्थात नौ नाड़ियों से ग्रथित काया का विषयरस लेकर भी संतुष्ट नहीं होती॥ 2॥ योगी लोग शरीर के छिद्रों को बन्दकर और बहत्तरों कोठों से वायु खींचकर ध्यान के आलंबन स्वरूप ज्योति-रूपी खूंटे में ध्यान रूपी मजबूत रस्सी से इस मनोवृत्ति रूपी गाय को बड़ी मजबूती से बांधते हैं, तब भी यह उसे तोड़कर भाग निकलती है॥ 3-4॥ चारों वेद मानो वृक्ष हैं और उनके छह वेदांग शाखों तथा अठारह पुराण पत्ते हैं। हे भाई! इन

सबको इस गाय ने चर डाला, परन्तु अघायी नहीं। यह ऐसी चंचल है कि इसने आगे मुंह बढ़ाया॥ 5-6॥ छह शास्त्र, महाकाव्य—ये सात तथा सातों प्रमाण, व्याकरण के नौ ग्रंथ तथा चौदह विद्यों—ये सब खाकर भी गैया न अघायी और आगे पैर बढ़ायी अर्थात इन सबके अध्ययन-मनन के बाद भी मनोवृत्ति शांत न हुई॥ 7-8॥ हे भाई ! हम यह नहीं कह सकते कि यह गाय रंगवाली है या रंगरहित है। हां, इसकी सींगें उजली हैं। अर्थात लक्षण अच्छे हैं। यह निरंतर पूर्णता पाने एवं तृप्त होने में ही तो लगी है। परन्तु इसकी दिशा गलत होने से यह खाद्य-अखाद्य सब खा रही है॥ 9-10॥ हे भाई ! ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सनकादिक और असंख्य सिद्ध इस मनोवृत्ति रूपी गाय की खोज में पड़े हैं कि उसको लाकर अपने घर में बांध लें। अथवा आत्म-भिन्न मनःकल्पित अवधारणा को सब खोजते रहे, परन्तु वह किसी को न मिली॥ 11-12॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो, सुनो, जो विचारक इस पद का अर्थ करे और इसको गाकर इसका विचार करे, उसे चाहिए कि मनोवृत्ति रूपी गाय से आगे निज स्वरूप मुकाम पर पहुंच जाये, और उस स्थिति का जीवनपर्यंत निर्वाह करे॥ 13-14॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस शब्द में चंचल गाय के रूपक में मनोवृत्ति का अच्छा नक्शा खींचा है। लोकधारणा है कि ब्रह्मा ने मनुष्य की रचना की है और उसी ने उसे सब कुछ दिया है। कबीर साहेब भी जनभाषा में बोलकर कहते हैं कि हे भाई ! विधाता ने मनुष्य को मनोवृत्ति रूपी एक गाय दी है। ब्रह्मा या विधाता कोई व्यक्ति नहीं है जिसने संसार या मनुष्यादि को रचा हो। ब्रह्मा प्रकृति के नियमों एवं विधानों का एक काल्पनिक प्रतीक है। वस्तुतः जड़-चेतन के नियमों से ही सारी रचनों होती हैं। जितने देहधारी हैं, सब में मन है, परन्तु प्रकृति के नियमों एवं विधानों ने मनुष्य को बड़ा विकसित मन दिया है। विकसित मन के नाते ही यह प्राणी मनुष्य कहलाता है। इस विषय को आगे साखी प्रकरण की आरम्भिक साखियों की व्याख्या में मनन किया जा सकता है। यदि कबीर साहेब ब्रह्मा को सर्वेसर्वा मानते कि उन्होंने मनुष्य को मन दिया है तो वे आगे इसी शब्द की ग्यारहवीं पंक्ति में उनको भी मन की विवशताओं में फंसा हुआ न कहते और बीजक भर में ब्रह्मादि त्रिदेवों की आलोचना न करते। कबीर साहेब की वाणी को समझने के लिए उनके विचार समझने चाहिए। यह भी सच है कि उनके विचार उनकी वाणियों से ही समझे जा सकते हैं।

"गइया भार अभार भौ भारी" यह मनोवृत्ति गाय भारी है, महान है। इसी से तो सारे ज्ञान-विज्ञान शोधे जाते हैं। मन का बड़ा महत्त्व है। मन न होता

तो विचारात्मक कोई सृष्टि ही नहीं होती। मन के दो स्वरूप हैं भार और अभार। भार का अर्थ है बोझिल एवं बंधनप्रद और अभार का अर्थ है हलका एवं मोक्षप्रद। जो मन राग-द्वेष तथा नाना कल्पित मान्यताओं से बोझिल रहता है वही बंधनप्रद है, और जो मन राग-द्वेष एवं सारी कल्पनाओं से रहित है, वह हलका है, मोक्षप्रद है।

"नौ नारी को पानी पियतु है, तृषा तेउ न बुझाई।" शरीर में सहस्रों नाड़ियां हैं, परन्तु पुहुखा, गंधारी आदि नौ नाड़ियां मुख्य मानी जाती हैं। नौ नाड़ियों से काया चलती है। यहां नौ नाड़ियों का लाक्षणिक अर्थ है नौ नाड़ियों से ग्रथित शरीर। अतएव तात्पर्य हुआ कि यह मनोवृत्ति शरीर एवं इंद्रियों के विषय-रस में ही सदैव रमती रहती है। मन सदैव विषयों का रस चखता है, तो भी वह कभी तृप्त नहीं होता। "तृषा तेउ न बुझाई" भोगों को भोगने से कहीं कामनों तृप्त होती हैं? राजा ययाति अपने भोगी जीवन से असन्तुष्ट होकर कहते हैं—"विषयों के भोगों से काम-वासना कभी शांत नहीं हो सकती। जैसे घी डालने से आग बढ़ती है, वैसे भोगों से वासनों प्रबल हो जाती हैं।"[1]

इस मन को वश में करने के लिए हठयोगी लोग बज्रकेंवार लगाते हैं। वे स्थिर आसन से बैठकर दोनों पैरों के गुल्फों और एड़ी से गुदा और उपस्थ को दबा देते हैं। तथा दोनों हाथों की उंगुलियों से कान, नाक और आंखों को बन्द कर लेते हैं। यही बज्रकेंवार लगाना है। वे योगाभ्यास द्वारा शरीर के बहत्तर कोठों से वायु को समेटकर उसे त्रिकुटी के ऊपर सहस्रदल कमल में ले जाते हैं। वहां गरमी से एक ज्योति का प्रकाश दिखता है। उसी को वे खूंटा या आलंबन मानकर ध्यान की रस्सी से अपनी मनोवृत्ति रूपी गाय को बांधते हैं। तब भी यह गाय उस रस्सी को तोड़कर भाग जाती है। अभिप्राय यह है कि कोई हठयोग से समाधि लगाकर अपने मन को भले अचेत कर दे, परन्तु जब वह समाधि से उठेगा और यदि उसके मन में विवेक-वैराग्य नहीं है तो उसका मन स्ववश नहीं रहेगा। हठयोग में माने गये लक्ष्य भी ज्योति, नाद, बिन्दु आदि हैं। वे उन्हीं को ब्रह्म कहते हैं। यह भी एक मनोवृत्ति रूप ही है। अर्थात वे अपनी कल्पित अवधारणा को ही परमात्मा मान लेते हैं जो मन का ही कार्य है। इसलिए हठयोगी मनोवृत्ति के बाहर नहीं हैं।

"चारि वृक्ष छौ शाखा वाके, पत्र अठारह भाई।" ऋक् , यजु, साम तथा अथर्व ये चार वेद हैं। ये मानो वृक्ष हैं। इनकी छह शाखों हैं—शिक्षा, कल्प,

---

1. न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ भागवत 9/19/14 ॥

व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष तथा छन्द। ये छहों, वेदों को समझने के लिए हैं।[1] वेदों के बाद ब्राह्मण ग्रंथ बने हैं जैसे ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, गोपथ ब्राह्मण, साम ब्राह्मण आदि। इसके बाद आरण्यक ग्रंथ बने। इसके बाद गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र तथा धर्मसूत्र बने, फिर स्मृतियां, महाकाव्य—महाभारत एवं रामायण। साथ-साथ अठारह पुराण[2] एवं अनेक उपपुराण। इसके अलावा श्रमणों-जैनों-बौद्धों के अपार ग्रंथ बने। साहेब कहते हैं कि इन सारे ग्रन्थों को पढ़ने के बाद भी यदि मन विषयों में विचरता रहे तो पढ़ने का मतलब क्या हुआ !

"ई सातों औरों हैं सातों, नौ औ चौदह भाई।" इस पंक्ति में दो बार सातों-सातों आये हैं जो संख्यावाचक हैं। इनमें स्पष्ट निर्देश नहीं हैं कि ये दोनों सातों क्या हो सकते हैं। इसलिए इनका अर्थ टीकाकार या अर्थविचारक जो चाहें सो करें, चाहे वे सात ऊपर तथा सात नीचे के लोक करें, चाहे पांच तत्त्व, मन एवं जीव-व्यष्टि तथा पांच विषय, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर-समष्टि करें, चाहें सप्त धातु एवं सप्त स्वर करें, चाहे अन्य सात-सात संख्या वाले कोई भी नाम गिनों, स्वतंत्र हैं। परन्तु ये लाइनें वाणी-विस्तार की हैं यह ध्यान में रखना चाहिए। इसीलिए यहां सांख्यादि छह शास्त्र तथा महाकाव्य

---

1. शिक्षा—उन ग्रन्थों का नाम है जिनमें वेदों की ऋचाओं का शुद्ध उच्चारण करने का प्रकार बताया गया है। प्रत्येक वेद की पृथक-पृथक शिक्षाएं हैं। एक-एक वेद के भी कई शिक्षा ग्रन्थ हैं।
   कल्प—उन ग्रन्थों का नाम है जिनमें यज्ञ करने का स्पष्ट एवं व्यवस्थित रूप बताया गया है। आकार में संक्षिप्त रखे गये हैं। ये ग्रन्थ भी कई भेदों के हैं।
   व्याकरण—इस वेदांग में वेदों के अर्थों को समझाया गया है और शब्दों का शुद्धस्वरूप निर्धारण किया गया है।
   निरुक्त-इसमें शब्दों की उत्पत्ति एवं स्वर-भिन्नता बतायी गयी है। बहुत पुराना ग्रन्थ निघंटु है। इसी पर यास्क का लिखा बृहत् भाष्य है, जिसका नाम निरुक्त है।
   ज्योतिष—इसमें काल (समय) के गणित इत्यादि का वर्णन है। जो कि यज्ञ के लिए आवश्यक है। उचित समय में किया हुआ यज्ञ ही फलप्रद माना है और वेद प्रायः यज्ञ के लिए प्रवृत्त हैं। अतः इनमें ज्योतिष का महत्त्व है।
   छन्द—इस ग्रन्थ के ज्ञान से वेद मन्त्रों का उच्चारण ठीक रूप से होता है। वेद छन्दों में हैं, अतः उनके उच्चारण के लिए छन्दों का ज्ञान आवश्यक है।
   वेदों के उपर्युक्त छह अंग बताये गये हैं। उनमें व्याकरण वेदों का मुख है, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त श्रोत्र, कल्प हाथ, शिक्षा प्राण तथा छन्द दोनों पैर हैं (पाणिनीय शिक्षा 41/42)
2. ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, पद्मपुराण, भागवतपुराण, नारदपुराण, मार्कंडेयपुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, लिंगपुराण, वराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरुड़पुराण तथा ब्रह्मांडपुराण—ये अठारह पुराण हैं।

और प्रत्यक्षादि सात प्रमाण लिये गये हैं। नौ से व्याकरण के नौ ग्रंथ लिये गये हैं। व्याकरण तो एक ही विषय है, परन्तु इस पर विचार करने वाले तथा लेखक अनेक हुए हैं। प्रसिद्ध नौ हैं—इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्सन, शकटायन, आपिशाली, पाणिनि, कुमार, शाकल्य तथा सारस्वत। इसके बाद चौदह विद्यों हैं—ब्रह्मज्ञान, रसायन, काव्य, वेद, ज्योतिष, व्याकरण, धनुर्विद्या, जलतरण, संगीत, वैद्यक, अश्वारोहण, कोकशास्त्र, नाटक-चाटक तथा चातुरी। सद्गुरु कहते हैं कि इन सबको पढ़, गुन, जान तथा समझकर भी यदि आदमी वासनाओं का गुलाम है तो उसका ज्ञान क्या अर्थ रखता है! जीवन में शांति तो मन को वश में करने से आती है और शांति ही जीवन का परम सुख है। हम मन को पहचान लें, उसे अपने वश में कर लें यही जीवन की सफलता है। यदि यह न हुआ तो सारा ज्ञान माटी है।

"पुरता में राती है गइया" यह मनोवृत्ति रूपी गाय 'पुरता में राती है' पुरता का अर्थ है पूर्ण करना, तृप्त होना, राती का अर्थ है लीन होना या लगा हुआ होना। मन सदैव तृप्त होने में लगा रहता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि इस गाय की सींगें श्वेत हैं। अर्थात शीर्ष भाग उज्ज्वल है, लक्षण अच्छे हैं। मन तृप्ति चाहता है, तो यह बुरी बात तो नहीं है। वह तृप्त इसलिए नहीं होता कि उसे हम ऐसी वस्तु नहीं दे पाते जिससे वह तृप्त हो सके। जैसे कोई प्यासा आदमी कुआं खोजता हो; परन्तु जिस कुँ पर जाता हो, वहां का पानी सड़ा मिलता हो, तो स्वाभाविक बात है कि प्यासा उससे आगे बढ़ेगा। जब तक उसे स्वच्छ जल का कुआं न मिलेगा वह न रुकेगा। मन की यही दशा है। यह तृप्ति चाहता है। हम इसे विषय-भोग देते हैं जो सड़े जल के समान है, इसलिए मन तृप्त नहीं होता। विषय मलिन हैं, क्षणभंगुर हैं, छूटने वाले हैं, इनमें तृप्ति की कोई सम्भावना ही नहीं है। मनुष्य जहां तक अपनी आत्मा से अलग कुछ भी मानकर उसकी कल्पना करता है उसमें मन को तृप्ति मिल ही नहीं सकती। यदि हम मन को स्वरूपज्ञान रूपी अमृत दें, उसे अविनाशी अमृतत्व का मधु पिलों तो वह भटकना छोड़ देगा। दोष मन का नहीं है, दोष है हमारा, जो उसका हम सदुपयोग नहीं करते, उसे स्वरूपज्ञान का अमृत-रस नहीं देते।

"अवरण वरण किछउ नहिं वाके, खद्द अखद्दहिं खाई।" अवर्ण-वर्ण का अर्थ रंगरहित या रंगसहित होना है। साहेब कहते हैं कि हम यह नहीं कह सकते कि यह मनोवृत्ति रूपी गाय रंगरहित है और यह भी नहीं कह सकते हैं कि रंगवाली है। यहां रंग से अभिप्राय लाल-पीलादि से नहीं है, किन्तु बात मन के स्वरूप की है। मन के स्वरूप की व्याख्या करना एक समस्या है। कोई गाय होती है। वह हरहाई है, चंचल है। उसने किसी की फसल चर ली

है। पूछा जाता है कि भाई, वह गाय किस रंग की है? लोग बताते हैं काली है, पीली है, सफेद है, बगरी है आदि। उसके रंग जानकर उसे खोजकर पकड़ सकते हैं। मन का रंग पूछे तो कोई क्या बताये? यह अधर्म की शक्ल में रहता है और धर्म की शक्ल भी बनाना जानता है। यह अच्छी शक्ल बनाकर भी गड्ढे में ले जाने के लिए माहिर है। मन बहुरुपिया है। मन अच्छी बातों की याद कराते-कराते बुरी बातों में ले जाकर जीव को भिड़ा देता है। इसलिए मन से बहुत सावधान रहना चाहिए।

"खद्द अखद्दहिं खाई" गाय तो घास चरती है, मांस नहीं खाती। परन्तु यह मनोवृत्ति रूपी गाय खाद्य-अखाद्य सब कुछ खा जाती है। खाद्य का शुद्ध शब्द है आहार। हम जो कुछ मन तथा इन्द्रियों से आहरण करते हैं वह सब आहार है। आहरण कहते हैं ग्रहण करने को। मन अच्छी और बुरी दोनों बातों का आहरण करता है, इसलिए उसे सद्गुरु ने खाद्य-अखाद्य दोनों को खाने वाला कहा है। साधक का यही प्रयत्न होना चाहिए कि उसकी मनोवृत्ति अखाद्य का त्याग कर दे। वह गलत चिंतन न करने पाये। खराब चिंतन से ही हृदय दूषित होता है। जिसका चिंतन सही है, उसका हृदय शुद्ध होता है।

"ब्रह्मा विष्णु खोजि ले आये, शिव सनकादिक भाई। सिद्ध अनन्त वाके खोज परे हैं, गइया किनहुँ न पाई।" ये दोनों पंक्तियां बड़े-बड़े नामों को चुनौती देती हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव तो मानो गृहस्थ थे। ये सब संसारी माया जाल में उलझे थे। इनके आचरणों की शिथिलता पुराणों में प्रसिद्ध है। परन्तु विरक्त-चूड़ामणि सनकादि अर्थात सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार तथा असंख्य सिद्ध कहलाने वाले क्या ये भी मन को नहीं परख सके। कबीर साहेब की यहां सूक्ष्म मार है। बड़े-बड़े योगी तथा संन्यासी लोग भी ब्रह्म को अपनी आत्मा से बाहर खोजते हैं। जो वह उनकी एक मनोवृत्ति ही होती है। यदि ब्रह्म खोजा जा रहा है, तो वह मन की एक कल्पना ही है और यह खोजकर कभी नहीं मिल सकता। ब्रह्मादि, सनकादि एवं सिद्धादि लोग "गइया किनहुँ न पाई" कोई ब्रह्म को, ईश्वर को एवं परमात्मा को खोजकर नहीं पाया। जो चीज खोजकर मिलती है, वह तो माया होती है। वस्तुतः सारी खोज खत्म कर देने के बाद, यहां तक इस गैया को, मनोवृत्ति को समाप्त कर देने के बाद जो स्वचेतन सत्ता बच रहती है, वही व्यक्ति का निजस्वरूप है। उसे ब्रह्म, ईश्वर कुछ भी कह लें, यह अपनी खुशी है।

जब ज्ञानी लोग यह मानने लगते हैं कि मैं ही परमतत्त्व हूं, परन्तु सारा विश्व मेरा ही स्वरूप है, जड़-चेतन सब कुछ मैं ही हूं, घट-मृतका, जल-तरंग तथा स्वर्ण-भूषण न्याय मैं ही अखिल विश्व हूं, तब यह पुनः मानो गैया में उलझ जाना है। यह सब एक मनोवृत्ति का ही पसारा है। आत्म-अस्तित्व

की अतिशयोक्ति में यदि हम जड़-चेतन का विवेक ही खो दें तो मानो पुनः मन-मानन्दी में उलझ गये। धर्मशास्त्रों में सनकादिकों के मुख से इन जैसी बातें खूब कहलवा दी गयी हैं। इसलिए सद्गुरु ने आठवीं रमैनी में इस पर खुलकर आलोचना की है और जगह-जगह इस पर विचार किया है। "मैं सर्वत्र व्यापक हूं तथा मैं सारा विश्व हूं" ये दोनों बातें मानसिक भ्रम के अलावा कुछ नहीं हैं। यह भी एक मनोवृत्ति ही है। आत्मा की व्यापकता का अनुभव किसी को नहीं होता है। एक आत्मा व्यापक होने से दूसरे के अस्तित्व का होना ही असम्भव है और आत्मों एक नहीं, असंख्य हैं। यह प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। चेतन के अलावा जड़ तत्त्व भी हैं और वे भी अनेक हैं। एक-एक तत्त्व में असंख्य परमाणु हैं। इन सारे तथ्यों से आंखें मींचकर यह कह देना कि मैं सर्वत्र व्यापक तथा अखिल विश्व हूं, यह मनोवृत्ति रूपी गैया का ही हरहाईपन है। इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ब्रह्मदि, सनकादि, सिद्धादि कोई भी गैया को पकड़ न पाये। मनोवृत्ति को छोड़ देने पर स्वरूप से शुद्ध चेतन मात्र रह जाता है। जो सबको परखता है वह स्वयं पारख-रूप तथा ज्ञान-रूप है। बस, उसकी इससे अधिक व्याख्या करना गैया के पीछे दौड़ना है और उसे न पकड़ पाना है।

अन्त में सद्गुरु कहते हैं कि जो इस पद का अर्थ लगाये, इसे गाये और विचारे उसका काम है कि मनोवृत्ति से आगे हो जाये और इस स्थिति का जीवनभर निर्वाह करे। सद्गुरु कहते हैं कि हठयोग और शास्त्रजाल में मत उलझो। जो मैंने यह शब्द गाया है उसके अभिप्राय का ग्रहण यह होगा कि मन का सदुपयोग करो। बिना मन के जीवन नहीं चलता; किन्तु मन में उलझकर जीवन का कल्याण नहीं होता। मन को शुद्ध करो, निर्विषय करो, मन की सारी मान्यताओं का परित्याग करो। समाधि में मन को शून्य कर दो, और व्यवहार में मन के साक्षी रहो। यही मन से आगे हो जाना है "आगे होय"। साधक का काम है मन को पीछे छोड़कर खुद आगे हो जाये। परन्तु यह भी जरूरी है कि "निर्बाहै" इस स्थिति का जीवन भर निर्वाह करे। एक क्षण या एक घंटा के मोक्ष से काम नहीं बनेगा। जीवनपर्यंत मोक्षस्थिति बनी रहनी चाहिए।

विषय-निवृत्ति से ही निजस्वरूप की स्थिति

शब्द-29

भाई रे नयन रसिक जो जागे॥ 1॥
पारब्रह्म अविगति अविनाशी, कैसहु कै मन लागे॥ 2॥
अमली लोग खुमारी तृष्णा, कतहुँ सन्तोष न पावै॥ 3॥

काम क्रोध दोनों मतवाले, माया भरि भरि आवै॥ 4॥
ब्रह्म कुलाल चढ़ाइनि भाठी, लै इन्द्री रस चाहै॥ 5॥
संगहि पोच ह्वै ज्ञान पुकारे, चतुरा होय सो पावै॥ 6॥
संकट सोच पोच यह कलिमा, बहुतक ब्याधि शरीरा॥ 7॥
जहाँ धीर गम्भीर अति निश्चल, तहाँ उठि मिलहु कबीरा॥ 8॥

शब्दार्थ—नयन रसिक=रूप के प्रेमी, तात्पर्य में विषयासक्त। पारब्रह्म=परम तत्त्व। अविगति=अविगत, अज्ञात। कैसहु कै=किसी भी प्रकार। अमली=व्यसनी, आदती। खुमारी=नशा, आंखों में छाया हुआ मद। कुलाल=कलवार, मदिरा बनाने वाला। भाठी=शराब बनाने की भट्ठी। पोच=बुराई, नीचता। कलिमा=कलिकाल, कलह, द्वन्द्व।

भावार्थ—हे भाई! यदि विषयासक्त व्यक्ति भी मोह से जग जाये, तो आज तक उसके लिए जो अज्ञात था, उस अविनाशी परम तत्त्व में किसी प्रकार उसका मन लग जायेगा॥ 1-2॥ जो लोग विषयों के आदती हैं, उन पर सदैव विषयों की तृष्णा का ही नशा चढ़ा रहता है, वे कहीं भी सन्तोष नहीं पाते॥ 3॥ काम और क्रोध ये दोनों उन्मादी मनोवेग हैं जो मनुष्य के मन में बारम्बार भ्रम लेकर आते रहते हैं। अथवा काम और क्रोध में डूबे हुए लोग उन्मत्त होते हैं। उन्हें माया विषय की मदिरा प्याले में भर-भरकर पिलाती है॥ 4॥ कितने ब्रह्मज्ञानी भी एक प्रकार के कलवार हो जाते हैं। वे कल्पना की भट्ठी पर ब्रह्मज्ञान की मदिरा बनाते हैं, और जड़-चेतन तथा भोग-मोक्ष एक में मिलाकर इन्द्रियों के विषय-रस भोगना चाहते हैं॥ 5॥ वे मन में तो विषयासक्ति की बुराई भरे रहते हैं, परन्तु वाणी से ब्रह्मज्ञान की डींग हांकते हैं और कहते हैं कि यह ज्ञान वही पायेगा जो चतुर होगा॥ 6॥ इस द्वंद्व भरे संसार में नाना संकट हैं, चिंतों हैं, बुराइयां हैं और शरीर में अनेक प्रकार की व्याधियां लगी रहती हैं। हे कल्याणार्थियो! जहां धीर, गम्भीर और अत्यन्त निश्चल सद्गुरु हों वहां विनम्रतापूर्वक जाओ और उनकी शरण में लग जाओ तथा उनके उपदेश को पाकर अपने निश्चल स्वरूप में स्थित हो जाओ॥ 7-8॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर साहेब से मानो किसी ने कहा हो कि साहेब, हम तो बहुत विषयी-पामर हैं। हमारा मन ब्रह्म में, राम में कहां लग सकता है! हमारे उद्धार का तो कोई रास्ता ही नहीं दिखता। तब कबीर साहेब ने उनसे कहा हो कि हे भाई! यदि तुम जग जाओ, मोह की नींद भंग कर दो तो धीरे-धीरे जिस किसी प्रकार तुम्हारा भी मन उस तत्त्व में लग जायेगा, जो तुम्हारे लिए आज तक अज्ञात है, किन्तु अविनाशी है और तुम्हारा स्वरूप ही है।

रूपासक्त व्यक्ति को नयनरसिक कहते हैं। यह विषयासक्ति का बहुत स्थूल स्वरूप है। जो बहुत विषयासक्त है, परन्तु कल्याण की कामना जग गयी है तो उसे घबराना नहीं चाहिए। उसे चाहिए कि वह साहसहीन न हो। किंतु विवेक करके विषयों के मोह को भंग करे। पुरुषार्थ द्वारा उसके मन का मोह भी अवश्य टूटेगा। "पारब्रह्म अविगति अविनाशी" पारब्रह्म का शुद्धरूप परब्रह्म है। 'बृहत्त्वात् ब्रह्म' अर्थात बृहत् एवं महान को ब्रह्म कहते हैं। 'पर' विशेषण लगाने से उसका अर्थ निर्गुण रूप, शुद्ध रूप हो जाता है। परब्रह्म का अर्थ हुआ शुद्ध श्रेष्ठ तत्त्व। मनुष्य, स्वरूप के अज्ञानवश श्रेष्ठ तत्त्व को अपने से अलग मानता है, इसलिए वह उसे अविगत एवं अज्ञात कहता है। परन्तु जब विषयों का मोह भंग होकर निज स्वरूप का ज्ञान होता है तब पता चलता है कि वह परब्रह्म श्रेष्ठ तत्त्व, वह अविनाशी स्वरूप मेरी आत्मा ही है। फिर धीरे-धीरे विचार करते-करते निजस्वरूप की दृढ़ता होती है। "कैसहु कै मन लागे" का अर्थ है जिस किसी प्रकार उसका मन निज स्वरूप में लग जाता है। इसका अभिप्राय है कि जो बहुत विषयासक्त है उसका परमार्थ में शीघ्र प्रवेश नहीं होता। वह सेवा, भक्ति, परोपकार, शम, दम, तितिक्षा, सत्संग आदि अनेक साधनों करता है, तो सर्वांग साधन लेते हुए चलने से किसी-न-किसी प्रकार उसका मन शुद्ध हो जाता है और वह परमार्थ में लग जाता है।

"अमली लोग खुमारी तृष्णा, कतहुँ सन्तोष न पावै।" जो व्यक्ति नाना प्रकार के विषयों के भोगने का आदती है, उसे सब समय विषय का नशा चढ़ा रहता है। किसी भी विजाति एवं जड़ वस्तु को भोगने की आदत आदमी के मन को दुर्बल बनाती है। गांजा, भांग, शराब, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, मैथुन, सिनेमा, नाच-तमाशे आदि किसी भी विषय को भोगने की आदत जब हो जाती है, तब आदमी उसके लिए सब समय दीन बना रहता है। कितने लोग कहते हैं कि महाराज, भोजन न मिले तो चल सकता है परन्तु सिगरेट एक घंटा भी न मिले तो नहीं चल सकता। यह उनकी उसके प्रति अधिक आसक्ति ही है। जब उनसे कहा जाये कि आप को जीवन भर सिगरेट दिया जायेगा, परन्तु भोजन कभी नहीं दिया जायेगा, तब उन्हें पता चलेगा।

आदमी जब किसी व्यक्ति से मोह कर लेता है तब उससे बिना मिले, उसे बिना देखे नहीं रह पाता। भोजन में जब मिर्च, खटाई, अधिक नमक, घी, दूध, दही, महीन चावल या अमुक वस्तु में आसक्ति बना ली जाती है तब उसके बिना खाया नहीं जाता। जिस भी वस्तु-व्यक्ति का राग मन में बन जाता है, उसके बिना आदमी बेचैन हो जाता है। यही उसकी दुर्बलता है।

विषयासक्ति का एक नशा होता है। इस नशा को सद्गुरु ने खुमारी शब्द से याद किया है। खुमारी के साथ सद्गुरु ने तृष्णा शब्द का प्रयोग किया है। तृष्णा उसे कहते हैं जिसमें कभी तृप्ति नहीं होती। जो जिस विषय में आसक्त है वह उसमें तृप्त नहीं होता।

ऐसे लोग "कतहुँ सन्तोष न पावै।" व्यसनी आदती एवं भोग-तृष्णालु को कभी और कहीं भी संतोष नहीं मिलता। उसका मन नाना भोगों एवं स्थानों के लिए दौड़ता है, परन्तु वहां जाकर या उसे पाकर पुनः असन्तुष्ट ही रह जाता है। विषय-भोग, स्थान, भूमिका, सम्मान, पद, अधिकार जिन्हें भी पाने की मन लालसा करता है, उन्हें पा जाने के बाद भी वह अपने आप को असंतुष्ट ही पाता है। सारे मायावी दृश्यों की यही कथा है। जो मन की शांति छोड़कर भोगों के पीछे भागेगा वह कहीं संतोष नहीं पा सकता। "कतहुँ संतोष न पावै" यह वाक्यांश मुमुक्षु के मन को मथ देने वाला है।

"काम क्रोध दोनों मतवाले, माया भरि भरि आवै।" काम और क्रोध दोनों उन्मत्त वेग हैं। जो मनुष्य के मन में सदैव माया भर-भरकर लहर-पर-लहर आते रहते हैं। माया का अर्थ है व्यामोह एवं भ्रम। काम आने पर मन में एक व्यामोह आता है और आदमी मलिन चीजों को बड़ा प्रिय मान लेता है। इतना ही नहीं, इसके लिए वह लोक-विरुद्ध काम भी करता है। उसके परिणाम में वह अपने भीतर से तो गिर ही जाता है, बाहर लोकदृष्टि में भी गिर जाता है। यही बात क्रोध आने पर होती है। वह नहीं सोचने योग्य बातें सोचता है, नहीं कहने योग्य बातें कहता है तथा नहीं करने योग्य काम करता है। इन सबके परिणाम में वही दशा आती है, भीतर से चंचल, पीड़ित एवं शोकित होता है तथा बाहर से अपमानित। ऐसे व्यक्ति का जीवन अशांत हो जाता है। वस्तुतः काम-क्रोध मन के विकार हैं। जो इनमें जितना पड़ता है, वह उतना ही उन्मादी हो जाता है। काम आने पर क्रोध आना ही है। जब कामना में भंग पड़ता है तब क्रोध आता है और जब कामना सफल होती है तब लोभ आता है। ये सब मन को भ्रमित करने वाले हैं।

"ब्रह्म कुलाल चढ़ाइनि भाठी, लै इन्द्री रस चाहै।" शराब बनाने वाला भट्ठी पर महुआ आदि शराब की उपादान-सामग्री से शराब बनाता है। कथित ब्रह्मज्ञानी भी कल्पना की भट्ठी पर ब्रह्मज्ञान की शराब बनाते हैं। शराब पीकर जैसे मनुष्य सारासार-विवेक से शून्य हो जाता है, वैसे ही कथित ब्रह्मज्ञानी भी ब्रह्मज्ञान की शराब पीकर जड़-चेतन तथा भोग-मोक्ष के विवेक से शून्य हो जाते हैं। वे मानने लगते हैं कि जड़-चेतन में कोई भेद नहीं है, इसलिए भोग-मोक्ष में कोई अन्तर नहीं है। "लै इन्द्री रस चाहै" यह वाक्यांश इसी का

खुलासा है। फिर वे इन्द्रिय-भोगों को भी ब्रह्म रूप मान लेते हैं। वे भोगों को भोगते हुए भी अपने आप को मुक्त ब्रह्म ही मानते हैं। इसका खुलासा पीछे चौदहवें शब्द की व्याख्या और टिप्पणी में पढ़ सकते हैं।

"संगहि पोचह्वै ज्ञान पुकारे, चतुरा होय सो पावै।" ऐसे लोगों के मन में तो विषयासक्ति की मलिनता और ज्ञान-वैराग्य के दिखावे में भोग-वासना की नीचता रहती है, परन्तु वे ज्ञान की बड़ी-बड़ी डींगें हांकते हैं। मैं निर्लिप्त हूं, निष्काम हूं, "भोगहुँ विषय कि त्यागहुँ इन्द्रिय, मोको लगै न रंचक रंग" का आलाप करते रहते हैं। ऐसे ज्ञानी नामधारियों का अधःपतन है। ऐसे लोग समाज में बिगड़ी घड़ी बनकर साधकों को पथभ्रष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि जो चतुर होगा, वह इस ज्ञान को पायेगा। भोग और मोक्ष साथ-साथ सम्पादित करने की बुद्धि चतुरता ही है। परन्तु यह चतुरता जीव को नीचे ले जाने वाली है।

"संकट सोच पोच यह कलिमा, बहुतक व्याधि शरीरा।" इस द्वंद्व भरे संसार में संकट, सोच, पोच और शरीर-व्याधि जीव को पीड़ित करते रहते हैं। किसी प्रकार विरोधी कशमकश एवं विपत्ति को संकट कहते हैं। प्रबल शत्रु का सामना, विरोधियों द्वारा घिर जाना, योग्य साथी का छूट जाना, धन-मकान आदि निर्वाह की चीजों का हट जाना या मिट जाना आदि 'संकट' है। इन तथा इन-जैसी हुई दुर्घटनाओं एवं काल्पनिक संभावनाओं को लेकर मन में चिंता करना 'सोच' है और मन, वाणी तथा इन्द्रियों के गलत आचरण 'पोच' हैं। शरीर के नाना रोग 'व्याधि' हैं। इन सबसे मनुष्य हर समय दुखी रहता है।

"जहाँ धीर गम्भीर अति निश्चल, तहाँ उठि मिलहु कबीरा।" सद्गुरु कहते हैं कि हे मुमुक्षुओ, तुम उठकर अर्थात विनम्र होकर उन सद्गुरु की शरण में जाओ जो धीर, गम्भीर तथा अत्यन्त निश्चल हैं। जड़-चेतन तथा भोग-मोक्ष एक में मानने वाले ज्ञानियों के चक्कर में न पड़ जाना। जो स्वयं मन की चंचलता के कारण भटक रहे हैं, उनकी झोली में न गिर जाना। तुम उनकी शरण में जाओ जो मन से धैर्यवान हैं, रहनी से गम्भीर हैं तथा अपने अविनाशी पद में अचल स्थित हैं। ऐसे गम्भीर पुरुषों से उठकर मिलो। "तहाँ उठि मिलहु कबीरा" जब किसी बड़े से मिलना होता है तब हम अपनी जगह से उठकर मिलते हैं। उठकर मिलने का अर्थ है विनम्रतापूर्वक मिलना। पूर्ण सद्गुरु की शरण से मनुष्य का कल्याण-पथ सरल होता है। अंततः तो अपनी स्वरूपस्थिति ही धीर, गम्भीर और अत्यन्त निश्चल पद है। वासनाहीन होकर निजस्वरूप में स्थित हो जाना ही निश्चल पद में पहुंच जाना है।

स्वरूपस्थिति ही परब्रह्म पद है। निजस्वरूप के अलावा कहीं कोई परमात्मा नहीं।

इस शब्द की दो पंक्तियों "ब्रह्म कुलाल चढ़ाइनि भाठी, लै इन्द्री रस चाहै॥ 5॥ संगहि पोच ह्वै ज्ञान पुकारे, चतुरा होय सो पावै॥ 6॥" का विधेयात्मक अर्थ भी किया जा सकता है जिससे यह पूरा शब्द विधेयात्मक अर्थ वाला हो जाता है। इस अर्थ में ब्रह्म का अर्थ मन करना पड़ेगा। अर्थात मन कलवार है जो विषय-वासना रूपी शराब की भट्ठी चढ़ाता रहता है और इन्द्रियों द्वारा विषयों का रस चखना चाहता है। अन्दर में तो विषयासक्ति की बुराई रखता है, परन्तु बाहर ज्ञान की डींग हांकता है, और कहता है कि जो चतुर होगा वह भोग और मोक्ष साथ-साथ पा लेगा।

अनेकता में एकता

शब्द-30

भाई रे दुइ जगदीश कहाँ ते आया, कहु कौने बौराया॥ 1॥
अल्लाह राम करीमा केशव, हरि हजरत नाम धराया॥ 2॥
गहना एक कनक ते गहना, यामें भाव न दूजा॥ 3॥
कहन सुनन को दुइ कर थापे, एक निमाज एक पूजा॥ 4॥
वोही महादेव वोही महम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये॥ 5॥
को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमी पर रहिये॥ 6॥
वेद कितेब पढ़ै वै कुतबा, वै मोलना वै पाँड़े॥ 7॥
बेगर बेगर नाम धराये, एक मिट्टी के भाँड़े॥ 8॥
कहहिं कबीर वै दूनों भूले, रामहि किनहु न पाया॥ 9॥
ये खसी वै गाय कटावैं, बादिहि जन्म गमाया॥10॥

शब्दार्थ—हजरत=स्वामी, साहब। कितेब=कुरान। कुतबा=कुतुब, किताब का बहुवचन, बहुत-सी किताबें या खुतवा (प्रार्थना)। बेगर बेगर=पृथक-पृथक। भाँड़े=बरतन। बादिहि=विवाद में या व्यर्थ में।

भावार्थ—हे भाई ! तुम्हें किसने पागल बना दिया है, ये दो ईश्वर कहां से आ गये? अल्लाह और राम, करीम और केशव तथा हरि और हजरत नाम धराकर ईश्वरों की भीड़ कैसी?॥ 1-2॥ एक सोना से अनेक आभूषण बनते हैं, स्वरूपतः वे सोने ही हैं। इसी प्रकार कहने-सुनने के लिए दो मान्यताओं की स्थापना कर ली गयी, एक नमाज की और एक पूजा की; परन्तु इसमें मूलतः दो भाव नहीं हैं। दोनों का सार है मन को कोमल बनाना॥ 3-4॥ हमारे लिए जैसे श्रद्धेय महादेव और ब्रह्मा हैं वैसे मुहम्मद तथा आदम

होने चाहिए और जैसे मुहम्मद तथा आदम हैं वैसे महादेव तथा ब्रह्मा होने चाहिए॥ 5॥ सभी मानव एक ही जमीन पर रहते हैं, फिर यहां किसको हिन्दू कहा जाये तथा किसको मुसलमान॥ 6॥ वेदादि शास्त्रों को पढ़ने से एक पंडित कहलाता है और कुरानादि किताबों को पढ़ने से एक मौलवी कहलाता है॥ 7॥ अलग-अलग नाम अवश्य रख लिये हैं, परन्तु हैं सब एक ही मिट्टी के बरतन॥ 8॥ कबीर साहेब कहते हैं कि ये दोनों भूल गये हैं। इनमें से किसी ने भी राम या रहीम को नहीं पाया है; क्योंकि एक देव के नाम पर बकरादि प्राणियों का वध कराता है और दूसरा रहीम के नाम पर गाय कटाता है। अतएव दोनों अपने जीवन को व्यर्थ में खोते हैं॥ 9-10॥

व्याख्या—कबीर साहेब के समय में भारत में मुसलमानों का राज्य था और साथ-साथ उनके मजहब का भी दबदबा था। इधर हिन्दुओं का देश यह है ही। हिन्दू पंडित अपने सम्प्रदाय में दृढ़ थे। दोनों में काफी खींचतान चलती थी। दोनों अपने-अपने सम्प्रदाय को ईश्वरीय तथा दूसरे को अनीश्वरीय सिद्ध कर रहे थे। दोनों ईश्वर के भक्त थे और दोनों दोनों के विरोधी थे। एक अल्लाह कहता दूसरा ईश्वर कहता, एक राम कहता दूसरा रहीम कहता। वे दोनों एक दूसरे के शब्दों को नहीं सह पाते थे। हिन्दुओं को अल्लाह शब्द सहन नहीं था तथा मुसलमानों को ईश्वर या राम शब्द सहन नहीं था।

हिन्दू कह रहा था परमसत्ता वह है जिसने वेद भेजे हैं, जो राम-कृष्ण रूप में खुद आया है और हिन्दू-शास्त्र ही उसके आदेश हैं। मुसलमान कह रहा था कि परमसत्ता वह है जिसने कुरान भेजा है, इसलाम दिया है तथा मुहम्मद को भेजा है। कुरान ही उसका आदेश है। मुसलमान हिन्दुओं को काफिर कह रहे थे तथा हिन्दू मुसलमानों को म्लेच्छ। एक दूसरे को न समझकर एक दूसरे के विरोधी बन रहे थे। कबीर साहेब ने कहा कि यदि जगत का कोई मालिक होगा तो एक ही होगा, दो तो नहीं होगा। भले, उसे हम अपनी-अपनी भाषा में ईश्वर या अल्लाह तथा राम या रहीम कह लें, परन्तु यह केवल शब्द एवं भाषा का ही अन्तर होगा, तथ्य का नहीं। जैसे एक ही वस्तु को संस्कृत में जल, हिन्दी में पानी, फारसी में आब, बंगला में जॉल तथा इंगलिश में वाटर कहते हैं, वैसे ईश्वर, अल्लाह, गॉड आदि शब्दों की बात है।

जड़-चेतनात्मक विश्वसत्ता में उसके अपने गुण-धर्म एवं नियम अंतर्निहित हैं। इस विश्वसत्ता के अपने अंतर्निहित नियमों से विश्व निरंतर चल रहा है। इस तथ्य को न समझकर संसार के भावुकों ने अपने-अपने

अलग ढंग से जगत का संचालक, पालक व्यक्ति-ईश्वर की कल्पना की है। उस ईश्वर को लोगों ने इतनी स्थूलबुद्धि से गढ़ा है कि उसने अपने आदेश अमुक किताब के जरिये भेजे हैं, उसने अपने दूत, पुत्र या अवतार भेजे हैं, उसने अपने नियम एवं भाषा भेजी है। सचाई यह है कि सभी ईश्वरवादियों ने अपने बनाये किताब, मजहब एवं अपने माने हुए महापुरुष पर तथाकथित ईश्वर की मोहर मारी है जिससे यह सब जनता में सर्वमान्य हो जाये। नाना मतों द्वारा मानो ईश्वर को गढ़ा ही इसलिए गया है कि उसके नाम पर सही बातों के साथ-साथ ऊलजलूल बातें भी चलायी जा सकें।

प्रकाश की गति एक सेकेण्ड में तीन लाख किलोमीटर है; और ऐसे भी तारे हैं जहां से हमारी पृथ्वी पर प्रकाश आने में अरबों वर्ष लग जायें। परन्तु वही तारा तो संसार का अंत एवं छोर नहीं है। वस्तुतः देश और काल दोनों ही अनन्त हैं। न काल की कोई सीमा है और न देश-शून्याकाश तथा उसमें फैले जड़ द्रव्यों की। हम अनन्त देश-काल-व्यापी विश्व को सोच भी नहीं सकते हैं। अर्थात हमारे मन में अनन्त देश-काल आ भी नहीं सकते, और ऐसे अनन्त विश्व को कोई वेद भेजने वाले ईश्वर से, कोई कुरान भेजने वाले ईश्वर से तथा कोई अन्य ईश्वर से शासित मानता है। जबकि उनकी किताबें एक क्षेत्र एवं काल की चीजें हैं। विश्व तथा उसमें अंतर्निहित उसके नियम दोनों ही अनादि हैं। ईश्वर-अल्लाह आदि व्यक्ति-ईश्वर की कल्पनों एवं किताबें सब बीच की हैं। संसार के लोग संसार के नियमों का अध्ययन नहीं करते जो सबके लिए एक है, किन्तु स्थूलबुद्धि से पैदा हुए ईश्वर-अल्लाह को लेकर आपस में सिरफुटव्वल कर रहे हैं।

संसार में जमीन, रुपये एवं स्त्री को लेकर इन्सान का जितना खून बहाया गया है, ईश्वर को लेकर उससे कम नहीं बहाया गया। यदि कहीं व्यक्ति-ईश्वर बैठा होता तो क्या अपने भक्तों को इतना भी नहीं रोकता कि वे इतनी मूर्खता का काम न करें। वस्तुतः व्यक्ति-ईश्वर कुछ नहीं, विश्व के अपने अनादि नियम हैं जो अनादि स्वचालित हैं। उन्हीं के तहत संसार की सारी क्रियों होती हैं। आदमी अपनी समझ से कर्म करता है और जैसा करता है वैसा भरता है। विश्व के नियम सबके लिए एक तुल्य हैं। आग सबको जलाती है, पानी सबको शीतल करता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चांद, सूर्य, तारे सबके हैं। ये किसी मजहब या सम्प्रदाय के नहीं हैं। मनुष्यों के सुख-दुख, भूख-प्यास, मानसिक एवं शारीरिक व्याधियां एक तुल्य हैं। आवश्यकतों सबकी एक तुल्य हैं। सबको भोजन, पानी, वस्त्र, आवास एवं औषध चाहिए। सबको एक दूसरे से प्रेम चाहिए। सबको मन की शांति प्रिय

है। सबके भीतर एक ही समान ज्ञानमय चेतन एवं आत्मा विद्यमान है। अतएव यहां बीच की पैदा हुई मजहबी मान्यताओं को लेकर लड़ना एकदम बेवकूफी है। सबके भीतर रमने वाला चेतन ही राम है, अल्लाह है, ब्रह्म है। जरूरी है कि हम एक दूसरे से प्रेम करें, यही ईश्वर-भक्ति है। इसमें किसी मजहब एवं सम्प्रदाय की आवश्यकता नहीं है। वैसे मजहब एवं सम्प्रदाय अपनी जगह पर बने रहें, परन्तु वे मानवता का पाठ पढ़ों, साम्प्रदायिकता का नहीं। यह ध्यान रखना चाहिए कि मनुष्य सबसे बड़ा है।

"गहना एक कनक ते गहना, यामें भाव न दूजा। कहन सुनन को दुइ करि थापे, एक निमाज एक पूजा।" सोना एक धातु है। उससे कंगन, कंठा, कुंडल, केयूर, करधन आदि अनेक गहने बनते हैं; परन्तु मूल में कोई अन्तर नहीं रहता। सब में सोना है। इसी प्रकार कोई नमाज पढ़ता है, कोई पूजा करता है, कोई प्रार्थना करता है। यह प्रकार का अन्तर हुआ। सबका सार हुआ मन को विषयों से हटाकर किसी पवित्र अवधारणा में लगाना, मन को कोमल एवं साफ बनाना। नमाज, पूजा एवं प्रार्थना करने के बाद यदि उनके करने वालों के मन पवित्र न हों, वे कोमल, सज्जन, ईमानदार एवं सदाचारी न हों तो उन्हें कोई अच्छा नहीं मानता। मूल्य पूजा, नमाज एवं प्रार्थना का नहीं है, मूल्य है मानवता का, इनसानियत का। आदमी कैसा पागल है, वह पूजा, नमाज एवं प्रार्थना को भी लेकर लड़ता है। पूजा की शंखध्वनि से मुसलमानों की नमाज खराब होती है तथा मुसलमानों की अजान से हिन्दुओं की पूजा। विशाल हृदय अकबर कवि कहते हैं—"मुझे हर दीन के ढंग पर प्रेममग्नता आती है। जब मैं मस्जिद में नमाज पढ़ता हूं उस समय मन्दिर की शंखध्वनि सुनकर नाच उठता हूं।"[1]

"वोही महादेव वोही महम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये।" यहां महादेव और मुहम्मद के व्यक्तित्व की एकता की बात नहीं कही जा रही है। यदि महादेव कोई व्यक्ति थे तो वे मुहम्मद के हजारों वर्ष के पहले के होंगे। अतएव न दोनों का समय एक हो सकता है और न व्यक्तित्व। यहां भावना की एकता की बात है। साहेब कहते हैं कि अपने इष्ट में श्रद्धा रखना अच्छी बात है, परन्तु दूसरों के इष्टों के प्रति भी यदि श्रद्धा रखी जाये तो हानि क्या है ! यदि तुम महादेव के प्रति श्रद्धा रखने वाले हो तो मुहम्मद को भी श्रद्धा की निगाह

---

1. आता है वज्द मुझको हर दीन की अदा पर।
मस्जिद में नाचता हूं नाकूस की सदा पर॥
वज्द=प्रेममग्नता। अदा=ढंग। नाकूस=शंख। सदा=शब्द।

से देखो, और यदि तुम मुहम्मद के प्रति श्रद्धा रखने वाले हो तो महादेव के प्रति भी श्रद्धा रखो। ब्रह्मा और आदम की प्रतीकात्मक एकता भी सम्भव हो सकती है। सामी[1] मजहबों में आदम तथा ब्राह्मण-परम्परा में ब्रह्मा सृष्टि के जनक के प्रतीक हैं। ये दोनों ही कोई व्यक्ति नहीं हो सकते, किन्तु केवल प्रतीक हैं। परन्तु प्रतीक की भावनात्मक एकता स्वाभाविक है। ब्रह्मा भी सृष्टि करता है और आदम भी, तो नाम दो हैं, सत्ता दो नहीं है। अतः आदम और ब्रह्मा दोनों में श्रद्धा रखो।

"को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमी पर रहिये।" सभी मनुष्य एक जमीन पर रहते हैं, फिर उनमें कौन हिन्दू है और कौन मुसलमान, कौन ब्राह्मण है और कौन शूद्र, कौन ईसाई है और कौन पारसी ! ये सब नाम-रूप तो मानव की बनायी काल्पनिक सीमों हैं। मनुष्य कैसा पागल है, वह भिन्न-भिन्न नाम रख लेने के कारण एक दूसरे से अपने आप को दूर मानने लगा है। देखो न, एक वेद-पुराण पढ़ता है और पंडित कहलाता है, एक कुरान पढ़ता है और मौलवी कहलाता है, एक बाइबिल पढ़ता है और पादरी या फादर कहलाता है, परन्तु सबका अर्थ एक है—धार्मिक विद्वान। सब तो एक मिट्टी के बरतन हैं। इनमें मौलिक अन्तर क्या है? केवल नाम का अन्तर है। लोग एकता में अनेकता देखने के आदी हो गये हैं, वे अनेकता में एकता देखने पर ध्यान ही नहीं देते। बाहरी नाम-रूप की अनेकता होते हुए भी सबके भीतर तो वही जड़-चेतन की समान स्थिति है। सबको भूख-प्यास लगती है। सबको जल-भोजन लेने पर तृप्ति होती है। सबके भीतर मानसिक विकार हैं। सबको शांति तभी मिलती है जब उनके मनोविकार दूर हों। सारी बातों में तो एकता है। इस अनेकता में एकता के सूत्र को देखना चाहिए। कोई राम कहा, कोई रहीम कहा, तो इसमें क्या अन्तर हो गया !

दोनों की महती भूल यह है कि एक देवी-देवता के नाम पर बकरा, मुरगा, सूअर आदि निरीह प्राणियों का वध करता है और दूसरा ईश्वर को खुश करने के लिए गाय, ऊंट, बकरे आदि काटता है। इन भले मनुष्यों को इतनी भी समझ नहीं आ रही है कि जो देवी-देवता एवं ईश्वर-ब्रह्म होंगे वे क्या इतने निर्दय होंगे कि वे अपने भक्तों द्वारा जीव-हत्या करने में आनन्द मानते होंगे ! किसी को पीड़ा देने से यदि कोई खुश होता है तो वह देवता है

---

1. सामी—अरब, असीरिया, बेबिलोन आदि के क्षेत्र के निवासियों को सामी कहते हैं। नूह के बड़े पुत्र का नाम 'साम' था। अरब, यहूदी, मिस्री आदि इन्हीं की संतान माने जाते हैं। इसलिए इन्हें सामी कहते हैं।

कि राक्षस एवं भगवान है कि शैतान! वस्तुतः यह दोष न देवता का है न भगवान का। वे तो बेचारे काल्पनिक हैं। दोष तो है इनसान का, जिसकी जीभ प्राणियों के मांस खाने के लिए लपलपा रही है। इसलिए वह धार्मिक ढोंग बनाकर उसे खाना चाहता है। जीव-हत्या तथा मांसाहार दोनों ही हिंसक जानवरों का काम है। स्वार्थी आदमी ने अपने दोषों को ढकने के लिए उसे धर्म का जामा पहना दिया है। उसने जीव-हत्या करते समय काल्पनिक देव एवं ईश्वर का नाम ले लिया तथा मांस को प्रसाद कह दिया। इस प्रकार यह चतुर बना मनुष्य धार्मिक भी बना रहा और अपनी हिंस्र प्रवृत्ति का पोषण भी करता रहा। ऐसे लोग राम-रहीम के ज्ञान से तथा उसकी स्थिति से दूर ही बने रहते हैं।

अविवेक से उलटी गति

शब्द-31

हंसा संशय छूरी कुहिया, गइया पीवै बछरुवै दुहिया॥ 1॥
घर घर सावज खेले अहेरा, पारथ ओटा लेई॥ 2॥
पानी माहिं तलफि गई भुँभरी, धूरि हिलोरा देई॥ 3॥
धरती बरसे बादर भीजे, भीट भये पौराऊ॥ 4॥
हंस उड़ाने ताल सुखाने, चहले बिन्दा पाऊ॥ 5॥
जौलौं कर डोले पगु चालै, तौलौं आश न कीजे॥ 6॥
कहहिं कबीर जेहि चलत न दीसे, तासु बचन का लीजे॥ 7॥

शब्दार्थ—हंसा=हंस, जीव। कुहिया=कत्ल किया। गइया=माया। बछरुवै=बछड़ा, जीव। घर-घर=घट-घट, हर दिल में। सावज=पशु, जिसका शिकार किया जाये, मन। पारथ=पारधी, शिकारी, जीव। ओटा=परदा, सहारा। पानी=जल, शीतल आत्मा। भुँभरी=तप्त बालुका, मनोवृत्ति। धूरि=धूल, कल्पनों। धरती=बुद्धि। बादर=बादल, जीव। भीट=भीटा, टीला। पौराऊ=तैरने योग्य। हंस=जीव। ताल=शरीर। चहले=कीचड़, वासना। बिन्दा=बिंध गया, फंस गया। पाऊ=पैर, लक्ष्य।

भावार्थ—संशय की छूरी मनुष्य का वध करती है। आश्चर्य है कि गाय पीती है और बछड़ा दुहा जाता है। अर्थात माया जीव के ज्ञान का दोहन कर उसे निस्तेज बनाती है॥ 1॥ शिकार-पशु घर-घर में जाकर आखेट करता है और शिकारी भागकर किसी परदे की आड़ में छिपता है। अर्थात हर दिल में मन जीव का शिकार करने के लिए उस पर हमला करता है और जीव देवी-देवताओं का सहारा लेकर बचना चाहता है॥ 2॥ शीतल पानी में तप्त बालुका पीड़ित होकर तलमला उठी और धूल में तरंगें उठने लगीं। अर्थात शीतल

आत्मा के साथ रहते हुए भी मनोवृत्ति अज्ञानवश निरन्तर जल रही है, और धूलवत तुच्छ कल्पनों तरंगें मार रही हैं॥ 3॥ धरती बरसती है, बादल भीगते है और ऊंचे टीले भी पानी में डूब जाने के कारण तैरने योग्य हो गये हैं। अर्थात कल्पनाओं का आधार बुद्धि है वह नाना कल्पनाओं की वर्षा कर रही है और जीव उसमें उमड़-घुमड़कर भीग रहे हैं। इसमें बड़े-बड़े ज्ञानी-मुनि भी डूब गये हैं, अतः उनसे भी हटने योग्य हो गया है॥ 4॥ पहले हंस उड़ गये, तब ताल सूख गया, परन्तु हंस के पैर ताल के कीचड़ में फंस गये। अर्थात जीव शरीर को छोड़कर चल दिया, तब शरीर मुरझा गया। परन्तु जीव का लक्ष्य वासना में फंस गया॥ 5॥ जब तक हाथ-पैर चलते हैं तब तक किसी की आशा मत करो। अथवा जीवनपर्यन्त आशा-वासना से मुक्त रहो॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जो माया जीव के साथ में अंततः नहीं चलती, बात से भी उसका आदर क्यों किया जाये ! अथवा जो व्यक्ति पवित्र रहनी में नहीं चलता उसकी बातों पर कैसे विश्वास किया जाये !॥ 7॥

व्याख्या—इस मानव-जीव में विवेक के बीज हैं। यह मूलतः विवेकी है। इसलिए सद्गुरु ने इसे नीर-क्षीर-विवेकी के प्रतीक हंस शब्द से व्यक्त किया है। परन्तु दुख यह है कि इसने अपने विवेक का उद्घाटन नहीं किया। इसलिए यह संशय की छूरी से निरन्तर रेता जा रहा है। संशय कहते हैं सन्देह एवं अनिश्चय को। मैं शरीर हूं कि शरीर से भिन्न हूं, अविनाशी हूं कि नाशवान हूं, जड़ हूं कि चेतन हूं, किसी का अंश हूं कि स्वतः हूं, अपूर्ण हूं कि पूर्ण हूं, बाहर से कुछ मिलकर तृप्ति होगी कि मैं स्वभावतः तृप्त हूं इत्यादि आध्यात्मिक संशय हैं। जगत स्वतः स्वचालित है कि इसका कोई चलाने वाला है, देवी-देवता, भूत-प्रेत, मंत्र-तंत्र सत्य हैं कि झूठे हैं आदि आधिदैविक संशय हैं। जीवन का गुजर कैसे होगा, जीवन-निर्वाह का धंधा बना रहेगा कि छुट जायेगा, परिवार के लोग एवं मित्रजन साथ देंगे कि धोखा दे देंगे, शरीर के रोगी एवं बूढ़ा होने पर इसकी सेवा कौन करेगा इत्यादि आधिभौतिक संशय है। उपर्युक्त संशयों की छूरी से मनुष्य सदैव रेता जा रहा है।

इसलिए गाय पीती है और बछड़ा दुहा जा रहा है। यहां कबीर साहेब की प्रसिद्ध उलटवांसी शैली का प्रयोग है। संसार में देखा जाता है कि बछड़ा गाय का दूध पीता है और गाय दुही जाती है। परन्तु यहां उलटा है, गाय ही पीती है और बछड़ा दुहा जा रहा है। गाय माया है, बछड़ा जीव है। माया जीव को पीती है, अर्थात माया जीव का शोषण करती है और जीव के ज्ञान-विवेक का दोहन हो रहा है। माया में आसक्त होकर संसार के नर-नारी आध्यात्मिक शक्ति से निस्तेज होते हैं। संशय एवं अज्ञान से घायल मनुष्य विषयासक्ति

रूपी माया का गुलाम होता है। वह निरन्तर विषयासक्ति में पड़कर निचुड़ जाता है।

"घर घर सावज खेले अहेरा, पारथ ओटा लेई।" सावज वह पशु है जिसका शिकार किया जाता है जैसे हिरन, खरगोश आदि और पारथ पारधी का टुटा हुआ रूप है जिसका अर्थ है शिकारी। संसार में शिकारी पशुओं का शिकार करने के लिए वन में घूमता है और पशु भाग-भागकर तथा झुरमुट की आड़ लेकर बचने की चेष्टा करते हैं। परन्तु यहां उलटा है। यहां वन में आखेट नहीं खेला जाता। यहां तो घर-घर में आखेट चलता है। वह घर है मनुष्य का हृदय। मन पशु एवं शिकार है, जिसे जीव शिकारी बनकर मार सकता है। परन्तु जीव के अविवेक से दशा उलटी हो गयी है। मन ही हर दिल में जीव पर हमला कर उसका शिकार कर रहा है। मन ही शिकारी बन गया तथा जीव शिकार। जीव मन के हमले से बचने के लिए देवी-देवताओं तथा अनेक काल्पनिक अवधारणाओं का आधार पकड़ता है, जो एक धोखा है। जीव को मन का ही अध्ययन करना होगा, मन को समझना होगा और विचारपूर्वक मन को शिकार बनाना होगा।

"पानी माहिं तलफि गई भुँभरी, धूरि हिलोरा देई।" भुँभुरी कहते हैं धूप से गरम धूल या बालू को। गरम बालू शीतल पानी में पड़ने से शीतल हो जाती है, परन्तु यहां तो वह और भी तलमला उठी। मनुष्य की शुद्ध आत्मा स्वभाव से शीतल है, परन्तु उसमें रहकर भी मनोवृत्ति जलती रहती है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य का चेतन स्वरूप स्वरूपतः शुद्ध है। शुद्ध होने से मौलिक रूप में शीतल, शांत एवं कल्याणमय है, परन्तु इस प्रकार जीव को स्वरूपज्ञान नहीं है। इसलिए उसकी मनोवृत्ति अनेक चिंताग्नि में निरन्तर जलती है। "धूरि हिलोरा देई" यहां मन की कल्पनों धूल हैं। मन में तुच्छ कल्पनों उठती रहती हैं। बूढ़ा आदमी भी बाइस वर्ष का नौजवान होने की, निर्धन धनी होने की तथा अकिंचन सम्पन्न होने की कल्पना करता रहता है। ये कल्पनों कितनी तुच्छ हैं। इसलिए सद्गुरु ने इन्हें धूल शब्द से याद किया है। मन में अनहोनी कल्पनों उठती हैं तो मानो धूल में तरंगें उठ रही हैं।

"धरती बरसे बादर भीजे, भीट भये पौराऊ।" संसार में बादल बरसते हैं और धरती भीगती है। परन्तु यहां इसमें भी उलटा है। यहां धरती बरसती है तथा बादल भीगते हैं। जैसे धरती सबका आधार है, वैसे बुद्धि ही कल्पनाओं एवं कर्मों का आधार है। बुद्धि शुद्ध हो तो उससे विवेकज्ञान उत्पन्न होने में सहायता मिलती है, और यदि बुद्धि अशुद्ध है तो उससे अनेक बुरी बातें पैदा होकर जीव उसी में भीग जाता है। अतएव अशुद्ध बुद्धि रूपी

धरती अनेक अज्ञान एवं कल्पनाओं की बारिश कर रही है और जीव रूपी बादल उसमें भीग रहे हैं। अभिप्राय है कि मनुष्य अपनी दुर्बुद्धि में तरबतर है। "भीट भये पौराऊ" भीट मिट्टी के ऊंचे टीले को कहते हैं। पानी इतना बरसा कि ऊंचा भीटा भी उसमें डूब गया। वह भी तैरने योग्य हो गया। अभिप्राय है कि दुर्बुद्धि की बारिश में बड़े-बड़े कहलाने वाले भी डूब जाते हैं, इसलिए दुर्बुद्धिग्रस्त बड़े कहलाने वालों से भी सावधान रहने की, उनसे बचे रहने की आवश्यकता होती है। आदमी विद्या, धन, नाम आदि में बड़ा है कि छोटा यह नहीं देखना चाहिए, किन्तु यह देखना चाहिए कि वह विवेकसम्पन्न है या अविवेकी। सदैव अविवेकियों से दूर तथा विवेकवान के हुजूर रहना चाहिए।

"हंस उड़ाने ताल सुखाने, चहले बिन्दा पाऊ।" संसार में ताल सूखने पर हंस उड़ जाते हैं, परन्तु यहां हंस के उड़ने पर ताल सूखता है। अर्थात जब जीव शरीर छोड़कर चल देता है, तब शरीर तुरन्त मुरझा जाता है। हंस के उड़ जाने के बाद उसके पैर ताल के कीचड़ में फंस जाने की बात भी अचरज भरी है। परन्तु समझने में बिलकुल ठीक है। जीव शरीर को छोड़कर चल देता है, परन्तु अपने अज्ञानवश उसका लक्ष्य शरीरासक्ति में फंसा रहता है। अर्थात शरीर छोड़ते समय वह शरीर की वासना को नहीं छोड़ पाता, किन्तु वासना को लेकर जाता है। उसका लक्ष्य रूप पैर मानो देहाध्यास के कीचड़ में फंसा हुआ ही रहता है। जिंदगी की यही तो सबसे बड़ी हार है। शरीर तथा संसार को छोड़ने के पहले ही इनकी वासनों तथा मोह छोड़ देना जीवन्मुक्ति है। यही जीवन में विजय है। वासनाहीन जीवन ही निर्भय, स्वस्थ, प्रसन्न एवं अनन्त शांति का भंडार होता है। परन्तु मनुष्य इस दिशा में न चलकर वासनाओं में भटक जाता है।

"जौलौं कर डोले पगु चालै, तौलौं आश न कीजे।" इस पंक्ति को दो ढंग से समझना चाहिए। पहला ढंग है कि मनुष्य को चाहिए कि जब तक अपना बल चले वह दूसरों के सहारे की आशा न करे, सब समय स्वावलम्बी बने रहने का प्रयत्न रखे। पराश्रित होना अपने आप को बेच देना है। स्वावलम्बन सच्चा सुख है तथा यही उन्नति का पथ है। यह अलग बात है कि आदमी सामाजिक प्राणी है, उसे दूसरों को सहारा देना पड़ता है तथा दूसरों से लेना पड़ता है। इससे कोई बच नहीं सकता। परन्तु इसका अर्थ परावलंबी होना नहीं है। यह तो आपसी लेन-देन है। किसी के ऊपर निर्भर हो जाना परावलंबी होना है। इससे बचना चाहिए। साहेब कहते हैं कि तुम अपनी जिम्मेदारी खुद सम्हालो, किसी पर बोझ न बनो।

उक्त पंक्ति को दूसरे ढंग से ऐसा समझना चाहिए कि जब तक हाथ-पैर चलते हैं, अर्थात जब तक जीवन है, संसार की सारी आशा-वासनाओं को

छोड़कर रहो। पूरा जीवन वासनाहीन होकर बिता दो, तो यही तुम्हारा सर्वोच्च पद पर पहुंच जाना होगा। जीवन्मुक्त होने के लिए यही तो करना है कि जीवन भर आशा-वासना छोड़कर जीना, यह बड़ा सरल है। इसमें कोई कठिनाई नहीं। छूटने वाली चीजों की ही तो वासना छोड़नी है। जो अंततः छूटने वाला ही है उसकी आशा-वासना पहले से छोड़ देने पर यदि अमृत पद मिलता है तो यह काम समझदार के लिए बड़ा ही सुकर है। हम चाहे आशा-वासना छोड़ें या न छोड़ें, शरीर तथा संसार छूटेंगे ही, तो क्यों न उनकी आशा-वासना पहले छोड़ दें, जिसका फल सदा आनंद है—"सो जन सदा अनन्दा।"

"कहहिं कबीर जेहि चलत न दीसे, तासु बचन का लीजे।" सद्गुरु कहते हैं कि तन, धन, परिवार, मान-बड़ाई एवं समस्त मायावी पसारा तुम्हारे साथ चलने वाले नहीं हैं, फिर इनकी बात क्या ली जाये ! अर्थात बात से भी इनकी क्या प्रशंसा की जाये ! जो साथ में रहने वाला नहीं है, उसका मोह त्यागना ही बुद्धिमानी है। इस पंक्ति को दूसरे ढंग से इस प्रकार समझा जा सकता है कि जो पवित्र आचरणों एवं अच्छी रहनी में नहीं चलता उसकी बातों का क्या महत्त्व है ! आचरणहीन कथक्कड़ी की संगत मत करो, किन्तु आचरण-सम्पन्न, रहनी के धनी संत-पुरुषों की संगत करो जिससे तुम्हें सत्प्रेरणा मिलती रहे।

यह पूरा शब्द उलटवांसी में व्यंग्यात्मक ढंग से कहा गया है जो बड़ा ही मार्मिक है। सद्गुरु ने इस शब्द के शुरू में ही मनुष्य को हंस कहकर उसकी मौलिक विवेकसंपन्नता की याद करायी है, परन्तु यह बताया है कि इस विवेक को न जगाने से ही मनुष्य भटक गया है और इसी के परिणाम में यह विपरीत दशा हो गयी है, बछड़े को गाय ही पी गयी, शिकारी को शिकार ही मार दिया, भुंभुरी पानी में ही तलफ गयी, धूल तरंगें मारने लगीं, धरती ने ही बरसकर बादलों को भिगा दिया, हंस के उड़ जाने पर भी उसके पैर कीचड़ में फंस गये। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि परावलंबन छोड़ो, संसार की आशा-वासना छोड़ो, और अपने विवेक को जाग्रत कर अपना कल्याण करो।

भ्रामक गुरुओं का परदाफाश एवं युगों का ऐतिहासिक अध्ययन

शब्द-32

हंसा हो चित चेतु सकेरा, इन्ह परपंच कैल बहुतेरा॥ 1॥
पाखण्ड रूप रचो इन्ह तिरगुण, तेहि पाखण्ड भुलल संसारा॥ 2॥
घर के खसम बधिक वै राजा, परजा क्या धौं करै विचारा॥ 3॥

भक्ति न जाने भक्त कहावै, तजि अमृत विष कैलिन सारा॥ 4॥
आगे बड़े ऐसेहि बूड़े, तिनहुँ न मानल कहा हमारा॥ 5॥
कहा हमार गाँठि दृढ़ बाँधो, निशि बासर रहियो हुशियारा॥ 6॥
ये कलि गुरु बड़े परपंची, डारि ठगौरी सब जग मारा॥ 7॥
वेद-कितेब दोउ फन्द पसारा, तेहि फन्दे परु आप बिचारा॥ 8॥
कहहिं कबीर ते हंस न बिसरे, जेहिमा मिले छुड़ावनहारा॥ 9॥

शब्दार्थ—सकेरा=जल्दी। इन्ह=भ्रामक गुरुओं ने। पाखण्ड=छल, दिखावा, बनावटी। खसम=मालिक। धौं=भला। आगे=भूतकाल के। बिसरे=भूलना।

भावार्थ—हे विवेकवान मानव! तू शीघ्र सावधान हो जा। इन वंचक गुरुओं ने अनेक प्रकार के धोखे का जाल फैला रखा है॥ 1॥ इन्होंने छलावा का रूप त्रिगुण कर्मकांड खड़ा किया है, इस छलावा में सारा संसार भूल गया है॥ 2॥ घर का मालिक और देश का राजा यदि बधिक बन जाये तो बेचारे परिवार तथा देश के लोग क्या कर सकते हैं! इसी प्रकार यदि गुरु लोग ही जनता को धोखे में फंसाते हों तो प्रजा की दशा क्या होगी, यह सहज समझा जा सकता है॥ 3॥ ये तथाकथित गुरु लोग भक्ति नहीं जानते, परन्तु भक्त कहलाते हैं। इन्होंने आत्मज्ञान का अमृत छोड़कर अंधविश्वास रूपी विष को ही सत्य मान लिया है॥ 4॥ भूतकाल के भी कितने बड़े-बड़े कहलाने वाले इसी प्रकार धोखे की धारा में डूब चुके हैं, क्योंकि उन्होंने भी समसामयिक सत्यपथ-प्रदर्शकों की राय नहीं मानी थी॥ 5॥ मेरी बातों को अपने पल्ले मजबूती से बांध लो और इन बंचकों से रात-दिन सावधान रहो॥ 6॥ ये कलियुगी गुरु बड़े जालसाज हैं, इन्होंने ठगाई विद्या का जाल डालकर सारे संसार को फंसा लिया है॥ 7॥ इन्होंने वेद और किताब से सार नहीं लिया है, किन्तु उनके दो जाल फैला रखे हैं जिनमें दूसरों को फंसाते हैं, और ये बेचारे स्वयं भी उनमें उलझे हैं॥ 8॥ कबीर साहेब कहते हैं कि वे विवेकवान इनमें नहीं भूलेंगे जिनको इन बंधनों से छुड़ाने वाले सच्चे गुरु मिल गये हैं॥ 9॥

व्याख्या—इस पूरे पद का भाव भ्रामक गुरुओं को दृष्टिगत रखते हुए कहा गया है जो अत्यन्त विदग्धात्मक है। गुरु के नाम पर पाखण्ड करने वाले समसामयिक लोगों को देखकर कबीर साहेब का मन कितना पीड़ित हुआ होगा यह इन-जैसे पदों से सहज समझा जा सकता है। उस समय आज-कल से भी ज्यादा पाखण्ड था। जब आज इस वैज्ञानिक युग में हम देखते हैं कि नकली गुरुओं की भरमार है और वे कर्मकांड, अंधविश्वास, मंत्र-तंत्र तथा झूठे आश्वासनों में जनता को फंसाकर उनका वंचन करते हैं तो कबीर साहेब

के काल में तो यह सब अधिक ही रहा होगा। परन्तु ध्यान रहे, कबीर साहेब जैसे संतों की चेतावनी आज भी इस विषय में उतनी ही प्रासंगिक है जितनी तब थी; क्योंकि आज भी धर्म के नाम पर लोगों को धोखे में रखकर उनसे अपना भौतिक स्वार्थ साधने वाले सक्रिय हैं।

कबीर साहेब मनुष्य को हंस कहकर उसके मौलिक विवेक की याद दिलाते हैं और कहते हैं कि तुम शीघ्र सावधान हो जाओ। इन पाखण्डी गुरुओं ने तुम्हें फंसाने के लिए बड़ा-बड़ा प्रपंच फैला रखा है। कहीं तो ये अपने आशीर्वाद मात्र से तुम्हें पुत्र, धन, निरोग्यता, विजय, पद, सम्मान सब कुछ दे देने का झांसा करते हैं। कहीं मंत्र-तंत्र के जाल में फंसाकर तुम्हें भोग-मोक्ष देने के लिए तैयार बैठे हैं। कहीं तथाकथित अवतार या सिद्ध बनकर तुम पर हावी होना चाहते हैं। कहीं चमत्कार की जालसाजी कर तुम्हें छलना चाहते हैं। इसलिए ऐसे वंचकों से सदैव सावधान रहो।

"पाखण्ड रूप रचो इन्ह तिरगुण, तेहि पाखण्ड भुलल संसारा।" इन्होंने त्रिगुणात्मक कर्मकांड का छलावा रूप खड़ा किया है जिसमें संसार के लोग भूल गये हैं। यह यज्ञ करो तो पुत्र की प्राप्ति होगी, यह यज्ञ करो तो राज्य की प्राप्ति होगी, यह यज्ञ करो तो शत्रु का नाश होगा, यह यज्ञ करो तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी। इस ढंग के बहुत झांसे हैं जिनमें जनता भटक गयी है। निर्दोष नवजात शिशु को सत्तइसा एवं मूलगड़ंत आदि काल्पनिक भयंकर दोषों में बताकर उनके निवारण के लिए पूजा-पाठ का चक्कर डालते हैं और जनता से धन ऐंठते हैं। किसी के ऊपर अन्य प्रकार की आपत्ति-विपत्ति बताकर उसके निवारण के लिए मन्त्र-जप तथा दक्षिणा का चक्कर डालकर उन्हें बेवकूफ बनाते हैं।

"पाखण्ड रूप रचो इन्ह तिरगुण" त्रिगुण का अर्थ है सत, रज एवं तम गुण। इसका तात्पर्य हुआ मायावी। जितने कर्मकांड हैं सब त्रिगुण में लिप्त एवं मायावी हैं। इसके विषय में गीता में श्रीकृष्ण के मुख से भी कहलवाया गया है। "श्रीकृष्ण गोपालक थे, हिंसामय यज्ञ के विरोधी थे। उन्होंने इंद्र का विरोध किया था।"[1] इन सब बातों को मन में रखकर गीताकार ने श्रीकृष्ण का स्वर गीता में उभारा है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

"हे अर्जुन ! जो अज्ञानी हैं, वेदों के शब्दों में आसक्त हैं, जो यह कहते हैं कि इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो विषय-अभिलाषी हैं और स्वर्ग

---

1. ऋग्वेद 8/85/13-15। जहां खिल्य भाग जुड़ा है, वहां यह 96वां सूक्त है। सर राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग 1, पृ. 79, सन् 1966 ई.।
अभिलाषदास, गीतासार, आलोचना भाग, सन्दर्भ : क्रांतिकारी महाराज कृष्ण।

को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, वे इस प्रकार की सेमलफूल-जैसी दिखाऊ वाणियों को कहते हैं जिनका निदान कर्मों के फल में पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है और जो भोग तथा मायावी शक्तियों की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की विशेष कर्म-विधियां बताती हैं। उपर्युक्त वेदवाणी द्वारा जिनकी बुद्धि मारी गयी है और जो भोग तथा मायावी वस्तुओं में आसक्त हैं, उनकी निश्चयात्मक बुद्धि एकाग्रता में स्थित नहीं होती। वेदों का सम्बन्ध तीनों गुणों की क्रियाओं से है। अतएव हे अर्जुन! तू त्रिगुणात्मक प्रकृति से मुक्त हो जा और दुनियादारी झगड़ों से स्वतन्त्र होकर नित्य सत्य में स्थित, भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति और रक्षा की इच्छा से निवृत्त एवं स्वरूपमग्न हो जा।"[1] मुंडक उपनिषद् में यज्ञ को टूटी नावका बताया गया है जो अपने पुरोहित तथा यजमान को लेकर डूबती है।[2] यज्ञ एवं कर्मकांड से सब कुछ पाने की आशा रखने वालों को मूर्ख, मिथ्या पंडित तथा अंधे को अंधा चलाने वाला बताया गया है।[3]

सद्गुरु कहते हैं कि यह त्रिगुण कर्मकांड का जाल पाखण्डरूप अर्थात छलावारूप है। इससे कुछ होने-जाने वाला नहीं है। परन्तु "तेहि पाखण्ड भुलल संसारा" इस पाखण्ड में संसार के लोग भूले हैं; क्योंकि गुरुओं ने जनता को कर्मकांड तथा पूजा-पाठ के बल पर सारी ऋद्धि-सिद्धि देने का झांसा दिया है।

"घर के खसम बधिक वै राजा, परजा क्या धौं करै बिचारा।" घर का मालिक तथा देश का राजा बधिक बन जाये तो परिवार तथा देश के लोग बेचारे क्या करेंगे! यही दशा गुरुओं की है। गुरु ही कल्याणकर्ता कहलाता है और यदि वही समाज को धोखे में डालकर अपना उल्लू सीधा करता हो तो समाज का कल्याण कैसे होगा!

कल्पित जड़ देवी-देवताओं की पूजा करके लोग कहते हैं कि हम भक्ति करते हैं। साहेब कहते हैं कि यह भक्ति नहीं है। अमृत और विष दो हैं।

---

1. गीता 2/42-45।
2. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
   एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥ (मुंडक उपनिषद् 1/7)
   अर्थात यह यज्ञ रूपी बेड़ा निश्चित ही कमजोर है। इसमें यज्ञ कराने वाले ब्रह्मा, होता, उद्गाता एवं अध्वर्यु ये चार तथा इनके तीन-तीन सहायक और यज्ञ करने वाले यजमान दोनों प्राणी— इन अठारहों के हीन कर्म हैं। मूर्ख लोग इसी को कल्याणकारी मान लेते हैं जबकि इससे जरा-मृत्यु तथा जन्म-मरण की ही प्राप्ति होती है।
3. अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः।
   जंघन्यमानाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ (मुंडक उपनिषद् 1/8)
   अज्ञान में पड़े हैं, परन्तु अपने आप को बहुत बड़ा पंडित मानते हैं। ऐसे मूर्ख लोग तो जैसे अन्धा अंधे को चलाये वैसे एक दूसरे को ठेलते हुए चलते हैं तथा ठोकरें खाते हैं।

अमृत का ग्रहण तथा विष का त्याग भक्ति है। अमृत है व्यक्ति की अमर आत्मा और विष है जड़ासक्ति। लोग अपनी आत्मा की अवहेलना करते हैं और जड़ाध्यास को ग्रहण करते हैं तो यह कौन-सी भक्ति है! जिसके परिणाम में बाह्य जड़ भास-अध्यास का त्याग होकर निजस्वरूप चेतन में स्थिति हो, वही सच्ची भक्ति है और जिसमें साधक निजस्वरूप से बे-भान होकर बाहरी कल्पनाओं में ही भटकता है वह भक्ति नहीं कही जा सकती। इसीलिए सद्गुरु ने कहा "भक्ति न जाने भक्त कहावै, तजि अमृत विष कैलिन सारा।" निज चेतन स्वरूप अमृत है और निजस्वरूप से जो कुछ अलग है वह विजाति है, जड़ है एवं विष है। भूले गुरुओं ने अमृतरूप निजस्वरूप का विचार त्याग कर दिया है, और केवल जड़ देवी-देवताओं तथा परोक्ष मान्यताओं में स्वयं उलझ रहे हैं तथा दूसरों को उलझा रहे हैं, जो विषवत है। भक्ति का शाब्दिक अर्थ है—वियोजन, पृथक्करण एवं विभाजन। इसका अर्थ है विवेक द्वारा अपने आप को जड़देहादि से अलग समझकर असंगभाव में स्थित हो जाना। यही सच्ची भक्ति है।

"आगे बड़े ऐसेहि बूड़े, तिनहुँ न मानल कहा हमारा।" पहले के बड़े-बड़े लोग भी इसी तरह निजस्वरूप बोध छोड़ विजाति मान्यताओं में डूबकर जीवन खो दिये हैं। उन्होंने भी मेरी बातें नहीं मानी। यदि इसी प्रकार सीधा अर्थ किया जाये तो पौराणिक कबीरपंथियों को अपनी मान्यता स्थापित करने में सरलता होगी कि कबीर साहेब सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में क्रमशः सत्सुकृत, मुनींद्र, करुणामय और कबीर—इन चार नामों से आते और जनता को उपदेश करते रहते हैं। परन्तु जहां कबीर गुरुओं के पाखण्ड का तीव्र रूप से खंडन करते हैं वहां वे स्वयं अपने लिए पाखंड की बात कैसे कर सकते हैं! कबीर का पाखंड से तो कोई समझौता ही नहीं हो सकता है। कबीर पाखंड के घोर विरोधी हैं। अतएव "तिनहुँ न मानल कहा हमारा" में 'हमारा' शब्द पूर्व के यथार्थ गुरुओं के लिए है। कबीर साहेब कहना चाहते हैं कि हम-जैसे विचारक पहले भी रहे, लोग उनकी बातों पर न ध्यान देकर जड़ एवं परोक्ष मान्यताओं में भटकते रहे।

पहले भी स्वतन्त्र विचारक थे। कपिल, कणाद, बुद्ध, महावीर आदि स्वतन्त्र चिंतक थे ही; वेद, उपनिषद्, शास्त्र आदि में जगह-जगह स्वतंत्र चिंतन के बीज मिलते हैं। हम पीछे उपनिषद् के दो उदाहरण देख ही लिये हैं। महर्षि कपिल के विचार व्यक्त करते हुए श्री ईश्वरकृष्ण अपनी सांख्यकारिका में लिखते हैं—"दृष्ट (लोक) के समान आनुश्रविक (सुने हुए वेदवचन=कर्मकांड) भी अशुद्धि, क्षय तथा अतिशय (विषमता) से पूर्ण होने

के नाते दुखनिवृत्ति करने में असमर्थ हैं। उसके विपरीत 'व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ' अर्थात दृश्य जड़ जगत, अदृश्य जड़ प्रकृति एवं ज्ञाता चेतन पुरुष का विवेकज्ञान दुखनिवृत्ति करने में समर्थ है।"[1] इसका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे संसार के सारे भोग नाशवान हैं, वैसे वेदवचनों द्वारा सुने गये सारे स्वर्गसुख भी नाशवान हैं। उन्हें पाने के लिए यज्ञ करने होते हैं जिनमें पशुवध होता है जो अशुद्धि है। स्वर्ग में स्थिति सातिशय अर्थात विषम रहती है। वहां भी कोई बड़ी बिल्डिंग वाला तथा कोई छोटी बिल्डिंग वाला है। अतः वहां भी हर्ष-शोक, ईर्ष्या-द्वेष लगे ही रहते हैं। अन्त में उनका छूट जाना तो निश्चित ही है। ये तो जब स्वर्ग हो तब की बात है, वस्तुतः स्वर्ग ही काल्पनिक है। इसके उलटे सांख्यविचार में तो प्रकृति-पुरुष का विवेक है जिसमें पुरुष प्रकृति से अपने आप को अलग कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसके लिए अगली कारिका है—

"जब साधक यह समझ लेता है कि अव्यक्त=अदृश्य प्रकृति तथा व्यक्त=दृश्य कार्य जगत से ज्ञ=ज्ञाता चेतन पुरुष सर्वथा पृथक है तब 'नास्मि, न मे, नाहम्' अर्थात न मैं (क्रियावान) हूं, न मेरा (भोक्तृत्व) है और न मैं (कर्ता) हूं—जब इस प्रकार का पूर्ण अभ्यास हो जाता है, तब कुछ बाकी नहीं रहता है। तब सम्पूर्ण भ्रमों का अन्त होकर विशुद्ध केवल-असंगत्व ज्ञान की उत्पत्ति होती है।"[2] इससे अधिक स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति के विषय में और क्या कहा जा सकता है! महर्षि कपिल का मूल ग्रन्थ तो आज उपलब्ध नहीं है; उनके नाम पर प्रचलित सांख्य सूत्र पीछे की किसी की रचना मानी जाती है। सांख्यदर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ दो हजार वर्ष से श्री ईश्वरकृष्ण की रचना सांख्यकारिका ही मानी जाती है और उसमें पुरुष (चेतन) के लिए कहीं भी व्यापक तथा इसका पर्यायवाची शब्द नहीं कहा गया है। अतएव पहले भी स्वतन्त्र चिंतक थे।

भुलक्कड़ एवं स्वार्थी गुरुओं से अत्यन्त सावधान करते हुए सद्गुरु जोर से कहते हैं—"कहा हमार गाँठि दृढ़ बाँधो, निशि बासर रहियो हुशियारा।" हे कल्याणार्थी, हमारी बातें अपने मन में पक्की कर लो। इन भ्रामक गुरुओं से रात-दिन सावधान रहो। ये तुम्हें फंसाने के लिए भयंकर जाल बिछाकर उसमें मोहक चारा डाल रखे हैं। ये कलियुगी अर्थात धोखाधड़ी करने वाले गुरु बड़े

---

1. दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
   तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥ (सांख्यकारिका, 2)
2. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
   अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्। (सांख्यकारिका, 64)

प्रपंची हैं, झमेला बढ़ाकर फंसाने वाले हैं। इन्होंने ठगौरी जाल बिछाकर सबको फंसा रखा है।

सद्गुरु ने यहां कहा है—"ये कलिगुरु बड़े परपंची"। अतः हम यहां 'युग' पर थोड़ा विचार कर लें। भारत की सर्वाधिक पुरानी पुस्तक ऋग्वेद है। उसमें कम-से-कम 33 (तैंतीस) बार युग शब्द का प्रयोग हुआ है; परन्तु उनके अर्थ कहीं बैलों को जोतने का बना काष्ठ का 'जुआ', कहीं अल्पकाल की अवधि, कहीं एक पीढ़ी, कहीं चार-पांच वर्षों की अवधि, कहीं करीब पांच हजार वर्ष की अवधि माने गये हैं, यद्यपि ये सब अर्थ भी बहुत निर्भ्रांत नहीं हैं। इतना पक्का है कि ऋग्वेद में सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग नाम नहीं आये हैं। वेदों में सत्युग का पर्यायवाची शब्द कृत तथा कलि आये हैं परन्तु ये जुआ में पासे फेंकने के अर्थ में हैं।[1] ऐतरेय ब्राह्मण में चार युगों के नाम व्यावहारिक रूप में आये हैं—"सोने वाला आदमी कलि है, जग जाने वाला द्वापर, उठ जाने वाला त्रेता तथा चलने वाला सत्युग है।"[2]

भारतरत्न डॉ. पांडुरंग वामन काणे लिखते हैं—"वेदांगज्योतिष में भी 'युग' शब्द पांच वर्ष की अवधि का द्योतक है (पञ्चसंवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम्)। प्राचीन पितामह सिद्धांत के मत में वराहमिहिर की पंचसिद्धांतिका (21/1) में 'युग' का अर्थ होता है सूर्य और चन्द्रमा के पांच वर्ष (रविशशिनोः पञ्चयुगं वर्षाणि पितामहोपदिष्टानि)। वही अर्थ शांतिपर्व (11/38) में भी है। निरुक्त (1/20) ने प्राचीन ऋषियों और पश्चात्कालीन ऋषियों में अन्तर इस प्रकार व्यक्त किया है—प्राचीन ऋषि साक्षात्कृतधमां (धर्म के प्रत्यक्षदर्शी) थे और उन्होंने असाक्षात्कृतधर्म वाले ऋषियों को शिक्षा द्वारा मंत्र ज्ञान दिया। किन्तु इसने न तो चारों युगों के सिद्धान्त का वर्णन किया है और न किसी प्रकार का संकेत ही किया है। गौतम (1/3-4) एवं आपस्तंब धर्मसूत्र (2/6/13/7-9) ने स्पष्ट कहा है कि प्राचीन ऋषियों में धर्मोल्लंघन एवं साहस के कार्य देखे गये हैं, किन्तु आध्यात्मिक महत्ता के कारण वे पापी नहीं हो सके, किन्तु पश्चात्कालीन मनुष्य को आध्यात्मिक

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड 2, पृ. 982।
2. कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
   उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन॥ (ऐतरेय ब्राह्मण 33/3)
   मनुस्मृति में—सत्युग में तप, त्रेता, द्वापर में यज्ञ तथा कलि में केवल दान महर्षियों ने प्रधान धर्म कहा है। यथा—
   तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
   द्वापरे यज्ञमेवाहुदनिमेकं कलौ युगे॥ (मनुस्मृति 1/86)

शक्ति दौर्बल्य के कारण वैसा नहीं करना चाहिए, नहीं तो वह कष्ट में पड़ जायेगा। यहां पर स्पष्टतः प्राचीन ऋषियों एवं पश्चात्कालीन ऋषियों के आध्यात्मिक गुणों के विषय में अन्तर बताया गया है, किन्तु चारों युगों के नामों अथवा उनके सिद्धान्त के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। आपस्तंब धर्मसूत्र (1/2/5/4) का कहना है कि आगे के मनुष्यों में नियमातिक्रमण के कारण ऋषि उत्पन्न नहीं होते (तस्मादृषयोऽवरेषु न जायन्ते नियमातिक्रमात्)। अतः ऐसा कहना संभवतः भ्रामक न सिद्ध होगा कि गौतम एवं आपस्तंब[1] के आरंभिक धर्मसूत्रों के समय में भी युग-सम्बन्धी सिद्धान्त का पूर्ण विकास नहीं हुआ था, यद्यपि दोनों ने यही कहा है कि वे पतन के युग में हैं और मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के उपरांत वाले ऋषि लोग निकृष्ट हैं।"[2] ऋग्वेद (10/10/10) में भी यम ने अपनी बहन यमी से कहा है कि आगे आने वाले काल में बहनें अयोग्य कर्म करेंगी। वस्तुतः युगों और कल्पों के सिद्धान्त का उदय ईसा पूर्व तीसरी-चौथी सदी में हो गया था और ईसा के बाद विकसित हो गया था।"[3] गुप्तकाल में इसका खूब प्रचलन हो गया था।

जब सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग का प्रचलन हो गया तब चारों के धर्म बताये गये। सत्युग में तप, त्रेता में दार्शनिक ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलि में केवल दान परमधर्म है।[4] कलि के इस परम धर्म दान को गोस्वामी तुलसीदास जैसे भक्त कवियों ने खींचकर नाम कर डाला—"कलियुग केवल नाम आधारा। सुमिरि सुमिरि भव होवहिं पारा।"

चारों युगों का निर्धारण हो जाने के बाद भी मनुस्मृति में कहा गया कि युग समय की कोई निश्चित अवधि नहीं है। राजा अपने आचरण से एक युग की विशेषताओं को दूसरे युग में बदल सकता है।[5] परन्तु महाभारत तथा पुराणों में कलिकाल को बड़ा बुरा कहा गया है और यह धारणा बढ़ती गयी कि कलियुग पतनयुग है। प्रायः सभी पुराणों में कलियुग का भयावह वर्णन

---

1. गौतम एवं आपस्तंब का काल 600 से 300 वर्ष ईसा पूर्व माना गया है।
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड 2, पृ. 983।
3. वही, खंड 2, पृ. 984।
4. मनुस्मृति 1/85/86; पराशर 1/22-23; शांतिपर्व 232/32-38।
5. कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
   राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥
   कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम।
   कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम॥ (मनु 9/301-302)
   अर्थात् सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग ये सब युग राजा के आचरण से होते हैं, अतएव राजा ही युग कहलाता है। राजा यदि उद्यमहीन होकर सोता है तो कलियुग है, उसके जगने पर द्वापर, कर्म में लगे हुए होने पर त्रेता तथा राजा यदि विचरणशील है तो सत्युग है।

किया गया। सारतः सबने यही कहा कि कलियुग में शूद्र तथा म्लेच्छ राजा होंगे, जाति सम्बन्धी कर्तव्यों का उलट-फेर हो जायेगा। वर्णधर्म मिट जायेगा, नास्तिकों का बोलबाला होगा और आदमी की नैतिकता घट जायेगी।

कबीर साहेब के जमाने में कलियुग शब्द का धार्मिक क्षेत्र में बड़ा बोलबाला था। अतः इस शब्द का प्रभाव कबीर साहेब पर भी पड़ा, और उन्होंने अपनी वाणियों में इस शब्द का प्रयोग 'कलि' कहकर किया। परन्तु उसके विषय में उनका अपना अर्थ था। कबीर साहेब के विचार से तो कलि का अर्थ था पुरोहितों का प्रपंच और दुर्बुद्धि, जिनके कारण मनुष्यों के बीच में भेदभाव तथा नाना अंधविश्वास फैले थे। इस शब्द में यही कहा गया "ये कलि गुरु बड़े परपंची"। आगे 44वें शब्द में कहा गया है "कलि में रहत अकेली" इत्यादि। कबीर साहेब ने बीजक में प्रायः यह नहीं कहा कि खराब समय आ गया या आने वाला है, बल्कि उन्होंने 'कलि' शब्द कहकर उसे दुर्बुद्धि-सूचक के रूप में लिया है।

"वेद-कितेब दोउ फन्द पसारा, तेहि फन्दे परु आप बिचारा।" यह पंक्ति बड़ी क्रांतिकारी है। वेद से अर्थ है हिन्दुओं का धर्मशास्त्र तथा कितेब से अर्थ है मुसलमानों का धर्मशास्त्र। धर्मशास्त्रों में श्रद्धा रखना तथा उनसे सत्य बातें लेकर अपना कल्याण करना तथा समाज को भी सत्प्रेरणा देना यह बड़ी अच्छी बात है। परन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता है। बल्कि कहा यह जाता है कि हमारा धर्मशास्त्र ईश्वर-वचन है। इसमें जो कुछ लिखा है इसका जो हम अर्थ करते हैं वही सत्य है। इसे जो नहीं मानता है वह नरकपंथी नास्तिक एवं काफिर है और जो इसे मानता है वही स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त करता है।

हिन्दू पण्डित कहते हैं कि हमारे धर्मशास्त्रों में लिखा है कि समाज का एक बड़ा हिस्सा शूद्र है, अछूत है, मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकारी नहीं है। ब्राह्मण आचरणहीन होने पर भी पूज्य है, शूद्र सद्गुणसम्पन्न होने पर भी पूज्य नहीं है। शूद्र तप करता हो, ऊंची गद्दी पर बैठकर उपदेश करता हो तो उसकी हत्या कर देनी चाहिए। ऐसा राम तथा बलराम[1] ने किया था। यही वैदिक मर्यादा है। यही प्रभु वचन है। शूद्र का तप, विद्या, संन्यास, मोक्ष किसी में अधिकार नहीं है। यही ईश्वर का आदेश है। शास्त्र ईश्वर-वचन है।

मुल्ला कहते हैं कि कुरान ईश्वर की वाणी है, मुहम्मद ईश्वर का पैगम्बर है तथा इसलाम ईश्वर का दिया हुआ दीन है। जो इन्हें नहीं

---

1. श्री राम द्वारा शंबूक-हत्या तथा बलराम द्वारा सूत-हत्या देखिये क्रमशः वाल्मीकीय रामायण उत्तरकांड, सर्ग 73 से 76 तक तथा श्रीमद्भागवत 10/78।

स्वीकारता वह काफिर है, नरकगामी है। कुर्बानी के नाम पर ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए पशुओं को मारना ईश्वर का आदेश है।

कबीर साहेब कहते हैं कि यह पण्डित-मुल्ला द्वारा फैलाया गया फन्दा है। यही वेद-कितेब का फंदा है। वेद का अर्थ यहां शब्दशः ऋक, यजु, साम तथा अथर्व नहीं है। सरल अर्थ है शास्त्र-प्रमाण का जाल, जिसकी आड़ में गुरुओं ने जनता को सदैव अंधकार में रखा है और अपना स्वार्थ साधा है। यहां पण्डित-मुल्ला की तरफ संकेत है। इसी प्रकार पादरी तथा अन्य मत के भ्रामक गुरुओं के लिए भी समझा जा सकता है। साहेब कहते हैं कि इन भ्रामक गुरुओं ने समाज को तो उलझाया ही है, और वे अबोधी तथा भ्रमित होने से स्वयं भी उसी में उलझे हैं। जो दूसरे के लिए खाई खोदेगा तो उसमें स्वयं भी गिरेगा ही।

"कहहिं कबीर ते हंस न बिसरे, जेहिमा मिले छुड़ावन हारा।" जिनको सच्चे सद्गुरु मिल गये हैं वे हंस भ्रामक गुरुओं के जाल में नहीं भूलेंगे एवं नहीं फंसेंगे। सच्चा गुरु वही है जो सारासार का पारखी है। जो महापुरुष, शास्त्र तथा परंपरा को आंख मूंदकर नहीं मानता, किन्तु हर जगह नीर-क्षीर विवक करता है, ऐसा अन्वीक्षक, पारखी एवं विवेकी सद्गुरु जिसको मिल जाते हैं वे हंस जीव धन्य हैं। वे भ्रामक गुरुओं के भ्रम-जाल से बच जाते हैं। जिनको विवेकी सद्गुरु मिल गये वे हंस जीव अपने स्वरूप का विस्मरण नहीं करते। वे भ्रम से हटकर सदैव आत्माराम में रमण करते हैं।

हंस को चेतावनी

शब्द-33

हंसा प्यारे सरवर तजि कहाँ जाय॥ 1॥
जेहि सरवर बिच मोतिया चुगत होते, बहु विधि केलि कराय॥ 2॥
सूखे ताल पुरइनि जल छाँड़े, कमल गये कुम्हिलाय॥ 3॥
कहहिं कबीर जो अबकी बिछुरे, बहुरि मिलो कब आय॥ 4॥

शब्दार्थ—हंस=जीव। सरवर=शरीर। मोतिया=मोती, विषय-भोग। केलि=क्रीड़ा, उपभोग।

भावार्थ—हे प्यारे हंस! तुम शरीर रूपी सरोवर को छोड़कर कहां जाओगे, इस पर कभी विचार किये हो?।।1॥ जिस शरीर-सरोवर के बीच में भोग रूपी मोती चुगते थे और अनेक प्रकार विषय-क्रीड़ा करते थे॥ 2॥ वह शरीर सूख गया। उसे बुढ़ापा ने जरजर कर दिया। चाम रूपी पत्ते ने रक्त रूपी जल को छोड़ दिया, और मुख-कमल, नेत्र-कमल, हृदय-कमल, कर-कमल

जहां तक कमलों की उपमा दी जा सकती है, वे सारे अंग सूखकर दुर्बल हो गये॥ 3॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे हंस, स्वरूपस्थिति किये बिना जब अबकी इस शरीर से बिछुड़ जाओगे तब कब पुनः इस साधनधाम में आकर मिलोगे। अतः आज ही कल्याण-कार्य कर लो॥ 4॥

व्याख्या—भारतीय परम्परा में जीवात्मा को हंस भी कहा जाता है। कबीर साहेब को हंस शब्द ज्यादा प्रिय है। हंस पक्षी नीर-क्षीर अलग करके केवल क्षीर लेकर नीर त्याग देता है। इस रूढ़ धारणा के कारण कबीर साहेब मानव-जीव को हंस शब्द से याद कर उसे विवेक जगाने के लिए प्रेरित करते हैं।

जीव इस शरीर में रहते-रहते भूलवश इसमें विवेक न जगाकर और साधना द्वारा वासनाओं से मुक्त होने का काम न कर इस शरीर ही में आसक्त हो जाता है। वह भूल जाता है कि यह देह केवल साधना करने के लिए थोड़े दिनों के लिए मिली है। वह समझ लेता है कि यह इन्द्रियों के भोगों को भोगने के लिए मिली है। वह याद ही नहीं करना चाहता कि इसे एक दिन छोड़ना है। जीव देह-इंद्रियों से मोक्ष-साधना न कर उनका विलासी बन जाता है। वह इस हाड़-चाम के पिंजरे में अत्यन्त मोह कर लेता है। करना था अनासक्ति की साधना और कर लिया मोह। अतएव मोक्ष-साधना तथा देह की मृत्यु की कभी न याद करने वाले तथा देहासक्ति में आकंठ डूबे हुए जीव को कबीर साहेब झकझोरकर जगाते हुए कहते हैं "हे प्यारे हंस, तुम इस शरीर-सरोवर को छोड़कर कहां जाओगे !"

सद्गुरु चाहते हैं कि जीव की तंद्रा भंग हो। वे पहली पंक्ति में दो मार्मिक चोट करते हैं। पहली बात कहते हैं कि तुम नीर-क्षीर विवेकी हंस हो। तुम्हें अपने आप को देह में से विवेक द्वारा उसी प्रकार अलग कर लेना चाहिए जैसे लोग मूंज में से सींक बेदाग निकाल लेते हैं या जैसे इमली के फल में से उसके बीज निकाल लेते हैं। अर्थात विवेक द्वारा तुम्हें अपनी आत्मा को हरदम देह से सर्वथा अलग समझना चाहिए। उनकी दूसरी मार है कि तुम शरीर छोड़कर कहां जाकर रहोगे, क्या इस पर कभी विचार किये हो? वस्तुतः तुम शरीराभिमान में डूबे हो। परन्तु समझ लो कि यह अचानक तुमसे अलग होकर जड़ प्रकृति में लीन हो जायेगा, तब तुम कहां रहोगे? किसमें विलास करोगे? तुम्हारा ठहराव उस समय कहां होगा जब यह देह बिखर जायेगी?

जो अपने चेतन स्वरूप को देह से सर्वथा अलग समझकर तथा इस गंदे, क्षणभंगुर एवं दुखपूर्ण शरीर का मोह सर्वथा त्यागकर अपने स्वरूप एवं

अपनी आत्मा में ही रमता है एवं अपने स्वरूप में ही स्थित होता है उसके लिए देह का रहना या न रहना बराबर हो जाता है। जो देह में रमता है उसे देह छोड़ने के बाद भटकना है। उसी से सद्गुरु का प्रश्न है कि तुम देह छोड़कर कहां जाओगे? परन्तु जो अपनी आत्मा में रमता है उसे भटकने का कोई प्रश्न ही नहीं। किसी की भी अपनी आत्मा उससे नहीं छूटती। अस्थायी घर में रहने से, घर टूट जाने पर रहने की समस्या उत्पन्न होती है। परन्तु जिसे ऐसा घर मिल जाये जो कभी न छूटने वाला हो, उसे भटकने का कोई प्रश्न ही नहीं है। निजस्वरूप चेतन ही ऐसा घर है जिसमें स्थित हो जाने पर कभी भटकना नहीं है। मूलतः विवेकवान मानव अपने विवेक को खोकर देह की आसक्ति में डूबा है, इसलिए सद्गुरु उसे जगाते हैं कि तुम देहाभिमान छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होओ।

हंस मानसरोवर में मोती चुगता है और क्रीड़ा करता है। मोती चुगने की बात एक प्रशंसा मात्र है। अर्थ है हंस मानसरोवर में यथेष्ट चारा चुगता है और आनंद-विहार करता है। यह रूपक हुआ। इसका अभिप्राय है कि जीव इस देह में इन्द्रियों के विषय भोगों को भोगता है और क्रीड़ा-विलास करता है। वह आंखों से रूप में ललकता है, जीभ से स्वाद में, नाक से गंध में, कान से शब्द में तथा त्वचा से स्पर्श में और मन से संकल्प-विकल्पों में डूबा रहता है। परन्तु यह सब इन्द्रियों का राग-रंग कब तक चलेगा? ये कितने दिन के हैं? थोड़े ही दिनों में "सूखे ताल पुरइनि जल छाँड़े, कमल गये कुम्हिलाय।" यह शरीर-ताल तो बहुत थोड़े दिनों में सूखने लगता है। सोलह से पचीस वर्ष की उम्र तक जो देह में लावण्य एवं माधुर्य रहते हैं वे तीस तक नहीं रह जाते और जो तीस से पैंतीस तक बची-खुची चमक रहती है वह उसके बाद खो जाती है। फिर तो धीरे-धीरे सभी अंगों का रस-हीन, कांति-हीन एवं सौंदर्य-विहीन होते जाना ही है। दिन-दिन चाम में सिकन आने लगती है। मुख तथा हाथ-पैर में मोटी-मोटी नसें निकलने लगती हैं। कमल सदृश रस-भरी आंखें अनसुहाती हो जाती हैं। मुख-कमल मुरझा जाता है। हृदय-कमल बैठ जाता है। कर-कमल सूखी लकड़ी बन जाते हैं। जीव क्या अहंकार करता है इस हाड़-चाम के क्षणभंगुर ढांचे पर!

थोड़े दिनों में मनुष्य को बुढ़ापा घेर लेता है। जो स्वस्थ अवस्था में साधन-भजन नहीं कर लेता है वह बूढ़ा होकर क्या कर सकता है! "चार दिनों की चांदनी, फेरि अंधेरी रात" थोड़े समय में सब कुछ बदल जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे हंस! आज के बिछुरे कब आकर मिलोगे? देखते-देखते यह शरीर-सरोवर खो जायेगा। तुम्हारा क्रीड़ास्थल समाप्त हो जायेगा।

इसलिए हे हंस ! ऐसे छूटने वाले स्थल में क्रीड़ा मत करो। उसका राग तुम्हें पीड़ा देगा। तुम आत्म-क्रीड़ बनो। आज के सुनहले अवसर को खोओ मत। "आजु बसेरा नियरे हो रमैया राम, काल बसेरा बड़ी दूर हो रमैया राम।" सद्गुरु कहते हैं कि भाई ! शीघ्र सावधान हो जाओ। सत्संग करने, स्वरूपस्थिति करने का दिन आज ही है। कल के धोखे में काल खा लेगा। किसी ने खूब अच्छा कहा है—कीड़ों को खाने के लिए उनके पीछे मेढक दौड़ता है, मेढक को खाने के लिए उसके पीछे सर्प दौड़ता है, सर्प के पीछे मयूर, मयूर के पीछे सिंह और सिंह के पीछे संयोगवश शिकारी दौड़ता है। इस प्रकार अपने भोजन और भोग-वस्तुओं के लिए सब पागल हो रहे हैं। परन्तु पीछे से चोटी पकड़कर काल खड़ा है, उसे कोई नहीं देखता।[1]

हंसदशा का चित्रण तथा हरि और राम शब्दों का ऐतिहासिक अध्ययन

शब्द-34

हरिजन हंस दशा लिये डोले, निर्मल नाम चुनी चुनि बोले॥ 1॥
मुक्ताहल लिये चोंच लोभावै, मौन रहे कि हरि यश गावै॥ 2॥
मान सरोवर तट के बासी, राम चरण चित अन्त उदासी॥ 3॥
कागा कुबुधि निकट नहिं आवै, प्रतिदिन हंसा दर्शन पावै॥ 4॥
नीर क्षीर का करे निबेरा, कहहिं कबीर सोई जन मेरा॥ 5॥

शब्दार्थ—हरिजन=हरिभक्त, ज्ञानी, संत। हंस दशा=नीर-क्षीर-विवेक, स्वरूपस्थिति। मुक्ताहल=मोती। चोंच=मुख। मानसरोवर=हिमालय की एक स्वच्छ झील, तात्पर्य में पवित्र मन। अन्त=अन्तःकरण। प्रतिदिन=निरन्तर। निबेरा=निर्णय, अलग-अलग करना।

भावार्थ—ज्ञान रूपी हरि में रमने वाले संतजन नीर-क्षीर विवेक एवं स्वरूपस्थिति रूपी हंसदशा की रहनी धारणकर संसार में विचरण करते हैं, और चुन-चुनकर पवित्र वाणी बोलते हैं॥ 1॥ वे अपने मुख से ज्ञान के मोती बिखेरकर सज्जनों को सन्मार्ग की ओर आकर्षित करते हैं। वे मौन रहते हैं और जब बोलते हैं तब हरिगुण अर्थात सत्यज्ञान की चर्चा करते

---

1. भेको धावति तं च धावति फणी सर्पं शिखी धावति।
व्याघ्रो धावति केकिनं विधिवशाद् व्याधोऽपि तं धावति॥
स्वस्वाहारविहारसाधनविधौ सर्वे जना व्याकुलाः।
कालस्तिष्ठति पृष्ठतः कचधरः केनापि नो दृश्यते॥

हैं॥ 2॥ जैसे हंस साधारण जलाशय में न रहकर हिमालय में स्थित स्वच्छ मानसरोवर में रहते हैं वैसे संतजन सत्संग में एवं पवित्र मन में निवास करते हैं। अर्थात सब समय मन को पवित्र रखते हैं। वे अपने चित्त को सदैव आत्माराम में रखते हैं और संसार का राग-रंग छोड़कर विषयों के प्रति अंतःकरण से उदास रहते हैं॥ 3॥ कुबुद्धि रूपी कौआ उनके निकट नहीं आते। वे हंसजन निरन्तर आत्मसाक्षात्कार में डूबे रहते हैं॥ 4॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जो दूध और पानी को, जड़ और चेतन को अलग-अलग करे, वही मेरा भक्त एवं प्रेमी है॥ 5॥

हरि शब्द पर विचार

इस शब्द से लेकर आगे छह शब्दों तक सद्गुरु ने हरि शब्द से ही अपना कथन शुरू किया है। इसलिए यहां हरि के अर्थ पर थोड़ा विचार कर लिया जाये। यद्यपि इस शब्द पर इस ग्रन्थ की व्याख्या में अन्यत्र भी विचार किया गया है। 'बृहत् हिन्दी कोश' के कोशकारों ने हरि के अर्थ हरा, हरापन लिये पीला, पिंगल, कपिल, पीत, ले जाने वाला, वहन करने वाला, विष्णु, इन्द्र (मेघ), शिव, ब्रह्मा, यम, सूर्य, चन्द्रमा, मनुष्य, प्रकाश की किरण, अग्नि, वायु, सिंह, सिंहराशि, अश्व, गीदड़, इन्द्र का घोड़ा, बन्दर, बनमानुष, हंस, कोयल, मेढक, सांप, मोर, तोता, कृष्ण, राम, भर्तृहरि, शुक्र, गरुड का एक पुत्र, एक पर्वत, एक लोक, एक वर्ष, भूभाग, एक बड़ी संख्या इत्यादि किया है। एक कहावत है "हरि गर्जन सुनि हरि बोलेला, हरि के सबद सुनि हरि चलेला, हरि बीचहिं मिलल, हरि के हरि लिलल, हरि के प्रताप से हरि बचेला।"[1] अर्थात बादल के गर्जन सुनकर मेढक बोलते हैं, मेढक के शब्द सुनकर सांप उन्हें खाने के लिए चलता है, बीच में मोर मिल गया, मोर ने सांप को निगल लिया, इसलिए मोर के प्रताप से मेढक बच गया। अर्थात बादल, मेढक, सांप, मोर—सब हरि हैं।

प्रसिद्ध विद्वान डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपनी रचना 'भारत सावित्री' में हरि का अर्थ विष्णु मानने के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया है। वे कहते हैं "विष्णु के लिए हरि शब्द का प्रयोग कुषाणयुग से आरम्भ हुआ। उससे पूर्व महाभाष्य, अर्थशास्त्र आदि बड़े-बड़े ग्रन्थों में यह शब्द केवल इन्द्र, अश्व आदि अर्थों में है। अतएव विष्णुवाची हरि शब्द का यह प्रयोग (उद्योगपर्व 66/14)[2] इस प्रसंग के बाद जोड़े जाने का सूचक है।"[1]

---

1. बृहत हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, कबीर रोड, वाराणसी।
2. गीताप्रेस संस्करण में यह श्लोक उद्योगपर्व के 68/14 में है।

अग्रवाल जी आगे उद्योगपर्व का एक श्लोक देकर पुनः लिखते हैं—

अत्र ध्वजवती नाम कुमारी हरिमेधसः।
आकाशे तिष्ठ तिष्ठेति तस्थौ सूर्यस्य शासनात्॥ (108/13)[2]

"अर्थात हरिमेधस की ध्वजवती नाम की कुमारी कन्या सूर्य की आज्ञा से आकाश में खड़ी हो गयी।" यह श्लोक जितना क्लिष्ट और गूढ़ है उतना ही ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। हरिमेधस कौन है? उसकी कुमारी कन्या ध्वजवती कौन है? सूर्य के आदेश से वह आकाश में क्यों खड़ी है? इन तीन प्रश्नों का उत्तर भारतीय साहित्य में कहीं नहीं है। इनका उत्तर ईरानी पारसीक धर्म में है। 'अहुरमज्द' ईरानियों के सबसे बड़े देव हैं। उन्हें सासानी युग की पहलवी भाषा में 'हरमुज' कहा गया है। उन्हीं के लिए गुप्तयुग[3] की संस्कृत भाषा में 'हरिमेधस' नाम का प्रयोग हुआ है। देव 'हरिमेधस' का उल्लेख पश्चिम दिशा के संबंध में कितनी ही बार शांतिपर्व के अंतर्गत नारायणी पर्व में आया है (323/12, 325/4, 335/8 आदि)। वस्तुतः शक-कुषाण[4] काल में सूर्य-पूजा के साथ हरिमेधस देव और उनके धर्म का साक्षात परिचय भारतवासियों को प्राप्त हुआ था। इन्हीं अहुरमज्द की शक्ति या प्रभा हेरेनो कहलाती थी। उसका अंकन प्रभामंडल के भीतर होता था और उसके दोनों ओर फहराता हुआ पट या ध्वज दिखाया जाता था। इसी कारण यहां उसे ध्वजवती नाम दिया गया है। प्राचीन ईरानी और सासानी काल में इस प्रभा रूपी शक्ति को युवती के रूप में आकाश में स्थित दिखाया गया है। अहुरमज्द या हरिमेधस की उस शक्ति का प्रेमी सूर्य है, मानो सूर्य के लिए ही वह आज तक आकाश में व्याप्त है। मित्र या मिहिर की पूजा प्राचीन पारसी धर्म की विशेषता थी। शक-कुषाणों के समय में सासनी या उदीच्य वेशधारी सूर्य की अनेक प्रतिमों बनायी गयी हैं। इनमें भी सूर्य के मस्तक से कंधों के पीछे फहराता हुआ पट दिखाया जाता है, जो प्रायः सभी सासानीयुग की मूर्तियों में देखा जाता है। गुप्तकाल में भी वह बहुधा मिलता है। इसी पृष्ठभूमि में इस श्लोक की रचना हुई है।"[5]

"देव हरिमेधस का बार-बार उल्लेख आया है। (शांति पर्व 323/11, 336/28, 337/54, 335/8) यह अहुरमज्द का संस्कृत रूप था। सासानी

---

1. भारत सावित्री, भाग 2, पृष्ठ 84 की टिप्पणी।
2. गीताप्रेस संस्करण में यह श्लोक उद्योगपर्व के 110/13 में है।
3. ईसा की चौथी शताब्दी से छठीं शताब्दी तक गुप्तकाल है।
4. शक-कुषाणकाल ईसा की प्रथम शताब्दी से तीसरी शताब्दी तक है।
5. भारत सावित्री, भाग 2, पृष्ठ 118-119।

भाषा में उसे हरमुज कहा जाता था। इसी का संस्कृत में 'हरि' हुआ। यह उल्लेखनीय है कि नारायण के अर्थ में हरि शब्द का प्रयोग गुप्तकाल के पूर्व के किसी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता। वहां हरि शब्द तो है किन्तु इन्द्र या घोड़े के अर्थ में आया है, विष्णु के अर्थ में नहीं, और जो एक-दो स्थल विष्णुवाची हैं भी, वे संदिग्ध हैं। इतने बड़े महाभाष्य या वैदिक साहित्य में भी हरि शब्द विष्णु के लिए नहीं आता।"[1]

उक्त लंबे उद्धारण के बाद यह निश्चित हुआ कि पुराकाल में हरि के अर्थ घोड़ा, इन्द्र तथा वाल्मीकीय रामायण में वानर आये हैं। वस्तुतः पारसी तथा पहलवी में जिसे अहुरमज्द तथा हरमुज कहा गया उसे ही संस्कृत भाषा वालों ने हरिमेधस कहा। पीछे मेधस उड़कर हरि शब्द रह गया जो ईसा के चार सौ साल बाद तक विष्णुपरक हो गया। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने हरि शब्द का विष्णुपरक अर्थ पारसी धर्म से आया हुआ माना है। तात्पर्य यह है कि ईसा के पांच सौ वर्ष बाद से हरि शब्द विष्णुपरक के रूप में उत्तरी भारत में प्रचलित हो गया था। इसके एक हजार वर्ष बाद कबीर साहेब होते हैं। तब तक धूमधाम से हरिभजन चल रहा था। कबीर साहेब का संबंध स्वामी रामानन्द एवं वैष्णव संतों से अधिक था ही। अतएव उनके हरि और राम शब्दों का प्रभाव उन पर पड़ना ही था। राम-नाम का भजन भी ईसा के आठ-नौ सौ वर्ष बाद आरम्भ हुआ। समस्त वैदिक साहित्य ही नहीं, वाल्मीकीय रामायण तक में राम-नाम भजन की चर्चा नहीं है। कबीर साहेब के समय में वैष्णवों में हरि और राम शब्द व्यापक स्तर पर भजन के रूप में व्यवहृत हो गये थे।

कबीर साहेब ने हरि, राम आदि शब्दों को अपने काव्य में लिया; परन्तु उन्हें अंतरात्मा के रूप में ही लिया। यदि इससे अलग उन्हें माना जाये तो इसका उन्होंने खण्डन भी किया। इसी संदर्भ में आगे के शब्दों में "हरि ठग ठगत ठगौरी लाई" आदि कहकर उसकी आलोचना कर दी गयी है। अतएव सारे शब्द देश और काल में बनते, बदलते तथा मिटते भी हैं और वे अपने अर्थ भी बदलते हैं, हमें उनके बीच से सत्यता को लेकर आत्मकल्याणकारी तथा जनकल्याणकारी काम करना चाहिए।

व्याख्या—हरि विष्णु है। कबीर साहेब का इष्ट स्थूल विष्णु नहीं है। उन्होंने उसका बीजक भर में खंडन किया है, क्योंकि वह मायावी है। अतएव विष्णु एवं विशाल अपनी महिमा में व्यापक मनुष्य की अंतश्चेतना है। संसार

---

1. भारत सावित्री, भाग 3, पृष्ठ 216।

में कोई अखण्ड वस्तु व्यापक है ही नहीं; क्योंकि एक अखण्ड वस्तु यदि सर्वत्र व्यापक हो तो दूसरे का अस्तित्व ही नहीं रह जायेगा। इसलिए जड़तत्त्व भी अलग-अलग असंख्य परमाणुयुक्त हैं तथा चेतन-जीव भी अलग-अलग अस्तित्व वाले हैं। यदि चेतन एवं आत्मा को कोई व्यापक कहता है तो यह एक प्रशंसासूचक शब्द है। व्यापक का अर्थ अपने गुणों से महिमापूर्ण है। इस प्रकार अपनी महिमा में पूर्ण यह मनुष्य के भीतर निवास करने वाला चेतन जीव ही है। यही शुद्धशा विष्णु है। जो विषयों का त्यागकर निजस्वरूप में स्थित है वह हरिजन है। हरि में रमता हो वह हरिजन। हरि मनुष्य की आत्मा है और जो आत्मा-राम में रमता है वह हरिजन है।

ऐसा हरिजन हंसदशा लेकर डोलता है। वह हंसदशा में विचरता है। हंसदशा क्या है? इस पर इस ग्रन्थ की व्याख्या में कई जगह निवेदन किया है। पुनरुक्ति की चिन्ता किये बिना उसे यहां पुनः दोहरा दिया जाता है। हंस के यहां दो अर्थ हैं एक रूपक का तथा दूसरा हंस शब्द का। हंस सफेद पक्षी होता है। वह मानसरोवर में रहता है। वह केवल मोती चुगता है, और दूध भी पी सकता है, परन्तु केवल शुद्ध दूध। यदि कोई उसके सामने दूध और पानी मिलाकर रख दे, तो वह उसमें से केवल दूध ले लेता है और पानी छोड़ देता है। कहा जाता है कि उसमें ऐसी शक्ति होती है। हंस सफेद पक्षी होता है और वह मानसरोवर में रहता है यह सच है, परन्तु वह मोती चुगता है तथा नीर-क्षीर विवेक करता है, यह उसकी प्रशंसा है। हमें इसकी सचाई खोजने की जरूरत नहीं है। हमें इससे क्या प्रेरणा दी गयी है इस पर विचार कर लेना चाहिए।

जो उज्ज्वल चरित्र का है, जो केवल सद्गुण रूपी मोती चुगता है और नीर-क्षीर विवेक करता है, अर्थात जड़-चेतन, बंध-मोक्ष, राग-विराग, खाद्य-अखाद्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-त्याज्य को अलग-अलग समझकर कल्याणकारी अंश को ग्रहणकर बुरे अंशों का त्याग कर देता है, वह हंस है और यह उज्ज्वल चरित्रता, सद्गुण-ग्राह्यता एवं नीर-क्षीर-विवेक हंसदशा है। स्वरूपज्ञानी एवं आत्मज्ञानी पुरुष इसी दशा में वर्तमान करते हुए लोक में विचरते एवं जीवन-यापन करते हैं।

दूसरा हंस शब्द का शाब्दिक अर्थ है। विद्वान लोग संस्कृत भाषा के 'अहंसः' से टूटकर हंस शब्द बना मानते हैं जो आध्यात्मिक अर्थ वाला है। अहंसः का अर्थ होता है 'मैं वह हूं' अर्थात ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा, निर्वाण, मोक्ष, परमानंद, परमशांति आदि शब्दों को लेकर मैं जिसे खोज रहा हूं, वह मैं ही हूं। 'अहम्+सः=मैं+वह' यह इसका पदच्छेद है। इसमें 'अ' तथा 'स' में

लगा विसर्ग (:) उड़कर 'हंस' शब्द बन गया है। इन सबका अभिप्राय हुआ कि 'मैं पूर्णकाम हूं' इस भाव में स्थित होकर विचरण करना एवं जीवन बिताना ज्ञानी पुरुष का हंस-दशा लेकर डोलना है। जो निरन्तर निजस्वरूप में स्थित होकर जीवन व्यतीत करता है वही हरिजन है और हंस-दशा में विचरने वाला है।

"निर्मल नाम चुनी चुनि बोले" वह राम, गोपाल, हरि, वासुदेव आदि निर्मल नाम चुन-चुन कर बोलता है, ऐसे स्थूल अर्थ में जाने की आवश्यकता नहीं है। यहां का अर्थ है कि वह जो कुछ बोलता है निर्मल वाणी होती है। असत्य, कटु, अश्लील, बंधनप्रद, प्रपंचपूर्ण बातें वाणी के मल हैं। जो इन्हें त्याग देता है, उसकी वाणी निर्मल हो जाती है। हंस रहनी में चलने वाले साधक की वाणी कोमल, सत्य एवं संयत होती है। वह बिना सोचे नहीं बोलता। वह जो कुछ अनाप-शनाप मन में आ गया वही नहीं बोलता, किन्तु चुन-चुन कर बोलता है। वह 'हिये तराजू तौलकर' मुख के बाहर वाणी लाता है।

"मुक्ताहल लिये चोंच लोभावै" हंस चोंच में मोती लेकर लोगों को लुभाता है। ज्ञानी हंस है और ज्ञान मोती है। ज्ञानी अपने मुख से ज्ञान की चर्चा करता है और जिज्ञासुओं तथा मुमुक्षुओं को अपने ज्ञानमार्ग की ओर खींचता है। यह मनुष्य का स्वभाव है। विशालदेव ने कहा है—"जो जेहि मारग में रहै, तेहि दिशि लावन हेत। निज निज प्रेमी के मिलत, तैसी शिक्षा देत।" जो जिस पथ पर चलता है, वह उधर अपने मित्रों को भी ले जाना चाहता है। शराबी शराबपान की तरफ, गंजेड़ी गांजा की तरफ, अन्य व्यसनी अपनी तरफ अपने मित्रों को घसीटते हैं। तो सज्जन सज्जनता की तरफ एवं ज्ञानी ज्ञान की तरफ अपने प्रेमियों को ले जाना चाहेंगे ही।

"मौन रहे कि हरि यश गावै" यही संत का लक्षण है। मौन रहना या ज्ञानचर्चा करना। हंस रहनी में चलने वाले संत 'भक-भक' बोला नहीं करते। वे अपनी वाणी में संयम रखते हैं। वे विशेषतः चुप रहते हैं। उनका अपना ज्ञान कलकलाता नहीं कि बिना बोले रह ही नहीं पावें। वे जो कुछ जानते हैं अपने आप में पचाते हैं। कम बोलना हंस रहनी का उत्तम लक्षण है। जिसके मन में शांति है वह अधिक बोल ही नहीं सकता। भीतर में द्वंद्व होने से ही मनुष्य निरर्थक बातें करता है। जिसके भीतर में शांति है वह मौन रहने में आनन्द मानता है। विवाद से तो वह सैकड़ों कोस दूर रहता है। सत-चर्चा में भी वह विवेकपूर्वक बोलता है। यदि ज्ञानी बोलता है तो हरियश गाता है। हरि ज्ञान है। ज्ञान की वास्तविकता का विवेचन हरियश गाना है। अर्थपूर्ण

बात करना हरियश गाना है। गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—"की मुख पट दीन्हें रहें, यथा अर्थ भाषंत। तुलसी या संसार में, सो विचारयुत संत" (वैराग्य संदीपनी)।

"मानसरोवर तट के बासी" हंस मानसरोवर के तट का वासी होता है। मानसरोवर नाम की झील हिमालय में है, जो बहुत विशाल, गहरी एवं स्वच्छ है। हंस पक्षी वहीं रहते हैं। हंस रहनी के संतों के मन भी विशाल, गहरे और स्वच्छ होते हैं। संतजन स्वच्छ मन के पास रहते हैं। संतों का मन मानसरोवर होता है। जिसके मन में राग, द्वेष, ईर्ष्या, काम, क्रोध, चिंता, दुख एवं किसी प्रकार की ग्रन्थि नहीं होती, उसका मन मानो मानसरोवर है। इस संसार में वे धन्य हैं जिनका मन स्वच्छ एवं शीतल है। संसार में बहुत लोगों को धन, परिवार, प्रसिद्धि आदि मिले होते हैं, परन्तु स्वच्छ, शीतल और प्रसन्न मन वाले दुर्लभ हैं। सच्चा सुख मन की स्वच्छता में ही है।

"रामचरण चित अंत उदासी" हंस रहनी में रमने वाले संत अपना चित राम के चरणों में रखते हैं तथा भीतर से संसार के विषयों से उदास रहते हैं। कबीर साहेब के राम के चरण नहीं होते। वे किसी हाथ-पैर वाले राम को नहीं मानते। उनका राम तो घट-घट वासी चेतन है, आत्मा है। यहां "रामचरण" का शाब्दिक नहीं, लाक्षणिक अर्थ लेना चाहिए। प्रश्न हो सकता है फिर कबीर साहेब ने "रामचरण चित" क्यों कहा? "हृदया बसे तेहि राम न जाना" की ही तरह क्यों नहीं कहा? वस्तुतः कबीर साहेब संत हृदय होने से आगंतुक प्रेमियों की भी भाषा में बोल देते थे जिससे उनके मन को भी सांत्वना मिल जाये, परन्तु उनका भाव अपना होता था जो उनकी वाणियों में छिपा नहीं है। तात्पर्य है कि ज्ञानियों का मन सदैव आत्माराम में लीन रहता है।

"अंत उदासी" इन दोनों शब्दों का भाव बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वे अंतःकरण से उदास रहते हैं। अर्थात भीतर से वे संसार से अनाकृष्ट एवं निर्लेप रहते हैं। अथवा समस्त भौतिक उपलब्धियों का एक दिन अंत समझकर उनसे अनासक्त रहते हैं। जीव को जो कुछ प्राप्त है सब कुछ उससे छूटने वाला है। छूटने वाली वस्तुओं में मोह करने वाला व्यक्ति धोखा खाता है। इस संसार में वही सफल है, विजयी है एवं कृतकृत्य है, जो छूटने वाली समस्त वस्तुओं से सब समय पूर्ण अनासक्त है। संसार से पूर्ण उदास तथा आत्माराम में नितांत लीन मन वाला ही तो संत है।

"कागा कुबुधि निकट नहिं आवै" ऐसे उच्च कोटि के संतों के पास कुबुद्धि रूपी कौआ फटक भी नहीं सकता। कुबुद्धि के लिए सद्गुरु ने कौआ

का रूपक दिया। कौआ का मन चंचल एवं सब पर संदेहशील होता है, उसकी वाणी कर्कस होती है तथा सब कुछ खाने के कारण उसका आचरण भी गंदा होता है। कुबुद्धि के ये ही लक्षण होते हैं। जिसके भीतर कुबुद्धि है वह मन, वाणी तथा कर्मों से चंचल होता है। सच्चे संत के पास कुबुद्धि की गंध भी नहीं होती। इसलिए सद्गुरु ने कहा कि कुबुद्धि-काग उसके निकट भी नहीं पहुंच सकते।

"प्रतिदिन हंसा दर्शन पावै" यहां प्रतिदिन का अर्थ है निरन्तर। पूर्ण साधक निरन्तर आत्मदर्शन एवं स्वरूपसाक्षात्कार में डूबा रहता है। विवेकवान पूर्ण जाग्रत अवस्था में स्वरूपविचार में मग्न होता है। इसी विचार में नींद लेते-लेते वह सो जाता है इसलिए उसको स्वप्न भी कुछ इसी तरह के होते हैं और गाढ़ी नींद में स्वरूपस्थिति के ही बीज रहते हैं। जैसे उसकी नींद खुलती है तुरन्त स्वरूपविचार की दृष्टि आ जाती है। स्वरूपस्थिति की निरन्तरता ही मुक्ति है। इसी को एकरस दशा कहते हैं।

"नीरक्षीर का करे निबेरा, कहहिं कबीर सोई जन मेरा।" कबीर साहेब की, इस शब्द में यह अन्तिम मोहर है। वे कहते हैं कि जो नीर-क्षीर का विवेक करे वह मेरा साथी है, भक्त है, अनुगामी है, शिष्य है एवं प्रेमी है। जो जड़-चेतन को, कर्तव्य-अकर्तव्य को, बंध-मोक्ष को अलग-अलग करता है वही तो हंस है। हंसत्व विवेक है। नीर को त्यागकर केवल क्षीर ले लेना, जड़वासना का त्यागकर शुद्ध स्वरूप चेतन में स्थित हो जाना ही हंसदशा है।

जीव न किसी की पत्नी है न अंश, वह स्वयं पूर्ण है

शब्द-35

हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया, राम बड़ो मैं तन की लहुरिया॥ 1॥
हरि मोर रहँटा मैं रतन पिउरिया, हरि का नाम ले कतति बहुरिया॥ 2॥
छौ मास तागा बरस दिन कुकुरी, लोग कहैं भल कातल बपुरी॥ 3॥
कहहिं कबीर सूत भल काता, चरखा न होय मुक्ति का दाता॥ 4॥

शब्दार्थ—बहुरिया=दुलहिन। राम बड़ो=ईश्वर व्यापक है। तन की लहुरिया=उसका एक अंश। रहँटा=चरखा। रतन पिउरिया=शुद्ध पिउनी। कुकुरी=आंटी, लपेटा हुआ सूत का लच्छा। बपुरी=बेचारी। सूत=नाम।

भावार्थ—हरि मेरा पति है और मैं उसकी दुलहिन हूं, वह व्यापक एवं अंशी है और मैं उसका अंश हूं॥ 1॥ हरि मेरा चरखा है और मैं उसकी शुद्ध पिउनी हूं—इस प्रकार अपने आप को ईश्वर की पत्नी मानने वाले माधुर्य भक्ति के रसिक-भक्त हरि के नाम का सूत कातते हैं॥ 2॥ छह महीने में तागा

बना और वर्ष भर में उसकी आंटी एवं लच्छा बना। अर्थात छह महीने के नाम-जप से बाह्य चंचलता शांत होकर मन भगवान में लग गया तथा एक वर्ष के नाम-जप से भगवान में धारणा हो गयी। फिर तो गुरु लोग कहने लगे कि बेचारी ने नाम-जप का सूत अच्छा काता॥ 3॥ कबीर साहेब कहते हैं कि सूत तो अच्छा काता, परन्तु यह हरि-चरखा मुक्ति का दाता नहीं हो सकता॥ 4॥

व्याख्या—उक्त शब्द को लेकर विद्वानों में महा भ्रम है कि कबीर माधुर्य-भक्ति-पथ के पथिक थे। अर्थात कबीर अपने आप को ईश्वर की बहुरिया मानते थे। मुसलिम सूफियों तथा हिन्दू रसिक भक्तों में यह दोष समान रूप से व्याप्त है। सूफी मानते हैं कि हम आशिक हैं और ईश्वर माशूक है। अर्थात हम पुरुष हैं और ईश्वर हमारी प्रेयसी एवं पत्नी है। उनकी धारणा है कि पुरुष का स्त्री में स्वाभाविक आकर्षण होता है। अतः हम अपने आप को पुरुष तथा ईश्वर को स्त्री मानकर भक्ति करें तो ईश्वर में शीघ्र लगन लग जायेगी। इसलिए वे ईश्वर को अपनी प्रेयसी मानकर उसके विरह-वियोग में पीड़ित रहते हैं।

हिन्दू-रसिक भक्तों की धारा सूफियों से भिन्न है। रसिक भक्त मानते हैं कि हम स्त्री हैं और ईश्वर हमारा पति है। रामोपासकों तथा कृष्णोपासकों—दोनों में रसिक-भक्ति का प्रचलन है। रसिक संप्रदाय के भक्त पुरुष होकर स्त्री के वस्त्र पहनते हैं, महीना-महीना में रजस्वला बनने का स्वांग करते हैं, कभी-कभी बच्चा पैदा करने का भी स्वांग करते हैं। भक्ति के नाम पर रसिक संप्रदाय के भक्तों ने एक महा कुसंस्कार को जन्म दिया है। बहुत-से भक्त कपड़ा तो पुरुषों के ही पहनते हैं, परन्तु मन से वे कृष्ण तथा राम की पत्नी ही बने रहते हैं।

कबीर साहेब ने इस भक्ति का प्रस्तुत पद में मजाक उड़ाया है, परन्तु आश्चर्य है कि बिना सोचे-समझे विद्वानों ने इसी पद के आधार पर कबीर को ही रसिक-भक्त बना डाला है।

पूरे शब्द पर ध्यान देकर पढ़िये—"हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया, राम बड़ो मैं तन की लहुरिया। हरि मोर रहँटा मैं रतन पिउरिया" शब्द का इतना अंश रसिक-भक्तों के मुख से कहलाया गया है। इसके बाद कबीर साहेब अपनी तरफ से व्यंग्य में कहते हैं "हरि का नाम ले कतति बहुरिया।"

"छौ मास तागा बरस दिन कुकुरी, लोग कहैं भल कातल बपुरी।" यह कहकर सद्गुरु बताते हैं कि छह महीने आरम्भिक नाम-जप साधना तथा वर्ष भर के नाम-जप से परिपक्वता मानते हैं। इसे देखकर उनके गुरु लोग कहते हैं कि बेचारी ने सूत अच्छा काता। यह भी एक प्रकार का व्यंग्य ही है।

अन्त की पंक्ति में सद्गुरु ने इसका साफ खंडन कर दिया है—"कहहिं कबीर सूत भल काता, चरखा न होय मुक्ति का दाता।" कबीर साहेब कहते हैं कि इन भक्तों ने अपने आप को पत्नी तथा अंश और ईश्वर को पति तथा अंशी मानकर नाम-जप का सूत तो अच्छा काता, परन्तु यह ईश्वर रूपी चरखा मुक्ति का दाता नहीं है। दूसरी पंक्ति में भक्तों की तरफ से कहलाया गया है "हरि मोर रहँटा" अर्थात ईश्वर मेरा नाम-जप के सूत कातने का चरखा है। सद्गुरु कहते हैं कि यह चरखा मुक्ति का दाता नहीं हो सकता।

इस शब्द में सद्गुरु ने ईश्वर को पति तथा अंशी एवं जीव को दुलहन तथा अंश होने की धारणा का खंडन किया है। कबीर साहेब जीव को पूर्ण बताते हैं। इसे बीजक की अनेक पंक्तियों में पढ़ा जा सकता है। इस पति-पत्नी, अंश-अंशी भाव का अगले शब्द में अधिक खुलासा खंडन करते हुए आप कहते हैं—

शब्द-36

हरि ठग ठगत ठगौरी लाई, हरि के वियोग कैसे जियहु रे भाई॥ 1॥
को काको पुरुष कौन काकी नारी, अकथ कथा यम दृष्टि पसारी॥ 2॥
को काको पुत्र कौन काको बाप, को रे मरै को सहै सन्ताप॥ 3॥
ठगि ठगि मूल सबन का लीन्हा, राम ठगौरी काहु न चीन्हा॥ 4॥
कहहिं कबीर ठग सो मन माना, गई ठगौरी जब ठग पहिचाना॥ 5॥

शब्दार्थ—पुत्र=अंश। बाप=व्यापक, अंशी।

भावार्थ—निज स्वरूप का भेद न जानने से हरि की कल्पना अलग कर ली गयी, अतएव यह हरि ही मानो मनुष्य को छलने वाला हो गया और यह मानो छल विद्या लेकर संसार को छल रहा है। हे भाई, हरि को अलग मानकर उसके बिछुड़न में तुम्हें शांति कैसे मिलेगी?॥ 1॥ कौन किसका पति है और कौन किसकी पत्नी है? अर्थात जीव के ऊपर उसका पति मानना और जीव को पत्नी कहना सर्वथा असत्य है। यह पति-पत्नी-जैसी न कहने योग्य बात कहकर मन रूपी यमराज ने अपनी छलावापूर्ण दृष्टि फैलायी है॥ 2॥ इसी प्रकार कौन किसका पुत्र है और कौन किसका पिता है? अर्थात जीव को अंश कहकर उसके ऊपर अंशी की कल्पना करना अनर्गल प्रलाप है। कौन मरता है और कौन दुख सहता है? अंशांशी-भाव क्षणभंगुर वस्तुओं में होता है। ऐसा भाव मानने से जीव का ही पतन है॥ 3॥ इस अवधारणा ने छलावा करके सबके स्वरूप-विवेक को छीन लिया है। परन्तु इस 'राम-ठगौरी' को, अर्थात ईश्वरवाद के छलावा को कोई पहचान नहीं सका॥ 4॥ सद्गुरु कहते हैं कि सबका मन इस छलावा को मान लिया है कि

ईश्वर जीव से अलग है। परन्तु जो विवेकवान इस छलावा को पहचान लेता है उसके सामने से यह गायब हो जाता है॥ 5॥

व्याख्या—"जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस। मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥"[1] कहने वाले कबीर अपनी आत्मा से अलग अपना लक्ष्य कैसे मान सकते हैं? यदि कोई कहता है कि मनुष्य की आत्मा से उसका लक्ष्य, उसका परमात्मा एवं मोक्ष अलग है तो साहेब कहते हैं कि यह एक छलावा है। लोग कहते हैं कि सबके हृदय में ही परमात्मा है, तो हृदय में तो एक ही ज्ञाता की अनुभूति 'मैं' के रूप में होती है, उसी को चाहे आत्मा कहें या परमात्मा। हृदय में दो की अनुभूति किसी को नहीं होती। अतएव यदि यह कहा जा रहा है कि आत्मा से परमात्मा अलग है एवं जीव से शिव पृथक है तो यह आत्मप्रवंचना है, अपने आप को ठगना है। इस दृष्टि से देखें तो आत्म-भिन्न ईश्वर एक ठग हो गया और उसकी मान्यता ठगौरी विद्या एवं जालसाजी हो गयी। इस ठग ने सबको ठग लिया है। इसी छलावा में सब मनुष्य छले जाकर स्वरूप-शोधन के बल से हीन हो गये। सब तो ऊपर वाले की तरफ देख रहे हैं, भीतर वाले की तरफ देखने की छुट्टी ही नहीं है। ईश्वरवाद के छलावा ने मनुष्य के मन में अपने आप के लिए ऐसी हीन भावना पैदा कर दी है कि हर ईश्वरवादी यही कहता है कि मैं तो तुच्छ हूं, मैं तो कुछ नहीं हूं, ऊपर वाला ही सब कुछ है।

साहेब कहते हैं "हरि के वियोग कैसे जियहु रे भाई।" हे भाई, जब तुम ईश्वर को अलग मानते हो तब उसका वियोग सदा ही बना रहेगा। यदि कदाचित कभी मिल भी जाये तो पुनः बिछुड़ जायेगा; क्योंकि यह विश्वसत्ता का नियम है कि मिली हुई वस्तु बिछुड़ती है। तुम्हारी मान्यता के अनुसार तुम तो अपूर्ण ठहरे, पूर्ण तो ईश्वर है और वह तुमसे अलग है। फिर उसके वियोग में तुम्हें पूर्णता कब मिल सकती है! इस स्थिति में तुम कैसे जीयोगे, कैसे शांति पाओगे! अलग ईश्वर मानने वाले सदैव उसकी वियोगजनित पीड़ा में ही तड़पते रहते हैं। उन्हें कभी शांति नहीं मिल सकती। अखंड शांति तो तब मिलती है जब अपनी पूर्णता का भान हो। उधारी का सौदा खाकर कोई कब तक जीयेगा! जब यह बोध होता है कि मेरी आत्मा ही परमात्मा है, पूर्णकाम एवं पूर्ण कल्याणमय है तब अपने स्वरूप में विश्राम पाकर जीव कृतकृत्य होता है।

यहां पर "को काको पुरुष कौन काकी नारी" तथा "को काको पुत्र कौन काको बाप" कहकर साधारण स्त्री-पुरुष एवं पिता-पुत्र का वर्णन न होकर

---

1. साखी 298।

पूर्व शब्दकथित ईश्वर-जीव का पति-पत्नी भाव एवं अंशी-अंश भाव की ओर संकेत है और उसका तीव्रभाव से खंडन है। इसके खंडन में "अकथ कथा यमदृष्टि पसारी" कहकर सद्गुरु ने इस भाव पर बड़ी घृणा व्यक्त की है। मैं पत्नी हूं और मेरा पति कहीं अलग एक कल्पित पुरुष है—यह अकथ कथा है, न कहने योग्य बात है, अनर्गल प्रलाप एवं बे-सिर-पैर की बात है। यह मान्यता एवं कथन मानो यम की फैलायी हुई दृष्टि है। यह अविवेकी मन ही यम है। इसी की यह भोड़ी कल्पना है। जो लोग इस घृणित विचार का प्रचार करते हैं वे मानो यम बनकर लोगों को अविवेक में बांधते हैं और उनको स्वरूपशोधन से वंचित कर भवबंधनों में डालते हैं।

जीव अंश है और ईश्वर अंशी है, ऐसा कहने वाले यह भी नहीं सोचते कि अंश-अंशी विकारी होते हैं। जैसे समुद्र का जल अंशी है और उसकी तरंगें अंश हैं, तो यह विचारना चाहिए कि समुद्र के जल की राशि असंख्य परमाणुओं की ढेर होने से वह विकारी है तभी उसमें तरंग-अंश बनते हैं। यदि जल एक, अखंड और ठोस हो तो उसमें अंश बन ही नहीं सकते। तरंग अंश है तो वह नाशवान है। संसार में एक भी उदाहरण नहीं मिलता कि कोई ऐसा पदार्थ हो कि वह किसी का अंश हो और अविनाशी भी हो। जो अंश होगा वह अविनाशी नहीं हो सकता और जो अविनाशी होगा वह अंश नहीं हो सकता। अतएव लोगों ने जीव को अंश बताकर उसके नष्ट होने की कल्पना पैदा कर दी है। सद्गुरु कहते हैं "को रे मरे को सहे सन्ताप।" अर्थात जीव को अंश मानकर जीव ही की मौत है और उसी को ही अपना पतन देखना है। इसलिए यह अंश-अंशी भाव भी निरर्थक बात है।

"ठगि ठगि मूल सबन का लीन्हा" ईश्वरवाद की अवधारणा ने अपने छलावा में फंसाकर सबका मूल छीन लिया है। ईश्वरवाद की मान्यता व्यक्ति के निजस्वरूप शोधन में अवरोधक है। जब तक अपने दिमाग से ईश्वर का जाल नहीं हटाया जाता तब तक व्यक्ति निज चेतन स्वरूप एवं अपनी आत्मा की पहचान नहीं कर सकता और न अपने स्वरूप में स्थित हो सकता है। व्यक्ति ने अपनी आत्मा की गरिमा को ईश्वरवाद में खो दिया है। ज्ञान का मूल है अपनी चेतना। हम अपनी चेतना को तुच्छ कहते हैं और कल्पित ईश्वर को महान। इससे अधिक आत्मप्रवंचना और क्या हो सकती है! सद्गुरु कहते हैं "राम-ठगौरी काहु न चीन्हा।" इस राम-ठगौरी की कसौटी किसी ने नहीं की। राम, ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म यदि मेरी आत्मा से अलग बताये जाते हैं तो यह एक छलावा है। यही राम-ठगौरी है। यह "राम-ठगौरी" बड़ा मार्मिक शब्द है।

"कहहिं कबीर ठग सो मन माना, गई ठगौरी जब ठग पहिचाना।" प्रायः लोगों के मन ने ठग से ही समझौता कर लिया है। संसार के अधिकतम लोग इसी छलावा में हैं कि परमात्मा हमसे अलग है। इसी बात का चारों तरफ शोर मचा है। स्वरूप-शोधन तथा त्याग में कठिनाई पड़ती है। तथाकथित ईश्वर का नाम लेकर सहज ही सब कुछ पा जाने की भावना ने आदमी को परमुखापेक्षी बना दिया और स्वरूपज्ञान से वंचित कर दिया है। परन्तु जिन्होंने इस छलावा की परख कर ली है उसके जीवन से यह सदैव के लिए विदा हो जाता है। जिसे निजस्वरूप का विवेक हो गया है वह कभी परोक्ष मान्यताओं के अन्धकार में नहीं भटकता। उसका राम या हरि निजस्वरूप चेतन ही है।

शब्द-37

हरि ठग ठगत सकल जग डोलै, गौन करत मोसे मुखहु न बोलै॥ 1॥
बालापन के मीत हमारे, हमहिं तजि कहाँ चलेउ सकारे॥ 2॥
तुमहिं पुरुष मैं नारि तुम्हारी, तुम्हरी चाल पाहनहु ते भारी॥ 3॥
माटि को देह पवन को शरीरा, हरि ठग ठग सों डरें कबीरा॥ 4॥

शब्दार्थ—पाहनहु ते भारी=पत्थर से भी भारी वजन, बहुत मंद। माटी को देह=स्थूल शरीर। पवन को शरीरा=सूक्ष्म शरीर।

भावार्थ—आध्यात्मिक-वंचना करने वाले गुरु लोग वंचना करते हुए सारे संसार में घूमते हैं। वे घूमते हुए मुझ-जैसे विचारकों से मिल जाने पर मुख से बात तक नहीं करते॥ 1॥ स्वरूप-बोध से वंचित होकर ही जीव कहता है कि हे भगवान, तुम हमारे बालपन एवं गर्भवास के ही मित्र हो। तुम हमें छोड़कर शीघ्रतापूर्वक कहां चले गये?॥ 2॥ तुम मेरे पति हो और मैं तुम्हारी पत्नी हूं। मैं तुम्हें बुला रही हूं, परन्तु तुम्हारी चाल तो पत्थर से भी भारी हो गयी है। तुम टस-से-मस नहीं हो रहे हो, दर्शन नहीं दे रहे हो॥ 3॥ मिट्टी की स्थूल देह तथा प्राणवायु के सूक्ष्म शरीर में बंधे ये अबोधी जीव धार्मिक वंचकों से बहुत डरते हैं। वे जैसे इन्हें चलाते हैं वैसे चलते हैं॥ 4॥

व्याख्या—कबीर साहेब की अद्भुत-अद्भुत वाणियां हैं। उनके कहने के विचित्र तरीके हैं। कबीर साहेब उन गुरुओं को कतई पसंद नहीं करते जो मनुष्यों को उनके आत्मबोध से अलग भटकाते हैं। हरि एवं ईश्वर के नाम पर मनुष्य को यह बताना कि तुम्हारा प्राप्तव्य तुमसे अलग है—आध्यात्मिक छलावा है। ऐसा छलावा करने वाले गुरुओं की भरमार है। उन गुरुओं का भी बहुत दोष नहीं है; क्योंकि वे भी अपनी पूर्व परम्परा से यही पढ़ाये गये हैं। उनमें से जिनको सही दिशा मिल जाती है, वे जग जाते हैं।

जो स्वयं भटके हुए तथा जनता को भटकाने वाले गुरु हैं, वे विचारकों से बात नहीं करना चाहते। उन्हें सदैव यह डर रहता है कि कहीं उजाला होने पर हमारा सुरक्षित अंधकार गायब न हो जाये। यथार्थ निर्णय मिलने पर झूठी मान्यतों टूटने लगती हैं। जिन्हें झूठी मान्यताओं से मोह है, वे नहीं चाहते कि उनके प्रति मन में संदेह हो।

जीव अपने स्वरूप का महत्त्व न समझकर ही बाहरी ईश्वर को पाने के लिए, उसके दर्शन के लिए रोता-गिड़गिड़ाता है और उसे पति तथा अपने आप को पत्नी मानने का भ्रम करता है। जिसे अपने स्वरूप का बोध हो गया है, जो अपनी आत्मा को समझकर उसमें रम गया है, वह बाहर से किसी ईश्वर के पाने का स्वप्न छोड़ देता है।

"माटी को देह पवन को शरीरा" यहां क्रमशः स्थूल और सूक्ष्म शरीर की ओर संकेत है। मिट्टी की देह यह स्थूल शरीर है, तथा पवन का शरीर सूक्ष्म शरीर है जिसके साथ जीव जन्मांतरों में भ्रमण करता है। इन सबका अभिप्राय है कि इस जड़ प्रकृति में जीव बंधे हैं। "हरिठग ठग सों डरें कबीरा।" ये जड़-बन्धन में बंधे हुए जीव मानसिक रूप से दुर्बल हो गये हैं और वे हरि-ठग से डरते हैं। निजस्वरूप के बोध से हीन तथा देहासक्ति में जकड़े जीव हर समय भयभीत रहते हैं। उन्हें भ्रामक गुरु लोग आत्मज्ञान से वंचित रखकर परोक्ष देवी-देवताओं की मान्यताओं में बांधे रखते हैं। जब मनुष्य को आत्मज्ञान हो जाता है तब उसका सारा भय समाप्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति कर्मकांड के झमेले से मुक्त हो जाते हैं, तो गुरुओं को यह बुरा लगता है, क्योंकि ऐसा होने से उनका वर्चस्व समाप्त हो जाता है। जीव से अलग ईश्वर एवं देवी-देवता बताकर उनको खुश कर उनसे ऋद्धि-सिद्धि एवं कल्याण पाने का प्रलोभन देकर जनता को कर्मकांड में उलझाए रखना गुरुओं का काम है। यह सब जो न करे उसे वे नास्तिक एवं नरकगामी कहते हैं। इसलिए मनुष्य गुरुओं से डरते हैं। ये डरा-धमकाकर मनुष्यों को अपने जाल में रखते हैं। स्वतन्त्र आत्मचिन्तन की छूट देना धर्म का नाश समझते हैं। परन्तु सच्चा धर्म एवं अध्यात्म आत्मचिन्तन, आत्मबोध तथा आत्मस्थिति में ही है। आत्मा ही परमात्मा है, जिसे पाना नहीं, किन्तु नित्य प्राप्त अपना स्वरूप ही है। बस, केवल समझना है और बाहर से मुड़कर आत्मस्थिति में आ जाना है।

याज्ञवल्क्य कहते हैं—"जो यह समझता है कि मैं अन्य हूं और देवता अन्य हैं, इस प्रकार अन्य की उपासना करता है, वह अज्ञानी है। वह देवताओं का पशु है, जैसे बहुत-से पशु एक-एक मनुष्य का पालन करते हैं; उनमें एक भी पशु हाथ से निकल जाये तो मनुष्य को बुरा लगता है; वैसे बहुत-से

मनुष्य मिलकर एक-एक देवता का पालन करते हैं। अतः यदि एक भी मनुष्य देवताओं को छोड़कर अलग हो जाये और अपनी आत्मा की उपासना करने लगे तो देवताओं को यह कैसे पसंद होगा। इसलिए देवता यह नहीं चाहते कि मनुष्य यह समझ ले कि मैं ब्रह्म हूं, मैं तुच्छ नहीं, महान हूं, आत्मा हूं। देवता यही चाहते हैं कि मनुष्य अपने स्वरूप को न पहचानें और देवताओं का पशु बनकर उनकी सेवा करते रहें।"[1]

यहां महर्षि याज्ञवल्क्य देवताओं का उपहास करते हैं। देवता निरे कल्पित हैं। वे क्या चाहेंगे ! वस्तुतः याज्ञवल्क्य देवताओं के भ्रम से साधक को मुक्त कर अपरोक्ष आत्मज्ञान में लाना चाहते हैं।

व्यक्ति का निजात्मस्वरूप ही हरि है

शब्द-38

हरि बिनु भर्म बिगुर्चनि गन्दा॥ 1॥
जहाँ जहाँ गयउ अपनपौ खोयेउ, तेहि फन्दे बहु फन्दा॥ 2॥
योगी कहैं योग है नीका, दुतिया और न भाई॥ 3॥
नुंचित मुण्डित मौनि जटाधारी, तिन कहु कहाँ सिधि पाई॥ 4॥
ज्ञानी गुणी सूर कवि दाता, ई जो कहैं बड़ हमहीं॥ 5॥
जहाँ से उपजे तहाँ समाने, छूटि गये सब तबहीं॥ 6॥
बायें दहिने तजू बिकारा, निजु कै हरिपद गहिया॥ 7॥
कहैं कबीर गूँगे गुर खाया, पूछे सो क्या कहिया॥ 8॥

शब्दार्थ—बिगुर्चनि=बिगूचन, उलझन, असमंजस, कठिनाई। गन्दा=मैला, बुरा। अपनपौ=अपनापन, अपना स्वरूप, होश, सुध-बुध, आत्म-गौरव। नुंचित=बाल उखाड़ने वाले। मुण्डित=बाल मुड़ाने वाले। बायें दहिने=सब तरफ से।

भावार्थ—यह आत्मदेव ही हरि एवं परमात्मा है—इस रहस्य को जाने बिना लोग भ्रांति तथा बुरी तरह उलझन में पड़े हुए हैं॥ 1॥ यह जीव हरि को खोजने जहां-जहां जाता है स्वरूपबोध एवं आत्मगौरव को खोकर उन्हीं में उलझ जाता है और बहुत-से बन्धनों में बंध जाता है॥ 2॥ योगी कहते हैं कि जीवन में पूर्णता पाने के लिए योग ही अच्छा है। हे भाई, इसके लिए दूसरा

---

1. योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्जुरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुः। (बृहदारण्यक उपनिषद् 1/4/10)

रास्ता ही नहीं है॥ 3॥ बाल उखाड़ने वाले जैनी, सिर मुड़ाने वाले प्रयाग तीर्थयात्री या संन्यासी, मौनी तथा जटा-जूटधारी, कहो, इन लोगों ने कहां सिद्धि पायी है?॥ 4॥ शास्त्रज्ञानी पंडित, अनेक कलाओं से सम्पन्न गुणी, शूरवीर, कवि और दाता, ये सभी कहते हैं कि हम ही बड़े हैं, परन्तु इनका सारा ज्ञान तभी निरर्थक हो जाता है जब ये जिस विषयासक्ति-वश जन्म-धारण किये हैं उसी में पुनः डूब जाते हैं॥ 5-6॥ कल्याण का तो सीधा रास्ता है, वह यह कि सब तरफ से बुराइयों को छोड़ दो, और निजस्वरूप चेतन एवं आत्मदेव ही हरिस्वरूप एवं परमात्मा है यह जानकर उसे ही ग्रहण करो, अर्थात निजस्वरूप में रमो॥ 7॥ यदि कोई पूछे कि उसका अनुभव कैसा है? तो सद्गुरु कहते हैं कि गूंगे ने गुड़ खाया, तो उससे उसका स्वाद पूछने पर वह क्या बताएगा? वह बताने की वस्तु नहीं, किन्तु अनुभव की वस्तु है॥ 8॥

व्याख्या—"हरि बिनु भर्म बिगुर्चनि गन्दा।" संसार में हरि, राम, ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म आदि शब्दों की भीड़ लगी है। इस भीड़ में मनुष्य भ्रमित हो गया है, उलझ गया है। यह उलझन गंदी बात है। शब्द के शोर में न उलझना चाहिए, किन्तु शोध एवं परख करना चाहिए कि ये सारे शब्द जिसके लिए प्रयुक्त होते हैं वह क्या वस्तु हो सकती है! ये सारे शब्द जिसके लिए प्रयुक्त होते हैं वह परम प्रेमास्पद वस्तु है। क्या अपनी आत्मा से अलग कोई परम प्रेमास्पद वस्तु हो सकती है! जो केवल परोक्ष हो, कल्पना-लोक की वस्तु हो या मिलकर छूट जाने वाली वस्तु हो वह परम प्रेमास्पद कैसे हो सकती है! जो कभी न छूटे, वही परम प्रेमास्पद हो सकता है और वह है हमारी अपनी चेतना एवं आत्मा। यही हरि है। यही सर्वोच्च है। परन्तु हम शब्दों की भीड़ में उसे बाहर खोजने की उलझन में पड़ गये हैं; क्योंकि प्रायः गुरुओं ने वैसा ही बता रखा है।

"जहाँ जहाँ गयउ अपनपौ खोयेउ, तेहि फन्दे बहु फन्दा।" सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य, तू परमात्मा की खोज में जिन-जिन मत-मतान्तरों, मान्यताओं एवं जगहों में जाता है, वहीं-वहीं 'अपनपौ' को खोकर उलझ जाता है । "जहाँ जहाँ गयउ अपनपौ खोयेउ" बड़ा मार्मिक और महत्त्वपूर्ण वचन है। "अपनपौ खोयेउ" ध्यान देने योग्य है। "अपनपौ" है अपना स्वरूप-भाव, अपना आपा एवं आत्मगौरव। हम आत्मा से अलग ईश्वर तथा देवी-देवताओं की कल्पना कर उनके सामने घुटने टेकने तथा रोने-गिड़गिड़ाने में अपना कृतकृत्य होना मान लिये हैं। उन्हीं के फंदों में हम बहुत प्रकार से बंध गये हैं। आत्मगौरव को खोकर किसको सुख मिला है! "सर्वं

परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्'' यह मनु-वचन परमादरणीय है। अपनपौ को खोकर कौन परमात्मा मिलेगा ! मनुष्य विषय-भोगों और कल्पनाओं में अपनपौ खोता रहता है।

योगी लोग योग ही को सफलता की कुंजी मानते हैं। यहां योग से अभिप्राय हठयोग है। सामान्य योग जिसमें चित्त का निरोध होता है, यह तो आध्यात्मिक साधक के लिए आवश्यक है ही, किन्तु व्यावहारिक क्षेत्रों में भी आवश्यक है। बिना एकाग्र हुए किसी दिशा में सफलता नहीं मिल सकती। परन्तु हठयोग तो एक प्रपंच है। हठयोगी कहते हैं कि हठयोग को छोड़कर कल्याण का अन्य रास्ता ही नहीं है। बाल उखाड़ने वाले जैनी घोर तपस्या, यहां तक उपवास करके शरीर छोड़ने में मोक्ष मानते हैं। कर्मकांडियों ने प्रयाग में सिर मुड़ाने मात्र से मोक्ष मान लिया है। कुछ साधक मौनी बने रहने में मोक्ष मानते हैं। कुछ लोग बहुत लम्बी-लम्बी जटा बढ़ाकर और भभूत लगाकर तप करते हैं। वे उसी से मोक्ष या परमात्मा के मिलने की आशा करते हैं। कुछ लोग शास्त्रों को खूब पढ़कर बौद्धिक एवं वाचिकज्ञान में ही फूले घूमते हैं। कुछ लोग संगीत, हस्तकला तथा अनेक कलाओं में गुणी बनकर उन्हीं का अहंकार गांठे बैठे रहते हैं। कुछ लोग अपने देह-बल एवं शूरवीरता दिखाने में अपनी बड़ाई समझते हैं। कुछ लोग कविता लिखने तथा मंच पर उन्हें सुनाने में अपने आप को बहुत बड़ा गौरवशाली मानते हैं। कुछ लोग बड़े-बड़े दान कर उसी के मद में इतराते रहते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि ये सारे गुण प्रशंसनीय हैं। किन्तु उच्च आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाये तो ये सारे गुण तभी गोबर हो जाते हैं जब इनसे सम्पन्न लोग मन-इन्द्रियों तथा विषयों के अधीन बने बिलबिलाते हैं ''जहाँ से उपजे तहाँ समाने, छूटि गये सब तबहीं।'' विषयों की मलिनता में ही सबके शरीर की रचना होती है। भव-बन्धनों से वही बच सकता है जो अपने आप को विषयों से बचा ले। भवबन्धन का व्यावहारिक स्वरूप है मन-इन्द्रियों के अधीन बना हुआ संसार में नाचना। जो विषयों की इच्छाओं में दीन बना रहता है उसका सारा ज्ञान-विज्ञान किस काम का ! जिसके ज्ञान-विज्ञान उसे परम संतुष्टि न दे सकें, मन-इन्द्रियों की गुलामी तथा नाना व्यसनों से न बचा सकें उसकी क्या प्रशंसा है।

'बायें दहिने तजू बिकारा, निजु कै हरिपद गहिया।' यहां बायें-दाहिने से मतलब है सभी तरफ से विकारों का त्याग करो। सद्गुरु कहते हैं कि जीवन की सर्वोच्च स्थिति प्राप्त करने के लिए न तो हठयोग करने की आवश्यकता है, न बाल उखाड़ने एवं घोर तप करने की आवश्यकता है, न सिर मुड़ाने, न

मौनी बनने तथा न जटाधारी बनने की जरूरत है। इसके लिए बहुत-से शास्त्रों के अध्ययन कर पंडित बनने की भी जरूरत नहीं है। कला-कौशल सीखने, देह को मोटवाने, देह से शूरवीर बनने, कविता लिखने तथा बड़े-बड़े दान करने की भी आवश्यकता नहीं है। इसके लिए केवल एक काम करना है—सभी मनोविकारों का त्याग।

आप जानते हैं कि लोग अनेक भाषा एवं शास्त्र पढ़ डालते हैं, अनेक कला-कौशल सीख लेते हैं, बहुत-सी कवितों एवं किताबें रच डालते हैं, बड़े-बड़े दंगलों में पहलवानों को पछाड़ देते हैं, बड़ी-बड़ी तपस्यों कर डालते हैं जैसे पंचाग्नितापन, जलशयन, ऊर्ध्वबाहु रहना, खड़ेश्वरी बने रहना, बाल उखाड़ना, जमीन के भीतर तीन-तीन दिन की समाधि लेना आदि। लोग ज्ञान-विज्ञान के बल पर वायुयान द्वारा आकाश में उड़ते हैं, जल पर तैरते हैं और अनेक प्रभावशाली कर्तव्य दिखाते हैं; परन्तु मन-इंद्रियों के व्यसनों एवं विकारों को नहीं त्याग पाते। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम जीवन में सर्वोच्च स्थिति चाहते हो, तो और कुछ कर पाओ या नहीं, तुम्हें जीवन के सारे विकारों को, विषयासक्ति की मलिनताओं एवं दुर्गुणों को सर्वथा छोड़ना पड़ेगा। विकारों का त्याग ही भजन है।

"निजु कै हरिपद गहिया" विकारों के त्याग के बाद क्या रह जाता है! सारी जड़ासक्ति विकार है और उसके सर्वथा दूर हो जाने पर केवल निर्विकार चेतनस्वरूप मात्र रह जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि यही हरिपद है, यही परमात्मपद है। "निजु कै हरिपद गहिया" निजस्वरूप ही हरिस्वरूप है। तुम ऐसा भाव ग्रहण करो कि तुम्हारी आत्मा ही परमात्मा है। जब तुम सारे जड़ाध्यास रूपी विकारों को छोड़कर अपनी आत्मा रूपी परमात्मा में स्थित हो जाओगे तब कुछ बाकी नहीं रह जायेगा। सारे जड़-दृश्यों का मोह छोड़ देने पर निज चेतन स्वरूप मात्र ही रह जाता है। यही तो सांख्य की भाषा में 'विशुद्धम् केवलम्' है। इसी को वेदान्त की भाषा में अद्वैत भी कह सकते हैं बशर्ते जड़-चेतन की अभिन्नता एवं चराचर व्यापक के स्वप्न न देखे जायें। क्योंकि जहां मन का सपना शुरू हुआ, पुनः दृश्य जगत में एवं विकारों में आ गये। जब बोध में निज चेतनस्वरूप के अलावा कुछ नहीं रह जाता है तब यही सर्वोच्च स्थिति है।

उक्त स्थिति का अनुभव कोई पूछे तो बोधवान उसे क्या बतायेगा! गूंगा गुड़ खाया हो तो उससे पूछने पर वह कैसे उसके स्वाद को बतायेगा! गूंगा तो गूंगा ही है, जबान वाला भी इतना ही कहेगा कि गुड़ मीठा है। उसका स्वाद अच्छा है। इसके अलावा पूछने वाले को गुड़ के स्वाद का अनुभव तो नहीं

करा सकता। पूछने वाले को गुड़ के स्वाद का अनुभव तब होगा जब वह पहले से गुड़ खाये हो या वर्तमान में खाये। इसी प्रकार स्वरूपस्थिति के सुख का अनुभव-रस जबान से नहीं बताया जा सकता। जब भौतिक-रस का वर्णन असंभव है, तब स्वरूपस्थिति-रस का वर्णन कैसे हो सकता है ! उसे तो वही जानेगा जो उसका अनुभव करेगा। वह स्वसंवेद्य है।

सत्य को असत्य परास्त नहीं कर सकता

शब्द-39

ऐसो हरि सो जगत लरतु है, पाण्डुर कतहूँ गरुड़ धरतु है॥ 1॥
मूस बिलाई कैसन हेतु, जम्बुक करै केहरि सों खेतू॥ 2॥
अचरज एक देखो संसारा, स्वनहा खेदै कुंजर असवारा॥ 3॥
कहहिं कबीर सुनो सन्तो भाई, इहै सन्धि काहु बिरलै पाई॥ 4॥

शब्दार्थ—हरि=आत्मज्ञानी। पाण्डुर=पनिहा सांप जो विषरहित होता है। गरुड़=एक पक्षी, कहा जाता है यह सांप को भी खा लेता है। खेतू=युद्ध। स्वनहा=श्वान, कुत्ता। कुंजर=हाथी। सन्धि=भेद, रहस्य, मर्म।

भावार्थ—ऐसे आत्मज्ञानी पुरुषों से संसार के लोग विवाद करते हैं। परन्तु क्या पनिहा सांप गरुड़ को पकड़ सकता है?॥ 1॥ चूहा बिल्ली का क्या बिगाड़ सकता है? यदि सियार सिंह से युद्ध करना चाहे तो उसकी बेवकूफी है॥ 2॥ संसार में एक आश्चर्य देखता हूं कि कुत्ता हाथी पर सवार व्यक्ति को खदेड़ना चाहता है॥ 3॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो ! सुनो, इसका भेद कोई बिरला पाया है कि आत्मज्ञानी पुरुष को कोई परास्त नहीं कर सकता, अर्थात सत्य को असत्य मिटा नहीं सकता॥ 4॥

व्याख्या—38वें शब्द के आखिर में कहा गया है—"बायें दहिने तजू बिकारा, निजु कै हरिपद गहिया।" अर्थात सारे मनोविकारों को छोड़कर और निजस्वरूप को ही हरिस्वरूप समझकर आत्माराम में रमो। फिर ऐसा स्वरूपस्थ पुरुष ही मानो हरि है। सद्गुरु इस 39वें शब्द में कहते हैं कि ऐसे आत्मज्ञानी रूप हरि से जगत के लोग विवाद करते हैं कि ये तो किसी का भजन ही नहीं करते। न तो ये राम कहते हैं न रहीम, न पूजा करते हैं न नमाज पढ़ते हैं, न मन्दिर जाते हैं न मस्जिद। जिसे बोध हो गया कि आत्मा ही परमात्मा है वह ऊपर क्यों हाथ उठाये ! उसका कोई बाहरी कर्मकांड नहीं होता जिससे संसार के लोग उसे समझ सकें कि यह कोई भजन-पूजन कर रहा है। अतएव अनाड़ी लोग उनसे वाक्-युद्ध करने आते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा ही कैसे परमात्मा हो सकता है? भला, यह जीव शिव कैसे हो जायेगा !

ज्ञानी संत हरि हैं, परमात्मा हैं, क्योंकि वे परम सत्य में स्थित हैं। संसार के अशुद्ध अंतःकरण के लोग उनकी निश्चिंतता, स्वच्छता एवं स्वच्छंदता का सुख देखकर जलते हैं। वे विवाद करके उनको उच्छिन्न करना चाहते हैं। जो सारे आडम्बरों से रहित सत्य में स्थित हैं ऐसे संतों की विद्यमानता में कितने खल लोग अपनी हानि समझने लगते हैं। इसलिए वे उन्हें उखाड़ने के चक्कर में पड़ जाते हैं। परन्तु ध्यान रहे, सत्य बड़ा अमोघ, अटल और स्थिर होता है। उसे सारा संसार मिलकर भी उखाड़ नहीं सकता। वस्तुतः विश्वसत्ता तो उसका सहायक रहती है, केवल कुछ मूढ़ जीव ही उसका विरोध करते हैं और वे अपने आप मुंह की खाते हैं।

सद्गुरु ऐसे मूढ़ जीवों के लिए निर्बल पनिहा सांप, चूहा, सियार तथा कुत्ते का रूपक देते हैं और संत के लिए सबल गरुड, बिल्ली, सिंह एवं हाथी-सवार का। जैसे गरुड का सांप कुछ नहीं कर सकता, बिल्ली का चूहा, सिंह का सियार एवं हाथी-सवार का कुत्ता कुछ नहीं बिगाड़ सकता, वैसे सत्य का असत्य कुछ नहीं बिगाड़ सकता। सत्य हरि है, असत्य उसका क्या कर सकता है। सारे उदाहरण बड़े मार्मिक, अकाट्य एवं मजेदार हैं, जरा, आप गंभीरता से इन पर सोचिए, आप को हंसी आ जायेगी। सद्गुरु ने अन्यत्र भी कहा है—"हस्ती चढ़िये ज्ञान की, सहज दुलीचा डारि। श्वान रूप संसार है, भूकन दे झखमारि।" हाथी पर बैठे हुए व्यक्ति का कुत्ते भौंककर क्या करेंगे ! जो सत्य में स्थित है उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

रट्टू सुग्गा मत बनो, राम को पहचानो

शब्द-40

पण्डित बाद बदे सो झूठा॥ 1॥
राम के कहै जगत गति पावै, खाँड़ कहै मुख मीठा॥ 2॥
पावक कहै पाँव जो डाहै, जल कहै तृषा बुझाई॥ 3॥
भोजन कहै भूख जो भाजै, तो दुनिया तरि जाई॥ 4॥
नर के संग सुवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै॥ 5॥
जो कबहीं उड़ि जाय जंगल में, तो हरि सुरति न आनै॥ 6॥
बिनु देखे बिनु अर्स पर्स बिनु, नाम लिये क्या होई॥ 7॥
धन के कहै धनिक जो होवै, निर्धन रहै न कोई॥ 8॥
साँची प्रीति विषय माया सो, हरि भक्तन की फाँसी॥ 9॥
कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बाँधे यमपुर जासी॥10॥

शब्दार्थ—बाद=विवाद, झगड़ा, बहस। बदे=कथन करना, पक्का करना। गति=मुक्ति। खांड़=चीनी। डाहै=जल जाये। भाजै=भग जाये, दूर हो जाये। सूवा=सुग्गा। यमपुर=मन की मलिनता, गर्भवास।

भावार्थ—पंडित लोग बहस करके जो यह पक्का करते हैं कि राम नाम जपने मात्र से मोक्ष मिल जायेगा, यह बात झूठी है॥ 1॥ यदि राम-राम कहने मात्र से संसार के लोग मुक्ति पा जाते हैं तो शकर-शकर कहने से मुख अवश्य मीठा हो जाना चाहिए॥ 2॥ इतना ही क्या, यदि आग-आग कहने से पैर गरम हो जायें, जल-जल कहने से प्यास बुझ जाये और भोजन-भोजन कहने से भूख भाग जाये तो केवल राम-राम कहने से संसार के लोग तर भी सकते हैं॥ 3-4॥ पिंजरे में बन्द शुक-पक्षी मनुष्य के साथ राम-राम कहता है, परन्तु वह राम के महत्त्व को नहीं जानता; और जब पिंजरे से निकलकर कदाचित जंगल में भाग जाता है, तब राम का ख्याल भी नहीं करता॥ 5-6॥ बिना देखे और बिना अनुभव किये, केवल नाम लेने से क्या होता है?॥ 7॥ यदि लोग केवल जबान से धन-धन कहने से धनी हो जाते, तो संसार में कोई निर्धन रहता ही नहीं॥ 8॥ संसार के विषयों और माया में हार्दिक प्रेम होना—यही हरि भक्तों के गले की फांसी है॥ 9॥ सद्गुरु कहते हैं कि एक राम के भजन बिना तुम वासनाओं में बंधकर यमपुर में जाओगे। यमपुर है घिनौने कर्म, यमपुर है गर्भवास॥ 10॥

व्याख्या—मुख से किसी नाम के लेते ही सारे पापों का भस्म एवं मोक्ष प्राप्त होने की मान्यता का पागलपन पुराकाल में नहीं था। पापों के क्षय तथा मोक्ष प्राप्ति के अनेक सस्ते नुस्खे धीरे-धीरे निकले। उनमें राम-नाम-जप मात्र से मोक्ष पा जाने की बात जोर पकड़ने लगी। कबीर साहेब के सैकड़ों वर्ष पूर्व से राम-नाम-जप आरम्भ हो गया था। उनके काल में यह कुछ जोर पकड़ रहा था। वैष्णवों के सम्पर्क में होने से राम-नाम का प्रभाव कबीर साहेब पर भी पड़ा था। उन्होंने दाशरथी राम को उपास्य न मानकर अंतरात्मा को माना था और उसी को उपासनीय राम कहा था। प्रचलित शब्द को स्वीकार कर उसको अपना अर्थ देना विवेकवान का काम है। कबीर साहेब ने यही किया। उन्होंने राम शब्द स्वीकार लिया, और कहा कि वह व्यक्ति की अंतरात्मा ही है। बीजक में बारम्बार राम शब्द आया है। जहां अंतरात्मा के लिए है वहां विधिपरक है और जहां आत्म-बाह्य है वहां निषेधपरक है। कबीर साहेब ने बीजक में "राम नाम भजु राम नाम भजु" निर्देश-वाक्य रूप में भी कई बार कहा है, परन्तु वह औपचारिक है। उन्होंने राम नाम को जानने तथा उस पर विचार करने के लिए ज्यादा कहा है।

रामोपासकों ने राम-नाम की बहुत महिमा बढ़ायी। उन्होंने कहा कि चाहे जितना पाप हो राम-नाम लेते ही सब भस्म हो जायेगा और जीव का मोक्ष हो जायेगा। कबीर साहेब राम से जुड़े थे, अतः उनको यह साधकों के लिए बड़ा

अहितकर लगा। कबीर साहेब धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र के वैज्ञानिक हैं। वे समाज को धोखा देने वाली बातों से नफरत करते हैं। उनका मंतव्य है कि समाज के मन में उत्साह भरने के नाम पर उसे धोखा न दिया जाये, किन्तु उसे सच्चा रास्ता बताया जाये। वह उस पर आज नहीं तो कल चलेगा। परन्तु यदि उसे हमने बिना पहुंचे ही पहुंचने का धोखा दे दिया है कि तुम पहुंच गये हो तो वह चलने का कभी नाम भी नहीं लेगा।

कुछ पंडित लोग बहस कर रहे थे कि राम-नाम कहने मात्र से जीव का मोक्ष हो जायेगा। तो कबीर साहेब ने पंडितों को दे ललकारा, और उनसे कहा कि ये तुम्हारी बातें झूठी हैं। झूठ को झूठ कहने में साहेब डरते नहीं थे। यह उनकी सबसे बड़ी खूबी थी। वे जो कुछ प्रतिपादित करते थे खरा सत्य रहता था। उसको सिद्ध करने के लिए उनके उदाहरण ज्वलंत होते थे। उन्होंने पंडितों से कहा कि न शकर कहने से मुख मीठा होता है न आग कहने से पैर गरम होते हैं, न पानी कहने से प्यास बुझती है और न भोजन कहने से भूख भगती है, फिर केवल राम कहने से मोक्ष कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है शकर, आग, पानी तथा भोजन भौतिक हैं। कहने मात्र से अवश्य इनका अनुभव नहीं होता, परन्तु नाम-जप मन से सम्बन्ध रखता है; अतः नाम जपने से मन पवित्र हो सकता है। यह बात ठीक है कि यदि मन लगाकर कोई ऐसा नाम जपा जाये जिसके लिए पवित्र अवधारणा है तो कुछ-न-कुछ अवश्य मन पवित्र होगा। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब हम किसी वस्तु में अपने मन को पूर्णतया लगा देते हैं, तब वह दूसरी तरफ नहीं जाता। अतएव कोई भी नाम जिसके प्रति पवित्र भाव है, जपना अच्छा है। परन्तु यह ध्यान रहे कि इतने मात्र से मोक्ष की कल्पना नहीं कर लेनी चाहिए। मोक्ष का तो अर्थ है जीव का बन्धनों से छूट जाना। जीव का स्वरूप क्या है, बंधनों का स्वरूप क्या है तथा जीव बन्धनों से कैसे छूट सकता है, इनका ज्ञान होना चाहिए और तत्पश्चात बंधनों का त्याग होना चाहिए, तब मोक्षदशा आती है। यह केवल किसी नाम रटने का फल नहीं हो सकता। तोतारटंत नाम जपने से कोई बड़ी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। एक उदाहरण लें—

'राम-राम' सुग्गा रटता है, राम नाम क्या वस्तु है, यह नहीं जानता। इसी प्रकार कितने लोग नाम-रटन तो खूब करते हैं, परन्तु राम क्या वस्तु है, यह नहीं जानते।

एक चिड़िया वाला चार सुग्गे लेकर बाजार में बेचने जा रहा था। एक महात्मा ने देखा और कहा कि भाई ! इन सुग्गों को छोड़ दो, इन्हें क्यों बन्द

कर रखे हो? उसने कहा—महाराज ! हमारी यही जीविका है। रोज दो-चार सुग्गे फंसाकर बेचता हूं और उसी से कुटुम्ब पालता हूं। महात्मा ने पांच रुपये देकर उन सुग्गों को ले लिया और अपने आश्रम पर ले जाकर उन्हें पढ़ाने लगे। महात्मा ने कहा—सुग्गो ! पढ़ो—

"बधिक आयेगा, जाल बिछायेगा, दाने डालेगा, मुझको फंसायेगा, निश्चय मैं नहीं फंसूंगा।"

सुग्गे उपर्युक्त मंत्र पढ़ लिये और भलीभांति अभ्यस्त कर लिये, तब महात्मा ने उन्हें छोड़ दिया। वे जंगल में उड़ गये और यही रटने लगे। धीरे-धीरे जंगल के सभी सुग्गे यही पढ़ लिये। चारों ओर से वहां यही शब्द हर क्षण होता था।

एक दिन चिड़िया फंसाने वाला आया। जंगल में पैर रखते ही उन सुग्गों की सावधानी के शब्द सुने। उसकी आकृति फीकी हो गयी। वह बेचारा समझा कि हमारा दावं अब नहीं लगेगा। जाकर अपने पिता से कहा कि जंगल के सभी सुग्गे यही कहते हैं—

"बधिक आयेगा, जाल बिछायेगा, दाने डालेगा, मुझको फंसायेगा, निश्चय मैं नहीं फंसूगा।"

पिता ने कहा—अरे ! जाल बिछाया भी कि नहीं? पुत्र ने कहा कि नहीं। पिता ने कहा कि जाल बिछाकर देख तो ! पुत्र गया और जंगल में जाल बिछा दिया। उसमें उसने दाने डाल दिये। सुग्गे आये और जाल में बैठकर दाने चुगने लगे, साथ-साथ अपने मंत्र का पाठ करने लगे—

"बधिक आयेगा, जाल बिछायेगा, दाने डालेगा, मुझको फंसायेगा, निश्चय मैं नहीं फंसूंगा।"

इधर बधिक ने डोरी खींची। सब सुग्गे फंस गये। परन्तु वे तो अपने मंत्र अब भी बड़ी उमंग में पढ़ रहे हैं। बधिक जब बाजार में सुग्गों को बेचने गया, तब भी वे अपना आलाप सुना रहे हैं—

"बधिक आयेगा, जाल बिछायेगा, दाने डालेगा, मुझको फंसायेगा, निश्चय मैं नहीं फंसूंगा।"

राम-नाम जप में भी प्रायः यही भावना काम कर रही है। राम तो अपना स्वरूप ही है; परन्तु मनुष्य यह भेद नहीं जानते। सारी वासनों त्यागकर उसमें स्थित नहीं होते। केवल जिह्वा से राम-नाम कहते रहते हैं।

धन-धन कहने से जैसे कोई धन नहीं पाता, वैसे केवल राम-राम कहने से राम का न परिचय होता है और न राम में स्थिति। हमें राम का परिचय करना होगा कि राम क्या है ! वस्तुतः सबका राम अपनी-अपनी चेतना है।

व्यक्ति का आत्मअस्तित्व ही रामस्वरूप है। उसमें तभी स्थिति होती है जब जीवन से विषय-वासनाओं का त्याग हो।

"साँची प्रीति विषय माया सो, हरि भक्तन की फाँसी।" साहेब कहते हैं कि यदि हरिभक्त लोग अपना हार्दिक प्रेम विषय-माया से रखते हैं तो यही उनके गले की फांसी है। इस फांसी के कटे बिना राम में विश्राम कैसे मिलेगा? मन एक है। उसमें राम रहे या काम। दोनों एक साथ नहीं रह सकते। केवल जबान से राम-राम कहते रहें और मन विषयों में तथा संसार के माया-मोह में डूबा रहे तो यह राम-भजन नहीं है। असली राम-भजन तब शुरू होता है जब मन वासनाहीन तथा मोह-माया-रहित हो जाये। यह विवेक उदय होने पर ही होगा। विवेक उदय करने के लिए स्वाध्याय, सत्संग एवं तत्त्वचिंतन की आवश्यकता है।

"कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बाँधे यमपुर जासी।" आप को आश्चर्य होगा कि इस शब्द के शुरू में तो कबीर साहेब कहते हैं कि राम-राम कहने से यदि मोक्ष हो जाता तब तो शकर-शकर कहने से मुख मीठा हो जाता, और इस शब्द के आखिर में कहते हैं कि एक राम के भजन बिना तुम बंधकर यमपुर में जाओगे। तो क्या यह परस्पर विरुद्ध बात है? विरुद्ध बिलकुल नहीं है। इस शब्द की शुरू पंक्ति से लेकर आठवीं पंक्ति तक सद्गुरु यह दिखाते हैं कि रट्टू सुग्गा बनने से काम नहीं चलेगा। उससे कोई बड़ी उन्नति होने वाली नहीं है। वे नवीं पंक्ति में बताते हैं कि हरिभक्तों का मुख्य बन्धन विषयों तथा मोह-माया का राग है। यदि यह छोड़ा जा सके तो मानो राम का सच्चा भजन हो रहा है। राम तो निजस्वरूप ही है, जब विषय-वासनों छूट गयीं तब मन निजस्वरूप में लीन हो गया। यही राम भजन है। यदि न हुआ तो जीव को बंधकर यमपुर में जाना पड़ेगा। क्या कबीर साहेब पौराणिकों की तरह यमपुर या यमलोक मानते थे? वस्तुतः कबीर साहेब ऐसा कुछ नहीं मानते थे। उस समय यमपुर शब्द का प्रचलन था। जो पाप करता है वह यमपुर में जाता है, यह उनके समय में लोक-चर्चा थी। इसलिए इस शब्द को उन्होंने भी स्वीकारा, परन्तु इसको अपना अर्थ दिया। कबीर साहेब के ख्याल से यमपुर दुर्वासनों हैं, मन की मलिनतों एवं घिनौने कर्म हैं। मन में काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता, दुख आदि का बने रहना यमपुर में निवास करना है तथा शील, क्षमा, करुणा, विवेक, वैराग्य, शांति एवं मानसिक प्रसन्नता का बने रहना स्वर्ग में निवास है। काम में लीन व्यक्ति यमपुर में है तथा राम में लीन व्यक्ति स्वर्ग में है। जो काम में लीन है वह बन्धनों में जकड़ा है तथा जो राम में लीन है वह मुक्त है।

छुआछूत पर विचार तथा उसका ऐतिहासिक अध्ययन

शब्द-41

पण्डित देखहु मन में जानी॥ 1॥
कहु धौं छूति कहाँ से उपजी, तबहिं छूति तुम मानी॥ 2॥
नादे बिन्दे रुधिर के संगे, घटही में घट सपचै॥ 3॥
अष्टकँवल होय पुहुमी आया, छूति कहाँ ते उपजै॥ 4॥
लख चौरासी नाना बहु बासन, सो सब सरि भौ माटी॥ 5॥
एकै पाट सकल बैठाये, छूति लेत धौं काकी॥ 6॥
छूतिहिं जेंवन छूतिहिं अँचवन, छूतिहिं जगत उपाया॥ 7॥
कहहिं कबीर ते छूति विवर्जित, जाके संग न माया॥ 8॥

शब्दार्थ—धौं=भला। छूति=छुआछूत का भाव। नादे=प्राणवायु। बिन्दे=वीर्य। रुधिर=रक्त। घटही में=नारी के गर्भाशय में। घट=शरीर। सपचै=पकता, पुष्ट होता एवं बढ़ता है। अष्टकँवल=माता के उदर से। पुहुमी=पृथ्वी। बासन=बरतन, शरीर। पाट=पीढ़ा, पृथ्वी। जेंवन=भोजन। अँचवन=पानी। उपाया=उत्पन्न। माया=विषयासक्ति एवं मोहासक्ति।

भावार्थ—हे पंडित! मन में समझकर देखो॥ 1॥ कहो भला, छूत कहां से पैदा हुई जिससे तुमने छुआछूत की भावना पैदा कर ली?॥ 2॥ प्राणवायु, वीर्य और रज इकट्ठे होकर शरीर की रचना शुरू होती है और माता के पेट में बच्चे का शरीर बढ़ता, पकता तथा पुष्ट होता है॥ 3॥ उसके बाद माता के पेट से बच्चा पैदा होकर जमीन पर आता है, फिर छूत कहां से पैदा हो गयी?॥ 4॥ चौरासी लाख योनियों के असंख्य शरीर सड़-सड़कर मिट्टी में मिलते हैं॥ 5॥ उसी एक जमीन रूपी पीढ़े पर प्रकृति ने सबको बैठाया है, फिर भला उनमें किसको अशुद्ध मानकर छूत लगा दी जाये?॥ 6॥ विचारकर देखा जाये तो भोजन में छूत है, पानी में छूत है, बल्कि छूत से तो सबकी पैदाइश ही है॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि छूत से वही बचा है जिसका मन विषयासक्ति एवं माया-मोह से रहित है॥ 8॥

व्याख्या—कुछ वर्ग के लोगों को अछूत मानना यह भारत के बाहर के देशों में भी किसी न किसी प्रकार है। अमेरिका एवं दक्षिण अफ्रीका में नीग्रो (काले) जाति के लोगों के प्रति गोरे लोग बड़ी घृणा करते हैं। वे अपने मकान भी उनको किराये पर नहीं देना चाहते। यहां तक कि गोरों के मोहल्लों में नीग्रो आ नहीं सकते। अब इधर कुछ उदारता बढ़ी है।

भारतवर्ष में और उसमें हिन्दूसमाज में छुआछूत की भावना बड़ी प्रबल है। भारत की दो परम्परों बहुत पुरानी हैं—ब्राह्मण एवं श्रमण। श्रमण परम्परा

में पहले और भी सम्प्रदाय थे, परन्तु वे सहस्राब्दियों से लुप्त हैं। अतएव दो ही के नाम उसमें लिए जा सकते हैं—जैन और बौद्ध। ये दोनों परम्परा ब्राह्मण-परम्परा से छुआछूत के मामले में काफी उदार हैं। उनमें भी बौद्ध ज्यादा उदार हैं। ब्राह्मण-परम्परा की मूल पुस्तक वेद हैं। उनमें छुआछूत की कहीं चर्चा नहीं मिलती। बल्कि यह चर्चा मिलती है कि हमारी पौशाला एक हो और हम एक साथ भोजन लें।[1] छुआछूत नाम की विकृति हिन्दू समाज में धीरे-धीरे फैली है।

भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ. पांडुरंग वामन काणे ने छुआछूत-भावना पैदा होने के कई कारण बताये हैं। वे लिखते हैं—"अस्पृश्यता केवल जन्म से ही नहीं उत्पन्न होती, इसके उद्‌गम के कई स्रोत हैं। भयंकर पापों एवं दुष्कर्मों से लोग जाति निष्कासित एवं अस्पृश्य हो जा सकते हैं। मनु (9/235-239) ने लिखा है कि ब्रह्महत्या करने वाले, ब्राह्मण के सोने की चोरी करने वाले या सुरापान करने वाले लोगों को जाति से बाहर कर देना चाहिए। न तो कोई उनके साथ खाये, न उन्हें स्पर्श करे, न उनकी पुरोहिताई करे और न उनके साथ कोई विवाह-सम्बन्ध स्थापित करे। वे लोग वैदिक धर्म से विहीन होकर संसार में विचरण करें। अस्पृश्यता उत्पन्न होने का दूसरा स्रोत है धर्म सम्बन्धी घृणा एवं विद्वेष, जैसा कि अपरार्क (पृष्ठ 923) एवं स्मृतिचंद्रिका (पृष्ठ 118) ने षटत्रिंशन्मत एवं ब्रह्माण्डपुराण से उद्धरण लेकर कहा है—"बौद्धों, पाशुपतों, जैनों, लोकायतों, कापिलों (सांख्यों), धर्मच्युत ब्राह्मणों, शैवों एवं नास्तिकों को छूने पर वस्त्र के साथ पानी में स्नान कर लेना चाहिए।" ऐसा ही अपरार्क ने भी कहा है।[2] अस्पृश्यता उत्पन्न होने का तीसरा कारण है कुछ लोगों का, जो साधारणतः अस्पृश्य नहीं हो सकते थे, कुछ विशेष व्यवसायों का पालन करना, यथा देवलक (जो धन के लिए तीन वर्ष तक मूर्तिपूजा करता है), ग्राम के पुरोहित तथा सोमलता विक्रयकर्ता को स्पर्श करने से वस्त्र-परिधान सहित स्नान करना पड़ता था। चौथा कारण है कुछ परिस्थितियों में पड़ जाना, यथा रजस्वला स्त्री के स्पर्श, पुत्रोत्पन्न होने के दस दिन की अवधि में स्पर्श, सूतक में स्पर्श, शवस्पर्श आदि में वस्त्र सहित स्नान करना पड़ता था (मनु 5/85)। अस्पृश्यता का पांचवां कारण है म्लेच्छ या कुछ विशिष्ट देशों का निवासी होना। इसके अतिरिक्त स्मृतियों के अनुसार कुछ ऐसे व्यक्ति जो गंदा व्यवसाय करते थे,

---

1. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः। (अथर्ववेद 3/30/6)
2. बौद्धान् पाशुपतांश्चैव लोकायतिकनास्तिकान्।
   विकर्मस्थान् द्विजान् स्पृष्ट्वा सचैलो जलमाविशेत्॥ (अपरार्क, पृष्ठ 923)

अस्पृश्य माने जाते थे, यथा कैवर्त (मछुआ), मृगयु (मृग मारने वाला), व्याध (शिकारी), सौनिक (कसाई), शाकुनिक (पक्षी पकड़ने वाला या बहेलिया), धोबी, जिन्हें छूने पर स्नान करके ही भोजन किया जा सकता था।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों को देखते हुए यही पता चलता है कि इस प्रकार धीरे-धीरे छुआछूत की भावना बढ़ती गयी। फिर शूद्र तथा अतिशूद्र कहलाने वाला एक बड़ा वर्ग समाज से उपेक्षित होता गया। डॉ. पांडुरंग जी लिखते हैं— "प्राचीनकाल में बहुत-से व्यवसाय वंशानुक्रमिक थे, अतः क्रमशः यह विचार ही घर करता चला गया कि वे लोग जो ऐसी जाति के होते हैं जो गंदा व्यवसाय करती है, जन्म से ही अस्पृश्य हैं। आज तो स्थिति यहां तक आ गयी है कि चाहे कुछ जातियों के लोग गंदा व्यवसाय करें या न करें जन्म से ही अस्पृश्य माने जाते हैं। आश्चर्य ! परन्तु पहले यह बात नहीं थी।"[2]

धीरे-धीरे तो यहां तक होता गया कि हल चलाकर अन्न पैदा करने वाले, सब्जी पैदा करने वाले, सूत कातने वाले, कपड़े बुनने वाले, कपड़े सीने वाले, कपड़े धोने वाले, तेल पेरने वाले, बाल बनाने वाले, मिट्टी या धातु के बरतन बनाने वाले, लकड़ी का काम करने वाले, अर्थात समाज के सभी कर्मकरों को शूद्र और अछूत कह डाला गया। उनकी कमाई के फल, अन्न, सब्जी, कपड़े, तेल, बरतन, पलंग, फाटक आदि तो प्रेम से अपना लिये गये, परन्तु उन्हें अछूत घोषित कर दिया गया। कर्मकर ही किसी समाज एवं देश के हाथ-पैर होते हैं, उन्हीं को यदि हीनभावना से देखा जाये और उन्हें अछूत तक घोषित कर दिया जाये तो यह कितना आत्मघाती प्रयास है ! ये सारे कर्मकर जिनको एकबारगी शूद्र घोषित कर दिया गया, उन्हें कहा गया, शूद्र ब्राह्मण की सेवा जलती हुई अग्नि के समान दूर से करें, परन्तु क्षत्रिय और वैश्य उनकी सेवा उनका स्पर्श करके कर सकते हैं।[3]

बिना सही आधार के केवल कल्पित जाति के आधार पर छुआछूत की भावना हिंदूसमाज का जबर्दस्त कोढ़ है। इस कोढ़ के लिए जिम्मेदार ब्राह्मण-पुरोहित है जिसे रूढ़ रूप में पंडित भी कहा जाता है। वस्तुपरक बुद्धि रखने वाले परमपारखी कबीर पंडितों से पूछते हैं कि हे पंडितो ! मन में विचारो और यह बताओ कि छुआछूत की भावना तुम्हारे मन में कहां से पैदा हो गयी

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 168।
2. वहीं, पृ. 169।
3. दूराच्छूद्रेणोपचर्यो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्।
   संस्पृश्यपरिचर्यस्तु वैश्येन क्षत्रियेण च॥ (महाभारत, अनुशासन पर्व, 59/33)

जिससे तुमने दूसरे लोगों को अछूत कह डाला। मानवमात्र के निर्माण की शुरुआत माता के गर्भाशय में होती है। वहां प्राण, रज और वीर्य से शरीर बनने का आरम्भ होता है। रज और वीर्य गंदे हैं। उनसे बनता हुआ शरीर महीनों माता के गंदे गर्भाशय में बढ़ता एवं पकता है। फिर वह नौ-दस महीने में "अष्टकँवल होय पुहुमी आया" तब "छूति कहाँ ते उपजै।" शरीर गंदगी से बना, माता का गर्भाशय जहां शरीर बना, वह भी गंदा और जिस द्वार से शरीर पैदा हुआ, वह भी गंदा। पैदा होने के बाद एक ही समान सभी के बच्चों की मलिनतों धोयी जाती हैं और सभी बच्चों को वैसे ही दूध पिलाया जाता है। यह दशा मानवमात्र की उत्पत्ति की है, फिर इसमें कौन पवित्र और कौन अपवित्र ठहरा?

एक बात इसमें आयी है "अष्टकँवल होय पुहुमी आया" प्रश्न होता है कि यह 'अष्टकँवल' क्या है? शरीर में गुदा और उपस्थ के बीच से लेकर खोपड़ी तक क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, सहस्रसार तथा सुरति—ये आठ चक्र एवं कमल[1] माने गये हैं। इन चक्रों या कमलों को नीचे से गिनने पर ऊपर का सुरतिकमल आठवां होता है और ऊपर से गिनने पर नीचे योनिद्वार में स्थित मूलाधार आठवां चक्र या कमल होता है। अतएव अर्थ हुआ कि नवजात शिशु अष्टकंवल-मूलाधार स्थानीय योनिद्वार से पृथ्वी पर पैदा होता है। कुछ विद्वान कहते हैं कि नाभिस्थान में रहने वाले मणिपूर चक्र को अष्टकंवल कहा जाता है। अन्य योगियों ने मणिपूर को दस-दलकमल का माना है, परन्तु कबीर साहेब ने इसे अष्टकमलदल का माना है। कबीर मंशूर का लेखक लिखता है—"कबीर साहेब तीसरे मणिपूर चक्र को आठ ही दलों का मानते हैं, बाकी सब योगी उसे दसदल का मानते हैं।"[2] इस दृष्टि से अर्थ हुआ कि अष्टकमलदल मणिपूरचक्र जो नाभि में स्थित है वहां से बच्चा पृथ्वी पर पैदा हुआ। अतएव अष्टकंवल चाहे नाभि में स्थित मणिपूर को माने और चाहे योनिद्वार में स्थित मूलाधार को माने, अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है। एक में अर्थ हुआ कि बच्चा पेट से बाहर हुआ और दूसरे में अर्थ हुआ कि योनि से बाहर हुआ। सार यह है कि सभी मनुष्यों की पैदाइश का मूल गंदा है। फिर इसमें कौन शुद्ध और कौन अशुद्ध हुआ? यदि कर्म से नहीं, जन्म से छुआछूत मानते हो, तो सब अछूत हुए।

---

1. इसका विवरण आगे 87वें शब्द की व्याख्या में देखें।
2. कबीर मंशूर, पृ. 427-428।

"लख चौरासी नाना बहु बासन, सो सब सरि भौ माटी। एकै पाट सकल बैठाये, छूति लेत धौं काकी।" कबीर साहेब मूल को पकड़ते हैं। वे कहते हैं कि पृथ्वी एक पीढ़ा है, पाटला है। इसी एक पीढ़े पर प्रकृति ने सबको बैठा दिया है। पृथ्वी में ही सारे जानवरों की लाशें सड़कर मिलती हैं और बहुत-सारी गंदगियां समाती हैं। उसी एक पीढ़े पर पंडित जी बैठे हैं और दूसरे सब बैठे हैं, फिर किसकी छूत रह गयी?

साहेब अन्त में बड़े मार्के की बात कहते हैं। वे कहते हैं—"छूतिहिं जेंवन छूतिहिं अँचवन, छूतिहिं जगत उपाया। कहहिं कबीर ते छूति विवर्जित, जाके संग न माया।" पैदाइश तो सबकी छूत से है ही, भोजन तथा पानी में भी छूत लगी ही रहती है। सबके भोजन को कभी-न-कभी मक्खियां छू ही लेती हैं और मक्खियां महा गंदी होती हैं। हवा में जो अशुद्धि मिली है वह तो हर चीज को छूकर उसे अपवित्र बना देती है। सर्वाधिक पवित्र माने जाने वाले गंगा जल में कौन-सी गंदगी नहीं मिली है! इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि वस्तुतः छुआछूत से वही अलग है जो मोह-माया से परे हो गया है।

मनुष्य को चाहिए कि वह शक्ति चले तक शुद्धता का व्यवहार बरते। मक्खी छू लेती है, गन्दी हवा छू लेती है, पानी में अशुद्धि मिली रहती है, इसलिए शक्ति चले तक शुद्धता का व्यवहार भी नहीं करना चाहिए—यह अभिप्राय कबीर साहेब का नहीं है। उनका तो अभिप्राय है कि अन्य प्रकार की छूत को तुम झेल लेते हो जो सचमुच बुरा है, परन्तु यदि पवित्र हाथ से कोई तुम्हारी वस्तु छू ले, तो उसे भिन्न जाति का समझकर तुम छूत का पाखण्ड करते हो। कुत्ते और कौए तुम्हारी थाली में अपने मुंह मार जायें तो तुम थाली को धोकर उसे शुद्ध मान लेते हो, परन्तु वह पवित्र मनुष्य का बच्चा तुम्हारी थाली में भोजन नहीं कर सकता, जिसे तुमने जन्मजात अछूत मान रखा है। तुम गाय के, कुत्ते के तथा बकरे के बच्चे को खेला सकते हो, परन्तु मनुष्य के बच्चे को अछूत मानते हो। यह सब पोंगापंथी विचार धर्म के नाम पर चलता है। "मनु और विष्णुधर्मसूत्र (23/52) ने लिखा है कि मक्खियों, हौज की बूंदों, मनुष्य की छाया, गाय, अश्व, सूर्यकिरण, धूल, पृथ्वी, हवा, अग्नि को पवित्र मानना चाहिए।"[1] इस सूची में गन्दी मक्खियों तक को भी पवित्र मानने की राय दी गयी है, परन्तु केवल उस मानव को ही पवित्र मानने की राय नहीं दी गयी जिसे कभी शूद्र कह दिया गया था।

वस्तुतः जन्म से कोई अछूत नहीं है। कोई अपने गन्दे कर्म से अछूत हो सकता है, वह भी उसी समय तक जब तक वह गन्दा कर्म करता है। यदि

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 1, पृ. 170।

वह गन्दा कर्म छोड़ दे तो अछूत नहीं है। गन्दा कर्म है हिंसा का काम, जैसे बधिक या कसाई का काम। मांसाहार गन्दा काम है। एक शाकाहारी व्यक्ति मांसाहारी के हाथ का भोजन नहीं कर सकता। हां, यदि वह मांसाहार छोड़ दे, तो उसके हाथ का भोजन करने में कोई बुराई नहीं। जिसके अंग गन्दे हैं, कपड़े गन्दे हैं, बरतन गन्दे हैं; जो शुद्धाशुद्धि का समुचित ध्यान नहीं रखता, उसके हाथ का भोजन करना गलत है। अशुद्धता अछूत है तथा शुद्धता ठीक है। हम मिथ्या जाति-पांति के अहंकार में डूबकर यह भेदभाव की दीवार बना रखे हैं। श्री रामरहस साहेब कहते हैं—

अहंकार आने नहीं, मैं उत्तम यह नीच।
एकत्व सबही सम लखै, मानुष खानि के बीच॥ (पंचग्रन्थी)

टट्टी फेंकना गन्दा काम नहीं है। यह तो शुद्ध काम है। टट्टी फेंकने वाला जगह को स्वच्छ करता है। अतः उसका काम स्वच्छ है। सब मनुष्य सुबह उठकर अपनी-अपनी टट्टी साफ करते हैं। यदि टट्टी साफ करने वाले अछूत हैं तो संसार के सभी मनुष्य अछूत हैं। जब आदमी टट्टी की सफाई में लगा हो उस समय वह अछूत है। उसके बाद जब वह नहा-धो कर स्वच्छ हो गया तब शुद्ध है। भिन्न देश तथा भिन्न सम्प्रदाय के लोगों को अछूत कहना अज्ञान एवं द्वेष का फल है। एक दृष्टि से देखें तो जन्म से सब अछूत हैं और इसमें किसी का ठिकाना नहीं होगा। दूसरी दृष्टि से देखें तो जन्म से कोई अछूत नहीं, किन्तु गन्दगी ही अछूतपन का लक्षण है, उसे सबको दूर करना चाहिए।

इस शब्द का सार उद्देश्य ही मननीय है। कबीर साहेब कहते हैं कि तुम्हारी पैदाइश और तुम्हारा सब कुछ अशुद्ध है। अशुद्धि से वही मुक्त है जो माया-मोह का त्यागी है। "यह संसार सकल है मैला, राम गहे ते सूंचा।" सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपने मन की मलिनता तो दूर नहीं करते हो, बस, दूसरों को अछूत सिद्ध करते रहते हो।

मोक्ष-विचार

शब्द-42

पण्डित शोधि कहो समुझाई, जाते आवागमन नशाई॥ 1॥
अर्थ धर्म औ काम मोक्ष कहु, कौन दिशा बसे भाई॥ 2॥
उत्तर कि दक्षिन पूरब किपच्छिम, स्वर्ग पताल कि माहीं॥ 3॥
बिना गोपाल ठौर नहिं कतहूँ, नर्क जात धौं काहीं॥ 4॥
अनजाने को स्वर्ग नर्क है, हरि जाने को नाहीं॥ 5॥

जेहि डर से भव लोग डरतु हैं, सो डर हमरे नाहीं॥ 6॥
पाप पुण्य की शंका नाहीं, स्वर्ग नर्क नहिं जाहीं॥ 7॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जहाँ का पद तहाँ समाई॥ 8॥

शब्दार्थ—शोधि=खोज एवं परख कर। माहीं=मध्य। गोपाल=ब्रह्म । धौं=भला। भव लोग=संसार के लोग। पद=आधार, आश्रय, स्वरूप।

भावार्थ—हे पंडित ! अच्छी तरह समझ-विचारकर जनता को उपदेश दो, जिससे उनके जन्म-मरण का बन्धन नष्ट हो॥ 1॥ हे भाई, यह बताओ कि अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष किस दिशा में रहते हैं ?॥ 2॥ वे उत्तर रहते हैं कि दक्षिण, पूर्व रहते हैं कि पश्चिम, आकाश में रहते हैं कि पाताल में, या मध्य अर्थात पृथ्वी पर रहते हैं ?॥ 3॥ कहा जाता है कि बिना ब्रह्म के कोई जगह खाली नहीं है, अर्थात सब कुछ ब्रह्म ही है, तब भला नरक कहां है जहां नास्तिक लोग जाते हैं ?॥ 4॥ वस्तुतः जिनको सत्य और असत्य का पता नहीं है ऐसे अनजान लोग ही स्वर्ग और नरक की कल्पना में भटकते हैं। परन्तु जिसने यह जान लिया कि हरि अपना आत्मस्वरूप ही है उसके मन में कहीं आने-जाने का भ्रम नहीं होता॥ 5॥ अतएव जिस शास्त्र-जाल के बहकावे में पड़कर संसार के लोग भयभीत रहते हैं वह भय हमें नहीं है॥ 6॥ क्या पाप है और क्या पुण्य है इसके विषय में मुझे शंका नहीं है, इसके लिए मुझे शास्त्रों से पूछना भी नहीं है। न हमें स्वर्ग जाना है और न नरक जाना है॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो ! सुनो, जैसे हर वस्तु अपने आधार एवं आश्रय में लीन होती है, वैसे हर व्यक्ति का आश्रय अपना आपा, अपनी चेतना एवं अपनी आत्मा ही है। अतएव जीव का निजस्वरूप में स्थित हो जाना ही मोक्ष है। कहीं अन्यत्र आना-जाना नहीं॥ 8॥

व्याख्या—जिसकी बुद्धि सत्यासत्यविवेकिनी होती है उसकी बुद्धि पंडा कहलाती है और जिसकी बुद्धि पंडा होती है, वह पंडित होता है। अतएव जो सच्चा पंडित होता है वह तो समझता है कि सत्य क्या है और असत्य क्या है। ऐसे पंडितों का कबीर साहेब आदर करते हैं। वे उनके विषय में कहते हैं—"कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय विचारा।[1] कहहिं कबीर सुनो हो संतो, बूझो पंडित ज्ञानी।[2] पंडित सो बोलिये हितकारी।"[3] इत्यादि। परन्तु संसार में पंडित नामधारियों की भीड़ है जो पोथी-पुराणों के आधार पर पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक एवं मोक्ष की अयुक्त व्याख्या करते रहते

---

1. बीजक, शब्द 53।
2. बीजक, शब्द 94।
3. बीजक, रमैनी 70।

हैं। कबीर साहेब ने ऐसे पंडितों को टोका है। साहेब कहते हैं कि हे पंडितो, मोक्ष-विषय बड़ा उच्च है। उसे गहराई से सोचो। वह अमुक नाम जपने, अमुक नदी में नहाने, अमुक कर्मकांड करने, अमुक देवता को खुश करने आदि से नहीं होता। मोक्ष तत्त्व का अनुभव करने के लिए तो आत्मशोधन करना पड़ता है। "शोधि कहो समुझाई" बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। कौन बंधा है, किसमें बंधा है, कैसे बंधा है, कैसे छुटेगा, छूटने के बाद स्थिति क्या होगी? इन महत्त्वपूर्ण विषयों के अन्वेषण की आवश्यकता है। विवेकी भावुक बनकर यह नहीं कहता है कि अमुक-अमुक कर्मकांड से मोक्ष मिल जायेगा। जीव विषयों में राग के कारण बंधा है, सत्संग एवं स्वविवेक से समझकर उन्हें छोड़ने पर जीव का मोक्ष होता है। निजस्वरूप में स्थिति ही मोक्ष है। इन बातों को समझकर जब यह रहनी में उतर आती है तब मोक्ष है। जिसका मन अनासक्त होकर आत्मलीन हो गया, वह मुक्त है। इस विषय को जानकर मुमुक्षुओं को उपदेश देने से उनको पथ मिलेगा, उनके बंधन कटेंगे।

"अर्थ धर्म औ काम मोक्ष, कहु कौन दिशा बसे भाई।" पंडित लोग जनता को उपदेश करते हैं कि व्यक्ति अमुक तिथि को यदि प्रयाग त्रिवेणी में, काशी में, अयोध्या में, पुष्कर में नहाये तो मुक्त हो जायेगा, 'जो जाय बद्री सो ना आवे वोद्री।' ब्रह्मसूत्र (4/2/1-21 तथा 4/3/1-7) में कहा गया है कि मुक्तजीव ब्रह्मलोक की यात्रा करता है। भारतीय परम्परा में अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं। उनमें मोक्ष मुख्य पुरुषार्थ है। कबीर साहेब कहते हैं कि ये मोक्षादि पुरुषार्थ—पुरुष के प्रयोजन, किस दिशा में बसते हैं? वस्तुतः ये मनुष्य के शरीर में ही बसते हैं। इसके लिए किसी दिशा या लोक में यात्रा नहीं करना पड़ता। श्रम करने से धन मिलता है, संयम करने से धर्म बढ़ता है, शुभ पथ पर चलने से एवं इच्छाओं को जीतने से मानो कामनों पूरी होती हैं और वासनाओं का सर्वथा अंत मोक्ष है। ये सब मानव के शरीर में ही रहते हैं। उसी के श्रम का सब फल है। ये नाना दिशाओं में दौड़ने से नहीं सिद्ध होते। हां, इनके लिए सच्चे सद्गुरु एवं सन्तों की संगत की खोज करनी चाहिए।

"बिना गोपाल ठौर नहिं कतहूँ, नर्क जात धौं काहीं।" पंडित लोग यह भी कहते हैं कि सारा विश्व ब्रह्म ही है। साहेब कहते हैं कि फिर नरक कहां है? सब कुछ ब्रह्म ही नहीं है, किन्तु माया भी है। सब कुछ चेतन ही नहीं है, जड़ भी है। लोगों ने भावावेश में कह दिया कि सब कुछ ब्रह्म ही है। बस, इसको परम विधि वाक्य मानकर बिना सोचे-विचारे इसके पीछे पड़ गये। संसार में

जड़ अलग है, चेतन अलग है। चेतन ही ब्रह्म कहा जा सकता है, जड़ नहीं। यदि जड़ को भी ब्रह्म कहा जाये तो उसके भाव पर विचार करना पड़ेगा, जैसे जलम् ब्रह्म, अन्नम् ब्रह्म आदि। तो यह जल और अन्न की महिमा में कहा गया है न कि वे चेतन हो जायेंगे। बिना विचार किये लोग कहते रहते हैं कि सब कुछ ब्रह्म ही है। ऐसा मान लेने पर जड़-चेतन, बंध-मोक्ष, विधि-निषेध, भक्ष्य-अभक्ष्य, ग्राह्य-त्याज्य सब पर पानी फिर जाता है। इसी का परिणाम है कि कितने तथाकथित ब्रह्मवादी भोग-योग एक में मिलाकर हांकते रहते हैं—"भोगहुं विषय कि त्यागहुं इन्द्रिय, मोको लगे न रंचक रंग।"[1]

"अनजाने को स्वर्ग नर्क है, हरि जाने को नाहीं।" पंडित लोग स्वर्ग और नरक की व्याख्या भी बड़ी लंबी-चौड़ी करते रहते हैं। जो उनके मान्यतानुसार कर्मकांड से चलता हो उसे वे कहते हैं कि वह स्वर्ग में जायेगा और जो उनके कर्मकांड के अनुसार नहीं चलता, अपितु विचार करता है, उसे वे कहते हैं कि वह नरक में जायेगा। एक-एक एकादशी व्रत करने से बहुत दिनों तक स्वर्ग में निवास बताया गया है। यज्ञ के नाम पर अमुक प्रकार से होम करने से, अमुक तीर्थ-यात्रा से, व्रत से, नाम-जप से लंबी-लंबी अवधि तक स्वर्गवास की बात बतायी गयी है। पवित्र कर्मों से स्वर्ग तथा बुरे कर्मों से जीव का नरकवास माना गया। यह तो तथ्य है कि अपने अच्छे-बुरे कर्मों से जीव को आज तथा आगे सुख-दुख की प्राप्ति होती है। स्वर्ग-नरक का वर्णन एक रूपक है। वस्तुतः पंडितों ने जनता को बुरे मार्ग से हटाकर अच्छे मार्ग में लगाने के लिए ही यह स्वर्ग-नरक की कल्पना की है। फिर इस कल्पना का दुरुपयोग भी किया गया। बड़े सस्ते-सस्ते नुस्खे स्वर्ग पाने के बने तथा अपने विचारों से भिन्न विचार वालों को नरक में जाने की बातें भी कही गयीं।

सद्गुरु कहते हैं कि ये स्वर्ग और नरक के प्रलोभन और भय तो अज्ञानी जीवों के लिए हैं। हरि को समझने वाले के लिए इनकी कोई आवश्यकता नहीं है। वह समझता है कि मेरा चेतनदेव एवं आत्मदेव ही हरि है जो नित्य प्राप्त है, उसे पाने के लिए किसी स्वर्ग में जाना नहीं है। पवित्र मन वाला मानो सब समय स्वर्ग-सुख भोगता है। वह मन की मलिनता को नरक समझता है और उससे अपने आप को रहित रखता है। वह सारी मलिनताओं को छोड़कर निरन्तर अपनी आत्मा रूपी परमात्मा में विहरता है। उसे नरक में जाने का भय नहीं तथा अलग से स्वर्ग में जाने की आवश्यकता नहीं।

---

1. विचार सागर।

"जेहि डर से भव लोग डरतु हैं, सो डर हमरे नाहीं।" कोशकारों ने भव के अर्थ उत्पत्ति, जन्म, होना, संसृति, प्राप्ति, संसार, अग्नि, शिव, कुशल[1] आदि किये हैं। यहां भव का अर्थ संसार है। भवलोग का तात्पर्य हुआ संसार के लोग। सद्गुरु कहते हैं कि संसार के लोग जिस डर से डरते हैं वह डर मुझे नहीं है। संसार के लोग किस डर से डरते हैं ? वह डर है पुरोहितों का। हर मजहब का पुरोहित जो जनता के आचार का उपदेष्टा है, उसने अपने स्वार्थ के लिए बड़ी-बड़ी धांधलियां मचायी हैं। उसने धर्म के नाम पर समाज को विभाजित एवं विखंडित किया और जनता को अंधविश्वास में डालकर उनका बौद्धिक तथा आर्थिक शोषण किया। उन्होंने जनता को अपनी पकड़ में रखने का सदैव प्रयत्न रखा। कबीर साहेब कहते हैं कि मुझे किसी भी मजहब के पुरोहितों का डर नहीं है। मैं बुद्धि को तिलांजलि देकर चलने वाला नहीं हूं। मैं स्वयं देखकर चलता हूं और लोगों को राय देता हूं कि वे भी स्वयं देखकर चलें। पुरोहित, पंडित, महात्मा, गुरु—सब मान्य हैं; परन्तु अपने विवेक को खोकर नहीं।

"पाप पुण्य की शंका नाहीं, स्वर्ग नर्क नहिं जाहीं।" कबीर साहेब कहते हैं कि मुझे इसमें शंका नहीं कि पाप क्या है और पुण्य क्या है? मैं पाप और पुण्य जानने के लिए किसी शास्त्र-प्रमाण की आवश्यकता नहीं समझता। यदि मैं शास्त्र देखकर पाप-पुण्य निर्धारित करूं तो मुझे यज्ञ और देवपूजन के नाम पर पशु-वध, मांस-भक्षण,[2] जन्म से ही किसी वर्ग को ऊंच तथा किसी वर्ग को नीच मानने के लिए विवश होना पड़ेगा जो मानवता के विरुद्ध है। किसी जीव को सताना पाप है तथा किसी जीव के दुख को दूर करना एवं उसे सुख-सुविधों पहुंचाना पुण्य है। मानव मात्र को मूलतः समान मानना और उनसे प्रेम रखना तथा जीव मात्र पर करुणा रखना यह पुण्य है। मानव में जन्म से ही किसी को नीच और अछूत मानना तथा किसी को जन्म से ही उच्च तथा पूज्य मानना गलत है। पाप-पुण्य तथा कर्तव्याकर्तव्य क्या है? यह मनुष्य की अंतरात्मा खुद बताती है। साहेब कहते हैं कि मुझे स्वर्ग और नरक में भी नहीं जाना है। मन में मलिनता है ही नहीं, इसलिए नरक का कोई प्रश्न ही नहीं है। मन सदैव शुद्ध है, मेरे मन में प्राणिमात्र के लिए प्रेम एवं करुणा है, इसलिए मैं निरन्तर स्वर्ग में निवास करता हूं। इसलिए स्वर्ग और नरक के प्रलोभन और भय का नाश हो गया। मैं चित्त की निर्मलता रूपी स्वर्ग में निरन्तर विहरण करता हूं।

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।
2. आगे 93 शब्द की व्याख्या देखें।

रही मोक्ष की बात, जो जीवन का उच्चादर्श है। उसके लिए सद्गुरु कहते हैं—"जहाँ का पद तहाँ समाई।" हर वस्तु अपने आश्रयस्थल में लीन होती है। यह जीव न किसी का आधार है न आधेय, किन्तु निराधार है। 'असंगो अयम् पुरुषः' यह चेतन पुरुष असंग है, अकेला है। अतः यह वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस आत्मा का आश्रय स्वयं आत्मा ही है। जीव को छोड़कर जीव का अन्य आश्रय नहीं है। जब तक जीव वासनाओं में बहता है तब तक बंधन है और जब वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो गया, वही मोक्ष है। मोक्ष में कहीं आना-जाना नहीं है। जहां मन नहीं, वाणी नहीं, प्रकृति-क्षेत्र नहीं, केवल स्वरूपस्थिति है, यही मोक्षपद है। अतएव "जहाँ का पद तहाँ समाई" वासनाहीन जीव अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

शब्द-43

पण्डित मिथ्या करहु विचारा, ना वहाँ सृष्टि न सिरजनहारा॥ 1॥
थूल अस्थूल पौन नहिं पावक, रवि शशि धरणि न नीरा॥ 2॥
ज्योति स्वरूप काल नहिं जहँवा, बचन न आहि शरीरा॥ 3॥
कर्म धर्म किछुवो नहिं उहँवा, ना वहाँ मन्त्र न पूजा॥ 4॥
संजम सहित भाव नहिं जहँवा, सो धौं एक कि दूजा॥ 5॥
गोरख राम एकौ नहिं उहँवा, ना वहाँ वेद विचारा॥ 6॥
हरिहर ब्रह्म नहिं शिव शक्ती, तीर्थउ नाहिं अचारा॥ 7॥
माय बाप गुरु जहँवा नाहीं, सो धौं दूजा कि अकेला॥ 8॥
कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला॥ 9॥

शब्दार्थ—वहाँ=निरपेक्ष मोक्षतत्त्व। थूल=स्थूल। अस्थूल=सूक्ष्म। काल=समय की अवधि। संजम=संयम—ध्यान, धारणा और समाधि। एक=असंग। दूजा=द्वैत।

भावार्थ—हे पण्डित ! निरपेक्ष मोक्षतत्त्व में कुछ अन्य के होने की बात यदि सोचते हो तो तुम व्यर्थ ही विचार करते हो। न वहां सृष्टि है न रचयिता॥ 1॥ न वहां स्थूलतत्त्व है न सूक्ष्मतत्त्व है, न हवा है न आग है, न सूरज है न चांद है, न धरती है न पानी है॥ 2॥ न वहां ज्योति स्वरूप है न समय की अवधि, न वाणी है और न शरीर॥ 3॥ वहां कर्म-धर्म कुछ नहीं है। न वहां मन्त्र है न पूजा॥ 4॥ वहां धारणा, ध्यान तथा समाधि रूपी संयम के सहित दूसरे का अस्तित्वबोध नहीं है, फिर वहां एक कहोगे कि दूसरे की उपस्थिति भी॥ । 5॥ वहां न गोरख हैं न अवतार माने गये राम हैं। वहां वेद-विचार भी नहीं है॥ 6॥ वहां विष्णु, महादेव, ब्रह्मा, शिव-शक्ति कुछ नहीं।

वहां तीर्थ और आचार के होने का भी कोई प्रश्न नहीं है॥ 7॥ वहां माता, पिता और गुरु के होने की भी कोई गुंजाइश नहीं है। फिर बताओ कि वह किसी अन्य के साथ है या अकेला है?॥ 8॥ कबीर साहेब कहते हैं जो आज इस तत्त्व को समझ ले, वह गुरु है। मैं उसका शिष्य बनने के लिए तैयार हूं॥ 9॥

व्याख्या—42वें शब्द में उठाये गये विषय को इस शब्द में भी सद्गुरु ने लिया है। प्रायः पण्डितजन मोक्ष को भी भौतिक वस्तु बना डालते हैं। वे पुराणों में कहते हैं कि एक दिव्य लोक है। वहां परमात्मा निवास करता है। वहां से वह समय-समय पर सृष्टि करने के लिए उतरता है। उसी की उपासना करने से उसका दिव्य धाम मिलता है। वह ज्योतिस्वरूप है। वह अनेक सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक चमकता है। वहां ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति आदि सब निवास करते हैं। वहां निरन्तर ध्वनि होती रहती है। वह दिव्य धाम अनन्त सृष्टि का केन्द्र बिन्दु है। देखिए वेदांतदर्शन—"वाणी तथा इन्द्रियां मन में मिल जाती हैं, मन प्राण में, प्राण अध्यक्ष जीवात्मा में, आत्मा पांचों भूतों (तत्त्वों) में, अर्थात सूक्ष्मशरीर में स्थित होकर जीव ब्रह्मलोक की यात्रा करता है। मुक्तात्मा शरीर से निकलकर सूर्य की किरणों में मिलकर ब्रह्मलोक को चला जाता है। वह सूर्य-किरणों से आगे दिन को, दिन से शुक्लपक्ष को, शुक्लपक्ष से उत्तरायण छह महीने को, छह महीने से संवत्सर को, संवत्सर से सूर्य को, सूर्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत को, वहां से अमानव पुरुष उस मुक्तात्मा को ब्रह्म तक पहुंचा देते हैं। उन मुक्तात्माओं को संकल्प मात्र से भोगों की प्राप्ति होती है। जैसे आग अनेक दीपों में प्रकाश कर जाती है, वैसे मुक्तात्मा अनेक देहों को धर सकता है।"[1]

कबीर साहेब कहते हैं कि हे पंडित ! यह सब तुम व्यर्थ विचार करते हो। मोक्षावस्था में चांद, सूर्य, पवन, पानी, शरीर, प्राण ये सब कुछ नहीं होते। कबीर साहेब के जमाने में गोरखनाथ जी की बड़ी महिमा थी और श्री राम की महिमा तो पहले से ही थी। साहेब ने कहा कि ठीक है कि ये महापुरुष अपनी-अपनी जगह पर बड़े हैं, परन्तु तुम्हारे मोक्षस्वरूप में इनसे कोई सम्बन्ध नहीं होगा। धारणा, ध्यान और समाधि को योग की भाषा में संयम कहते हैं। साहेब कहते हैं कि देहधारी साधक इसका उपयोग करता है; परन्तु विदेह मोक्ष में यह भी नहीं है। अर्थात किसी आधारबिन्दु में धारणा, ध्यान तथा समाधि की जाती है। विदेह मोक्षावस्था में जहां मन ही नहीं है तो यह

---

1. वेदांत दर्शन के चौथे पाद में देखें।

संयम किसमें तथा वहां दूसरे का अस्तित्वबोध कहां। वहां तो अकेला असंग चेतन है। वहां उससे पृथक दूसरे की बात ही नहीं हो सकती। वहां वेद-विचार का क्या स्थान! जहां स्थूल-सूक्ष्म शरीर नहीं, वहां जीव का दृश्य जगत से किसी प्रकार सम्बन्ध होने की गुंजाइश कहां हो सकती है!

माता, पिता एवं गुरु का होना देह सम्बन्ध में ही संभव है। शुद्ध चेतन मात्र एवं मोक्षावस्था में यह सब कुछ नहीं। सदेह में ही जब साधक संकल्पों को छोड़कर स्वरूप में स्थित होता है, तब वहां केवल शुद्ध चेतन की स्थिति होती है। वहां अन्य कुछ नहीं होता, फिर विदेह मोक्ष में तो कहना ही क्या! वहां तो केवल प्राण निकल गये और चेतन अपने आप रह गया। उसे न कहीं आना है न जाना। सद्गुरु पंडित से पूछते हैं कि स्वरूपस्थिति में "दूजा कि अकेला" वहां अकेला है कि दूसरा और कुछ है? वस्तुतः वहां कोई दूसरा नहीं। वहां चेतन मात्र है। इस विचार का श्रुतियां भी समर्थन करती हैं तथा जैन और बौद्ध विचार भी।

सद्गुरु कहते हैं कि जो आज इस विषय को समझ ले, वह गुरु है, महान है, कृतार्थ है। मैं उसका चेला बनने के लिए तैयार हूं । "अबकी बूझै" में बूझने में रहनी भी है। अर्थात जो इसे समझकर निजस्वरूप में स्थित हो जाये, वह गुरु है। स्वरूपस्थ व्यक्ति ही तो गुरु है, महान है। साहेब उसके सामने झुकने के लिए तैयार हैं। यह उनकी प्रसिद्ध विनम्रता है। जो आज सत्य समझकर अपना कल्याण करे, कबीर साहेब उसको उच्च दृष्टि से देखते हैं, उसे आदर देते हैं। यह सत्यशोधकों एवं कल्याणार्थियों के लिए कितना बड़ा प्रोत्साहन है।

थोड़ा स्वयं उस स्थिति का अनुभव करके देखो। सारे संकल्पों को छोड़ दो। यदि सारे संकल्प छूट गये, तो क्या रहा! संकल्पों में ही जगत दिखता है। संकल्पों के शांत हो जाने पर जीव का जगत से सम्बन्ध कट जाता है। तब वह केवल शुद्ध चेतन रह जाता है। वहां सारा प्रपंच शांत है। जो यह स्थिति प्राप्त करे वह प्रशंसा-भाजन है। यह सारे सम्प्रदायों से परे, परमतत्त्व एवं मोक्ष की सर्वोच्च व्याख्या है।

माया-विचार

शब्द-44

बुझ बुझ पण्डित करहु विचारा, पुरुषा है कि नारी॥ 1॥
ब्राह्मण के घर ब्राह्मणी होती, योगी के घर चेली॥ 2॥
कलमा पढ़ि पढ़ि भई तुरुकनी, कलि में रहत अकेली॥ 3॥

बर नहिं बरे ब्याह नहिं करे, पुत्र जन्मावनहारी॥ 4॥
कारे मूँड़ को एकहु न छाँड़ी, अजहूँ आदि कुमारी॥ 5॥
मैके रहै जाय नहिं ससुरे, साँई संग न सोवों॥ 6॥
कहैं कबीर मैं युग युग जीवों, जाँति पाँति कुल खोवों॥ 7॥

शब्दार्थ—ब्राह्मणी=ब्राह्मणपन, छलपूर्ण बुद्धि। चेली=शिष्या बनकर मोहित करने वाली। कलमा=मुसलमानों के धर्म विश्वास का मूलमंत्र—"ला इलाह इल्लिल्लाह मुहम्मद रसूलिल्लाह।" तुरुकनी=मुसलमानपन, भ्रामक बुद्धि। कलि=कलिकाल, पाप बुद्धि। बर=दूल्हा। बरे=वरण करना, ब्याह करना। कारे मूँड़=काले बाल वाले नवयुवक, तात्पर्य में अज्ञानी मनुष्य। आदि=शुरू, सदा से, मूलतः। कुमारी=कुंआरी। मैंके=नैहर, सांसारिकता, प्रपंचासक्ति। ससुरे=ससुराल, ज्ञान-दशा। साँई=स्वामी, चेतन स्वरूप, आत्मा। युग-युग=सदा के लिए।

भावार्थ—हे पण्डित ! बारम्बार विचार करके समझो कि यह माया नारी है या पुरुष। अर्थात माया भले स्त्रीलिंग है, परन्तु अपनी प्रबल गतिविधियों से वह पुरुष-जैसी बलवती लगती है॥ 1॥ यह माया ब्राह्मणों के घर आकर उनकी छलबुद्धि बन गयी, और उन्हें छलने लगी; यह योगियों एवं साधु-संन्यासियों के आश्रमों में आकर चेली बन गयी और उन्हें छलने लगी॥ 2॥ यह माया कलिकाल में कलमा पढ़-पढ़कर एक नयी भ्रामक बुद्धि बन गयी कि ईश्वर एवं सत्य का द्वार इसलाम, कुरान एवं मुहम्मद ही है, अन्य नहीं॥ 3॥ यह माया ऐसी स्त्री है कि किसी दूल्हे का वरण नहीं करती और अपना किसी एक से ब्याह नहीं करती, परन्तु असंख्य बच्चे पैदा करती रहती है। अर्थात वह केवल एक जगह बंधकर नहीं रहती, सभी क्षेत्रों एवं मत-मजहबों में उसका आधिपत्य है, वह हर जगह भ्रांति की सृष्टि करती रहती है॥ 4॥ वह एक भी अज्ञानी को अपने जाल से नहीं बचने देती; परन्तु सदा से आज तक कुंआरी बनी है। अर्थात अज्ञानियों के वह अधीन नहीं होती, और ज्ञानी उससे दूर रहते हैं इसलिए वह सदैव कुंआरी ही बनी रहती है॥ 5॥ वह सदैव प्रपंचासक्ति रूपी नैहर में ही रहती है। परमार्थ रूपी ससुराल में नहीं जाती, और कहती है कि मैं चेतन स्वामी के साथ नहीं सोऊंगी, अर्थात स्वरूपस्थिति रूपी समाधि से वह भागती है॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि मैं जाति-पांति एवं कुल-सम्प्रदाय आदि सारे मायावी बन्धनों को तोड़कर तथा अमर चेतन स्वरूप में स्थित होकर सदा जीवित रहूंगा। अर्थात मायारहित स्वरूपस्थिति अमर है॥ 7॥

व्याख्या—पंडित सूक्ष्मदर्शी को कहते हैं। असली पंडित का अर्थ किसी तथाकथित जाति-वर्ण से नहीं है; किन्तु जो भी सत्यासत्य विवेकी हो वही

पंडित है। सद्गुरु कहते हैं कि हे पंडित, पुनः-पुनः गंभीरतापूर्वक विचार करो और अच्छी तरह समझकर बताओ कि माया स्त्री है कि पुरुष? यह सब जानते हैं कि माया स्त्रीलिंग शब्द है, फिर उसको पुरुष होने का क्या प्रश्न हो सकता है? सद्गुरु कहते हैं कि स्त्री को लोग अबला कहते हैं। परन्तु माया तो इतनी बलवान है कि सबको नचा रही है तब इसे अबला कैसे कहें, स्त्री कैसे कहें! यह तो सबल पुरुष की तरह है। इसलिए जब लोग माया को स्त्री कहते हैं तब मुझे शंका होती है कि यह नारी है कि पुरुष? इस माया की बलवत्ता को आगे बताते हैं।

"ब्राह्मण के घर ब्राह्मणी होती" यह माया ब्राह्मण के घर में जाकर ब्राह्मणी हो गयी है। यहां ब्राह्मणी से मतलब ब्राह्मण-नारी नहीं है, किन्तु ब्राह्मणपन है। एक ब्राह्मणपन होगा ब्रह्मज्ञानी हो जाना एवं सारे विकारों को छोड़कर आत्मानुभूति की उच्चतम दशा में स्थित हो जाना। परन्तु यह भाव यहां नहीं है। यहां तो माया ब्राह्मणी बन गयी है। अतएव यहां ब्राह्मणी का अर्थ है रूढ़ ब्राह्मण-वर्ण एवं जाति का प्रपंच और उनकी छल-बुद्धि। ब्राह्मण वर्ण भगवान के मूड़ से पैदा हुआ है, वह जन्म से ही शुद्ध है, वह बुरे कर्मों में लिप्त रहे तो भी उसे पूजना चाहिए, दूसरे गुण-ज्ञान-सम्पन्न हों, तो भी उन्हें नहीं पूजना चाहिए। ब्राह्मण नामधारी ही वेद-शास्त्र पढ़ने का, किसी उच्च स्थान पर जाने का, अध्यापन करने का, संन्यास एवं मोक्ष का अधिकारी है, एक बड़ा समाज शूद्र है, वह केवल मोटी सेवा का काम कर सकता है, विद्या, शिक्षा एवं उच्च स्थान पर नहीं जा सकता, वह शुद्ध होने पर भी अछूत है, उसमें अति शूद्र माने गये लोग मंदिर तक में नहीं प्रवेश कर सकते, कर्म से नहीं, जन्म से ही भिन्न-भिन्न जाति-वर्ण के कहलाने वाले छोटे और बड़े हैं—यह सब ब्राह्मणपन है, ब्राह्मण नामधारियों का समाज के साथ छलावा है। और यही माया है, जो ब्राह्मणों के घर में, उनके मन में जमकर बैठ गयी है।

वस्तुतः जन्म से सब मनुष्य समान हैं। कर्म से ही लोग ऊंच-नीच होते हैं। कोई मनुष्य बिना सद्गुण पूज्य नहीं है, सद्गुण जिसमें हैं वही पूज्य है। अशुचिता की अवस्था में कोई भी अछूत है, शुचिता की अवस्था में कोई अछूत नहीं। हर आदमी अपनी योग्यता के अनुसार विविध क्षेत्रों में आगे बढ़ने का अधिकारी है। इसमें कोई प्रतिबन्ध नहीं है। मानव मात्र का मूलतः समान अधिकार है, जैसे जिसके कर्मों की योग्यता हो वह वैसा बढ़े यह तथ्य है। इसके उलटा समझना और करना मनुष्य-समाज के साथ छलावा है। यह छलावा-बुद्धि माया है जो ब्राह्मण कहे जाने वालों के मन में बैठ गयी है।

"योगी के घर चेली" यहां योगी का अभिप्राय हर सम्प्रदाय के विरक्तों के लिए है। कितने साधु-संन्यासी स्त्रियों के उद्धार के लिए उन्हें शिष्या एवं दासी बनाकर अपने आश्रमों एवं समाज में ले लेते हैं, और उन्हें साथ में रखते हैं, यह उनकी मर्यादा के विरुद्ध तो है ही, उनके आचरण में भी दाग लगाने वाला है। कोई बिरला ही साथ में दासी रखकर आचरण से ठीक रहता है, आदर्श तो उसका भी खराब होता है, शेष लोग तो उसी में डूब जाते हैं। साधु ने साधुनी, संन्यासी ने संन्यासिनी एवं महंत ने महंतिनी बनाकर उन्हें साथ में रख लिया यह उनके मन की माया है। माया अर्थात मोह जब मन में बैठता है तब विरक्त कहलाने वाले लोग स्त्रियों को शिष्या बनाकर पास में रखते हैं। यही बात साधिका स्त्रियों के लिए भी है। यदि वे पुरुषों का अभिन्न सम्बन्ध करेंगी, चाहे वे गृहस्थ हों या साधु-वेषधारी, तो उनके लिए कुसंग हो जायेगा। स्त्री साधिकाओं को पुरुषों के संसर्ग से सर्वथा अलग तथा पुरुष साधकों, साधुओं एवं संन्यासियों को स्त्रियों से सर्वथा अलग रहना चाहिए, तभी वे साधना में बने रह सकते हैं। सद्गुरु ने 69वीं रमैनी की साखी में कहा है—

सुन्दरी न सोहै, सनकादिक के साथ।
कबहुँक दाग लगावै, कारी हाँड़ी हाथ॥

"कलमा पढ़ि पढ़ि भई तुरुकनी, कलि में रहत अकेली॥" यह माया कलमा पढ़-पढ़कर तुरुकबुद्धि के रूप में बन गयी। यहां का सरल अर्थ है कि माया मुसलमानों के मन में मुसलमानपन बनकर बैठ गयी। मुसल्लम हो ईमान जिसके वह है मुसलमान, यह अभिप्राय यहां नहीं है। मुसलमान नाम रखकर एक समाज साधना में चले, यह अच्छा है। यहां तो माया मुसलमानिन बन गयी है। मुसलमानों का मुख्य कलमा है "ला इलाह इल्लिल्लाह मुहम्मद रसूलिल्लाह।" इसका अर्थ होता है "अल्लाह के समान कोई दूसरा अल्लाह नहीं और मुहम्मद अल्लाह का दूत है।" सार यह हुआ कि ईश्वर के अलावा अन्य देवी-देवता नहीं मानना चाहिए और मुहम्मद को ईश्वर का संदेशवाहक मानना चाहिए। जब तक दुनिया का प्रलय नहीं हो जायेगा तब तक मुहम्मद के बताये रास्ते पर चलकर ही इनसान स्वर्ग जा सकता है। जो व्यक्ति मुहम्मद, कुरान तथा इसलाम को नहीं मानता है, वह अनंतकाल तक नरक की आग में जलाया जायेगा। मुहम्मद, कुरान तथा इसलाम को छोड़कर कहीं स्वर्ग का रास्ता ही नहीं है। कबीर साहेब कहते हैं कि इस भाव के कलमा एवं मंत्र पढ़-पढ़कर मुसलमानों के मन में एक भ्रामक बुद्धि बैठ गयी है जो माया है। यह मजहबी एवं सांप्रदायिक खाईं

माया ही है। माया का अर्थ है जो जीव को भटका दे और यह सांप्रदायिक कूपमंडूकता महा माया है। कुआं का मेढक कुआं को ही बड़ा जलाशय समझता है। क्योंकि उसने अन्य जलाशयों को कभी देखा ही नहीं। वह कुआं में जन्मा और कुआं में ही जीवन बिता रहा है। एकमात्र अपना सम्प्रदाय ही मोक्ष-पथ है और दूसरे का नरक-पथ है, यह मान्यता माया ही नहीं, महा माया है। इस धारणा ने ही घोर साम्प्रदायिकता का विष बोया है। यहां तक कहा गया—"मुसलमानों को चाहिए कि मुसलमानों को छोड़कर काफिरों को अपना दोस्त न बनावें और जो वैसा करेगा, तो उससे अल्लाह से कुछ सरोकार नहीं।"[1] इसका अर्थ यह नहीं है कि कुरान में इन-जैसी ही बातें बतायी गयीं हैं। भाईचारे का व्यवहार, परहेजगारी तथा अनेक अच्छी शिक्षों हैं। परन्तु अंततः स्वर्ग का रास्ता रूढ़ इसलाम के घरौंदे में बन्द कर देना माया में बंध जाना है। यह माया कलिकाल में अकेली रहती है। अर्थात यह अपना किसी को जोड़ा नहीं रखती। यह मानो अद्वैत है, अकेली है, यह अपना किसी का सानी नहीं रखती है। यहां कलि से अभिप्राय कल्पित युग न समझकर पापबुद्धि एवं मलिनता समझना चाहिए। "कलि में रहत अकेली" अर्थात यह मलिनता उत्पन्न करने में बेजोड़ है।

"बर नहिं बरे ब्याह नहिं करे, पुत्र जन्मावनहारी।" यह माया किसी एक से ही जुड़ी नहीं रहती है, किन्तु घूमती रहती है और सभी असावधान लोगों को ठगती रहती है। ऊपर तो केवल ब्राह्मण, योगी तथा मुसलमान के ही नाम लिये गये। नाम कहां तक लिये जायेंगे। आप ईसाइयों को देखिये, वहां केवल ईसा ही स्वर्ग-द्वार है। ईसाइयत छोड़कर स्वर्ग का रास्ता नहीं है। इसी प्रकार प्रायः सभी मतों को समझ लें। यह माया हर जगह घुसकर मनुष्यों को किसी-न-किसी प्रकार विचलित करती है। यह माया किसी को काम में, किसी को क्रोध में, किसी को लोभ में, किसी को मोह में, किसी को ईर्ष्या-द्वेष में, किसी को जाति-वर्ण के मिथ्या अहंकार में, किसी को सम्प्रदाय एवं मजहब की जड़ता में तथा किसी को अन्य भुलावन में भटकाकर पतित करती है। यह माया किसी दूल्हे से ब्याह किये बिना अनेक पुत्रों को जन्म देने वाली है। अर्थात यह किसी एक ही जगह न रहकर सब क्षेत्रों में अपना जाल फैलाती है और अपने प्रपंच की सृष्टि करती है। भवचक्र, जंजाल, छलावा, धोखा, झमेला, बखेड़ा ही प्रपंच है। यही माया के पुत्र हैं। यही माया की सृष्टि है।

---

1. कुरान (पारा 3, रुकू 3, आयत 10/28) पृ. 72-73।
श्री प्रभाकर साहित्यालोक, रानी कटरा, लखनऊ, छठां संस्करण।

"कारे मूँड़ को एकहु न छाँड़ी, अजहूँ आदि कुमारी।" युवकों के बाल काले रहते हैं, अतः कारे मूड़ से अर्थ है जिनके सिर के बाल काले हैं वे नवयुवक। माया एक भी नवयुवक को नहीं छोड़ती, यह स्थूल अर्थ यहां नहीं है। क्योंकि कितने ही नवयुवक माया-त्यागी होते हैं। यहां शाब्दिक नहीं, लाक्षणिक अर्थ है। यहां अर्थ है कि माया एक भी अविवेकी को नहीं छोड़ती। कारे मूड़ अविवेकी आदमी जितने हैं सबको माया किसी न किसी प्रकार छलती है। यह माया सारे अज्ञानियों को अपने जाल में फंसा लेने के बाद भी "आदि कुंआरी" है। माया अज्ञानियों को पतित करती है, परन्तु उनके द्वारा वह स्वयं नहीं पतित की जाती। अर्थात कोई अज्ञानी माया का स्वामी नहीं होता, उसको जीतने वाला नहीं होता। और जो ज्ञानी है उसके पास माया जाती ही नहीं। इस प्रकार माया अज्ञानियों से अजेय तथा ज्ञानियों से दूर रहने के कारण सदैव कुंआरी बनी रहती है।

"मैके रहै जाय नहिं ससुरे, साँई संग न सोवों।" लड़की जहां पैदा होती है वह उसका मैके एवं नैहर है और जहां ब्याह कर जाती है अपने दूल्हे के पास, वहां सासुर है। यह माया अविद्या से पैदा हुई है, इसलिए अविद्या ही इसका मैके है। यह माया सदैव अविद्या रूपी मैके में ही रहना चाहती है। तात्पर्य है कि मनुष्य का मन जो माया में लिप्त है वह सदैव अविद्या एवं अन्धकार में ही रहना पसन्द करता है। माया की ससुराल है ज्ञान अवस्था। जब कोई ज्ञानी इस माया को ब्याह लेता है, अर्थात इसे अपने अधीन बना लेता है तब मानो यह ससुराल में चली जाती है। परन्तु यह माया बहुधा ससुराल में जाना ही नहीं चाहती। माया का अर्थ रागात्मक मनोवृत्ति है। यह मनोवृत्ति ज्ञान अवस्था से दूर भागती है। मनुष्य की मनोवृत्ति माया-लिप्त होने से स्वरूपज्ञान में प्रवेश नहीं करती है। वह कहती है "साँई संग न सोवों" अर्थात मैं ज्ञानी पुरुष के साथ समाधि में नहीं जाऊंगी। साधारणतया लोगों का मन समाधि में कहां प्रवेश करता है ! यह माया का ही तो आवरण है ! परन्तु ज्ञानी पुरुष माया को जीतकर समाधि में सोता है। ज्ञानी पुरुष के आगे मनोवृत्ति रूपी माया को विवश हो जाना पड़ता है और वह समाधि में प्रवेश कर सांई के साथ सो जाती है। अर्थात मनोवृत्ति स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति में लीन हो जाती है।

"कहैं कबीर मैं युग-युग जीवों, जाति पाँति कुल खोवों।" सद्गुरु कहते हैं कि मैं जाति-पांति, कुल, गोत्र, संप्रदाय तथा संसार की सारी मोह-माया को नष्टकर अविनाशी बोध में स्थित हूं, जो सदा जीवित स्वरूप है। माया को जीत लेने पर ही यह अमरत्व मिलता है। 'अब हम अमर भये न मरेंगे।'

इस शब्द में माया को बलवती कहा गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि माया कोई स्वतन्त्र प्राणधारी है। माया है मन का मोह, मन का भ्रम। वह मनुष्य की भूल से बलवती लगती है; किन्तु मनुष्य जग जाये तो माया मर जाती है। बिना सूर्य उदय हुए अन्धकार प्रबल लगता है, परन्तु सूर्य के उगते ही अन्धकार समाप्त हो जाता है।

देह सबकी नाशवान है, वासना-त्याग ही अमरत्व है

शब्द-45

को न मुवा कहो पण्डित जना, सो समुझाय कहो मोहि सना॥ 1॥
मुये ब्रह्मा विष्णु महेशू, पार्वती सुत मुये गणेशू॥ 2॥
मूये चन्द्र मुये रवि शेषा, मुये हनुमत जिन्ह बाँधल सेता॥ 3॥
मूये कृष्ण मुये कर्तारा, एक न मुवा जो सिर्जनहारा॥ 4॥
कहहिं कबीर मुवा नहिं सोई, जाको आवागमन न होई॥ 5॥

शब्दार्थ—को=कौन। न=नहीं। मुवा=मरा। मोहि स्मेरे से। कर्तारा=दक्षप्रजापति। सिर्जनहारा=चेतनतत्त्व।

भावार्थ—हे पंडितो ! कौन शरीर धारण किया और नहीं मरा, यह मुझे समझाकर कहो !॥ 1॥ ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर भी शरीर त्यागकर चले गये, पार्वती-पुत्र गणेश जी भी मृत्यु को प्राप्त हुए॥ 2॥ चंद्रमा एवं आदित्य नाम के जो महापुरुष थे वे तथा शेषजी, बली हनुमान जी, तथा समर्थ श्रीराम जी जिन्होंने लंका की चढ़ाई में समुद्र पर पुल बंधवाया था—ये सबके सब शरीर छोड़-छोड़कर चले गये॥ 3॥ श्रीकृष्ण जी नहीं रहे और दक्षप्रजापति चले गये। हां, जिसकी सत्ता से सारे ज्ञान-विज्ञान का सृजन होता है वह चेतनतत्त्व नहीं मरता॥ 4॥ सद्गुरु कहते हैं कि वस्तुतः वही नहीं मरता जो वासना त्यागकर आवागमन से मुक्त हो जाता है॥ 5॥

व्याख्या—कबीर साहेब यथार्थवादी संत पुरुष हैं। धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में कबीर ऐसे युगपुरुष हैं जो वस्तुपरक बुद्धि रखते हैं। वे श्रद्धाविह्वल भावुकों की मिथ्या धारणाओं का विवेक की रोशनी में उजागरण करते हैं। वे मिथ्या ज्ञान से समाज को जगाते हैं। सर्वसाधारण लोगों में यह भ्रम फैला है कि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, गणेश, चंद्रमा, आदित्य, हनुमान, राम, कृष्ण आदि अभी भी स-शरीर हैं या जब चाहें तब शरीर धारणकर हमारे पास आ सकते हैं। कितने धार्मिक लोग आज अपने दिवंगत गुरुओं को समझते हैं कि वे हमारे बुलाने पर आ सकते हैं। कई बार लोग ईसा की अगवानी करते हैं। कई

लोग कहते हैं कि जब हमारे गुरु को हमलावरों ने मारना चाहा, तो उनके दिवंगत गुरु उनकी रक्षा में पीछे खड़े दिखे। ऐसी सारी भावुकताओं, अंधविश्वासों एवं अज्ञानपूर्ण बातों का कबीर साहेब खंडन करते हैं। वे कहते हैं कि कौन ऐसा व्यक्ति है जो शरीर धारण करने के बाद नहीं मरा, और जो एक बार मर गया, वह दोबारा उसी शरीर से कभी नहीं आ सका। आने की कोई कारण-कार्य-व्यवस्था ही नहीं है।

ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर यदि रज, सत तथा तम गुण के केवल प्रतीक न होकर देहधारी थे तो वे कुछ दिनों तक जीकर अपने-अपने कर्म करके कब के शरीर छोड़ चुके होंगे। यदि गणेश जी व्यक्ति थे, तो पहली बात यह कि वे जिस ढंग से चित्रित किये गये हैं उस तरह से हाथी के मुंह वाले न होकर पूरे मानवाकार रहे होंगे और वे भी थोड़े दिनों जीकर चले गये होंगे।

यहां चन्द्र तथा रवि शब्द के अर्थ में आकाश में दिखते हुए जड़ पिंडों को न लिया जाये तो अच्छा है। चन्द्रमा तथा आदित्य नाम के व्यक्तियों की चर्चा पुराणों में आती है। चन्द्रमा ने वृहस्पति की पत्नी को हड़प लिया था तथा आदित्य अर्थात सूर्य ने कुन्ती को कुंआरी अवस्था में ही गर्भवती किया था, इनकी चर्चा पुराणों में विदित है। सद्गुरु ने पीछे 81वीं रमैनी में भी यह बात कही है। अतएव चन्द्र, सूर्य दो व्यक्ति थे जो बहुत प्रसिद्ध थे। पुराणों के अनुसार शेष एक सांप थे जिनके एक हजार फण थे। इस पर विष्णु सोते थे। क्षीरसागर में शेषनाग के ऊपर विष्णु को लेटा हुआ चित्रित किया जाता है। डॉ. रांगेयराघव ने महायात्रा गाथा में लिखा है कि शेष, नागजाति का पहला राजा था जो विष्णु का मित्र था। नागवंशी मानव पूरे भारत में थे। उनकी राजधानी भोगवती आज का इलाहाबाद है जिसके राजा वासुकि थे। भारत के अन्य क्षेत्रों के नागवंशी हिन्दुओं के चारों वर्णों में पच गये। केवल असम के जंगलों के नागवंशी अभी अपना अलग चिह्न बनाये हुए हैं। ये सर्प, पत्थर एवं पेड़ पूजते थे।[1]

हनुमान भी पूंछ वाले वानर नहीं, किन्तु वानर गोत्रिय आदिवासी परिवार के सदस्य थे जो अपने मकानों तथा ध्वजाओं में वानर का चिह्न रखने से वानर कहलाते थे। ये सुग्रीव के मन्त्री और शूरवीर थे। इन्होंने सीता-उद्धार में श्रीराम का काफी सहयोग किया था। पीछे से लेखकों ने हनुमान को देवता बना डाला और अष्ट सिद्धि तथा नौ निद्धि के दाता भी। और धारणा यह है कि वे हर जगह मौजूद हैं। उन्हें जब जहां बुलाओ पहुंच जाते हैं। यदि लड्डू

---

1. महायात्रा गाथा, भाग 1, अध्याय 2-3।

चढ़ा दो तो सारा काम कर देते हैं। श्रीराम तथा श्रीकृष्ण को तो प्रसिद्ध परमात्मा बना ही डाला गया है जो अपने-अपने समय के महापुरुष थे।

कबीर साहेब कहते हैं कि ये सब मानव थे। सब ने एक-एक दिन शरीर धारण किया था और एक-एक दिन इन सबके शरीर छूट चुके हैं। अब ये न हमें मिल सकते हैं और न ये हमारा कुछ अहित या हित कर सकते हैं। इनमें जो अच्छे आदर्श हैं वे मानव मात्र के लिए प्रेरणाप्रद हैं। बस, उन अच्छे आदर्शों से हमें शिक्षा लेनी चाहिए और अपना कल्याण करना चाहिए। और इनमें जो गलत आदर्श हों उन्हें छोड़ देना चाहिए।

कहा जा सकता है कि ब्रह्मा, विष्णु आदि एवं राम-कृष्णादि मर गये तो क्या कबीर नहीं मर गये? कबीर अपने विषय में भी यही कहना चाहेंगे कि कबीर भी मर गये। शरीर तो सबका छूटता है। कबीर का भी शरीर छूट गया। आज उनके आदर्श एवं वाणी ही हमारे लिए प्रेरणा के स्रोत हैं। यह कोई चारा नहीं है कि कबीर आज आकर हमारा कल्याण कर सकें। उनकी वाणियों से प्रेरणा लेकर हमें स्वयं अपना कल्याण करना होगा।

इस शब्द में सद्गुरु यह बताते हैं कि इन पुरुषों को तुम देह से अविनाशी या पुनः प्रकट हो जाने वाले बताते हो, यह भूल है। सबका शरीर एक दिन बनता है तो एक दिन मिटता है। दूसरी एक शिक्षा यह है कि जब इतने बड़े-बड़े पुरुष संसार में नहीं रह गये तब हमारा शरीर कैसे रह जायेगा ! अतः हमें देहाभिमान छोड़कर अविनाशी निजस्वरूप में रमना चाहिए।

"एक न मुवा जो सिर्जनहारा" सारे ज्ञान-विज्ञान की सृष्टि करने वाला चेतन है। यह चेतन अमर है। यह कभी नहीं मरता। कबीर साहेब कहते हैं कि सबकी देहें मरती हैं, मिटती हैं और धूल में मिल जाती हैं, परन्तु उनमें रहने वाले चेतन नहीं मरते। जीव अविनाशी है। यह चेतन ही ज्ञान-विज्ञान का जनक है।

"कहहिं कबीर मुवा नहिं सोई, जाको आवागवन न होई।" सद्गुरु कहते हैं कि वह व्यक्ति मानो नहीं मरा जो आवागमन से मुक्त हो गया। यह कैसे जाना जाये कि अमुक व्यक्ति अब शरीर छोड़कर आवागमन एवं जन्म-मरण के प्रवाह से मुक्त हो गया है। हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है कि हम यह जान पावें कि अमुक व्यक्ति देह छोड़कर सदा के लिए मुक्त हो गया है। वस्तुतः देह रहते-रहते जिसे मरने का भय छूट गया वही मानो अमर है। निर्भयता अमरता है। जिसके मन की वासनों, हलचल, तृष्णों एवं द्वन्द्व सर्वथा शांत हो गये हैं, वह आज ही कृतार्थ है। जो अपनी असंगता के बोध में सदैव तृप्त है, जिसका कुछ छूटने वाला नहीं है, क्योंकि जिसने पहले ही अपने मन

से सब कुछ को छोड़ दिया है, यहां तक कि जो देह को भी सदैव छूटी हुई के समान देखता है, जिसने सारे जड़ दृश्यों को मन से सर्वथा त्याग दिया है, वह इसी जीवन में अमरत्व का बोध करता है। उसके लिए देह का रहना और न रहना दोनों बराबर है। वासनाओं से ही आवागमन होता है। जिसकी सारी वासनों छूट गयीं, वह मानो मुक्त ही है।

इस पूरे शब्द का सार यह है कि तथाकथित देवी-देवता जो वासनाओं में लिपटे थे, वे अमर नहीं हुए, किन्तु अमर तो वासना-विजयी संत हैं, और देह सबकी छूटती है। इस शब्द के आरम्भ का पद 'कौन मुवा' पाठ होने से अर्थ होगा कि कौन मुवा, जड़ या चेतन? दोनों तो नित्य हैं। दोनों के योग से बना शरीर केवल मरता है, परन्तु जड़-चेतन नित्य रहते हैं।

हिंसक और मांसाहारी पण्डितों से प्रश्न

शब्द-46

पण्डित एक अचरज बड़ होई॥ 1॥

एक मरि मुये अन्न नहिं खाई, एक मरे सिझै रसोई॥ 1॥
करि अस्नान देवन की पूजा, नौ गुण काँध जनेऊ॥ 2॥
हँड़िया हाड़ हाड़ थरिया मुख, अब षट कर्म बनेऊ॥ 3॥
धर्म करे जहाँ जीव बधतु हैं, अकर्म करे मोरे भाई॥ 4॥
जो तोहरा को ब्राह्मण कहिये, तो काको कहिये कसाई॥ 5॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भरम भूलि दुनियाई॥ 6॥
अपरम्पार पार पुरुषोत्तम, या गति बिरले पाई॥ 7॥

शब्दार्थ—नौ गुण=शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिक्य।[1] षटकर्म=अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान तथा प्रतिग्रह;[2] दूसरे ढंग से षटकर्म हैं—स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप तथा हवन। अपरम्पार=असीम, बेहद। पार पुरुषोत्तम=हद-बेहद से परे कृतार्थ रूप। या गति=यह सर्वोच्च स्थिति।

भावार्थ—हे पण्डित जी ! एक बड़ा आश्चर्य होता है॥ 1॥ किसी के घर में यदि कोई आदमी मर जाये तो जब तक दस दिन बीतकर शुद्धि-कर्म न हो

---

1. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
   ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ (गीता 18/42)
2. इज्याध्ययनदानानि याजनाध्यापने तथा।
   प्रतिग्रहश्च तैर्युक्तः षट्कर्मा विप्र उच्यते॥

जाये तब तक उसके घर में तुम भोजन नहीं करते हो, और दूसरे बकरा, मछली आदि को मारकर उनकी लाशों की रसोई पकती है और उसे आस्वादनपूर्वक जीम जाते हो॥ 2॥ तुम नित्य स्नान करते हो, देवताओं की पूजा करते हो, कंधे पर नौ गुण-सूचक नौ तागे का जनेऊ पहनते हो॥ 3॥ परन्तु जब तुम हंडी में हाड़-मांस पकाते हो, थाली में हाड़-मांस रखते हो और मुख में हाड़-मांस चबाते हो तब तुम्हारे छह कर्मों की दशा अच्छी बन जाती है॥ 4॥ यज्ञ, पूजा आदि धर्म के नाम लेकर जहां जीव हत्या की जाती है, हे मेरे प्रिय बन्धु ! यह प्रत्यक्ष दुष्कर्म है॥ 5॥ अब बताइए, इस स्थिति में यदि तुम्हें ब्राह्मण कहा जाये तो बधिक किसे कहा जाये?॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो, संसार के लोग भ्रम और भूल में पड़कर विपथ-गामी हैं॥ 7॥ पुरुषों में उत्तम वही है जो हद और बेहद से परे है, परन्तु यह सर्वोच्च स्थिति बिरला प्राप्त करता है॥ 8॥

व्याख्या—आज-कल के व्यंग्यकार जिनका ध्यान कबीर पर गया है उन्हें अपना आदिगुरु मानते हैं। आप किसी भी हिंदी-समाचार पत्र में देखें जहां व्यंग्यात्मक स्तंभ होगा वहां कबीर-वाणी के आधार पर वह स्तंभ होगा, जैसे चक्की चलती, सुनो भाई साधो, जग बौराना, कबीर चौरा इत्यादि। कबीर साहेब ने अपनी वाणियों में व्यंग्यात्मक कथन का जो पुट जगह-जगह दिया है मनुष्य के दिल को झकझोर देता है।

यहां कबीर साहेब उन पंडितों से व्यंग्यात्मक ढंग से पूछते हैं जो देवपूजन में जीववध करते हैं तथा मांस खाते हैं। साहेब कहते हैं कि हे पंडित ! हमें एक बात पर बड़ा आश्चर्य हो रहा है। वह आश्चर्य यह है कि यदि किसी के घर में ही नहीं, उसके कुल-गोत्र में कहीं कोई मर गया हो तो उसे तुम अशुद्ध घोषित कर देते हो। उसके घर में तुम जल तक नहीं ग्रहण करना चाहते। जब दस दिन बीत जाते हैं, लोगों के बाल बन जाते हैं, सबके स्नान हो जाते हैं, घर की लिपाई-पोताई हो जाती है, महा ब्राह्मण खा लेते हैं, तब जाकर तेरहवें दिन तुम उसके घर में भोजन करते हो। परन्तु दूसरी तरफ बकरे, कबूतर, मुरगे, मछली या अन्य जानवरों को मारकर उनकी लाश हंडी में पकाकर, थाली में रखकर तथा मुख में चबाकर खा जाते हो। अतएव यह तुम्हारी शुद्धाशुद्धि का विवेक कहां तक समीचीन है, इस पर जरा ध्यान देकर विचार करो और जो उचित हो वह करो।

तुम ध्यान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप, होम सब कुछ करते हो, देवताओं की बड़ी आराधना करते हो और गीता में बताये हुए ब्राह्मणों के नौ गुण—शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता के चिह्न के रूप में कंधे पर नौ तागे का यज्ञोपवीत पहनते हो। चलो, यह तो सब ठीक

है, परन्तु जब तुम हंडी में हाड़-मांस पकाते हो, थाली में हाड़-मांस रखते हो तथा मुख में हाड़-मांस चबाते हो तब तुम्हारे छह कर्मों की कितनी इज्जत रह गयी? ब्राह्मणों के छह कर्म दो प्रकार से हैं—यज्ञ करना-कराना, विद्या पढ़ना-पढ़ाना, दान देना तथा लेना नैमित्तिक षटकर्म हैं। दूसरे नित्य षटकर्म हैं—स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप तथा होम। परन्तु तुम्हारे तो षटकर्म हो गये हैं हंडी में हाड़-मांस, थाली में हाड़-मांस तथा मुंह में हाड़-मांस! ये अच्छे षटकर्म बने।

आज भी भारतवर्ष के विविध क्षेत्रों के पंडित मांसाहार उचित सिद्ध करने के लिए प्रमाण देते हैं। वे कहते हैं—"मांस सर्वश्रेष्ठ भोजन है।[1] राम ने खाया था,[2] पहले के ऋषि-मुनि सब खाते थे।"[3] भले आदमी, यह सब कलिवर्ज्य है।[4] विद्वानों ने कलिकाल में इसके खाने पर मनाही कर दी है। इसलिए आज नहीं खाना चाहिए। पहले के युग में पाप नहीं लगता था, परन्तु आज पाप लगेगा।

यह सबका मतलब क्या है! मतलब हुआ पुराने लोगों को आदर देते हुए उनके घृणित आहार को अस्वीकार देना। वह युग ऐसा था कि आदमी आहार पर इतना नहीं सोच सका था। वह आहार की दिशा में असभ्य था। ब्राह्मणों के कर्मकांड एवं मांसाहार से हटकर बौद्धों, जैनों तथा वैष्णवों के ज्ञान-भक्ति के आंदोलन शुरू हुए और मांसाहार त्याग पर बल दिया जाने लगा। धीरे-धीरे पंडितों को भी सूझ हुई कि मांसाहार घृणित है, हिंसा से प्राप्त होता है। इसलिए उन्होंने कहा कि उन तीन युगों में मांसाहार में दोष नहीं था, किन्तु कलिकाल में इसे खाने से दोष लगेगा। इसलिए मांस नहीं खाना चाहिए। यह विचारों की उदारता का फल है। हमारे पूर्वज जो कुछ करते रहे हों वह सब सच नहीं हो सकता। उनकी गलतियों को हमें छोड़ देना चाहिए। हमें उन्हें बुरा नहीं कहना चाहिए, परन्तु उनकी बुराइयों को हमें ग्रहण नहीं करना चाहिए।

"धर्म करे जहाँ जीव बधतु हैं, अकर्म करे मोरे भाई।" पहले यज्ञ और पूजा में खूब पशु-वध होता था। पूजा में तो इस बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भी जगह-जगह पशु-वध होता है। अश्वमेध यज्ञ करके समझते थे कि हमारे समस्त पाप कट गये जबकि इस यज्ञ में तीन सौ पशु काट दिये जाते थे।[5]

---

1. शतपथ ब्राह्मण (11/7/1/3)।
2. वाल्मीकीय रामायण 2/52/102, 2/55/32, 2/96/1-2।
3. देखिए आगे 93वें शब्द की व्याख्या।
4. देखिए आगे 93वें शब्द की व्याख्या।
5. देखिए वाल्मीकीय रामायण, बालकांड, सर्ग 14।

अनेक यज्ञों में कैसे पशु काटे जाते थे यह तो धर्मशास्त्र पढ़कर स्वयं पता लग जाता है।[1] मनगढ़ंत देवताओं को खुश करने के लिए मूक प्राणियों का वध। आज भी ईश्वर को खुश करने के लिए मुसलमानों के यहां बकरीद के दिन दुनिया में करोड़ों पशु काट दिये जाते हैं। ब्राह्मण समाज में पुराकाल में यज्ञ में पशु-वध सर्वाधिक था। कबीर साहेब के समय में भी बहुत था। वे ऐसे पंडितों से पूछ बैठते हैं कि हे भाई पंडितो, यदि धर्म में जीव-वध होता है तो अधर्म में फिर क्या होगा! तुम पूजा में प्राणि-वध करते हो तो तुम्हें यदि ब्राह्मण कहा जाये तो बधिक किसे कहा जाये? यह ऐसा प्रश्न है कि इसका उत्तर न पंडित के पास है न मुल्ला के पास और न अन्य के पास। ब्राह्मण या हिन्दू समाज का यह जंगलीपन आज बहुत मिट गया है, परन्तु मुसलमानों का आज भी नहीं मिटा है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भरम भूलि दुनियाई।" कबीर साहेब कहते हैं कि संसार के लोग भ्रम और भूल में पड़कर विपथगामी हैं। उन्हें विपरीत कर्म करके कल्याण का भ्रम है। वे वास्तविकता को भूल गये हैं। वे परम धर्म अहिंसा को भूल गये तथा धर्म के नाम पर जीव-वध करने से अपना कल्याण समझ लिये। यज्ञ में जीव-वध करने वाले ब्राह्मणों को आस्तिक कहना तथा जीव-हिंसा त्याग कराने के प्रयत्न में लगे तथागत बुद्ध को नास्तिक कहना, इससे अधिक भ्रम और भूल क्या होगी! भारतरत्न पांडुरंग वामन काणे ने लिखा है—"ब्राह्मणों ने श्राद्ध, मधुपर्क, यज्ञादि में मांस खाना अच्छा माना है तथा बौद्धों की निन्दा की है जो मांस खाना वर्जित मानते हैं।"[2] इतना ही नहीं, पुरोहितों ने हिंसा-मांसाहार-विरोधी वैष्णव-भागवतों को भी गाली दी है। उन्होंने कहा—"जो वेदों को नहीं पढ़ना जानता वह शास्त्र पढ़ता है, जो शास्त्रों को नहीं पढ़ना जानता वह पुराण पढ़ता है, जो पुराणों को भी नहीं पढ़ना जानता वह खेती करता है, परन्तु जो सब प्रकार से भ्रष्ट होता है वह भगवान का भक्त हो जाता है।"[3] वैष्णव, जैन, बौद्ध ये तीन हिंसा तथा मांसाहार का विरोध कर रहे थे, इसलिए पुरोहित पंडित इन तीनों पर कुपित थे। वे अपनी भूल से सुपथ को विपथ तथा विपथ को सुपथ मानते थे।

सद्गुरु कहते हैं कि यह न ब्राह्मणत्व है और न पांडित्य। ऐसे तथाकथित ब्राह्मण एवं पण्डित अपने आप को सर्वोच्च मानते हैं और दावा करते हैं कि लोग उन्हें सर्वोच्च मानें।

---

1. देखिए कात्यायन 9/8/4, आपस्तंब 12/18/13; आदि।
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड 2, पृ. 999।
3. वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।
   पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥
   (अत्रि 384। धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 153)

"अपरम्पार पार पुरुषोत्तम, या गति बिरले पाई।" कबीर साहेब कहते हैं कि सर्वोच्च एवं पुरुषोत्तम तो वह है जो हद और बेहद से परे है।[1] जो समस्त सांसारिक वासनाओं को त्याग देता है, और निरन्तर अपने चेतन स्वरूप में रमता है वह सर्वोच्च है, वह पुरुषोत्तम है। जो दृश्यमान लोक तथा कल्पित स्वर्गादि, ईश्वर एवं देवादि की सारी वासनों छोड़ देता है वह अपरम्पार पार पुरुषोत्तम है। परन्तु "या गति बिरले पाई" यह दशा, यह जीवन्मुक्ति स्थिति कोई बिरला ही पाता है। जो इस दिशा में ध्यान देता है वह पाता है। यह सर्वोच्च स्थिति तो जीव का सहज स्वरूप ही है, इधर ध्यान देना चाहिए। इधर बिरला ध्यान देता है, इसलिए इस स्थिति को बिरला ही पाता है।

छुआछूत का धोखा

शब्द-47

पाँड़े बूझि पियहु तुम पानी॥ 1॥
जेहि मटिया के घर में बैठे, तामें सृष्टि समानी॥ 2॥
छप्पन कोटि यादव जहँ भीजे, मुनि जन सहस अठासी॥ 3॥
पैग पैग पैगम्बर गाड़े, सो सब सरि भौ माटी॥ 4॥
मच्छ कच्छ घरियार बियाने, रुधिर नीर जल भरिया॥ 5॥
नदिया नीर नरक बहि आवै, पशु मानुष सब सरिया॥ 6॥
हाड़ झरी झरि गूद गली गलि, दूध कहाँ से आया॥ 7॥
सो ले पाँड़े जेवन बैठे, मटियहि छूति लगाया॥ 8॥
वेद कितेब छाँड़ि देहु पाँड़े, ई सब मन के भरमा॥ 9॥
कहहिं कबीर सुनो हो पाँड़े, ई सब तुम्हरो करमा॥ 10॥

शब्दार्थ—भीजे=मरकर सड़ गये। मच्छ=मछली। कच्छ=कच्छप। हाड़ झरी झरि=हाड़ के झरनों से झड़कर। गूद=मांस। गली गलि=गलियों-नलियों द्वारा। जेवन=जीमना, खाना।

भावार्थ—हे पंडित जी! किसी के आचरण को पवित्र देखते हुए भी तुम उससे जाति पूछकर उसके हाथ का पानी पीने या न पीने का निर्णय लेते हो॥ 1॥ परन्तु क्या तुम्हें यह पता नहीं है कि जिस मिट्टी के घर में तुम बैठे हो उसमें पूर्व की पूरी प्राणि-सृष्टि सड़कर समायी हुई है!॥ 2॥ छप्पन करोड़ यादव और अट्ठासी हजार ऋषि मर और सड़कर इसी मिट्टी में मिल चुके हैं॥ 3॥ पग-पग पर पैगम्बर इस मिट्टी में गाड़े गये हैं और वे सड़कर मिट्टी

---

1. देखिए साखी 189, हद्द चले सो मानवा...।

बन गये हैं। इसी मिट्टी से घड़ा बना है जिसमें तुम पानी भरकर पीते हो। परन्तु जिसे तुम विजाति मानते हो वह उस घड़े को स्वच्छ हाथ से भी छू दे तो तुम उस घड़े का पानी नहीं पीते हो॥ 4॥ पानी की भी दशा यही है। मछली, मेढक कुं में तथा मछली, कछुए, घड़ियाल आदि नदी में प्रजनन करते हैं, उनके शरीर के रक्त से मिश्रित पानी कुं और नदी के जल में मिल जाता है॥ 5॥ गांव तथा शहर का नरक भी बहकर नदी के जल में आकर मिलता है, मरे हुए पशु तथा मनुष्य नदी में फेंक दिये जाते हैं, वे सब सड़कर उस पानी में मिलते हैं। ऐसे पानी को सब पीते हैं, फिर स्वच्छ हाथ से उसे कोई छू ले तो क्या बुरा हो गया !॥ 6॥ दूध कहां से पैदा होता है क्या इसे नहीं जानते हो ! हड्डियों के झरनों तथा मांस की गलियों एवं नलियों से ही तो दूध झर-झरकर आता है॥ 7॥ इसे लेकर तो पंडित जी जीमने बैठ गये, परन्तु स्वच्छ दिखते हुए भी किसी के मिट्टी के घड़े में छूत लगा दिये॥ 8॥ तुम कहते हो जाति को लेकर छुआछूत मानना शास्त्रसम्मत है, तो हे पंडित ! ऐसे शास्त्रों की दोहाई देना छोड़ दो। ये सब तुम्हारे मन का भ्रम है॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे पंडित जी ! सुनो, यह सब तुम्हारा पाखंडपूर्ण कर्म-प्रपंच है॥ 10॥

व्याख्या—मानवतावादी समाज तथा राष्ट्र जो आज सोच रहे हैं, उसे कबीर देव ने पंद्रहवीं शताब्दी में ही सोच लिया था। भारत की एक बहुत बड़ी समस्या है छुआछूत। यहां आदमी आदमी को जन्म से ही अछूत मानता है। यह घोर मानसिक अपराध है। कोई गंदे आचरण से हो, उसके अंग गंदे हों, कपड़े गंदे हों, तब बात समझ में आती है कि उसके हाथ का छुआ जल नहीं लेना चाहिए। यदि स्वच्छ है तो उसे अछूत बताना अपराध है।

कबीर साहेब कितने संवेदनशील हैं, वे किसी बात को कितनी गहराई से सोचते हैं और कितने निर्भयतापूर्वक निश्चिंत होकर खरे सत्य को कह देते हैं यह उनकी वाणियों को पढ़कर सोचते ही बनता है। वे डर नाम की चीज जानते ही नहीं थे। सत्य-उपासक अपने आप निर्भय हो जाता है।

यह कैसी विडंबना है कि मनुष्य पशु को तो पूज्य मान लेता है। उसके बच्चे को गोद में खेला लेता है, परन्तु मनुष्य को अछूत मानता है। केवल ब्राह्मणनामधारी दूसरों को अछूत मानते हों ऐसी बात नहीं है, किन्तु तथाकथित दूसरी जाति वाले भी एक दूसरे को अछूत कहते हैं। ब्राह्मण नामधारियों में भी परस्पर अछूत की भावना होती है। आज तक एक गोत्र का ब्राह्मण दूसरे गोत्र के ब्राह्मण का बनाया कच्चा भोजन नहीं खाता था। हां, पक्का भोजन चल जाता था। जैसा कि हम 41वें शब्द में देख आये हैं कि

वेदों में छुआछूत की बात नहीं है, परन्तु पीछे छुआछूत की भावना बहुत बढ़ी और यह बात शास्त्रगत हो गयी। इतना ही नहीं कि किसी एक शास्त्र में लिख दिया गया हो, किन्तु अनेक शास्त्रों में छुआछूत को काफी मजबूत किया गया।

आचार-विचार और स्वच्छता को प्रधानता देनी चाहिए, मिथ्या जाति एवं वर्ण को नहीं। मानव की केवल एक जाति है। जन्म से कोई अछूत नहीं। उसके कर्म तथा आचरण से ही वह अच्छा-बुरा हो सकता है। यह बात सत्य होते हुए भी पंडित लोग कहते हैं कि शास्त्र में छुआछूत की बात लिखी है। शास्त्र भगवद्वचन है, प्रभुवचन है, त्रिकालदर्शी आर्ष ऋषियों का वचन है। अतः उसे मानना पड़ेगा। कबीर साहेब कहते हैं कि हे पंडित! यह शास्त्र-प्रमाण का चक्कर छोड़कर सत्यासत्य विचार कीजिए। यहां 'वेद-कितेब' से मतलब प्रसिद्ध वेद या कुरानादि किताब नहीं हैं, किन्तु शास्त्र-प्रमाण का मोह है। कबीर साहेब कहते हैं कि इसकी चिंता न करो कि किस ग्रन्थ में लिखा है तथा किस पुरुष ने लिखा है, किन्तु यह विचारो कि क्या लिखा है। कोई ग्रन्थलेखक न विश्वनियंता रहा है, न सर्वज्ञ, किन्तु सभी लेखक मनुष्य होते हैं। सभी वाणियों पर विचार करना मनुष्य का कर्तव्य है। यदि पंडित सारासार विचार को महत्त्व न देकर आंख मूंदकर शास्त्र-प्रमाण को महत्त्व देता है, तो सद्गुरु कहते हैं कि हे पंडित, यह तुम्हारे मन का भ्रम है। कोई बात लिखी जाने से प्रमाणित नहीं होती, किन्तु सच होने से प्रमाणित होती है। साहेब कहते हैं कि ऐ पंडित, आचार-विचार छोड़कर केवल झूठे जाति-वर्ण के आधार पर छुआछूत मानना तुम्हारा कर्मकांडी जंजाल है। सत्य को समझो। छुआछूत के पचड़े को छोड़ो। तुम मानव हो तथा दूसरे लोग भी मानव हैं। मानव के साथ मानव प्रेम करे यह उसका परम धर्म है। किसी को जन्मजात अछूत मानना महापाप है।

इस शब्द में छुआछूत का निषेध किया गया है। साहेब ने तर्क दिया है कि तुम मिट्टी, पानी और दूध को अशुद्ध नहीं मानते हो, तो मनुष्य को अछूत क्यों मानते हो? मनुष्य ने शुद्ध हाथ से कुछ छू लिया तो वह वस्तु अशुद्ध कैसे हो गयी? ध्यान रहे, यहां सद्गुरु का यह उद्देश्य नहीं है कि मिट्टी, पानी और दूध को अशुद्ध माना जाये तथा उनका उपयोग न किया जाये। दूध को कोई न भी ले, किन्तु मिट्टी, पानी के बिना तो जीवन ही नहीं चल सकता। अतएव यहां इनका निषेध अभिप्राय नहीं है। यहां अभिप्राय है कि छुआछूत का पाखंड छोड़ो।

पृथ्वी में अनादिकाल से सर्वत्र मुरदे गड़े हैं, इसलिए मिट्टी बुरी नहीं। उसका रूप बदलकर वह शुद्ध होती रहती है। नदी आदि के जल में जो गंदगी

मिलती है, प्रकाश और वायु से उसकी शुद्धि होती रहती है। अतः शुद्ध होने पर जल अशुद्ध नहीं। गाय-भैंस के अस्थि-चर्ममय शरीर में से दूध आने के कारण, दूध गंदा नहीं है। क्योंकि गाय-भैंस के शरीर जिंदा हैं। जानदार जीभ, दांत, बाल, खाल आदि में घृणा-गंदगी नहीं होती, परन्तु वे ही टूट या कटकर पृथक हो जायें, तो मुख में नहीं रखे जा सकते। इसी प्रकार जानदार गाय-भैंस के शरीर से दूध दुहकर लेना बुरा नहीं।

मांस-रक्त का रूपान्तरण दूध नहीं है, प्रत्युत खाद्य-वस्तु का रूपान्तर है। बिनौला, खली, नमक आदि दुधार-वस्तुें गाय-भैंस को शाम को खिला दो, तो प्रातःकाल दूध बढ़ जायेगा। यदि खाद्य वस्तु का रूपान्तर रस, रस से रक्त और रक्त से दूध बनता होता, तो चारा खाने के चार-छह-आठ घंटे में दूध नहीं बढ़ता।

यदि कोई रक्त का ही रूपांतर दूध माने तो भी रक्त-मांस नहीं खाना चाहिए और दूध खाना चाहिए। क्योंकि दूध लेने में हिंसा नहीं करनी पड़ती, और मांस लेने के लिए हिंसा करनी पड़ती है।

हां ! गाय-भैंस का पेट भरकर, बछड़ा-बछड़ी एवं पड़वा-पड़िया का पेट दूध, अन्न, चारा आदि से भरकर तब दूध लेना चाहिए। मादा या बच्चे को कष्ट देने वाले अपराधी हैं।

खेत में मल-मूत्र बिखेरकर साग-अन्न बोये जाते हैं। जहां मल-मूत्र अधिक होंगे, वहां साग-अन्न अधिक होंगे। अतएव मल-मूत्र का रूपांतर साग-अन्न में अवश्य आता है। परन्तु लोग साग-अन्न खाते हैं, मल-मूत्र नहीं, इसी प्रकार यदि सचमुच रक्त का रूपांतर दूध हो, तो भी दूध खाना चाहिए, रक्त-मांस नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि अन्न-साग आदि खाना भी तो मांसाहार हुआ, क्योंकि वृक्ष-वनस्पति एवं लता भी जीवधारी हैं। परन्तु यह केवल भ्रम है। यद्यपि इस सिद्धान्त का आजकल बहुत बड़ा बोलबाला है। 'वृक्षादि में भी जीव होते हैं', इसको सिद्ध करने के लिए बहुत युक्तियां गढ़ी गयी हैं, परन्तु इनमें कोई सार नहीं है।

यदि वृक्ष-वनस्पतियों में जीव हैं, तो इनको सुख-दुख क्यों नहीं होते? वृक्ष को काटते समय, वे अपनी डालियों को क्यों नहीं फड़फड़ाते? लाजवंती का प्रमाण व्यर्थ है। जिसको आंखें नहीं, उसको लज्जा कहां ! जोर से वायु चलने पर भी तो लाजवंती मुरझा जाती है। सो क्यों? वास्तव में ठोकर लगने से मुरझा जाना उसका स्वभाव है।

एक वृक्ष-लता आदि से अनेक कलमें लग जाती हैं, क्या जानदार एक मनुष्य या बैल के हाथ-पैर को काटकर उन हाथ-पैरों को जीवित सर्वांग मनुष्य या बैल बनाया जा सकता है?

वृक्षादि में कोई इंद्रिय नहीं है, फिर उनमें जागृत अवस्था कैसे होगी! बिना जागृत के न वासना का ग्रहण होगा और न स्वप्न होगा। जागृत-स्वप्न के बिना मात्र सुषुप्ति-अवस्था कहने में कोई तत्त्व नहीं है। अतः जिसमें तीन अवस्थों नहीं, वहां जीव मानना भूल है।

चुम्बक-पत्थर के सामने लोहा पड़ने पर वह चुम्बक में आकर्षित हो जाता है। इससे चुम्बक लोहा-भक्षी नहीं। यदि किसी वृक्ष के पत्ते के पास जाने से देहधारी जीव उस पत्ते में आकर्षित हो जाते हों और पत्ते संपुट हो जाते हों, तो इससे उस वृक्ष को मांस-भक्षी नहीं कह सकते या उसे जीवधारी नहीं बना सकते। व्रृक्ष में और जीवों के अंगों में रहे हुए कुछ ऐसे तत्त्व होंगे, जो मेल रखते होंगे, इससे देहधारी जीव आकर्षित हो जाते होंगे।

जल, मिट्टी, प्रकाश, वायु इन चारों से बढ़ने, पुष्ट होने एवं बीजी असर अनुसार वृद्धि, फल, फूल को प्राप्त होने वाले वृक्ष-लतादि केवल जड़ हैं। तत्त्वों के परमाणुओं से कंकड़-पत्थर जैसे बनते-बढ़ते रहते हैं; तेल, अग्नि, बत्ती आदि से दीपक में जैसे ज्योति बनती रहती है, वैसे केवल जड़-तत्त्वों से वृक्ष-वनस्पति आदि बनते-बढ़ते रहते हैं।

प्राणियों के शरीर से जीव के निकल जाने पर, वे तुरन्त कांतिहीन हो जाते हैं, परन्तु वृक्षों को काट देने पर यदि बदली और पानी की नमी रहे तो वे कई दिन हरे बने रहते हैं। उनमें से जैसे-जैसे क्रमशः जलांश निकलता है, वैसे-वैसे वे सूखते हैं।

अतएव वृक्ष-वनस्पति, लतादि सर्वथा निर्जीव हैं, इसलिए अन्न-सागादि खाना हिंसा-मांसाहार नहीं। हां! उन्हें अमनिया कर धो-पोछकर खाना चाहिए।[1]

श्री अमरचन्द्र जी महाराज लिखते हैं—

"संसार में पापों की कोई गणना नहीं है। एक-से-एक भयंकर पाप हमारे सामने हैं। परन्तु मासांहार का पाप बड़ा ही भयंकर तथा निंदनीय है। मांसाहार मनुष्य के कोमल हृदय की कोमल भावनाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर उसे

---

1. वृक्षों में जीवों के निषेध के विषय में सद्गुरु श्री विशाल साहेब रचित भवयान के सप्तम प्रकरण के उन प्रसंगों को पढ़ना चाहिए, जहां ये बातें कही गयी हैं। टीका-सहित भवयान पढ़ने में ठीक समझ सकेंगे।

पूर्णतया निर्दय और कठोर बना देता है। मांस किसी खेत में नहीं पैदा होता है, वृक्षों पर नहीं लगता, आकाश से नहीं बरसता, वह तो चलते-फिरते प्राणियों को मारकर, उनके शरीर से प्राप्त होता है। जब आदमी पैर में लगे एक कांटे का दर्द भी नहीं सहन कर सकता, रात भर छटपटाता रहता है, तब भला दूसरे निरपराध मूक जीवों की गर्दन पर छूरी चला देना किस प्रकार न्याय-संगत हो सकता है? जरा शांत-चित्त से ईमानदारी के साथ विचार कीजिए कि उनको कितना भयंकर दर्द होता होगा! अपने क्षणिक जिह्वा के स्वाद के लिए दूसरे जीवों को मारकर लाश बना देना, कितना जघन्य आचरण है! जब आदमी किसी को जीवन नहीं दे सकता तो उसे क्या अधिकार है कि वह दूसरे का जीवन छीन ले।

"आहार-विहार में होने वाली साधारण-सी हिंसा भी जब निंदनीय मानी जाती है, तब स्थूल पशुओं की हत्या करना तो और भी भयंकर कार्य है। बधिक जब चमचमाता हुआ छूरा लेकर मूक पशुओं के गर्दन पर प्रहार करता है, तब वह दृश्य कितना भयंकर होता है? सहृदय मनुष्य तो उस राक्षसी दृश्य को अपनी आंखों से देख भी नहीं सकता। खून की धारा बह रही हो, मांस का ढेर लग रहा हो, हड्डियां इधर-उधर बिखर रही हों, रक्त से सने हुए चमड़े के खंड इधर-उधर बिखरे पड़े हों, और ऊपर से गीध, चील आदि पक्षी मंडरा रहे हों। इस घृणित दशा में मनुष्य नहीं, राक्षस ही काम कर सकता है। यही कारण है कि यूरोप में तो ऊंचे प्रतिष्ठित जज कसाई की गवाही भी नहीं लेते हैं। उनकी दृष्टि में कसाई इतना निर्दय हो जाता है कि वह मनुष्य ही नहीं रह जाता। हृदयहीन निर्दय मनुष्य में मनुष्यता रह भी कहां सकती है?"

(जैनत्व की झांकी)

श्रीमान एडोल्फ जस्ट महोदय लिखते हैं—

"प्रकृति ने मनुष्य को मांस खाने वाला शिकारी जानवर नहीं बनाया है।

मनुष्य को कच्चा मांस अच्छा नहीं लगता। उसे उसके बनाने, पकाने, बघारने, छौंकने और उसमें मसाला मिलाने की जरूरत होती ही है। उसे मांस के साथ और कुछ न सही, नमक तो चाहिए ही।

जब हिंसक पशु अपना शिकार मार लेता है तब वह उल्लास से भर जाता है और ताजा खून पीकर मतवाला-सा हो जाता है।

पर मनुष्य जो पूर्णतया पशु नहीं हो गया है, हत्या करने से घबराता है। जब वह पशु को जिसे मनुष्य का सजातीय ही कहना चाहिए, मारने के लिए खूंखार अस्त्र उठाता है तो उसका विवेक उसे हमेशा ऐसा करने से रोकता है। मरते हुए पशु का छटपटाना देखकर कठोर-से-कठोर हृदय पिघल जाता है। मांस खाने वालों को यदि जानवर को स्वयं अपने हाथों मारकर खाना पड़े तो

अधिकांश न खाना ही पसन्द करेंगे। कच्च बिना पका मांस अथवा कसाई की दुकान में रखी पशु की लाश देखकर सभी का मन घृणा से भर जाता है। अतः अनेक स्थानों में मांस को खुला ले जाने के विरुद्ध कानून बन गये हैं।

मनुष्य इस सम्बन्ध में भी प्रकृति, अपने विवेक, घ्राणशक्ति, आंख और नैसर्गिक प्रकृति की बात क्यों नहीं सुनता? क्या ऐसा कर सकना बहुत सरल नहीं है!

मनुष्य इस प्रकार के वैज्ञानिक अनुसंधान में कि वह पशु का मांस खाने वाली जाति का है या सर्वभक्षी सूअर-भालू आदि की जाति का है, क्यों अपनी शक्ति व्यर्थ खर्च करता है? पशु की ये दोनों जातियां तो मनुष्य को सदा से ही क्रूर और निर्दय प्रतीत होती रही हैं और इस नाते वह इनसे सदा घृणा करता रहा।

मांस मनुष्य के लिए उचित भोजन है या नहीं इस प्रश्न की छान-बीन मनुष्य उन सरल साधनों से नहीं करता जो प्रकृति ने उसे दिये हैं। वह दांत और आंत का अध्ययन करता है, मांस के अवयवों को जानने की कोशिश करता है—यह मनुष्य की अस्वस्थ ज्ञान-पिपासा का दूसरा प्रमाण है।

अनेक विद्वानों ने, जिन्हें मांस खाना निश्चय ही बहुत प्रिय रहा है, कहा है कि मनुष्य के दांतों को देखकर कहा जा सकता है कि मनुष्य अंशतः मांसाहारी है और आज भी ऐसे बहुत-से लोग हैं जो उनके इस राग को बिना समझे-बूझे आलाप रहे हैं।

जो कुछ भी हो, अपने शिकार को पकड़ने और फाड़ने के जैसे नाखून और दांत शिकारी जानवरों के होते हैं वैसे मनुष्य के नहीं हैं। इसी तरह मांस-भक्षी पशु की पाचन-प्रणाली भी मनुष्य की पाचन-प्रणाली से सर्वथा भिन्न होती है।

शिकारी जानवर, मसलन कुत्ता, मांस के साथ-साथ हड्डी भी खा सकता है,पर मनुष्य तो ऐसा नहीं कर सकता। इससे यह साबित होता है कि मनुष्य का आमाशय इन पशुओं से सर्वथा भिन्न प्रकार का है।

मनुष्य के दांत और आंख की फल और शाक खाकर रहने वालों एवं मांस-भक्षी तथा सर्व-भक्षी पशुओं के दांतों और आंखों से तुलना करने पर प्रतीत होता है कि मनुष्य शिकारी पशुओं की जाति का न होकर फल और शाक खाने वाली जाति का ही है। हाथी और चूहों के दांतों में जो साम्य है उससे अधिक साम्य मनुष्य और मांस-भक्षी तथा सर्व-भक्षी पशुओं के दाढ़ और आंतों में नहीं है। मनुष्य की आंतों की लम्बाई भी बताती है कि मांस उसके अनुकूल नहीं है।

यदि प्रकृति ने मनुष्य के लिए मांस नहीं बनाया है तो उसका उपयोग मनुष्य के लिए अवश्य ही क्षतिकारक है। मनुष्य मांस खाकर स्वस्थ और मजबूत नहीं बनता, वरन बीमार पड़ता है और कमजोर होता है।

कहा जाता है कि मनुष्य को मांस खाना चाहिए, क्योंकि उसमें चर्बी होती है, जो आदमी को सर्दी से बचाती है। अगर यही बात है तो शरीर में आवश्यक गरमी स्नेहप्रधान मेवे खाकर क्यों नहीं उपजायी जाती? इन मेवों में मनुष्य के लिए प्राकृतिक चिकनाई पायी जाती है और उनमें वे सब चीजें नहीं होतीं जो मनुष्य के लिए हानिकारक और जहरीली हैं।

ग्रीनलैंड में न शाक होते हैं न मेवे जिनसे वहां के निवासी, जिन्हें एस्किमो कहते हैं, पोषण पा सकें। अतः वे लोग उत्तरी ध्रुव की कड़ाके की सरदी मांस और पशु की चर्बी खाकर बर्दाश्त करते हैं। यह हो सकता है कि चर्बी के आहार के कारण एस्किमो उत्तर की सरदी में रह पाता है, पर उसके इस अप्राकृतिक भोजन के कारण उसका शरीर कुरूप और भद्दा हो गया है और उसका मस्तिष्क बिलकुल जड़।

लोग अकसर अपने अप्राकृतिक जीवन, मांस और शराब की आदत को खराब मौसम के बहाने के पीछे छिपाते हैं। मौसम की आड़ लेकर वे प्राकृतिक जीवन के विरुद्ध बड़े-बड़े पाप करते हैं, मौसम उनका विवेक दबा देता है। फलाहार अप्राकृतिक खाद्यों की अपेक्षा मनुष्य को सरदी और गरमी सहने की अधिक शक्ति देता है।

ऐसा मानने की तो गुंजाइश नहीं है कि मनुष्य, जो पृथ्वी का सर्वाधिक विकसित प्राणी है, पृथ्वी के एक अंश पर ही रहने के लिए बनाया गया था। बाइबिल कहती है—"पृथ्वी को परिपूर्ण करो।"

पर सारी पृथ्वी को भरने के लिए, पृथ्वी के प्रत्येक भाग में रहने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने प्राकृतिक भोजन को छोड़े।

उष्ण कटिबन्ध के उष्णतम भाग और उत्तर के शीततम भाग मनुष्य के रहने योग्य नहीं है। पर यदि यह समझा जाये कि प्रकृति ने मनुष्य को गरम जगह रहने के लिए बनाया है तो भी उसे अपना अप्राकृतिक जीवन छोड़कर प्राकृतिक जीवन ही व्यतीत करना आरम्भ करना चाहिए। इससे उसकी नैसर्गिक प्रकृति अधिकाधिक जाग्रत होगी और वह गरम जगह में रहना पसंद करेगा। पर वास्तव में शीतोष्ण कटिबन्ध ही मनुष्य के रहने के अधिक उपयुक्त है। अपने इस कथन पर मैं अधिक निवेदन आगे करूंगा।

मनुष्य ईश्वर की प्रतिमूर्ति है। उसे इस पृथ्वी की बादशाहत भलमंशाहत और दयालुता के साथ करनी चाहिए। जब वह अपने भोजन के लिए पशु की

हत्या करता है या उसकी हत्या का कारण होता है तो वह अपने अन्तर्नाद के विरुद्ध चलता है। आज तो मनुष्य अपने इन बन्धुओं के खून से अपना हाथ लाल कर रहा है। भोजन प्राप्त करने के लिए किये गये इस पाप के फलस्वरूप उसे बहुत बड़ी सजा भुगतनी पड़ेगी।

इस दृष्टि से मांस खाना अप्राकृतिक रिवाज है, प्रकृति की अवज्ञा है जिसका परिणाम बहुत बुरा और खतरनाक होना चाहिए। मांस और अन्य अप्राकृतिक खाद्यों को खाने पर उनका ठीक पाचन नहीं हो पाता। मांस न पचने पर पेट में पड़ा सड़ता रहता है, सड़न से उठा हुआ खमीर शरीर और रक्त में फैलता रहता है जिसकी वजह से अनेक प्रकार की सूजन उत्पन्न करने वाली और बुरी-बुरी बीमारियां पैदा होती हैं।

यूनान की पौराणिक कथाओं में ओरेस्टेस की कथा आती है जिसमें उसने कोई भयानक हत्या की थी। इसका बोझ उसकी आत्मा पर बराबर पड़ता रहता था, उस हत्या का बदला लेने के लिए इरिनिस नामक देवता उस पर बराबर सवार रहता था। आज मनुष्य जाति का विवेक इन हत्याओं के बोझ से दबा पड़ा है और उसे पृथ्वी पर कहीं सुख-शांति नहीं मिल रही है।

मांस की गरमी और उसे स्वादिष्ट बनाने के लिए उसमें डाले गये मसाले और नमक हमेशा नशीले पेय और मद्य पीने की इच्छा पैदा करते हैं। इस प्रकार मांस खाना छिपे हुए शैतान, मद्य के लिए घर का दरवाजा खोल देता है। मद्य मांस का भाई है, जो निहायत ही पाजी और शरारती है और हमेशा अपने भाई के साथ रहता है। मद्य तनिक-सा पिया जाये या बहुत-सा, पर क्या किसी से भी इसका हानिपद्र और खतरनाक रूप छिप सकता है।

शराब नाड़ियों को उत्तेजित करती है और इसको पीने वाला सुन्दर सपनों की माया में पहुंच जाता है, पर जब नशा उतरता है तो उसकी प्रतिक्रिया यह होती है कि यह दुनिया उसे नीरस और शून्य लगती है, उसकी यथार्थता उसे कष्ट और पीड़ा पहुंचाती है। शराब पीने वाले समझते हैं कि शराब से उन्हें शक्ति मिलती है, पर वास्तव में वे धोखे में रहते हैं। बनावटी तरीके से पैदा की गयी उत्तेजना स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकर है। यदि शराब के क्षणिक प्रभाव के भुलावे में न पड़ा जाये तो यह तुरन्त समझ में आ जाता है कि शराब शरीर को बहुत कमजोर कर रही है और नाड़ियां खास तौर से छिन्न-भिन्न होती जा रही हैं। शराब से आत्मा पतित और मस्तिष्क कमजोर होता है। फलतः मनुष्य पाप और दोष की ओर अग्रसर होता है।

जो मांस नहीं खाता उसकी मानसिक-वृत्ति सदा ऐसी रहती है कि उसे शराब का सुन्दर किन्तु क्षणिक, साथ ही मायावी स्वप्न-सुख भोगने की इच्छा नहीं होती।

पर यदि मांस शरीर और आत्मा के लिए इतना हानिकारक है तो सवाल यह उठता है कि क्या बाइबिल और ईसा ने मांस का विरोध नहीं किया है! क्या ही अच्छा होता यदि हम फिर, अपने जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए ईसा और बाइबिल से अधिक-से-अधिक पथ-प्रदर्शन ग्रहण करते।

तौरेत के पुराने अनुवादों में अनेक भूलें हैं और कुछ तो इतनी भद्दी भूलें हैं कि उनसे मांस के सम्बन्ध के उपदेश उलटे अधिक अस्पष्ट हो गये हैं।

'बाग के हर पेड़ के फल तू खुशी से खा सकता है, पर ज्ञान के भले और बुरे की समझ वाले पेड़ से पैदा हुए को न खाना, अगर तूने उसे खाया तो तुझे मौत की सजा मिलेगी।'

भला ज्ञान का पेड़ क्या हो सकता है? कहीं पेड़ में भलाई और बुराई समझने की ताकत होती है?

इस बाइबिल में वृक्षों से पशुओं को अलग करने के लिए "बुराई और भलाई वाला" यह वाक्यांश जोड़ा गया है। बाइबिल में पशु को एक जगह 'सजीव वृक्ष' कहा है, अर्थात वृक्ष (प्राणी) जिसमें जीवन हो। अतः बाइबिल में यदि "भलाई और बुराई समझने वाला प्राणी" लिखा होता तो ज्यादा सही होता और इस प्राणी से जो यह समझ सकता है कि क्या बुरा है और क्या भला है, क्या हानिकर और क्या लाभदायक है, और जिसे मनुष्य की तरह अनुभव की शक्ति है, किसी अन्य का नहीं, पशु का ही बोध होगा। मनुष्य के पतन का आरम्भ यहीं से हुआ, उसने पहला पाप यही किया कि उसने पशु[1] का निषिद्ध मांस खाया।

हिन्दू-धर्म के ग्रन्थों में, जिनका अनुवाद जर्मन-भाषा में सही-सही मिलता है, पशु का मांस खाना निषिद्ध ठहराया गया है।

प्रकृति के प्रांगण की ओर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि केवल मांस खानेवाले प्राणी हत्या करते हैं। प्रकृति मांसाहारी में हत्या की इच्छा प्रतिष्ठित करती है। मनुष्य ने अपने पतन के बाद पहला या यों कहिये कि एक ही बुरा काम किया था, वह था हत्या-भ्रातृ-हत्या। इसका अर्थ यही है कि मनुष्य के पतन का कारण मांसाहार है, अन्यथा हत्या का यहां कोई अर्थ नहीं है।

---

1. तौरेत में अनेक ऐसे स्थल हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य का पहला पाप यही था कि उसने मांस खाया था। आरम्भ में लोग अपने इस पाप को पहचानते थे और इससे बचने की कोशिश करते थे, पर धीरे-धीरे ये फिसलते गये। अन्त में वे अपने इस पाप का समर्थन करने लगे और यहां तक समझने लगे कि मनुष्य ईश्वर की ओर से मांस खाने के लिए स्वतन्त्र है।

ऐसी स्थिति में ईसा मांस कैसे खा सकते थे। ईसा सबसे अधिक मृदुता और दया की शिक्षा देते थे। तो क्या उन्होंने अपनी आत्मा और ईश्वर की आवाज के विरुद्ध मनुष्य को राक्षस बनाने वाला पशु-मांस खाया होगा, जिसे जबह करने में दया को एकबारगी तिलांजलि दे देनी पड़ती है। यह कार्य ईसा की दया का विरोधी होता, वह हत्या के पाप से मुक्त नहीं हो सके थे। भला, ईसा शरीर और आत्मा को रुग्ण बनाने वाले, पाप और दोष में फंसाने वाले मांस को स्वीकार कर सकते थे।

तौरेत के अनुवाद में की गयी गलती के समान ही बाइबिल के अनुवाद में भी गलती मिलती है। प्राचीन समय में लोग मांस खाने के पाप के प्रायश्चित स्वरूप देवताओं को शान्त करने के लिए पशु की बलि दिया करते थे। इतिहासकारों का कहना है कि एसेन जाति के लोग, जिनसे ईसा सम्बद्ध थे, पशु-बलि नहीं देते थे। इससे यह आसानी से समझा जा सकता है कि वे मांस भी नहीं खाते थे। धर्मशास्त्रियों की भी यही मान्यता है।

इसको इस तरह से भी कह सकते हैं कि वे लोग पशु की बलि नहीं चढ़ाते थे, मांस नहीं खाते थे। ईसा और उनके शिष्यों ने कभी कोई बलि नहीं दी। उन्होंने तो पशु-बलि का निषेध भी किया है।

"मुझे दया चाहिए, बलि नहीं।"

जिस किसी ने बाइबिल की भावना को समझा है और खास तौर से तौरेत को, जानता है कि ईसा ने मांस खाना साफ-साफ मना किया है और इसमें शक और शुबहे की जगह ही नहीं है कि ईसा मांस नहीं खाते थे।

तर्क के बच्चे सांप से पैदा हुआ विज्ञान मनुष्य को आज भी उसी प्रकार पथभ्रष्ट कर रहा है जिस प्रकार इसके पिता सर्प ने आदम को स्वर्ग में किया था। यह आज भी पढ़ा रहा है कि प्रकृति-पथ का त्याग करने से मनुष्य की आत्मा और शरीर को अनेक लाभ मिलेंगे।

अभी एक विद्वान ने कहा है कि मनुष्य ने परिष्कृत एवं वैज्ञानिक जीवन अपनाकर बड़ी उन्नति की है और अन्त में यह देवताओं की तरह अमर हो जायेगा।

पर विज्ञान धोखा देने और भुलावे में रखने के सिवा अधिक क्या कर रहा है।

प्रत्येक स्थिर बुद्धि और निष्पक्ष व्यक्ति यह कहेगा कि मनुष्य अप्राकृतिक जीवन को अपनाकर देवता नहीं बन सकता, इसके विपरीत वह रोगी, दुखी, पापी, मूर्ख और सच्चे अर्थ में दानव ही तो बनेगा।"

(एडोल्फ जस्ट के 'रिटर्न टु नेचर' का अनुवाद 'प्राकृतिक जीवन की ओर')

अतएव सब प्रकार मांसाहार, मद्यपान, हिंसा एवं असत्य आचारों को त्याग कर सच्चे अर्थ में मानव बनना चाहिए।

अनेकता में एकता के सूत्र

शब्द-48

पण्डित देखहु हृदय विचारी, को पुरुषा को नारी॥ 1॥
सहज समाना घट घट बोले, वाके चरित अनूपा॥ 2॥
वाको नाम काह कहि लीजै, न वाके वर्ण न रूपा॥ 3॥
तैं मैं क्या करसी नर बौरे, क्या मेरा क्या तेरा॥ 4॥
राम खुदाय शक्ति शिव एकै, कहु धौं काहि निहोरा॥ 5॥
वेद पुराण कितेब कुराना, नाना भाँति बखाना॥ 6॥
हिन्दू तुरुक जैनि औ योगी, ये कल काहु न जाना॥ 7॥
छौ दर्शन में जो परवाना, तासु नाम मनमाना॥ 8॥
कहहिं कबीर हमहिं पै बौरे, ई सब खलक सयाना॥ 9॥

शब्दार्थ—समाना=प्रविष्ट। चरित=स्वभाव। अनूपा=विलक्षण। वण=रंग। धौं=भला। निहोरा=प्रार्थना। कल=मधुरता, शांति। छौ दर्शनयोगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण। परवाना=प्रमाणित, सिद्ध। पै=परन्तु, पर। खलक=संसार के लोग।

भावार्थ—हे पण्डित! हृदय में विचारकर देखो, कौन स्त्री है और कौन पुरुष! अर्थात शरीर स्त्री और पुरुष है, चेतन तो सबमें समान ही है॥ 1॥ जिनका सहज स्वरूप ही चेतन है वे जीव सभी देहों में प्रविष्ट होकर बोल रहे हैं। उनका स्वभाव जड़ से विलक्षण ज्ञानमय है॥ 2॥ उन चेतन जीवों को क्या नाम लेकर पुकारोगे! उनका कोई भौतिक रंग-रूप नहीं है अतएव उन्हें हिन्दू-मुसलमान एवं ब्राह्मण-शूद्रादि नहीं कहा जा सकता॥ 3॥ हे पगले मानव! मिथ्या जाति और सम्प्रदाय को लेकर तू-तू, मैं-मैं क्या करता है! यहां क्या मेरा है और क्या तेरा है॥ 4॥ राम, खुदा, शक्ति, शिव आदि एक चेतन सत्ता मात्र है, फिर भला निज चेतन स्वरूप की स्थिति छोड़कर किसकी प्रार्थना, वन्दना के भुलावे में पड़ा जाये॥ 5॥ वेदों, पुराणों, किताबों तथा कुरान ने नाना प्रकार से वर्णन किया है, परन्तु नाना प्रकार के वर्णन होने से सत्य नाना प्रकार का नहीं हो जायेगा॥ 6॥ हिन्दू, मुसलमान, जैनी, योगी आदि नानत्व में एकत्व की मधुरता को नहीं समझ पाते॥ 7॥ योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण तथा अनेक संप्रदाय वाले जो कुछ जहां सत्य मान लिये हैं वे उन्हीं के मनमाना गीत गा

रहे हैं॥ 8॥ कबीर साहेब कहते हैं कि परन्तु समाज की एकता को भंग करने वाले इन संप्रदायवादियों के बीच में हम ही पागल सिद्ध हो जाते हैं, और ये सब संसार के लोग समझदार बन जाते हैं॥ 9॥

व्याख्या—वर्णाभिमानी, जात्याभिमानी एवं संप्रदायाभिमानी लोग एकता में अनेकता देखते हैं। कबीर साहेब अनेकता में एकता देखते हैं। वे परिश्रमपूर्वक समन्वय नहीं करते, किन्तु उनकी दृष्टि स्वाभाविक समन्वित है। वे एक ऐसे मौलिक एकता-विचार के पुरुष हैं कि उनकी दृष्टि में कहीं आपस में टकराने की गुंजाइश ही नहीं है। यदि कबीर के विचारों को संसार मान ले तो कहीं झगड़े का स्थान ही न रह जाये।

'पण्डित देखहु हृदय विचारी' वे विचार करने के लिए पंडितों को निमंत्रित करते हैं। पंडित दो प्रकार के होते हैं। पंडित का सही अर्थ होता है सूक्ष्मदर्शी एवं विवेकी, जो कोई भी हो सकता है। दूसरे प्रकार का पंडित है कर्मकांडी, पत्राधारी जो भेदभाव की बातें बहुत करता है। इन दोनों प्रकार के पंडितों को विचार करना चाहिए। सूक्ष्मदर्शी एवं विवेकी ही विचार कर सकता है, अतः उसे तो विचारना ही चाहिए, परन्तु कर्मकांडी पत्राधारी को भी विचार करना चाहिए जिससे वह भेदभाव करना छोड़े।

साहेब इस शब्द में पहला विचार रखते हैं 'को पुरुषा को नारी।' वे प्रश्नवाचक विचार रखते हैं कि कौन स्त्री है और कौन पुरुष है? वस्तुतः शरीर स्त्री और पुरुष है। शरीर में रहने वाले चेतन जीव स्त्री-पुरुष नहीं हैं। स्त्री, पुरुष, नपुंसक अथवा प्राणि मात्र के भीतर एक ही प्रकार चेतन सत्ता निवास करती है। लोग कहते हैं 'कबीर ने तो नारी को अच्छा स्थान ही नहीं दिया है। वे जिस दृष्टि से हिन्दू-मुसलमान तथा ब्राह्मण-शूद्र को एक देख सके उसी दृष्टि से नर-नारी को एक नहीं देख सके।' वस्तुतः ऐसा कहने वाले विद्वानों ने कबीर साहेब के प्रामाणिक ग्रन्थ इस बीजक को मनोयोगपूर्वक नहीं देखा। कबीर साहेब प्रस्तुत पद में कहते हैं कि स्त्री हो या पुरुष, दोनों के भीतर एक समान चेतन सत्ता विद्यमान है, इसलिए दोनों का महत्त्व बराबर है। वे आगे 75वें शब्द में भी इस बात को दोहराते हैं—'को पुरुषा को नारी।' यही नहीं, वे इसके आगे 97वें शब्द में कहते हैं 'जेते औरत मर्द उपाने, सो सब रूप तुम्हारा।' अर्थात संसार में जितने औरत और मर्द पैदा होते हैं वे सब तुम्हारे स्वरूप हैं। इससे अधिक स्त्री-पुरुष की एकता की बात और क्या कही जा सकती है! अतएव किसी के विषय में गहराई से ज्ञान प्राप्त किये बिना हम उसके सम्बन्ध में समीक्षा करने के अधिकारी नहीं हैं। कबीर स्त्री-निंदक थे इसे कहने से पहले हम कबीर की वाणी का सम्यक अध्ययन करें। हां, यह सच है कि कबीर ने अपनी वैरागीवृत्ति के कारण कामिनी नाम से

आलोचना की है। वह स्त्री-निंदा नहीं, किन्तु स्त्री और पुरुष दोनों को कामासक्ति से बचाने के लिए समीक्षात्मक विचार है। कवि स्त्रियों के अंगों की प्रशंसाकर शृंगारिक वर्णन द्वारा लोगों के मन में कामोद्दीपन करते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि पुरुष वर्ग नारी को सताता है और उसे पथभ्रष्ट करता है। परन्तु सन्तों द्वारा स्त्री-देह में दोष-दर्शन कराकर पुरुष को उससे उपरत होने की दिशा मिलती है, नारी की रक्षा होती है। यहां सद्गुरु कहते हैं कि नर-नारी के भीतर समान चेतन सत्ता है, अतएव दोनों में मौलिक अन्तर नहीं है। वे दोनों अपनी-अपनी मर्यादा में रहकर अपना-अपना कल्याण करें। जैसे पुरुष अपना सर्वांग कल्याण करने का अधिकारी है, वैसे नारी भी।

सद्गुरु इस शब्द में दूसरी बात यह कहते हैं कि केवल नर-नारी के भीतर ही समानता नहीं है, किन्तु मानव मात्र के भीतर समानता है। 'सहज समाना घट घट बोले' चेतन सहज ही सभी दिलों में समाया है। सभी देहों में रहकर जो बोल रहा है वह कौन है? ब्राह्मण है कि शूद्र, हिन्दू है कि मुसलमान, पारसी है कि ईसाई? 'वाको नाम काह कहि लीजे, न वाके वर्ण न रूपा।' चेतन का कोई रंग-रूप नहीं है। उसे तथाकथित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण में परिगणित नहीं कर सकते। 'कहहिं कबीर सुनो हो भोंदू, बोलनहारा तुरुक कि हिन्दू।' कबीर साहेब की इतनी-सी बात हम समझ लेते तो आपसी भेदभाव की खाई पट जाती। व्यक्ति का असली स्वरूप देह नहीं, चेतन है, और सभी देहों में चेतन समान है। वह हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र नहीं है। उसका अन्य कोई नाम नहीं रखा जा सकता। अतएव मानव मात्र की अन्तश्चेतना की जाति एक है। सबके भीतर केवल चेतना ही परम गुण है जिसका अर्थ होता है ज्ञान। सबका निजस्वरूप ज्ञान मात्र है। देह के सारे नाम-रूप मिथ्या हैं। वैसे देह भी सबकी एक समान जड़तत्त्वों की है। उसमें भी परस्पर भेद नहीं है। वही तत्त्व, वही इन्द्रियां तथा हाड़-मांस का ढांचा सबके शरीर में हैं। यहां पर सद्गुरु ने व्यक्ति को निजस्वरूप पहचानने के लिए प्रेरित किया है। वे कहते हैं कि सबका स्वरूप एक समान चेतन है जो सारे भेदभावों से रहित है।

साहेब इस शब्द में तीसरी बात यह कहते हैं कि सांप्रदायिक एवं मजहबी खींचतान में क्या रखा है? 'तैं मैं क्या करसी नर बौरे, क्या मेरा क्या तेरा।' हर संप्रदाय एवं मजहब वाला यही कहता है कि हमारा राम बड़ा, हमारा खुदा बड़ा, हमारा शिव बड़ा, हमारी शक्ति (देवी) बड़ी इत्यादि। साहेब कहते हैं कि यह बताओ कि ये सब जड़ हैं कि चेतन? यदि ये सब चेतन हैं तो विवाद की बात खत्म हो गयी। चेतन में दो लक्षण नहीं होते। राम चेतन, खुदा चेतन और शक्ति चेतन—फिर इनमें से किस एक को श्रेय देकर उसका निहोरा

किया जाये, उसके सामने रोया-गिड़गिड़ाया जाये। राम, खुदा, शिव, शक्ति आदि के विशेष लक्षण मानव द्वारा कल्पित हैं। वस्तुतः चेतन का सामान्य लक्षण केवल ज्ञान है। जो पारदृष्टि वाला होता है वह विशेष लक्षण, जो मायिक हैं, उनमें नहीं उलझता। वह तो सामान्य लक्षण की ही उपासना करता है। जैसे विवेकवान तथाकथित ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू-मुसलमान आदि कल्पित लक्षणों को श्रेय नहीं देता, किन्तु सबमें विद्यमान सामान्य तात्त्विक लक्षण मनुष्यत्व को श्रेय देता है, वैसे वह राम, खुदा, शिव, शक्ति कल्पित लक्षणों से संबलित अवधारणाओं की उपासना नहीं करता जो मनुष्य को बांटती हैं, किन्तु वह चेतन अस्तित्व की उपासना करता है, जो निजस्वरूप है और सबके भीतर एक समान विद्यमान है। सारे स्मरणों एवं सारे ख्यालातों को छोड़कर अपनी आत्मा में ही तो स्थिति होती है, फिर बाहर किसका निहोरा किया जाये ! अतएव तू-तू मैं-मैं का चक्कर छोड़ो और सारी वासनाओं को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित होओ।

सद्गुरु चौथी बात यह कहते हैं कि वेद-पुराण, किताब-कुरान नाना प्रकार से वर्णन करते हैं। तो वर्णन के प्रकार में अन्तर होने से क्या तथ्य में अन्तर हो जायेगा? सारे धर्मशास्त्र एक दूसरे से भिन्न देश और काल में बने हैं तथा बनते हैं। इसलिए उनमें भाषा, शैली, मान्यता, विश्वास, चिंतन आदि में अन्तर होना स्वाभाविक है। अन्तर ही नहीं, विरोधी भाव भी होना सहज है। इतना तथ्य है कि दुनिया के सारे धर्मशास्त्र मनुष्यों के बनाये हैं। मनुष्यों के अलावा किसी देव या ईश्वर की कल्पना भावना मात्र है, फिर उसके द्वारा शास्त्र रचने की बात तो और हास्यास्पद है। यह अपने धर्मशास्त्र को तथाकथित ईश्वर का भेजा हुआ बताकर उसकी बातें समाज पर बलात थोपने का षड्यंत्र मात्र है। धर्मशास्त्रों को ईश्वरप्रदत्त मान लेने से सारी जड़ता, हठ, हिंसा एवं सांप्रदायिक भावनों पैदा होती हैं। ईश्वरवादी अपनी सड़ी-गली बातों को भी प्रभुवचन बताकर उसे सत्य सिद्ध करने की कठहुज्जती करता है। साहेब कहते हैं कि मनुष्य की आत्मा के अलावा कोई ईश्वर नहीं तथा उसके अलावा कोई शास्त्र-रचयिता नहीं। सभी शास्त्र मनुष्य के रचे हुए हैं। उनकी तरह-तरह की बातों से सार लो। इस जड़-चेतनात्मक विश्वसत्ता का तथ्य एक है। नाना प्रकार से वर्णन करने वाले धर्मशास्त्रों के वचनों से विश्वसत्ता को मत तौलो, किन्तु विश्वसत्ता की कसौटी से धर्मशास्त्रों को कसो। हजारों वेद-वचन घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते।[1] अमुक धर्मशास्त्र में लिखा है, इसलिए हम उसके अनुसार विश्वसत्ता न मान लें, किन्तु जैसी

---

1. ना ह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुम् ईष्टे। (भामती)

विश्वसत्ता है उसके अनुसार लिखे वचन प्रमाण हो सकते हैं। धर्मशास्त्र में लिखा है कि चन्द्रमा तथा सूर्य को राहु ग्रसता है इसलिए हम ऐसा नहीं मान सकते, किन्तु तथ्य है कि चन्द्र, सूर्य तथा पृथ्वी के एक सिधाई में आने से ग्रहण लगता है, अतः ऐसी बात ही मान्य हो सकती है। हम विश्वसत्ता को समझने के लिए धर्मशास्त्रों का केवल सहारा लें, उन पर पूर्णतया अवलंबित न हों। धर्मशास्त्रों में बहुत-सारी अच्छी प्रेरणाप्रद बातें होने के बावजूद विवाद और उलझनें भी बहुत हैं। यहां तक कि ज्ञान के नाम पर अज्ञान भी भरे हैं। अतएव मनुष्य को अपने विवेक का भरोसा करना चाहिए। मनुष्य में विश्वज्ञान प्राप्त करने की क्षमता है। बस, उसे केवल सब तरफ से निष्पक्ष होकर सोचना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि परम्परा, गुरुजन एवं शास्त्रों का आधार लेते हुए अपने स्वतन्त्र विवेक से अपने आप को तथा विश्व के नियमों को पहचाने। अमुक धर्मशास्त्र की दोहाई न दे, किन्तु सभी धर्मशास्त्रों का आदर करते हुए सत्यान्वेषी हो।

सद्गुरु पांचवीं बात कहते हैं—'हिन्दू तुरुक जैनि औ योगी, ये कल काहु न जाना।' अर्थात संप्रदायों की जड़ता में उलझे हुए लोग इस 'कल' को नहीं समझ सके। 'कल' का अर्थ है 'मधुर'। जैसे कहा जाता है कि सुबह पेड़ों पर पक्षी कलरव कर रहे थे अर्थात मधुर ध्वनि कर रहे थे। सद्गुरु कहते हैं कि मैंने इस शब्द में जो कुछ कहा है वह अनेकता में एकता का सूत्र है। अनेकता में एकता देखना ही मधुरता है। विचारकर देखने पर इस संसार में न कुछ अपना है और न पराया। यहां न कोई ब्राह्मण है न कोई शूद्र, न हिन्दू है न मुसलमान, न स्त्री है न पुरुष, न राम, खुदा, शिव, शक्ति एवं वेद, पुराण, किताब, कुरान को लेकर सत्य में बटवारा है। सबके घट में समाया हुआ सहज स्वरूप चेतन है। चेतन ही निजस्वरूप है। वही सभी मनुष्यों का स्वरूप है। जो मैं हूं वही दूसरा है। यह बोध अनेकता में एकता की मधुरता है। यही तथ्य है। परन्तु महजबी भावना वाले इसे नहीं समझते। वे सत्य को काट-काटकर देखना चाहते हैं। सत्य पर हिंदुआनी, मुसलमानी, ईसाइयत एवं अन्य अनेक रंग चढ़ाकर उसे भ्रमपूर्ण बना देते हैं। सभी मनुष्यों की आत्मा एक समान है तथा सभी को एक दूसरे से प्रेम चाहिए। प्रेम ही भक्ति है। प्राणितिरस्कार करके भक्ति का क्या मूल्य है!

साहेब छठीं बात कहते हैं 'छौ दर्शन में जो परवाना, तासु नाम मनमाना।' अर्थात महजबी भावना वाले जो कुछ प्रमाण मान लेते हैं उसी के नाम पर अपनी मान्यता बना लेते हैं। वे मान्यता के घेरे में अपने आप को इतना मजबूती से बांध लेते हैं कि उससे निकलकर सोचना भी नहीं चाहते। जो

केवल रूढ़ियों की लकीर पर चलना चाहेगा, उससे थोड़ा भी हटकर सोचना नहीं चाहेगा उसे सत्य का मोती नहीं मिल सकता। कोई कहता है कि मेरा सत्पुरुष ईश्वर का इकलौता पुत्र है, कोई कहता है कि मेरा सत्पुरुष ईश्वर का संदेशवाहक-दूत है, कोई कहता है कि मेरा सत्पुरुष स्वयं साक्षात भगवान एवं ईश्वर है। कोई कहता है कि मेरी किताब ईश्वर की वाणी है। कोई कहता है कि मेरा मजहब, संप्रदाय एवं समाज ही आस्तिकता का पंथ है, शेष नास्तिक या काफिर हैं। इस प्रकार सभी ने एक बार जो कुछ प्रमाण एवं सत्य मान लिया है उसी की मान्यता के घरौंदों में बंद हैं। उससे निकलकर विशाल सत्य को देखना ही नहीं चाहते।

अतएव सद्गुरु अंतिम सातवीं बात कहते हैं 'कहहिं कबीर हमहिं पै बौरे, ई सब खलक सयाना।' ये संसार के मजहबी लोग ही सयाने हैं, ये ही सच्चे समझदार हैं, बल्कि मैं ही पागल हूं जो इनके बीच में अकेला आ गया। अथवा ये सब सयाने लोग हमारे ऊपर ही पागलपन का दोषारोपण कर रहे हैं कि कबीर तो पागल है। यह न तो ईश्वरीय किताब मानता है, न अवतार मानता है, न पैगंबर मानता है, न जाति-पांति मानता है, न वर्ण-व्यवस्था मानता है, न छुआछूत मानता है, यह हमारे अलग-अलग बनाये भगवान के चेहरों को भी मिटाकर केवल सामान्य एवं सहज चेतन में ही उन्हें पर्यवसित कर देना चाहता है। यह कबीर तो हमारी अलग पहचान को ही समाप्त कर देना चाहता है। यह पागल है। इसे समाज से खदेड़ो।

पुरोहितों ने कबीर को समाज से खदेड़ने का भरपूर प्रयास किया, परन्तु दिन जितने बीत रहे हैं कबीर के विचार समाज पर छाते जा रहे हैं। उनके विचारों के अनुसार सरकारें कानून बनाती जा रही हैं। पुरोहित भी उन्हें समझकर उनके निकट आने का प्रयास कर रहे हैं। जो कबीर को ठीक से समझ लेता है, वह तत्काल उनके निकट आ जाता है और उन्हें अपनी आंखें मान लेता है। अंत में कबीर को पागल कहने वाला अपने आप को स्वयं पागल मानने लगता है।

समाधि एवं मोक्षतत्त्व का वर्णन

शब्द-49

बुझ बुझ पण्डित पद निर्बान, साँझ परे कहवाँ बसे भान॥ 1॥
ऊँच नीच पर्वत ढेला न ईंट, बिनु गायन तहँवा उठे गीत॥ 2॥
ओस न प्यास मंदिर नहिं जहवाँ, सहसों धेनु दुहावैं तहवाँ॥ 3॥
नित अमावस नित संक्रान्ति, नित नित नौग्रह बैठे पाँति॥ 4॥

मैं तोहि पूछौं पण्डित जना, हृदया ग्रहण लागु केहि खना॥ 5॥
कहहिं कबीर इतनो नहिं जान, कौन शब्द गुरु लागा कान॥ 6॥

शब्दार्थ—पद निर्बान=निर्वाण पद, बुझा हुआ, शांत, मुक्त। साँझ= समाधि, विदेहमुक्ति, मृत्यु। भान=सूर्य, चेतनजीव। सहसों धेनु=आनन्द की हजारों वृत्तियां। अमावस=कृष्णपक्ष की अंतिम तिथि, इसमें चंद्रमा और सूर्य एक साथ रहते हैं। संक्रान्ति=साथ गमन, मिलन, एक बिंदु से दूसरे बिंदु तक का मार्ग, सूर्य या किसी ग्रह का एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश करना, गुरु से शिष्यों का विद्या-ग्रहण। नौ ग्रह=सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु, तात्पर्य में पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा चतुष्टय अन्तःकरण। केहि खना=किस क्षण, कब।

भावार्थ—हे पंडित! जहां सारी वासनों बुझ जाती हैं उस मोक्षपद को बारम्बार समझने का प्रयत्न करो। ध्यान दो, संध्या होने पर सूर्य कहां निवास करता है? पौराणिक लोग कहते हैं कि सूर्य सुमेरु पर्वत के पीछे छिप जाता है, परन्तु यह बात भ्रमपूर्ण है। सूर्य को छिपने के लिए ऊंच, नीच, पर्वत, ढेला-ईंट कुछ नहीं है। वह तो जहां रहता है अपने आप में सदैव उदित ही रहता है, केवल पृथ्वी का ही आड़ा हो जाता है। इसी प्रकार सूर्यवत ज्ञानस्वरूप चेतन समाधि में एवं मोक्ष में अपने स्वरूप में रहता है। उसके रहने के लिए अन्य जगह की आवश्यकता नहीं है। समाधिलीन जीव को छिपने के लिए कोई ऊंच, नीच, पर्वत, ढेला-ईंट नहीं है, किन्तु वृत्तियों के अभाव होने से वह संज्ञा शून्य-जैसा लगता है। स्वरूपस्थ पुरुष के हृदय में तो बिना गायन किये अनाहतनाद के गीत के स्वर उठते रहते हैं। अर्थात उसका चित्त वासनाहीन हो जाने से, उसे अपनी अंतरात्मा की आवाज सुनाई देती है॥ 1-2॥ वहां पानी की जगह पर ओस तक नहीं है और न उसकी प्यास ही है। अर्थात न वहां भोग है और न भोगतृष्णा। वहां निवास के लिए न मंदिर है न उसकी आवश्यकता, वहां स्वरूपस्थिति ही मन्दिर है। फिर भी वहां दूध पीने के लिए मानो हजारों गायें दुही जाती हैं। अर्थात वहां आनन्द की हजारों वृत्तियों की वर्षा होती है॥ 3॥ संसार में समय-समय पर अमावस्या तथा संक्रांति के दिन आते हैं, परन्तु समाधिलीन पुरुष के लिए मानो रोज ज्ञान और मन रूपी सूर्य और चन्द्रमा के मिलन की अमावस्या है तथा रोज जड़ प्रकृति बिन्दु से स्वरूपस्थिति बिन्दु में जाने की संक्रांति है। आकाश के नौ ग्रहों का एक पंक्ति में बैठना असंभव है, परन्तु यहां तो रोज पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा चतुष्टय अन्तःकरण रूप नौ ग्रह संयम की एक पंक्ति में बैठ जाते हैं॥ 4॥ हे पंडित! मैं तुमसे पूछता हूं कि हृदय में मोह-माया का

आवरण किस समय पड़ा या पड़ता है?॥ 5॥ कबीर साहेब कहते हैं कि तुम इतना भी नहीं जानते हो, तो तुम्हारे गुरु ने तुम्हें कैसा ज्ञान दिया है?॥ 6॥

व्याख्या—इस शब्द में भी कबीर साहेब निर्वाणपद एवं मोक्षपद को समझने के लिए पंडितों को निमंत्रित करते हैं। यहां कबीर साहेब मोक्षपद को निर्वाणपद संज्ञा से याद करते हैं। निर्वाण का सीधा अर्थ है बुझ जाना। बौद्धों ने माना है कि जैसे दीपक में ज्योति जलती है, वह ज्योति कोई परिनिष्ठित पदार्थ नहीं है, किन्तु बत्ती के आधार में नीचे पात्र में से तेल ऊपर चढ़ता है और ज्योति में मिलकर ज्योति बन जाता है तथा ज्योति जलकर ऊपर उड़ जाती है, ऐसा क्रम बराबर चलता है, परन्तु हमें लगता है कि वही ज्योति रात भर बराबर जलती रहती है, परन्तु ज्योति का आकार तो नीचे से आया हुआ तेल का प्रवाह है, जो बराबर ज्योति बनकर और उड़कर समाप्त होता रहता है, वैसे जो प्राणियों के भीतर एक चेतना है वह क्षणिक विज्ञान का एक प्रवाह है। वह कोई स्थायी पदार्थ नहीं है। वह ज्ञान द्वारा बुझ जाने पर मोक्ष में कुछ नहीं रह जाता।

कबीर साहेब का मत इससे भिन्न है। वे मानते हैं कि शरीरों में जो चेतना है उसका आधार प्रति शरीर में अविनाशी जीव एवं आत्मा है जो परिनिष्ठित एवं अजर-अमर तथा अखंड है। क्षणिक विज्ञान में संस्कारों का कोई स्थायी धारक न होने से बीते हुए समय की घटनाओं की याद बिलकुल नहीं होगी। परन्तु सौ वर्ष की उम्र वाले आदमी को नब्बे वर्ष पुरानी बातें भी याद आती हैं। क्षणिक विज्ञान के सिद्धान्त में कर्म एक विज्ञान करेगा तथा फल दूसरा विज्ञान भोगेगा।[1]

कबीर साहेब यहां निर्वाण पद कहते हुए भी जीव के लिए दीपक-ज्योति का रूपक न देकर भान अर्थात सूर्य का रूपक देते हैं। दीपक की लौ क्षणिक है, परन्तु सूर्य स्थायी है। बौद्धों का विज्ञान क्षणिक है, परन्तु कबीर की आत्मा अमर है। वह सूर्य-तुल्य है। सूर्य का उदाहरण केवल समझाने के लिए है। जीव के समान तो केवल जीव ही है। यहां निर्वाण का अर्थ केवल वासनाओं का बुझ जाना है। सद्गुरु पंडितों से पूछते हैं कि जब वासनों बुझ जाती हैं, साधक समाधि में लीन हो जाता है, तब जीव कहां निवास करता है? इसके लिए वे सूर्य का रूपक देते हैं। वे कहते हैं कि जब संध्या होती है तब सूर्य कहां जाकर बसता है? पौराणिक पंडित कहते हैं कि एक सुमेरु पर्वत है। यह

---

1. इस विषय को समझने के लिए पढ़िए कबीर दर्शन, अध्याय 3 का 'जड़ से सर्वथा भिन्न चेतन अस्तित्व'।

सोने का बना है। यह पर्वत इलावृत्त[1] वर्ष में अवस्थित है। इसी की आड़ में सूर्य छिप जाता है। कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है "ऊंच नीच पर्वत ढेला न ईंट" अर्थात सूर्य के छिपने के लिए कोई ऊंच-नीच, पर्वत, ढेला, ईंट की आड़ नहीं चाहिए। सूर्य किसी पर्वत की आड़ में छिपता हो तब रात होती हो ऐसी बात नहीं है। सूर्य तो हर समय उदित रहता है। वह जहां रहता है अखंड प्रकाशरूप रहता है। केवल पृथ्वी का आड़ा हो जाता है तब इधर अंधकार हो जाता है। इसी को हम रात कहते हैं। संध्या होना, रात होना न सूर्य का पर्वत में छिपना है और न उसका मिट जाना है, किन्तु केवल पृथ्वी की आड़ हो जाना है। इसी प्रकार जीव जब समाधि में जाता है या इसका मोक्ष हो जाता है तब यह किसी ऊंच या नीच, पर्वत, ढेला एवं ईंट की आड़ में छिप नहीं जाता है और न नष्ट हो जाता है, किन्तु वासनाओं के बुझ जाने के कारण वह संसार को नहीं जानता। परन्तु संसार को न जानते हुए भी इसका अस्तित्व मिट नहीं जाता। गाढ़ी नींद में जीव कुछ नहीं जानता, परंतु इससे वह मिट नहीं जाता। जागकर पुनः अपने पूर्व संस्कारों को लेकर काम करता है।

"साँझ परे कहवाँ बसे भान" में 'साँझ' शब्द में समाधि और मोक्ष दोनों का श्लेष है। अर्थात सांझ शब्द में समाधि और मोक्ष दोनों अर्थ चिपके हैं। दो प्रश्न हैं, समाधि में जीव कहां बसता है तथा विदेह-मोक्ष में जीव कहां बसता है? जीव को भान कहकर मानो उत्तर भी दे देते हैं कि सूर्य का कभी अभाव नहीं होता। वह सदैव अपने स्वरूप में रहता है, भले कभी पृथ्वी का आड़ा होने से हमें न दिखे। इसी प्रकार समाधि में सारी स्मृतियों को छोड़ देने से जीव शांत हो जाता है, परन्तु रहता है। उसकी वासनों शून्य हो जाती हैं न कि जीव शून्य हो जाता है। अतएव समाधि में सारी स्मृतियों के बुझ जाने पर भी चेतन का अपना अखंड अस्तित्व रहता है। जब वह विदेहमुक्त हो जाता है

---

2. भागवत (5/16/7) में लिखा है कि इलावृत्त वर्ष के बीच में पर्वतों का राजा 'सुमेरु' स्थित है। वह मानो भूमण्डलरूप कमल की कर्णिका है। वह नीचे से ऊपर तक सोने का है तथा एक लाख योजन ऊंचा है। उसके शिखर का विस्तार बत्तीस हजार योजन तथा तलैटी में सोलह हजार योजन हैं। वह सोलह हजार योजन ही जमीन में घुसा है तथा भूमि के बाहर उसकी ऊंचाई चौरासी हजार योजन हैं।

   उक्त सारी बातें अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। दो, चार तथा आठ कोस का योजन की मान्यता हैं। अधिकतम चार कोस को एक योजन मानते हैं। सुमेरु पर्वत एक लाख योजन ऊंचा था। अर्थात चार लाख कोस या आठ लाख मील जिसे आप करीब बारह लाख किलोमीटर से अधिक समझें। आज वैज्ञानिक पूरी पृथ्वी की परिधि लगभग पचीस हजार मील बताते हैं। परन्तु पुराणों की कृपा से उस पर आठ लाख मील ऊंचा सुमेरु पर्वत ही है।

तब भी अजर-अमर एवं अखंड होने से अपने आप में रहेगा ही। वह प्रकृति-सम्बन्ध से छूट जाने से सदैव के लिए क्लेश-रहित हो जाता है। बस, इसके आगे उसकी व्याख्या नहीं हो सकती।

जो व्यावहारिक है उस समाधि को लेकर कबीर साहेब आगे बढ़ते हैं "बिनु गायन तहवाँ उठे गीत" जो समाधिलीन है उसके भीतर बिना गायन किये गीत के स्वर उठते हैं। बड़ा अद्भुत है। जो संसार के गीत छोड़कर समाधि में चला जाता है उसके भीतर एक स्वसंवेद्य गीत उठने लगता है। वह गीत है अंतरात्मा की आवाज। जैसे स्वच्छ और निस्तरंग जल में मनुष्य अपने चेहरे के प्रतिबिम्ब को साफ देख लेता है और जैसे स्वच्छ दर्पण में भी, वैसे स्वच्छ और निर्द्वन्द्व मन में मनुष्य अपने आप को ठीक से समझता है। जैसे किसी की कही हुई बातें हम तब सुन पाते हैं जब वहां हल्ला-गुल्ला न हो, वातावरण शांत हो, वैसे हम अपनी अंतरात्मा की आवाज तब समझ पाते हैं जब मन की हलचल समाप्त हो जाये। जो साधक मन के संकल्पों को छोड़कर समाधि में चला जाता है वह अपनी अंतरात्मा की आवाज को साफ सुनने लगता है। मनुष्य के भीतर से ज्ञान का स्वर उठता है, दया, सत्य, क्षमा, प्रेम आदि के स्वर उठते हैं, परन्तु वह उनकी अवहेलना कर देता है। निरन्तर अवहेलना करने वाले के स्वर एकदम दब जाते हैं। कसाई की अंतरात्मा की दया के स्वर दब जाते हैं। निरंतर जीववध करते रहने से उसे अपनी अंतरात्मा के स्वर नहीं सुनाई देते। इसी प्रकार निरंतर झूठ बोलने वाले का झूठ के विषय में हो जाता है। परन्तु जिसका मन जितना स्वच्छ होता है वह उतना ही अपने भीतर से अच्छी राय जान सकता है। जो समय-समय पर समाधि-लीन हो जाता है, उसका तो कहना ही क्या। उसका मन अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है। अतएव वह उत्तम-से-उत्तम राय अपने भीतर से पाने लगता है। समाधिनिष्ठ का मित्र एवं गुरु मानो उसकी अंतरात्मा हो जाती है। इस अंतस्संगीत के सामने बाहर के संगीत तुच्छ हैं। समाधिनिष्ठ साधक सदैव अंतस्संगीत का रसास्वादन करता है "बिनु गायन तहवाँ उठे गीत।"

"ओस न प्यास मंदिर नहिं जहवाँ" उस समाधि में, उस स्वरूपस्थिति की दशा में पानी की जगह पर ओस का कण भी नहीं है और न उसके लिए प्यास है। इसका अर्थ है कि समाधिनिष्ठ पुरुष के मन में ओसकणवत तुच्छ भोग की प्यास नहीं रह जाती। वहां कहां भोग और कहां भोगों की तृष्णा! 'कहा विषय को भोग, परम भोग इक और है। जाके होत संयोग, नीरस लागत इन्द्रपद।"[1] समाधि सुख उपभोग करने वाले की दृष्टि में विषय-भोग घृणित

1. भर्तृहरि वैराग्य शतक का हिन्दी अनुवाद, प्रतापसिंह।

हो जाते हैं और सदैव के लिए उनका त्याग हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं "मंदिर नहिं जहवाँ" वहां कोई लोहा, पत्थर, ईंट, सीमेंट का मंदिर एवं भवन नहीं बना है, परन्तु समाधि मानो स्वयं अक्षय मंदिर है, क्योंकि उसका फल अनंत स्वरूपस्थिति है। अपने कार्य-क्षेत्र में दिन भर थके हुए मनुष्य के विश्राम के लिए एक मंदिर एवं भवन चाहिए। इसी प्रकार संसार से थके हुए साधक के लिए समाधि-मंदिर चाहिए जहां पहुंचकर जीव को परम विश्राम मिलता है। हर मनुष्य को चाहिए कि वह अपने भीतर बिना मंदिर का मंदिर बनाये। "बे दरोदीवार का एक घर बनाना चाहिए।" यह समाधि ही वह मंदिर है जो गिरने एवं छूटने वाला नहीं है। जो साधक समाधिनिष्ठ होता है, वह व्यवहारकाल में अनासक्त रहने से मानो सब समय समाधि में ही रहता है। इस प्रकार वह जीवन भर समाधि में विराजमान रहते हुए विदेह मोक्ष रूपी समाधि में पहुंच जाता है। अतएव जो जीवन में अविचल भाव से समाधि-मंदिर पा गया वह मानो अचल मन्दिर में प्रवेश पा गया। उसके सारे भय समाप्त हो जाते हैं।

"सहसों धेनु दुहावैं तहवाँ" वहां मानो हजारों गायें दुही जाती हैं। जिसके घर में हजारों गायें दुही जाती हों उसकी सम्पत्ति एवं सुख को क्या पूछना! सद्गुरु कहते हैं कि जो साधक निर्वाणपद में चला जाता है, समाधि में लीन हो जाता है, मत समझना कि वह गरीब हो जाता है। वह बहुत बड़ा संपदाशाली हो जाता है। सारी संपदा सुख के लिए है। परन्तु ज्यादातर देखा जाता है कि संसार की संपदा वाले दुखी रहते हैं। उनका मन बेचैन रहता है। क्योंकि उनका मन तमाम इच्छा वाला होता है। परन्तु जो साधक समाधि में पहुंच जाता है, उसकी सारी इच्छों बुझ जाती हैं। जिसकी सारी इच्छों बुझ गयीं वह मानो महा-संपदाशाली हो गया। उसके जीवन की शुद्ध हुई हजारों मनोवृत्तियां रूपी गायें मानो उसके लिए दूध वर्षाती हैं। समाधिनिष्ठ व्यक्ति हरदम निर्विकल्प समाधि में तो नहीं बैठा रहता हैं। निर्विकल्प समाधि में तो वह समय-समय पर होता है, शेष समय व्यवहार में होता है। परन्तु उसका मन तो मक्खन बन जाता है। उसकी हजारों मनोवृत्तियां दुग्धवर्षिणी, अमृतवर्षिणी एवं आनन्दवर्षिणी ही होती हैं। श्री रामरहस साहेब ने इसी अवस्था के लिए कहा है "आनन्द लहरि के समुद्र अगाध।"[1]

"नित अमावस नित संक्रान्ति" संसार में न रोज अमावस्या रहती है और न संक्रांति। परन्तु समाधिलीन एवं जीवन्मुक्त पुरुष के लिए मानो रोज

---

1. पंचग्रंथी, गुरुबोध, उत्तर 8।

अमावस्या एवं रोज संक्रांति के पर्व हैं। अमावस्या कृष्णपक्ष की अंतिम तिथि है। इसमें चन्द्रमा तथा सूर्य एक साथ रहते हैं। 'अमा' (एक साथ या घर) एवं 'वस' (वास करना) से अमावस एवं अमावस्या शब्द बना है।[1] मन का देवता चन्द्रमा तथा आंख का देवता सूर्य माना गया है। अतएव चन्द्रमा मन का प्रतीक तथा सूर्य ज्ञान का प्रतीक है। आंख से देखकर ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण से ही अन्य प्रमाण माने जाते हैं। अतएव सूर्य ज्ञान का प्रतीक है, चन्द्रमा मन का प्रतीक है ही। समाधिलीन पुरुष का मन सदैव ज्ञान सहित होने से उसके लिए मानो हर समय अमावस्या का पर्व है। जैसे आकाश में चांद और सूरज का एक साथ होना अमावस्या है, वैसे हृदय में ज्ञान और मन का एक साथ होना आध्यात्मिक अमावस्या है। अमावस्या उत्तम पर्व माना जाता है। अथर्ववेद में इसको देवता कहा गया है।[2] सद्गुरु कहते हैं कि समाधि में स्थित पुरुष के लिए तो रोज अमावस्या है, रोज पर्व है। वह स्वयं परम देव है।

"नित संक्रांति" साहेब कहते हैं कि उसके लिए रोज संक्रांति की पुण्य तिथि है जिसका मन पवित्र है, जो समाधिनिष्ठ है। सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में जाने को संक्रांति कहते हैं। कुल बारह राशियां हैं—मेष, वृषभ, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ तथा मीन। जब सूर्य धनु राशि को छोड़कर मकर राशि में प्रवेश करता है तब इसे मकर संक्रांति कहते हैं। यह बहुत प्रसिद्ध तथा पुनीत माना जाता है और उत्सव के रूप में मनाया जाता है। इसी प्रकार एक राशि से दूसरी राशि में सूर्य का क्रमशः जाना संक्रांति है।[3] ब्रह्मांड में संक्रांति रोज नहीं रहती। परन्तु समाधिनिष्ठ पुरुष का रोज संक्रांति-पर्व है। वह रोज जड़ प्रकृति-क्षेत्र को छोड़कर चेतन-क्षेत्र में गमन करता है। ज्ञानी जब तक देह में रहता है तब तक संसार उसके सामने बना ही रहता है। अतएव वह उसे छोड़-छोड़कर अंतर्मुखी होता रहता है। दृश्यों को छोड़-छोड़कर द्रष्टा चेतनस्वरूप में अवस्थित होना ही आध्यात्मिक संक्रांति है। संक्रांति एक पर्व है जो एक वर्ष में बारह बार होता है, परन्तु ज्ञानी का संक्रांति-पर्व रोज होता है। उसके लिए रोज उल्लास एवं पर्व के दिन हैं।

"नित नित नौ ग्रह बैठे पाँति" हमारे आकाश में नौ ग्रह हैं। ये एक दूसरे से बहुत दूर-दूर हैं। ये नौ ग्रह एक पंक्ति में आकर बैठ नहीं सकते। परन्तु

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड 4, पृष्ठ 25।
2. अथर्ववेद 7/79।
3. रवैः संक्रमणं राशौ संक्रान्तिरिति कथ्यते।

समाधिनिष्ठ पुरुष के लिए तो नौ ग्रह आकर एक पंक्ति में रोज-रोज बैठ जाते हैं। ये हैं—आंख, नाक, कान, जीभ, चमड़ी, मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार। ये ग्रह इसलिए हैं कि ये जीव को पकड़ लेते हैं, बांध लेते हैं। परंतु समाधिनिष्ठ पुरुष के लिए ये आकर एक संयम की पंक्ति में बैठ जाते हैं। अर्थात उसके इन्द्रिय-मन स्ववश होते हैं।

मानो काशी के गंगा-घाट पर एक यात्री बैठा था । एक पंडित जी आकर उसे कहने लगे कि तुम्हें ग्रह ने पकड़ रखा है। वह तुम्हारा अशुभ करेगा। तुम पूजा करवाकर ग्रह-शांति करवा लो। इतने में पीछे से कबीर साहेब आ गये। उन्होंने उसे वर्गलाते देख पंडित से पूछ लिया—"मैं तोहि पूछौं पंडित जना, हृदया ग्रहण लागु केहि खना।" हे पंडित ! मैं तुमसे पूछता हूं कि तुम्हारे हृदय में यह मानसिक ग्रहण कब से लगा जो आकाश में रहे हुए ग्रह को मनुष्य पर कुपित बताते हो? यदि इस पर ग्रह कुपित है, तो हम लोगों पर क्यों नहीं कुपित है? सूर्य का प्रकाश और गरमी सभी पर बराबर रहते हैं। पूर्णमासी के चन्द्रमा के प्रभाव से पूरे समुद्र में ज्वार आता है। यदि इसी प्रकार ग्रह का प्रकोप मनुष्य पर हो तो सभी मनुष्यों पर होना चाहिए। सब पर प्रकोप न होकर किसी-किसी पर ही प्रकोप क्यों? मान लो, इस व्यक्ति पर ग्रह का प्रकोप है, तो पूजा करने से वह शांत कैसे हो जायेगा? क्या पूजा करने से सूरज की गरमी शांत हो जायेगी? बताओ पंडित ! यह अज्ञान तुमको कब से घेर लिया जो ग्रह का प्रपंच खड़ाकर मनुष्यों का वंचन कर रहे हो?

पंडित बेचारा कबीर साहेब के प्रश्नों के उत्तर नहीं दे पाया। तब कबीर साहेब उससे पुनः पूछ बैठे "कहहिं कबीर इतनी नहिं जान, कौन शब्द गुरु लागा कान।" पंडित जी, आप इतना भी नहीं जानते? तुम्हारे गुरु तुम्हारे कान में कौन-से ज्ञान के शब्द या मंत्र सुनाये थे? "इतनो नहिं जान" वाक्यांश में पंडित की छिछली और वंचकबुद्धि के लिए मार्मिक व्यंजना है।

उक्त दोनों पंक्तियों का आध्यात्मिक अर्थ इस ढंग से समझना चाहिए। "मैं तोहि पूछौं पंडित जना, हृदया ग्रहण लागु केहि खना।" साहेब कहते हैं कि हे पंडित, हृदय में अज्ञान का ग्रहण जीव को कब लगा या लगता है? यहां दो प्रकार से प्रश्न हो सकते हैं। पहला यह कि जीव को कब अज्ञान ने घेर लिया? तथा दूसरा यह कि जीव को कब अज्ञान घेरता है? पहले वाले का उत्तर पंडित न दे सके तो वह दोषी नहीं है, क्योंकि उसका उत्तर कोई नहीं दे सकता। उसका उत्तर यदि है तो यही कि जीव के ऊपर अज्ञान का आवरण अनादि से है। जीव कब अज्ञान में पड़ा यह नहीं कह सकते। यही कह सकते हैं कि जीव अनादिकाल से अज्ञान में पड़ा है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर व्यावहारिक है कि जीव को कब अज्ञान घेरता है, हे पंडित, इसका विचार करो। जो व्यक्ति अपने मन को निरन्तर देखता है वही समझ सकता है कि मेरे मन में कब अज्ञान आया। जब भी मन में देहाभिमान, काम, मोह, लोभ, क्रोध, राग, द्वेष, ईर्ष्या, चिन्ता, शोक आदि मनोविकार आयें तब समझ लो कि हृदय में ग्रहण लग गया। आदमी विद्वान हो जाता है, पण्डित हो जाता है, संसार के बहुत ज्ञान उसे हो जाते हैं, परन्तु वह अपने हृदय के ग्रहण को नहीं समझ पाता। जो क्षण-क्षण लगने वाले अपने हृदय के ग्रहण को समझ ले वह साधक है, और जब हृदय को ग्रहण लगना बन्द हो जाये तब वह सिद्ध है।

साहेब कहते हैं कि यदि अपने हृदय के ग्रहण को न समझ सके, अपने मन की मलिनता को न समझ सके और उसे न निकाल सके तो उसका सारा पांडित्य निरर्थक है। इस प्रकार इस पूरे शब्द में समाधि एवं मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

संसार-वृक्ष से छुटकारा लो

शब्द-50

बुझ बुझ पण्डित बिरवा न होय, आधे बसे पुरुष आधे बसे जोय॥ 1॥
बिरवा एक सकल संसारा, स्वर्ग शीश जर गयी पतारा॥ 2॥
बारह पखुरिया चौबिस पात, घने बरोह लागे चहुँ पास॥ 3॥
फूले न फले वाकी है बानी, रैन दिवस बेकार चुवै पानी॥ 4॥
कहहिं कबीर कछु अछलो न तहिया, हरि बिरवा प्रतिपालेनि जहिया॥ 5॥

शब्दार्थ—बिरवा=वृक्ष, संसार, जन्म-मरण। पुरुष=चेतन। जोय=पत्नी, प्रकृति। स्वर्ग=आकाश। पतारा=पाताल। पखुरिया=पंखड़ी, पत्ते या फूल के गुच्छे। बरोह=जटा, बरगद की जटा। बानी=स्वभाव। अछलो=था।

भावार्थ—हे पंडित! इस तत्त्व को समझने की बारम्बार चेष्टा करो जिससे जन्म-मरण का वृक्ष पुनः न पैदा हो। इस वृक्ष के आधे में चेतन बसता है तथा आधे में जड़ प्रकृति। अथवा स्त्री-पुरुष की पारस्परिक आसक्ति से यह जन्म-मरण का वृक्ष बना रहता है॥ 1॥ यह सारा संसार मानो एक वृक्ष है। इसका शिखर भाग आकाश में तथा जड़ पाताल में चली गयी है॥ 2॥ इसमें बारह महीने मानो बारह पंखड़ियां हैं और चौबीस पखवारे

पत्ते हैं। इसके चारों तरफ आसक्ति की मानो सघन जटों लगी हैं जिनने मजबूती से जीव को जकड़ रखा है॥ 3॥ इसका स्वभाव ऐसा है कि यह फूलता-फलता नहीं। अर्थात जो इसमें आसक्त रहता है वह दुखी रहता है। उसको जीवन में सच्चा सुख नहीं मिलता। इसमें रात-दिन कामादि मलिनता का ही पानी चूता रहता है॥ 4॥ कबीर साहेब जनभाषा में कहते हैं कि जब हरि ने इस वृक्ष का प्रतिपालन किया तब कोई प्रपंच नहीं था॥ 5॥

व्याख्या—संसार रूपी वृक्ष एक बाहर है तथा दूसरा मनुष्य के मन के भीतर। बाहर का वृक्ष सदैव बना रहेगा। उसके बने रहने से हमारी कोई हानि नहीं है, किन्तु हमारे मन के भीतर का संसार-वृक्ष उखड़ जाना चाहिए। हमारे मन के भीतर का वृक्ष जड़ासक्ति है। इसको उखाड़ फेंकने से ही हमें परमशांति की उपलब्धि होगी। सद्गुरु कबीर पंडितों, सूक्ष्मदर्शियों एवं विवेकियों को यही राय देते हैं कि वे इसे समझने की चेष्टा करें "बुझ-बुझ पण्डित बिरवा न होय।" यही इस शब्द का उद्देश्य है कि हमें ऐसी समझ होनी चाहिए कि संसार-वृक्ष उखाड़ फेंके, मन की जड़ासक्ति नष्ट कर दें।

"आधे बसे पुरुष आधे बसे जोय" बाहर का संसार प्रकृति तथा पुरुषमय है। पुरुष कहते हैं देहधारी चेतन को। 'पुरि शेते पुरुषः' अर्थात जो शरीर रूपी पुर (गांव) में सोये, निवास करे, वह पुरुष है। यह चेतन जीव पुरुष है। दूसरी है जोय, जोय कहते हैं पत्नी को। इसका लक्षणा अर्थ है प्रकृति। प्रकृति का मतलब है जड़ कारण-कार्य का पसारा। संसार में दो ही लक्षण की सत्तों हैं जड़ और चेतन। जड़ और चेतन को छोड़कर तीसरा लक्षण नहीं होता। संसार में जहां कहीं भी ज्ञानयुत क्रिया है वहां चेतन का निवास है तथा जहां स्वाभाविक क्रिया है वहां जड़ मात्र है। हमारा जीवन भी जड़-चेतन का संयोग है। जड़ तत्त्वों से शरीर बना है तथा चेतन उसमें निवास करता है। जैसे संसार के सम्पादन में जड़ और चेतन का योग है, वैसे भवबंधनों के सम्पादन में स्त्री-पुरुष का योग है। स्त्री और पुरुष परस्पर दैहिक आसक्ति में पड़कर एक दूसरे को मोहग्रस्त करते हैं तथा स्वयं मोहग्रस्त होते हैं। ये जो बाहर के शरीर-संसार हैं इनकी आसक्ति ही भवबंधन है और यही जीव के लिए मानो संसार-वृक्ष है। इसी को उखाड़ फेंकने से जीव को जीवन्मुक्ति अवस्था की प्राप्ति होती है। जो जीवन्मुक्त होता है, वही विदेहमुक्त होता है।

"बिरवा एक सकल संसारा, स्वर्ग शीश जर गई पतारा।" यह सारा संसार मानो एक वृक्ष है। इसकी चोटी स्वर्ग में है तो जड़ पाताल में। स्वर्ग का अर्थ होता है आकाश। आकाश तो सर्वत्र है, अतएव स्वर्ग का अर्थ है ऊपर, बहुत ऊंचा। पाताल का अर्थ है बहुत नीचा। यह ऊंचा-नीचा भी सापेक्ष दृष्टि से ही

कहा जा सकता है। यह संसार इतना विशाल है जिसे हम अपने मन में आंक नहीं सकते। न इसके देश की सीमा है और न काल की। इसलिए इसके विषय में जितना कुछ कहा जायेगा वह सापेक्ष होगा, अधूरा होगा, केवल एक पहलू का कथन होगा। प्रकाश की गति एक सेकेंड में तीन लाख किलोमीटर है। ऐसा प्रकाश यदि खरबों वर्ष चलता रहे तो क्या कहीं दीवार मिल जायेगी! यदि दीवार मिल जाये तो वह भी देश ही है। दीवार के आगे फिर आकाश होगा। कहां तक होगा? प्रश्न ही गलत है। आकाश होगा ही होगा। अतएव हम संसार के विषय में सही अनुमान नहीं कर सकते। बस, इतना ही कह सकते हैं कि "आधे बसे पुरुष, आधे बसे जोय" यह प्रकृति-पुरुषमय है।

"बारह पखुरिया चौबीस पात, घने बरोह लागे चहुँ पास।" सद्गुरु द्वारा संसार का वर्णन कितना आलंकारिक एवं कितना मोहक है। इसमें बारह पंखड़ियां हैं, चौबीस पत्ते हैं तथा इसके चारों ओर सघन बरोह लगे हैं, जटों लगी हैं। संसार देश तथा कालमय है। सद्गुरु ने दूसरी पंक्ति में संसार के देश का रूपक दिया था 'स्वर्ग शीश जर गई पतारा।" इस तीसरी पंक्ति में सद्गुरु ने काल का रूपक दिया है। बारह पखुरिया हैं तथा चौबीस पत्ते हैं। पंखड़ी का टुटा हुआ शब्द पखुरिया है। पंखड़ी का अर्थ है 'फूल का वह पत्ते के समान अवयव जिसके संकोच से वह मुकुलित (अधखिला) रहता है और फैलाव से खिलता है, फूल की पत्ती, पुष्पदल।'[1] ये काल के बारह महीने ही मानो संसार की पंखड़ियां हैं तथा चौबीस पखवाड़े पत्ते हैं। इसके चारों ओर बरोह लगे हैं। आपने बरगद के पेड़ में देखा होगा कि उसकी डालियों से जटों निकलकर जमीन तक पहुंच जाती हैं और धीरे-धीरे जमीन में प्रवेश कर जाती हैं। वे स्वयं एक पेड़ की तरह बन जाती हैं। धीरे-धीरे मूल वृक्ष का तना एवं जड़ चाहे गल जायें परन्तु ये बरोह, ये जटों उस वृक्ष को मजबूत बनाये रखने के लिए काफी होती हैं। बरोह के अर्थ में चाहे काल के सूक्ष्म भाग घंटा, मिनट, सेकंड आदि को ले लें, चाहे भौतिक द्रव्यों की गतिशीलता को ले लें; ये ही संसार-वृक्ष को मजबूत बनाये हुए हैं। वस्तुतः हमारे मनोमय वृक्ष की जटों आसक्ति है जिसने जीव को संसार में जकड़ रखा है।

"फूले न फले वाकी है बानी" बानी का अर्थ है स्वभाव। इस संसार का स्वभाव है कि यह फूलता-फलता नहीं। अर्थात इसका स्वरूप स्थायी प्रसन्नतादायक नहीं होता। जो व्यक्ति संसार में जितना ही आसक्त होता है वह

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।

उतना ही पीड़ित एवं शोकित होता है। जीव को प्रसन्नता, स्थायी सुख एवं परमानन्द तो तब मिलता है, जब वह संसार-वृक्ष के मोह को त्याग देता है। जो संसार-वृक्ष के फलों (विषयों) को चखता है, वह मोह-शोक में डूबा रहता है।

इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के दीर्घतमा ऋषि ने बड़ा अच्छा कहा है— "सुन्दर पंख वाले दो पक्षी हैं जो एक समान पेड़ पर रहते हैं। उनमें से एक उस पेड़ के फल को खाता है, और दूसरा केवल देखता है, खाता नहीं।"[1] इसका अर्थ है, रागी और त्यागी दो प्रकार के जीव इस शरीर वृक्ष पर रहते हैं। वे दोनों मूलतः समान हैं और उनके शरीर भी समान हैं। परन्तु दोनों की समझ में बड़ा अन्तर है। एक विषयों का उपभोग कर मलिन होता है और दूसरा केवल द्रष्टा रहकर उनसे अनासक्त रहता है। इस मंत्र के अर्थ के पूरक के रूप में श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि ने एक मंत्र बड़ा अच्छा कहा है— "समान ही पेड़ पर रहते हुए भी एक पुरुष (चेतन) विषयों में डूबा है, अनीश (असमर्थ) है और विमोहित होकर शोक करता है। परन्तु जब वह उस पुरुष (चेतन) को देखता है कि वह प्रसन्न है, ईश (समर्थ) है तथा महिमापूर्ण है, तब वैसे वह भी हो जाता है और वह भी शोक से मुक्त हो जाता है।"[2] संस्कारी जीवात्मा जब त्यागी को देखता है तब उसके मन में भी त्याग की भावना जगती है।

सार यह है कि संसार-वृक्ष शांति एवं आनन्दरूपी फल-फूल से रहित है। उसका स्वभाव ही क्षणभंगुर है। उससे परम संतोष रूपी फूल-फल की आशा बेकार है। वह तो "रैन दिवस बेकार चुवै पानी" रात-दिन विकारों का पानी चूता है। विकार भौतिक भी है और मानसिक भी। विकारों का अर्थ है परिवर्तन तथा मल। भौतिक क्षेत्र में निरन्तर परिवर्तन होता है तथा मन में मलिनता आती है। संसार का यही फल है। संसार का हर भौतिक पदार्थ अपने वर्तमान रूप को छोड़कर दूसरे रूप में क्षण-क्षण जाता है। चारों ओर परिवर्तनशीलता का विकार बहता है। इधर संसारासक्तिवश मन के काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या-द्वेषादि विकार प्रवाहित रहते हैं। इस प्रकार यह संसार-वृक्ष निरन्तर विकार का पानी बरसाता है और उसमें जीव भीगकर मलिन होते हैं।

---

1. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
   तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ (ऋग्वेद 1/164/20)
2. समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
   जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ (श्वेताश्वतर 4/7)

"कहहिं कबीर कछु अछलो न तहिया, हरि बिरवा प्रतिपालेनि जहिया।" जब हरि ने इस वृक्ष का प्रतिपालन किया तब कुछ नहीं था—यह एक जनभाषा का प्रयोग है। इन-जैसी बातों को ही पारखी संत जीवमुख या मायामुख कहते हैं। जो लोगों के सहज मनोरंजन के लिए सद्गुरु ने यत्र-तत्र कह दिया है। इसमें सिद्धान्त की गहराई देखने की आवश्यकता नहीं है।

जड़-चेतन नित्य हैं। उनके गुण-धर्म उनमें अंतर्निहित नित्य हैं। उनसे जगत का प्रवाह नित्य है। यह सत्तात्मक जगत असत्ता से नहीं आ गया है। जगत को समझने के लिए किसी हरि या देव की जरूरत नहीं है, किन्तु जगत के शाश्वत नियमों को समझने की आवश्यकता है। सद्गुरु ने यह पांचवीं पंक्ति बच्चों जैसे भावुकों के लिए कही है। यही उनकी उदारता तथा मस्तानगी है। नाना प्रकार के लोग उनके पास आते थे, इसलिए वे कभी-कभी उन लोगों के मनोरंजन के लिए उन-जैसी बातें कर देते थे।

इस शब्द का मुख्य विषय यह नहीं है कि संसार-वृक्ष कैसे बना, किसने बनाया, किन्तु इसका मुख्य विषय है कि यह नीरस है, सुखरहित है, मलिन है, बंधनप्रद है, इसकी आसक्ति को जीतना चाहिए और इससे मुक्त होना चाहिए। सद्गुरु का इस शब्द में पहला वाक्य है कि ऐसा ज्ञान प्राप्त करो, ऐसी रहनी में चलो जिससे इस संसार-वृक्ष से छुटकारा हो। दुर्जन-तोष न्याय यदि कोई संसार-वृक्ष का निर्माता हो भी, तो उसमें हमें प्रेम नहीं करना है, हमें तो उस सद्गुरु से प्रेम करना है जो संसार-वृक्ष से छुड़ाये "आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा।"[1]

मनोदशा का वर्णन

शब्द-51

बुझ बुझ पण्डिन मन चितलाय, कबहिं भरलि बहै कबहिं सुखाय॥ 1॥
खन ऊबै खन डूबै खन औगाह, रतन न मिलै पावै नहिं थाह॥ 2॥
नदिया नहिं सांसरि बहै नीर, मच्छ न मरे केवट रहै तीर॥ 3॥
पोहकर नहिं बाँधल तहाँ घाट, पुरइनि नाहिं कँवल मँह बाट॥ 4॥
कहहिं कबीर ये मन का धोख, बैठा रहै चला चहै चोख॥ 5॥

शब्दार्थ—खन=क्षण। औगाह=अवगाह, पानी के भीतर पैठकर खोजना, थाह लेना, छानबीन, खोज। रतन=रत्न, ज्ञान। साँसरि=संसरण, निन्तर बहना। मच्छ=मछली, कामादि। केवट=मछुआरा, साधक। पोहकर=पोखरा, पुष्कर,

---

1. शब्द 77।

तालाब। पुरइनि=पुरइन, पत्ते और तने, तात्पर्य में आधार। कँवल=कमल फूल, तात्पर्य में ऐश्वर्य। चोख=तेज।

भावार्थ—हे पंडित ! मन को चित्त लगाकर समझने का बारम्बार प्रयत्न करो। यह मन, मानो एक नदी है। यह कभी तो भरकर बहती है और कभी सूख जाती है। अर्थात कभी मन में जीवन बड़ा सरल लगता है और कभी बड़ा भयावह दिखता है॥ 1॥ यह जीव इस मन-नदी में कभी तो घबराकर किंकर्तव्यविमूढ़ और बेचैन हो जाता है, कभी डूबकर इसमें रस लेने लगता है, और कभी समस्याओं के समाधान के लिए खोजबीन करने लगता है, परन्तु यथार्थ ज्ञानरूपी रत्न न पाने से समाधान नहीं कर पाता॥ 2॥ यद्यपि यह कोई बाहरी नदी नहीं है, तथापि इसमें संकल्प-विकल्प का पानी निरंतर बहता रहता है। साधक रूपी मछुआरा कामादि मछलियों को नहीं मार पाता, क्योंकि वह आलस्यपूर्वक किनारे बैठा रहता है॥ 3॥ अन्तःकरण कोई बाहरी जलाशय नहीं है, परन्तु उसमें मन, चित्त, बुद्धि एवं अहंकार के चार घाट बंधे हैं। कमल-फूल तो दिखते हैं, परन्तु उनके आधारस्वरूप दंडे एवं पत्तेरूप पुरइन नहीं हैं। अर्थात जिसमें मन लुभता है वह मायिक ऐश्वर्य नापायेदार एवं आधारहित है॥ 4॥ सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य के मन का यह धोखा है कि वह आलस्यपूर्वक बैठा रहता है, परन्तु शीघ्रतापूर्वक अपने लक्ष्य पर पहुंचना भी चाहता है॥ 5॥

व्याख्या—मन को समझने के लिए यह शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति ही पंडित है। सद्गुरु उसको कहते हैं कि तुम मन को चित्त लगाकर समझो। चित्त अंतःकरण की वह वृत्ति है जिससे यथार्थ की खोज की जाती है। चित्त अनुसंधानात्मक वृत्ति है। इसलिए सद्गुरु बड़े मनो-विज्ञानपूर्वक कहते हैं कि हे पंडित, मन का अनुसंधान करो। उसे ठीक से समझो। हम सारा संसार समझने की चेष्टा करते हैं, केवल अपने मन को समझने का प्रयत्न नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है कि हम अपनी आध्यात्मिक-उन्नति से दूर रह जाते हैं। जो व्यक्ति अपने मन को नहीं जानता, वह उसे वश में भी नहीं कर सकता। देहधारी जीव का सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध मन से होता है। मन ही संसार को जीव के सामने करता है। यदि मन समझ में आ जाये, वह वश में हो जाये, तो मानो सारा संसार वश में हो गया। मन वश में हो जाने पर कुछ भी वश में करने की चेष्टा नहीं रह जाती।

"कबहिं भरलि बहै कबहिं सुखाय" सद्गुरु कहते हैं कि मन-नदी की ऐसी दशा है कि वह कभी भरकर बहती है और कभी सूख जाती है। इस शब्द में प्रथम तीन पंक्तियों में मन को समझने के लिए नदी का रूपक दिया

गया है। मान लो कोई एक ऐसी नदी है कि वह कभी तो अपने दोनों तटों को छूती हुई भरकर बहती है और कभी एकदम सूख जाती है और उस नदी में दिन में ऐसा कई बार होता हो। हो सकता है कि ऐसी नदी कहीं हो या न हो, परन्तु मन की नदी ऐसी ही है और वह सबके भीतर है। सुबह सोकर उठे, और एक-दो प्रतिकूल बातें याद आ गयीं। वे बातें सचमुच प्रतिकूल हैं या मन ने वैसा मान लिया है यह भी निर्णय नहीं है। मन ने मान लिया कि पत्नी बात नहीं मानती, पुत्र भी अपनी मां का पक्षपात करता है, या भाई छल-कपट रखता है, धन की कमी है, गुजर कैसे होगा, व्यापार रुक न जाये, नौकरी छूट न जाये, खेती डूब न जाये, बुढ़ापा में कौन रक्षा करेगा, या इसी तरह कुछ अन्य बातें सोचकर मन की नदी सूख गयी। मन बेचैन हो गया। अब सब कुछ बुरा लगने लगा। घर में खाने-पीने की चीजें हैं, परिवार के लोग हैं, अपना शरीर स्वस्थ है, रोटी का धन्धा है, परन्तु मन परेशान है। घंटों इसी स्थिति में बेचैनी बनी रही। इतने में मन दूसरी तरफ गया, दो-चार अनुकूल बातें सोच ली गयीं, मन प्रसन्न हो गया, मन की नदी भरकर बहने लगी। बाहर की भौतिक स्थिति दोनों में बराबर है। केवल मन के चढ़ाव-उतार में हर्ष और शोक के द्वंद्व आते रहते हैं।

यह संसार का परम सत्य है कि सभी साथियों का स्वभाव एक नहीं हो सकता। स्वभाव एवं थोड़े विचारों की भिन्नता को लेकर हम समय-समय से साथियों के सम्बन्ध में तनावग्रस्त हो जाते हैं। यह हमारी बेवकूफी है। इस अपनी बेवकूफी को जो नहीं समझ पाता, वह अपने मन को अपने साथियों के सम्बन्ध में बराबर तनावग्रस्त रखता जाता है। इसका बुरा परिणाम अगले लोगों पर भी पड़ता है और घर या समाज विषाक्त हो जाता है। कभी ऐसा अवसर आता है कि अगला आदमी बहुत बुरे स्वभाव का होता है, उससे बचना पड़ता है। परन्तु वहां भी हम तनावग्रस्त न होकर केवल उसकी मानसिक दुर्बलता को देखते हुए उस पर करुणा करें और उससे बचें। ज्यादातर छोटी-छोटी सामान्य बातों को लेकर ही परस्पर तनाव बढ़ता है। सामान्य मतभेद तो संसार का स्वभाव है। वह तो रहेगा ही। उसको लेकर अपने मन को तनावग्रस्त करना हद दर्जे की भूल है।

कभी-कभी हम अपने मन को निराधार ही तनावग्रस्त बना लेते हैं। हम अगले आदमी को बहुत बुरा तथा अपना विरोधी मान लेते हैं जबकि ऐसी बात नहीं रहती। तिल का ताड़ बनाना मन की मूर्खता है। यदि संसार में सभी का मन मूर्खता छोड़ दे तो संसार स्वर्ग बन जाये। हमें चाहिए कि हम अपने मन की मूर्खता छोड़ दें। हम संदेही स्वभाव के न हों। बिला वजह संदेह मन

को पापी बनाता है। हम दूसरों पर बिला वजह संदेह करते हैं। मन ऐसी ही नदी है जो अकारण या थोड़ा कारण पाकर भरकर बहती है या सूख जाती है। जो अपने मन को ठीक कर लेता है उसका मन सामान्य हो जाता है। उसकी मन-नदी मानो सब समय भरकर बहती है। उसके मन में सब समय आनन्द-ही-आनन्द रहता है।

"खन ऊबै खन डूबै खन औगाह, रतन न मिलै पावै नहिं थाह।" मनुष्य का दुर्बल मन क्षण में जीवन से, परिवार से, समाज से तथा संसार से घबरा जाता है और सोचता है कि इन सबको छोड़कर कहीं भाग जायें। उसे यह पता नहीं है कि यदि हमारे भीतर बेवकूफी बनी है तो हम जहां जायेंगे वहां ऐसी ही परिस्थिति बना लेंगे। जरूरत भागने की नहीं है, किन्तु अपने मन को बदलने की है। एक उल्लू आदमी अपने गांव से घबराकर असी कोस पर चला गया। एक कुें पर बैठा था। जगह छोटी थी। एक आदमी पानी भरने आया। उसने कहा—आप यहां से हट जायें, पानी भरना है। वह उठा तो, परन्तु पुनः वहीं बैठ गया। दूसरे ने कहा—यार, तुम बड़े उल्लू हो, उठकर भी फिर बैठ गये। हटते नहीं हो। उसने कहा—'असी कोस पर छोड़ा गांव, तू कस जानेव उल्लू नाव?' अपना गांव छोड़कर असी कोस दूर आ गया हूं, फिर तुम कैसे जाने कि इसका नाम उल्लू है? अगले आदमी ने उत्तर दिया—'कूद कुदइया दाहिन बांव, तब मैं जाना उल्लू नाव।'

ऊबने से, घबराने से समस्या का समाधान कभी नहीं होता। उससे तो समस्यों बढ़ती हैं। बाहर कोई समस्या नहीं है। सारी समस्या मन की उलझन है। वह ठीक हो जाये तो बाहर क्या समस्या है? आदमी क्या लेकर आया है और क्या लेकर जायेगा! जीवन-गुजर सबका होगा। समस्या तो मन का पाजीपन है। मन समस्या बना लेता है और उसमें पड़कर ऊबता-घबराता है।

"खन डूबै" जिस जीवन, परिवार, समाज एवं संसार को छोड़कर कहीं भाग जाना चाहता था, क्षण में ही मन की स्थिति ऐसी आ जाती है कि वह उन्हीं में डूबकर रस लेने लगता है। एक सज्जन ऐसे थे कि जब क्षण में ही गुस्से में आते थे डंडा लेकर घर के बरतन-भांड़े फोड़ने लगते थे। कभी-कभी घर वालों पर भी डंडा जमा देते थे। कहते कि अब घर में आग लगा दूंगा और सदा के लिए यहां से चला जाऊंगा। और क्षण में वे अपने किये तथा कहे हुए पर पश्चाताप करते थे और घर वालों के मोह में लिपटकर उन्हीं में डूब जाते थे। जब उन्हें कभी कहा जाता कि अमुक जगह सत्संग है, चलिए, तब वे कहते, घर में बड़ा काम है, फुरसत नहीं है। यही मन की लीला है। जिनसे ऊबकर वह एक क्षण में भागना चाहता है, दूसरे क्षण में

उन्हीं में डूबकर रस लेता है। ये दोनों ही बातें गलत हैं। सांसारिकता में रस लेने के कारण ही उससे चोट लगती है तब आदमी घबराता है। परन्तु घबराना कोई वैराग्य तो नहीं है। वह तो मन के दूसरे छोर की बात है। जो संसार में डूबेगा वह उससे ऊबेगा और जो ऊबेगा वह डूबेगा। विवेकवान इन दोनों से दूर होता है। वह संसार में डूबता नहीं, इसलिए उसे कोई घबराहट नहीं।

"खन औगाह" अवगाह कहते हैं थाह लगाने, खोजबीन करने एवं समाधान ढूंढ़ने को। मनुष्य का मन कभी-कभी समाधान भी ढूंढ़ता है। वह सोचता है कि आखिर यह समस्या क्यों है? मेरा दूसरे लोग क्यों विरोध करते हैं? सचमुच लोग विरोध करते हैं कि मेरे मन का भ्रम है? यदि कोई विरोध करता है तो उसमें मेरी त्रुटि ही कारण है या उसका अविवेक? आर्थिक स्थिति एवं पारिवारिक स्थिति कैसे संभलेगी? इन सब बातों पर वह खोजबीन करता है, परन्तु "रतन न मिलै पावै नहिं थाह"। समुद्र से मोती निकालने वाले गोताखोर लोग जब समुद्र में थाह पा जाते हैं, उन्हें जमीन मिल जाती है, तब उनके हाथों में मोती लग जाते हैं। परन्तु यहां मन समुद्र की बात अलग है। सद्गुरु कहते हैं कि लोगों के हाथों में रत्न नहीं लगते इसलिए वे थाह नहीं पाते। यहां रत्न ज्ञान है, अच्छी समझ है और थाह समस्याओं का समाधान है। जब तक मनुष्य को ज्ञान न होगा, अच्छी समझ नहीं होगी तब तक उसकी समस्याओं का समाधान न होगा।

समस्या चाहे भौतिक हो, चाहे आध्यात्मिक, वह सब मानसिक है। केवल मन सुलझ जाये तो सब सुलझा-सुलझाया ही है। मन की समस्या तब सुलझती है, जब मन में ज्ञान हो, सच्ची समझ हो। हम कहीं उलझे हैं इसका मतलब है कि हमारी समझ उस समय ओछी है। समझ सही हो जाने पर सभी समस्याओं का समाधान हो जाता है।

"नदिया नहिं साँसरि बहै नीर" सद्गुरु कहते हैं कि मन कोई बाहरी नदी नहीं है, परन्तु उसमें अनवरत संकल्प-विकल्पों का पानी बहता है। नदी में तो ऊपर से पानी आता है तब वह बहती है। यदि ऊपर से पानी बहकर न आये तो नदी सूख जाये। परन्तु मन की नदी में कहीं बाहर से पानी नहीं आता। इसलिए मन बाहरी नदी की तरह नहीं है। मन में तो संकल्प-विकल्प का पानी स्वयं पैदा होता है और सांसरि ढंग से बहता है। सांसरि का शुद्ध शब्द है संसरण। संसरण का अर्थ होता है गतिशीलता। 'संसरति इति संसारः' जो निरन्तर सरकता रहे, चलता रहे, उसे संसार कहते हैं। एक संसार बाहर है और दूसरा संसार मनुष्य के भीतर है। बाहर का संसार भौतिक है तथा भीतर का संसार मानसिक। बाहरी भौतिक संसार में निरन्तर परिवर्तनशीलता है।

जैसे नदी अबाध गति से अनवरत बहती है, वैसे संसार के सारे पदार्थ अपनी पूर्व अवस्था को छोड़कर आगे नया रूप लेते जाते हैं। सब कुछ सब समय बदलता जाता है। हमारे भीतरी संसार की भी यही कथा है। मन की धारा भी अनवरत चलती है। यह संकल्प-विकल्पों की धारा है। ज्ञानोदय होने पर यह धारा समाधि में जाकर रुक जाती है। वहां सब कुछ थम जाता है। संकल्प-विकल्प ही आंदोलन है, समाधि में इसके न रहने से निर्द्वन्द्व अवस्था होती है। व्यवहारकाल में ज्ञानी-पुरुष के मन में भी प्रवाह रहता है, परन्तु वह शुद्ध तथा संयत होता है। उसका मन स्वरूपज्ञान एवं हंसरहनी में ही प्रवाहित रहता है। उसकी समाधि अवस्था में तो अमृत रहता ही है, किन्तु व्यवहारकाल में ही उसके मन में मानो अमृत का प्रवाह बहता है। वह सब समय अमृत-ही-अमृत होता है। परन्तु ज्ञान तथा ज्ञान का आचरण न होने से मन में कूड़े-कबाड़ों का प्रवाह चलता रहता है और जीव उसमें बहता हुआ दुखी बना रहता है।

"मच्छ न मरे केवट रहै तीर" मच्छ का अर्थ है मछली तथा केवट कहते हैं कैवर्त, मल्लाह, निषाद एवं मछुआरे को। केवट का शुद्ध अर्थ नाव चलाने वाला है। परन्तु ये मछली भी बहुत मारते हैं, इसलिए इन्हें मछुआरा भी कहते हैं। यहां केवट से मछुआरा ही अर्थ है। जैसे कोई मछुआरा हो, वह नदी पर मछली मारने गया हो, परन्तु अपने आलस्य के कारण वह नदी के तट पर ही बैठा रहे, नदी में प्रवेश न करे, तो वह मछली कैसे मार सकता है! वैसे जो साधक त्याग-वैराग्यपूर्वक साधना नहीं करेगा, वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि विकारों का नाश कैसे कर सकेगा! यहां साधक ही मछुआरा है, कामादि विकार ही मछलियां हैं। जैसे नदी में कूदकर मछलियां मारी जा सकती हैं, वैसे साधना में कूदकर ही मनोविकारों का ध्वंस किया जा सकता है। परन्तु साधक आलसी एवं रागी बनकर बैठा है, इसलिए उसके मन के विकार ज्यों-के-त्यों बने हैं।

एक घर पर एक लालची पहुना आ गया, वह कई दिनों तक टिका रहा। घर वाला चाहता था कि वह चला जाये, परन्तु वह नहीं गया। घर वाले ने अपने घर के भीतर जाकर अपनी पत्नी से कहा कि मैं और तुम बनावटी झगड़ा करें। मैं दीवार पीटूं और तुम रोओ। शायद वह यह समझकर चला जाये कि ये लोग आपस में झगड़ रहे हैं, इसलिए अब मुझे यहां नहीं रहना चाहिए। घर वाला डंडा लेकर दीवार पीटने लगा, उसकी पत्नी रोने लगी। पहुना दरवाजे से चला गया। घर वाला दरवाजे पर आकर देखा कि वह नहीं है। उसने खुश होकर घर में जाकर कहा—"मैं तुम्हें सचमुच थोड़े मारता

था !" इतने में उस पहुना ने घर के भीतर से कहा—"मैं भी सचमुच थोड़े गया हूं !" वस्तुतः वह दरवाजे से उठकर पिछवाड़े के रास्ते से घर में आकर बैठ गया था।

हमारी कमजोर साधना का फल यही होता है। हम जैसे अधूरे मन से साधना करते हैं, वैसे हमारी आध्यात्मिक प्रगति होती है। "मच्छ न मरे केवट रहै तीर" का यही अभिप्राय है। कबीर साहेब यह पंक्ति कहकर मानो हम पर व्यंग्य करते हैं।

"पोहकर नहिं बाँधल तहाँ घाट" पोहकर का शुद्ध शब्द है पुष्कर, जिसे पोखरा, तालाब एवं जलाशय कहा जाता है। किसी भी पोखरे के चार घाट होते हैं पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण। मनुष्य का अन्तःकरण कोई बाहरी पोखरा नहीं है, परन्तु इसमें मन, चित्त, बुद्धि एवं अहंकार के चार घाट बंधे हुए हैं। मन से स्मरण, चित्त से अनुसंधान, बुद्धि से निर्णय तथा अहंकार से करतूति होती है। मनुष्य हर समय किसी-न-किसी विषय को मन में लेता है, अर्थात उसका स्मरण करता है, चित्त उस पर खोज एवं छानबीन करता है, बुद्धि निर्णय देती है और अहंकार स्वीकार करता एवं उसे कार्य रूप देता है। इस प्रकार मनुष्य के अन्तःकरण रूपी तालाब के चारों घाटों का व्यवसाय चलता रहता है। मनुष्य को चाहिए कि वह सही विषय को ले, जिससे उसके मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार सही दिशा में काम करें। सद्गुरु कहते हैं कि अन्तःकरण कोई बाहरी तालाब नहीं है। परन्तु इसमें मन, चित्त, बुद्धि एवं अहंकार के चार घाट बंधे हुए हैं। जैसे घाटों से लोग तालाब में प्रवेश करते हैं, वैसे मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार से नाना वासनों अन्तःकरण में उतरती हैं। अतएव साधक को चाहिए कि वह अपने मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार पर सावधान रहे, इन्हें शुद्ध रखे।

"पुरइनि नाहिं कँवल मँह बाट" पुरइन कहते हैं कमल के पत्ते और तने को। पहले पुरइन के तने होते हैं और उसके पत्ते, तब पीछे कमल-फूल खिलते हैं। यहां सद्गुरु कहते हैं कि कमल-फूल तो हैं, परन्तु उनमें पत्ते तथा तने रूप पुरइन नहीं हैं। यह कबीर साहेब की उलटवांसी है। सारी उलटवांसियां ऊपर से देखने में अचरज भरी उलटी लगती हैं, परन्तु समझ लेने पर वे सही हो जाती हैं। कोई आदमी कमल के फूल किसी तालाब के पानी में लाकर जगह-जगह रोप दे, तो किसी नये आगंतुक के देखने में तो यही लगेगा कि इस तालाब के कमल-फूल में पुरइन नहीं है। वे फूल भी कुछ घंटे में सूख जोंगे, क्योंकि वे बिना जड़ के हैं। यहां कमल का लक्षणा अर्थ है ऐश्वर्य। शरीर के सुन्दर अंगों से कमलों की उपमा दी जाती है। जैसे

मुख-कमल, नेत्र-कमल, कर-कमल, हृदय-कमल आदि। यहां कमल का अर्थ है मायिक ऐश्वर्य। सद्गुरु कहते हैं कि जिस मायिक ऐश्वर्य में तुम्हारा मन मोहित होकर पतित होता है उसमें आधार नहीं है। वह नापायेदार, बे-जड़ तथा क्षणभंगुर है। जवानी की चमक, वैवाहिक उत्सव तथा प्रथम वर-वधू-मिलन, पुत्रों का संयोग, सम्मान, पद, प्रतिष्ठा सब कुछ तो क्षणभंगुर है। तुम जिसमें भूल रहे हो, वह नाशवान है।

"कहहिं कबीर ये मन का धोख, बैठा रहै चला चहै चोख।" सद्गुरु कहते हैं कि यह साधक के मन की चाल है कि वह आलस्यपूर्वक बैठा है, परन्तु जल्दी ही अपनी मंजिल पर पहुंचना भी चाहता है। कितने साधक कहते हैं कि मन वश में नहीं होता। परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि वे तत्परतापूर्वक इस काम में लगते कहां हैं! सेवा, सत्संग, भक्ति, सदाचार, त्याग, संयम, मनोनिग्रह का अभ्यास आदि जो कुछ करना चाहिए वह वे दिल लगाकर कहां करते हैं! जो साधक निश्चलतापूर्वक दृढ़ता से एकरस साधना में जुट जायेगा, निश्चित ही उसे देर-सबेर सफलता मिलेगी। यदि उसके पूर्व के संस्कार ज्यादा शुद्ध हैं तो शीघ्र सफलता मिलेगी और यदि ज्यादा शुद्ध नहीं हैं तो देरी से सफलता मिलेगी। सफलता न मिलने की तो कोई बात ही नहीं है। नौकरी, व्यापार, पुत्र-प्राप्ति, खेती, उन्नति आदि भौतिक क्षेत्र में यह भी हो सकता है कि कभी सफलता न भी मिले। परन्तु मन को संयत एवं शुद्ध करने में तो सफलता मिलना निश्चित है। बस, लगन से लगना चाहिए। परन्तु जो साधक अपने मन के धोखे में रहेगा, वह गिरेगा।

इस प्रकार इस शब्द में सद्गुरु ने मन के स्वरूप का वर्णनकर हमें जगाया है। हम सावधान हों। हम अपने मन को समझें। मन को ठीक कर लेने पर सब सुख प्रकट हो जाता है। जिसका मन स्ववश है वह आनन्दकंद है।

ब्रह्मज्ञानियों को चेतावनी

शब्द-52

बूझ लीजै ब्रह्मज्ञानी॥ 1॥

घूरि घूरि बरसा बरसावै, परिया बुन्द न पानी॥ 2॥
चिउँटी के पग हस्ती बाँधो, छेरी बीग रखावै॥ 3॥
उदधि माँह ते निकरि छाँछरी, चौड़े ग्रह करावै॥ 4॥
मेढुक सर्प रहत एक संगे, बिलैया श्वान बियाई॥ 5॥
नित उठि सिंह सियार सों डरपै, अद्बुद कथ्यो न जाई॥ 6॥
कौने संशय मृगा बन घेरे, पारथ बाणा मेले॥ 7॥

उदधि भूपते तरिवर डाहै, मच्छ अहेरा खेले॥ 8॥
कहहिं कबीर यह अद्‌बुद ज्ञाना, को यह ज्ञानहि बूझै॥ 9॥
बिनु पंखे उड़ि जाय अकाशै, जीवहि मरण न सूझै॥10॥

शब्दार्थ—छेरी=बकरी। बीग=भेड़िया। उदधि=समुद्र। छाँछरी=मछली। चौड़े=मैदान में। ग्रह=गृह-घर। अद्‌बुद=अद्‌भुत। मृगा=मन-मृगा। बन=संसार। पारथ=पारधी, शिकारी। भूपते=मनुष्य सम्राट से। मच्छ=मछली, माया। अहेरा=शिकार।

भावार्थ—हे ब्रह्मज्ञानी! इस बात को अच्छी तरह समझ लो कि तुम उमड़-घुमड़कर ब्रह्मज्ञानोपदेश की वर्षा करते हो, परन्तु लोगों के ऊपर उसकी एक बूंद भी नहीं पड़ती है॥ 1-2॥ तुम्हारा ब्रह्मज्ञानोपदेश तो वैसा ही है कि जैसे मानो कोई चींटी के पैरों में हाथी बांध दिया हो, भेड़िया को बकरी की रक्षा में बैठा दिया हो॥ 3॥ इतना ही नहीं, मानो समुद्र में से मछलियां निकलकर मैदान में अपने रहने के लिए मकान बनवाने लगी हों, मेढक और सांप एक साथ रहने लगे हों, बिल्ली श्वान पैदा करने लगी हो॥ 4-5॥ इतना ही क्या, आश्चर्य की बात कही नहीं जाती कि मानो सिंह रोज सुबह उठकर सियार से भयभीत रहने लगा हो॥ 6॥ किस संशय में पड़कर मन-मृगा वाणी एवं संसार-वन में घिरा है? क्योंकि भ्रमोपदेशक पारधी उस पर बाण चला रहे हैं॥ 7॥ इस मनुष्य-सम्राट ने ही संशय-समुद्र को पैदा किया है, परन्तु उससे वह स्वयं उसी प्रकार जल रहा है जैसे समुद्र के खारे पानी से सींचने पर पौधे जल जाते हैं। यह मनुष्य के मन से ही निर्मित माया-मच्छ मनुष्य का शिकार करती है[1]॥ 8॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह अद्‌भुत ज्ञान है। इसे कौन समझने वाला है!॥ 9॥ जीव बिना पंख के आकाश में उड़ जाना चाहता है। इसे अपना पतन नहीं दिखाई देता॥ 10॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने विगत 40वें शब्द से लेकर 51वें अर्थात बारह शब्दों तक पण्डितों को संबोधितकर अपने विचार कहे। उन्होंने इन शब्दों में पण्डितों को फटकारा, झकझोरा, दुलारा, प्यार दिया और सूक्ष्म विषयों को समझने के लिए निमंत्रित किया। इन सभी शब्दों के भाव कितने मार्मिक रहे पाठक स्वयं समझते हैं। अब इस 52वें शब्द में साहेब तथाकथित ब्रह्मज्ञानियों को जोर से फटकारते हैं। वे कहते हैं कि हे ब्रह्मज्ञानियो! तुम ब्रह्मज्ञान का उपदेश उसी प्रकार करते हो, जैसे सावन-भादों के बादल उमड़-

---

1. मच्छ रूप माया भई, जबरहिं खेले अहेर।
हरिहर ब्रह्मा न ऊबरे, सुर नर मुनि केहि केर॥ (रमैनी, साखी 46)

घुमड़कर वर्षा करते हैं। सावन-भादों के घनघोर मेघ यदि अनवरत जल-वृष्टि करें, परन्तु किसी के ऊपर उसकी बूंद भी न पड़े तो यह बहुत आश्चर्य का विषय होगा। उदाहरण में तो ऐसा नहीं होता। जब जल की वर्षा होती है तब लोग भीगते हैं। परन्तु साहेब जिस ब्रह्मज्ञान की बात कर रहे हैं उसमें ठीक यही बात है कि ब्रह्मज्ञान का हजार उपदेश हो जाने पर भी इस जगत में आज तक किसी एक व्यक्ति को भी ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ।

यहां ब्रह्मज्ञान का अभिप्राय है—अद्वैतवाद का सिद्धान्त, जिसमें यह माना जाता है कि सत्ता केवल एक तत्त्व की है और वह ब्रह्म है। एक ब्रह्म के अलावा दूसरा कुछ है ही नहीं। अतएव यदि किसी को ब्रह्मज्ञान हो गया होता तो उसका मोक्ष हो गया होता, और एक के मोक्ष हो जाने पर संसार होता ही नहीं। ये नाना जीव और जगत कुछ भी न होते, क्योंकि सत्ता एक ही है। उसके मुक्त हो जाने के बाद, फिर संसार रह ही नहीं जाता। परन्तु संसार प्रत्यक्ष गतिमान है। इसलिए आज तक किसी को ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ।

अद्वैत वेदांत के अनुसार जगत तीनों काल में नहीं है। यह दिखता हुआ जगत मिथ्या है और आनुभविक आत्मों भी मिथ्या हैं, केवल एक ब्रह्म सत्य है, परन्तु वह दुर्विज्ञेय है। तो जो अनुभव में आता है और जो अनुभव करता है वे दोनों मिथ्या ठहरे और जो उनके ख्याल से सत्य है उस ब्रह्म का किसी को पता नहीं चल सकता, तो "नहीं-नहीं फिर कौन कहा।"[1]

वेदांत का एक जीववाद यही कहता है कि आज तक न किसी को ब्रह्मज्ञान हुआ है और न किसी का मोक्ष हुआ है, क्योंकि जीव अर्थात ब्रह्म एक ही है, उसका यदि मोक्ष हो गया होता तो जगत रहता ही नहीं।

प्रसिद्ध वेदांत-चिन्तक श्री अप्पयदीक्षित के प्रसिद्ध ग्रंथ 'सिद्धांतलेश संग्रह' में अंतिम संदर्भ मुक्तिविचार है। उसमें टिप्पणीकार एक जीववाद के सिद्धांत को लेकर लिखते हैं—"जीव के एक होने से उसका मूल अज्ञान भी एक ही है। इसलिए एक जीव के किसी भी अन्तःकरण में तत्त्वसाक्षात्कार के उदित होने पर अज्ञान का देव, तिर्यक, मनुष्यादि संपूर्ण स्वकार्यों के साथ उसी क्षण नाश हो जाता है। यदि इस विषय में शंका हो कि शुक आदि के अन्तःकरण में उत्पन्न तत्त्वज्ञान से ही सब प्रमाताओं के संसार का समूल विलय हो जाना चाहिए, अतः इस समय संसार की अनुवृत्ति कैसे देखी जाती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि शुकादि की मुक्ति में कोई प्रमाण ही नहीं

---

1. आगे 67वें शब्द की व्याख्या तथा कबीर दर्शन के तीसरे अध्याय का 'अद्वैतब्रह्मवाद' संदर्भ देखिए।

है और शुकादि के मुक्ति-प्रतिपादक वाक्य स्वार्थ में उपचरित हैं, अतः संसार की अनुवृत्ति में कोई हानि नहीं है।"[1]

अर्थात अद्वैतवाद के अनुसार जीव एक ही है। यदि वह मुक्त हो गया होता तो संसार रहता ही नहीं, परन्तु संसार है, इसलिए आज तक वह मुक्त नहीं हुआ। लोग कहते हैं कि शुकदेव मुक्त हो गये, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए अद्वैतवाद के अनुसार आज तक किसी की मुक्ति नहीं हुई।

गंगाधरेन्द्र सरस्वती लिखते हैं—"संपूर्ण जीवों की मुक्ति जब तक न हो तब तक अविद्यावत्पुरुष से कल्पित सत्यकाम और सत्यसंकल्प से कल्पित जगत की स्थिति, लय और उत्पत्ति में समर्थ और मुक्त पुरुषों द्वारा प्राप्त स्वतः चिद्घन अद्वितीय ब्रह्म मैं हूं।"[2]

अद्वैत वेदांत के जगत, आत्मा तथा मुक्ति विषयक विचार इतने गड्डबड्ड हैं कि उनसे सही निर्णय मिल ही नहीं सकता।

जैसे जल और उसकी तरंगें एक है, मिट्टी और उससे बने बरतन एक है, सोने तथा उससे बने गहने एक है, वैसे ब्रह्म और उससे बना जगत एक है। ब्रह्म जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है, निर्विकार है, अखंड है, फिर वह टूटकर असद्, अचिद् तथा अ-आनन्द जगत कैसे बन गया? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। ब्रह्म और जगत एक मान लेने के कारण ही वेदांत में अन्ततः भोग-योग एक मान लिया जाता है। पीछे 14वें शब्द की व्याख्या में आप पढ़ आये हैं कि किस प्रकार ज्ञानी मैथुनादि कर्म करते हुए भी निर्लिप्त मान लिया गया है। वेदांती निश्चलदास जी ने विचारसागर में लिखा "भोगे युवति सदा संन्यासी" युवती स्त्री का उपभोग करते हुए भी ब्रह्मज्ञानी सदैव संन्यासी है। इस धारणा का मूल योगवासिष्ठ के चूड़ाला तथा शिखध्वज की कथा तथा अन्य वेदांत ग्रंथों में है।

इसलिए स्वतन्त्र चिंतक कबीर साहेब कहते हैं कि हे ब्रह्मज्ञानियो ! तुम ब्रह्मज्ञान का उपदेश तो बहुत करते हो, परन्तु उसके छींटे किसी पर नहीं पड़े। एक को ब्रह्मज्ञान हुआ होता और वह मुक्त हो गया होता, तो तुम्हारे मत के अनुसार जगत रहता ही नहीं।

साहेब कहते हैं कि इस तरह के ब्रह्मज्ञान का उपदेश करना क्या है मानो चींटी के पैरों में हाथी बांधना है। क्या इससे चींटी का कल्याण हो सकता है !

---

1. सिद्धांतलेश संग्रह, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी।
2. आसर्वमुक्ति परकल्पितसत्यकामसङ्कल्पकल्पितजगत्स्थितिभङ्गसर्गे।
   शक्तं स्वतस्तु सुखचिद्घनमद्वितीयं मुक्तोपसृप्यमहमस्मि विशुद्धतत्त्वम्॥
   (वेदांतसिद्धांत सूक्त मंजरी, 4/24)

वह तो हाथी के पैरों में रगड़ जायेगी। यदि बकरी की रक्षा में भेड़िया को बैठा दे तो बकरी का कहां कल्याण ! यदि समुद्र में से निकलकर मछलियां अपने रहने के लिए मैदान में मकान बनवाने लगें तो क्या उनका जीवन सुरक्षित रहेगा ! क्या मेढक सांप के साथ तथा बिल्ली कुत्ते के साथ सुरक्षित रह सकेंगे ! इसी प्रकार जिस ब्रह्म का स्वरूप जड़ से अभिन्न है, जिस ब्रह्म का ही विकार यह सारा जगत है, क्या उस ब्रह्म में स्थित होने से जीव का उद्धार संभव है ! जिस ब्रह्मवाद में जीव भी ब्रह्म, देह भी ब्रह्म, माटी भी ब्रह्म, गोबर भी ब्रह्म, चेतन भी ब्रह्म, जड़ भी ब्रह्म है, क्या वहां कोई निर्णय है ! जहां भोगी, त्यागी, राजा और कर्मकांडी सबकी एक स्थिति बतायी गयी है,[1] जहां सब धान साढ़े बाईस पसेरी है, वहां न सच्चा न्याय है, न सच्चा बोध है और न वहां जड़ाध्यास का त्याग होकर स्वरूपस्थिति ही हो सकती है। वहां बकरी-भेड़हा, मेढक-सांप एक जगह कर दिये गये हैं। भला, जड़ से सर्वथा पृथक अपना चेतनस्वरूप समझे बिना कहां यथार्थ स्थिति हो सकती है ! ये चींटी-हाथी, छेरी-बीग तथा मछली का समुद्र में से निकलकर मैदान में मकान बनवाना, मेढक-सांप, बिल्ली-कुत्ता, सिंह-सियार के रूपक जो शब्द में दिये गये हैं, सब ब्रह्मज्ञान पर व्यंग्य है। साहेब कहते हैं कि यह तो सिंह का नित्य उठकर सियार से डरना है। अपनी आत्मा को न पहचानकर अंधकार में किसी कल्पित ब्रह्म को टटोलना है।

"कौने संशय मृगा बन घेरे, पारथ बाणा मेले। साहेब कहते हैं किस संदेह में पड़कर मनुष्य का मन-मृगा संसार एवं वाणियों के वन में घिर गया है ! सद्गुरु स्वयं उत्तर देते हैं "पारथ बाणा मेले" अर्थात बड़े-बड़े उपदेष्टा-शिकारी जीव पर शास्त्र-प्रमाण के बाण चलाते हैं। वे कहते हैं कि श्रुति में यही लिखा है, इसलिए मानना पड़ेगा। एक निर्विकार ब्रह्म कैसे सविकार जगत बन गया? यह हम नहीं बता सकते। श्रुति ऐसा ही कहती है, इसलिए हमें मान लेना चाहिए। सत्ता केवल एक अखंड ब्रह्म की है, दूसरा कुछ नहीं है, तब यह गतिशील संसार कैसे दिखायी देता है? वेदांती कहते हैं यह मत पूछो, ऐसा ही श्रुति में लिखा है इसलिए मान लो। प्रत्यक्षादि सारे प्रमाणों की अपेक्षा शब्द-प्रमाण ही प्रबल है। इसलिए श्रुति-प्रमाण मान लेना चाहिए। यदि कोई शास्त्र-प्रमाण नहीं मानेगा। तो वह नास्तिक होगा। इस प्रकार उपदेशक पारधी हो गये, शिकारी हो गये। वे शास्त्र-प्रमाण की दोहाई के बाण मनुष्यों पर चलाते हैं। इसलिए मनुष्य का मन-पशु वाणियों के वन में घिर

---

1. कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपो जनकराघवो।
वसिष्ठः कर्मकर्ता च ते सर्वे ज्ञानिनः समाः॥

गया है। वह संशय में पड़ गया कि आंख से तथा विवेक से कुछ दूसरा दिखता है और शास्त्र-प्रमाण कुछ दूसरा बताते हैं। अब क्या करें, क्या मानें? ठीक है "अपनी देखी दूर कर, भले आदमी का कहा कर!"

यह सबको समझ में आ सकता है कि जड़ और चेतन अलग-अलग हैं। चेतन द्रष्टा है जड़ दृश्य, चेतन ज्ञाता है जड़ ज्ञेय, चेतन साक्षी है जड़ साक्ष्य। जड़ तत्त्व अनेक हैं। एक तत्त्व में भी असंख्य परमाणु हैं। इन कारण-कार्य जड़ तत्त्वों से सर्वथा भिन्न चेतन हैं। चेतन जीव भी असंख्य हैं। सभी चेतन जीवों का लक्षण एक चैतन्य है, परन्तु सभी चेतन जीवों का अपना-अपना व्यक्तित्व अलग-अलग है। इतना प्रत्यक्ष सत्य होते हुए भी यह मानना कि सब कुछ एक ही है, यह शास्त्र-प्रमाण की दोहाई देकर ही मनवाया जाता है। अनुभव द्वैत का है तथा कथन अद्वैत का! यह किस संशय से है? क्योंकि यही गुरुओं का उपदेश है। यदि अद्वैत न कहें तो नास्तिक बनना पड़ेगा। इस प्रकार जो शास्त्र-प्रमाण के पशु बना दिये गये हैं, उनका मन उन्हीं में घिर गया है। वे स्वतन्त्र चिन्तन करना अपराध मानते हैं।

"उदधि भूपते तरिवर डाहै, मच्छ अहेरा खेले!" साहेब कहते हैं कि यह वाणी का उदधि, यह वाणी का समुद्र कहां से बना है? मनुष्य रूपी भूप से ही बना है। यह मनुष्य जीव भूप है, सम्राट है। यही समस्त ज्ञान-विज्ञान का जनक है। इस मनुष्य-भूप से ही वाणी का समुद्र बना है और लौटकर वही वाणी-समुद्र मनुष्य को भस्म कर रहा है। समुद्र के खारे पानी से यदि पेड़-पौधे सींचे जायें तो जल जायेंगे। परन्तु वही समुद्र का जल यदि भाप बनकर बादल बन जाये और फिर बादल से पानी की बारिश हो तो उस पानी से पेड़-पौधे हरे-भरे हो जायेंगे। मनुष्य ने ही वाणी बनायी है और वह भ्रामक वाणी मनुष्य के ही यथार्थ ज्ञान एवं कल्याण में बाधक बन गयी है। परन्तु यदि उन्हीं वाणियों में सारासार विचार लिया जाये, आंख मूंदकर प्रमाण न मानकर उनमें नीर-क्षीर विवेक कर लिया जाये तो उनमें से कल्याणकारी अंश की वाणियां निकल सकती हैं। श्रुतियों में "अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म" के वाक्य बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अर्थ हैं—मैं ब्रह्म हूं, तू ब्रह्म है, यह आत्मा ब्रह्म है तथा ज्ञान ही ब्रह्म है। ब्रह्म का मतलब है बड़ा। बृहत्त्वात् ब्रह्म। जो बड़ा हो, वह ब्रह्म। मनुष्य की आत्मा ही तो बड़ी है। वही तो सारे ज्ञान-विज्ञान का भूप है। अतएव यह मनुष्य की आत्मा ही ब्रह्म है, श्रेष्ठ है, महान है। संकल्पों को छोड़कर समाधि में लीन हो जाने पर जीव असंग हो जाता है, यही उसका अद्वैत-पद है। जहां दूसरा न हो वही तो अद्वैत है। समाधि में मन समाप्त हो जाने पर जीव अकेला रह जाता है। मन ही

संसार को, द्वैत को जीव के सामने करता रहता है और जब मन ही लीन हो गया तब चेतन असंग हो गया, अद्वैत हो गया। यही विवेकपूर्ण अद्वैत ब्रह्म होना है। परन्तु ब्रह्मज्ञानी कहलाने वाले इस विवेक-पथ को छोड़ दिये। वे ब्रह्मज्ञान की भावुकता में, शास्त्र-प्रमाण के उलटे-सुलटे जोड़ में पड़कर यथार्थ ज्ञान को गड्डबड्ड कर दिये। इसलिए जीव का बनाया वाणी-समुद्र जीव को ही झुलसाने लगा, और "मच्छ अहेरा खेले" माया जीव पर शिकार खेलने लगी। जीव की ही बनायी वाणी जीव को बांधने के लिए माया बन गयी। इसीलिए अनुभूत ज्ञान की अवहेलना होने लगी, और कल्पित अवधारणा को सिद्धांत मान लिया गया।

"कहहिं कबीर यह अद्‌बुद ज्ञाना, को यह ज्ञानहि बूझै।" साहेब कहते हैं कि मेरा ज्ञान लोगों को अद्‌भुत लग सकता है। लोग सोच सकते हैं "कबीर तो अचरज की बात करते हैं। बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी वेदांती सारा जड़-चेतन एक अद्वैत मानते हैं, एक जीववाद मानते हैं और कबीर नानत्वपूर्ण संसार स्वीकार करते हैं, वे नाना जीव मानते हैं।" वस्तुतः गलत बातों का यदि ज्यादा अभ्यास हो जाये तो वही सत्य लगती है और सत्य का अभ्यास न होने से वह अद्‌भुत लग सकता है। कबीर कहते हैं कि मेरे ज्ञान को कौन समझेगा! वही उसे समझेगा जो शास्त्र-प्रमाण के जाल से मुक्त हो जायेगा। "चौंतीस अक्षर से निकले जोई। पाप पुण्य जानेगा सोई।"[1] शास्त्र-प्रमाण आदरणीय है, किन्तु स्वानुभूत सत्य का वध करके नहीं, अपने विवेकज्ञान को ताख पर रखकर नहीं।

"बिनु पंखे उड़ि जाय अकाशै, जीवहि मरण न सूझै।" मनुष्य बिना पंख के आकाश में उड़ना चाहता है। उसका फल गिरकर मर जाना है। परन्तु उसे यह बात नहीं सूझती। तात्पर्य है कि बिना विवेक मनुष्य कल्पना की उड़ान भरता है। वह स्वानुभूत सत्य को आदर न देकर कल्पना का लड्डू खाता है। सारी वासनाओं को छोड़कर निज स्वरूप में ही स्थिति होती है। जब वासनों शांत हो जाती हैं तब जीव जगत से छूटकर निज स्वरूप मात्र रह जाता है। यह स्वानुभूत सत्य है। यही परमार्थ है। सारा जड़-चेतन एक हो जाना परमार्थ नहीं है। संकल्पों का त्याग निराधार स्थिति है। इसी को अद्वैत स्थिति कह सकते हैं। जड़-चेतन-अभिन्नता एवं चराचर व्यापक की अवधारणा न अनुभूत सत्य है और न यथार्थ अद्वैत है। यह तो मन का जोश है, ब्रह्मवाद की भावुकता है। इसलिए हे ब्रह्मज्ञानी, अपने ब्रह्मज्ञान पर पुनर्विचार कर लो।

---

1. रमैनी 24।

जगत अपने क्षेत्र में प्रवाहरूप गतिशील रहते हुए भी सत्य है, ठोस है। उससे भिन्न नाना चेतन जीव हैं। जो जीव वासना त्याग देगा वह मुक्त हो जायेगा। चराचर व्यापक अद्वैतवाद में तो मुक्ति संभव ही नहीं है।

संसार-वृक्ष और एषणा-लता

शब्द-53

वै बिरवा चीन्हे जो कोय, जरा मरण रहित तन होय॥ 1॥
बिरवा एक सकल संसारा, पेड़ एक फूटल तिनि डारा॥ 2॥
मध्य की डारि चारि फल लागा, शाखा पत्र गिने को वाका॥ 3॥
बेलि एक त्रिभुवन लपटानी, बाँधे ते छूटे नहिं ज्ञानी॥ 4॥
कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पण्डित होय सो लेय बिचारा॥

शब्दार्थ—वै बिरवा=वह वृक्ष, संसार। तिनि डारा=रज, सत, तम। मध्य=सत। चारि फल=अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष। बेलि=लता, एषणा, वासना, तृष्णा।

भावार्थ—जो महापुरुष इस संसार-वृक्ष को पहचान लेता है, वह इसकी वासना त्यागकर बुढ़ापा, मृत्यु और शरीर धरने के चक्कर से मुक्त हो जाता है॥ 1॥ यह सारा विश्व मानो एक वृक्ष है। इस एक विश्व-वृक्ष में रज, सत एवं तम तीन डालियां निकली हैं॥ 2॥ बीच की सत-डाली में अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष ये चार फल लगे हुए हैं। इसके अलावा इस संसार-वृक्ष की छोटी-छोटी डालियां तथा पत्ते बहुत हैं उन्हें कौन गिनकर बता सकता है !॥ 3॥ इस अद्भुत संसार-वृक्ष से एषणा (इच्छा) की एक लता निकली है जो नीचे, ऊपर और मध्य के समस्त लोकों के प्राणियों के मन में लिपट गयी है। इसमें बड़े-बड़े ज्ञानी भी बंधे हुए हैं और वे नहीं छूट रहे हैं॥ 4॥ सद्गुरु कहते हैं कि हम पुकारकर कहे जा रहे हैं, जो सूक्ष्मदर्शी पण्डित होगा वह इसका विचार कर लेगा॥ 5॥

व्याख्या—सद्गुरु कहते हैं कि यह संसार एक वृक्ष है। जो इसे समझ लेता है वह फिर जन्म नहीं धारण करता। जो जन्म नहीं धारण करता वह शरीर यात्रा के उपद्रव, रोग, विपत्ति, बुढ़ापा एवं मरण के संताप से छूट जाता है। हमें चाहिए कि हम इस संसार को ठीक से समझकर अपने आप को इससे मुक्त करें।

बाहरी भौतिक क्षेत्र से लेकर मन तक सारा संसार त्रिगुणात्मक है। परन्तु इस त्रिगुणात्मक जगत से मेरा चेतनस्वरूप एवं मेरी आत्मा अलग है। जब

हम अपने आप को संसार-वृक्ष से अलग समझकर तथा अनासक्त होकर व्यवहार करते हैं तब संसार-बंधनों से मुक्त हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि संसार-वृक्ष की तीन बड़ी शाखों हैं, वे हैं रज, सत एवं तम गुण। सभी गुणों का अपना महत्त्व है, परन्तु बीच के सतगुण का महत्त्व सर्वाधिक है। इसी में अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष चारों फल फलते हैं। भौतिक क्षेत्र में जहां तक क्रिया है वह रज-गुण का स्वभाव है, जहां तक पुष्टि है सत-गुण का स्वभाव है तथा क्षय तम-गुण का। इसी प्रकार मन में इच्छा-क्रिया रज-गुण है, ज्ञान-प्रसन्नता सत-गुण है तथा आलस्य-निद्रादि तम-गुण है। जीवन में सभी गुणों का उपयोग है। जीवननिर्वाह में शुद्ध इच्छा भी चाहिए, क्योंकि खाना, पीना, सोना-जागना तथा उनके लिए कुछ करना आवश्यक है। सत-गुण का व्यवहार ज्ञान-प्रसन्नता तो चाहिए ही, आलस्य-निद्रादि तम-गुण का व्यवहार भी अति आवश्यक है। प्रकाश सत-गुण है और अन्धकार तम-गुण। व्यवहार करने के लिए, यह ग्रन्थ लिखने तथा पढ़ने के लिए भी प्रकाश चाहिए, परन्तु सोने के समय अन्धकार चाहिए। सोना बहुत आवश्यक है तथा उसके लिए अन्धकार भी बहुत आवश्यक है।

विवेकवान पुरुष सारे मनःकल्पित भोगों का त्यागकर अनासक्तिपूर्वक केवल शुद्ध जीवन-निर्वाह लेता है। वह इस त्रिगुणात्मक जगत से अपने आप को सदैव अलग समझता है। अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष ये चार पुरुषार्थ एवं पुरुष के प्रयोजन माने जाते हैं और इन्हीं को चार फल भी कहते हैं। वस्तुतः फल तो काम और मोक्ष हैं, उनके साधन अर्थ और धर्म है। परन्तु साधन रूप अर्थ तथा धर्म को भी फल एवं पुरुषार्थ में गिन लिया जाता है। अंततः जीवन का मात्र एक पुरुषार्थ—मोक्ष है। उसके लिए साधन धर्म है। परन्तु शरीर की रक्षा के लिए सबको कुछ-न-कुछ अर्थ चाहिए। संसार में मोक्षार्थी तो थोड़े होते हैं, शेष सांसारिक कामना वाले ही होते हैं, इसलिए काम भी एक फल माना जाता है। काम का अर्थ है सांसारिक इच्छों। उनकी कुछ अंशों में पूर्ति अर्थ से होती है। वैसे इच्छों भोगों से नहीं पूर्ण होतीं, प्रत्युत उनका विवेक से त्याग होता है। जब इच्छाओं का त्याग हो जाता है, तब मानो कामना पूर्ण हो गयी। परन्तु इस ऊंचे भाव को समझने वाले लोग संसार में बहुत कम हैं, शेष तो भोगों से ही कामना-पूर्ति का भ्रम किये बैठे हैं। "शाखा पत्र गिने को वाका" का अभिप्राय है कि त्रिगुण मुख्य शाखाओं की उपशाखों एवं उनके पत्ते कौन गिन सकता है! त्रिगुण की उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, इच्छा, क्रिया, ज्ञान आदि अनेक शाखों-उपशाखों हैं, वह न संपूर्ण गिनाया जा सकता है और न उनकी यहां आवश्यकता है।

"बेलि एक त्रिभुवन लपटानी, बाँधे ते छूटै नहिं ज्ञानी।" यह पंक्ति बहुत मार्मिक है। संसार रूपी वृक्ष में एक लता है। जो तीनों भुवनों में लिपटी है। तीन भुवन का अर्थ है ऊपर, नीचे तथा मध्य। यह भी सापेक्ष कथन है। परन्तु जिस पृथ्वी पर हम हैं उसी को तो मध्य मानेंगे। जो व्यक्ति जहां रहता है उसके लिए वही मानो संसार का बीच भाग है। वस्तुतः यह संसार इतना विशाल है जिसे हम अपने मन में समा नहीं सकते। अर्थात मन द्वारा इसकी सीमा का अन्दाज नहीं कर सकते। त्रिभुवन का लाक्षणिक अर्थ है समस्त संसार तथा इससे भी अधिक व्यावहारिक अर्थ त्रिगुणी जीव है। सद्गुरु कहते हैं संसार-वृक्ष के सारे जीवों को उस लता ने लपेट रखा है। उस लता में बंधकर ज्ञानी भी नहीं छूट रहा है। यह बेलि है एषणा। एषणों तीन मानी गयी हैं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा। एषणा का अर्थ है इच्छा। इसको वासना-तृष्णा भी कह सकते हैं। परन्तु एषणा का मुख्य अर्थ इच्छा ही है। पुत्रैषणा के भीतर ही शिष्यैषणा है। पुत्र की चाह, शिष्य की चाह, धन की चाह तथा लोकप्रसिद्धि की चाह। इस चाह की बेलि ने संसार को लपेट रखा है। कितने लोग पुत्रैषणा तथा वित्तैषणा छोड़ देते हैं तो लोकैषणा नहीं छोड़ पाते। मनुष्य का मन हर समय संसार से कुछ पाना चाहता है। अनुकूल प्राणी मिल जाये, धन मिल जाये, अनुकूल वस्तु मिल जाये, प्रशंसा एवं सम्मान मिल जाये, बड़ाई मिल जाये, बस हर समय यह चाहना बनी रहती है कि कुछ मिल जाये। शास्त्रों की बहुत बातें जानकर भी, साधना में बहुत दूर तक चलकर भी कितने ज्ञानीजन किसी-न-किसी सूक्ष्म इच्छा एवं वासना की बेलि में बंधे रहते हैं। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं—"बाँधे ते छूटै नहिं ज्ञानी।" इस एषणा की लता में, तृष्णा-वासना की बेलि में ज्ञानी कहलाने वाला भी बंधकर नहीं छूट रहा है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि सब ज्ञानी एषणा-बेलि में बंधे हैं। अर्थ इतना ही है कि बहुत-से ज्ञानी कहलाने वाले इस बेलि से भीतर-भीतर लिपटे हैं। अतएव उन्हें भी अपने मन को देखते रहना चाहिए कि हम किसी एषणा में तो नहीं बंधे हैं। हमारे भीतर कोई सूक्ष्म सांसारिक इच्छा तो नहीं अंकुरित है। संसार का काम करने के लिए इच्छा चाहिए। बिना इच्छा के संसार का काम नहीं हो सकता। परन्तु यह प्रसंग बिलकुल अलग है। यहां तो जीव के संसार-वृक्ष से उतरने की बात है और जरा-मरण तथा शरीर के प्रपंच से सदैव के लिए मुक्त होने की बात है।

आज के विज्ञान-युग का आदमी इसे एक काल्पनिक आदर्श मात्र मानेगा। जन्म-मरण से मुक्त होने की बात उसे भले काल्पनिक आदर्श लगे,

परन्तु उसका जो आज का व्यावहारिक स्वरूप है उसे तो कोई भी समझ सकता है कि वह सुखद जीवन का उच्चतम शिखर है। जिसके मन में पुत्र, वित्त एवं लोक, किसी की भी एषणा नहीं है, जिसके मन से इच्छा, वासना, तृष्णा समाप्त हो गयी हैं, उसके हृदय के आनन्दसागर का क्या वर्णन हो सकता है ! वासनाहीन सुख से बढ़कर तो कोई सुख है ही नहीं, इसके समान भी कोई सुख नहीं है। यहां तक इसका आधा या पाव सुख भी कहीं नहीं है। तृष्णा, वासना, उद्वेग, आग्रह, शिकायत, पश्चाताप, ग्लानि एवं समस्त मानसिक द्वंद्वों से रहित प्रशांत मन वाला हो जाना ही जीवन के उच्चतम शिखर पर पहुंच जाना है।

"कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय बिचारा।" सद्गुरु कहते हैं कि हम पुकारे जा रहे हैं, जो पण्डित होगा वह इस सम्बन्ध में विचार लेगा। कबीर साहेब के मन में पण्डितों का कितना बड़ा आदर था। यहां निश्चित है कि पत्राधारी पण्डित नहीं हैं। यहां पण्डित का अर्थ सत्यासत्य विवेकिनी बुद्धि वाला सूक्ष्मदर्शी है। यह किसी कुल-गोत्र का नहीं होता, किन्तु जिसके भीतर अन्वीक्षकी बुद्धि हो वही पण्डित है। इस पंक्ति में दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं, पहली बात है कबीर साहेब का निरालापन। "कहहिं कबीर हम जात पुकारा" साहेब कहते हैं कि हम कहीं रुक नहीं रहे हैं। लोककल्याण को लेकर भी हम कहीं बंधे नहीं हैं। हम तो सबसे विरक्त, निस्पृह होकर जा रहे हैं, परन्तु हां, अपना सजाति जानकर कल्याणार्थियों को पुकारे भी जा रहे हैं। सच्चे ज्ञानी का यही अर्थ होता है कि वह लोगों को रास्ता बता दे, परन्तु कहीं बंधे न। इसमें दूसरी महत्त्वपूर्ण बात वही है जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है "पण्डित होय सो लेय बिचारा।"

निजस्वरूप से पृथक परमतत्त्व खोजने वालों पर व्यंग्य

शब्द-54

साँई के संग सासुर आई॥ 1॥
संग न सूति स्वाद नहिं मानी, गयो जोबन सपने की नाँई॥ 2॥
जना चारि मिलि लगन सोधाये, जना पाँच मिलि माँड़ो छाये॥ 3॥
सखी सहेलरि मंगल गावैं, दुख सुख माथे हरदि चढ़ावैं॥ 4॥
नाना रूप परी मन भाँवरि, गाँठि जोरि भाई पतियाई॥ 5॥
अर्घा दै लै चली सुवासिनि, चौके राँड़ भई संग साँई॥ 6॥
भयो विवाह चली बिनु दुलहा, बाट जात समधी समुझाई॥ 7॥
कहैं कबीर हम गौने जैबे, तरब कन्थ लै तूर बजैबे॥ 8॥

शब्दार्थ—साँई=सांई, स्वामी, पति, निजस्वरूप, आत्मदेव। सासुर=संसार। जना चारि=मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार। जना पाँच=पांच तत्त्व, पांच विषय। सखी सहेलरि=पांच ज्ञानेन्द्रियां। भाँवरि=परिक्रमा, चक्कर। भाई=अज्ञान। अर्घा=अर्घ; दूब, दूध, चावल आदि मिला हुआ जल, जो नयी दुलहन के आने पर डोले से उतरने के बाद उसके आगे-आगे गिराते हुए उसे घर में ले जाते हैं। सुवासिनि=सुआसिन, सुहागिन स्त्री, पति वाली, अहिबाती, तात्पर्य में ईश्वरपरायण गुरु। चौके=पूजा की वेदी, अन्तःकरण। राँड़=पतिविहीन। समधी=सगुणोपासक गुरु। कन्थ=कंत, पति, भगवान। तूर=तुरही, एक प्रकार का बाजा।

भावार्थ—मनोवृत्तिरूपी दुलहन जीवरूपी पति के साथ ही संसार में आती है, परन्तु इसका ज्ञान न होने से वह न उसके साथ सोती है, न उसके स्वाद का अनुभव करती है, प्रत्युत उसकी जीवनरूपी जवानी स्वप्न के समान बीत जाती है॥ 1-2॥ मनुष्य की मनोवृत्तिरूपी दुलहन अपने आत्मदेव एवं चेतनस्वरूप पति को न जानकर संसार में अलग ही पति एवं सुख का आश्रय खोजने लगती है। वह अलग पति मानकर उसके साथ विवाह रचना चाहती है। उसमें मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार ये चारों पर-पति से सम्बन्ध करने के लिए लग्न शोधते हैं। अर्थात मन मनन करता है, चित्त अनुसंधान करता है, बुद्धि निर्णय देती है और अहंकार कर्तव्य करता है। पांच तत्त्वों ने तो पहले से ही शरीर रूपी मड़वा छा दिया है जिसमें विवाह सम्पन्न हो सके॥ 3॥ पांच ज्ञानेन्द्रियांरूपी सखी-सहेलियां मनुष्य की मनोवृत्तिरूपी दुलहन को बहिर्मुख करने के लिए विषयों के राग-रंग एवं सगुण उपासनादि के गीत गाने लगीं, और सांसारिक द्वंद्वरूपी सुख-दुख की हल्दी उसके मस्तक पर मलने लगीं॥ 4॥ नाना भोगों तथा कल्पित देवी-देवताओं के संस्कार मन में पड़ना ही मानो मनोवृत्ति का परोक्ष पति के साथ फेरे पड़ना है। इस मनोवृत्तिरूपी दुलहन ने अपने भाई अज्ञान से ही मानो ग्रंथिबन्धन कर उसी पर पति होने का विश्वास कर लिया॥ 5॥ परोक्ष पतिपरायण बने गुरुओं ने भ्रामक वाणीरूपी पानी गिराते हुए अर्थात उसका उपदेश करते हुए मनोवृत्तिरूपी दुलहन को परोक्ष ईश्वर के कल्पित भवन में ले जाकर बैठा दिया। दुखद घटना हुई कि दुलहन वेदी में बैठी हुई पतिविहीन एवं रांड़ हो गयी जबकि आत्मदेव-पति उसके साथ है, परन्तु वह तो बाहर पति खोज रही है। वह न मिला, अतः उसने अपने को रांड़ मान लिया॥ 6॥ मनुष्य की मनोवृत्ति ने किसी कल्पित परोक्ष-पति से अपना विवाह तो कर लिया, परन्तु वह कभी न मिला, अतएव दुलहन बिना पति के ही चली। रास्ता चलते

समय उसे समधी ने समझाया। अर्थात भक्ति-मार्ग में चलते हुए साधकों की मनोवृत्ति को गुरुओं ने समझाया कि तुम व्याकुल मत होओ, प्रत्युत प्रेमलक्षणा भक्ति करती चलो, ईश्वर अवश्य मिलेगा। आज नहीं तो मरने पर स्वर्ग में मिलेगा॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह बात सुनकर भक्तों की मनोवृत्तिरूपी दुलहन उत्साहित हो गयी, और कहने लगी कि अभी पति नहीं मिला तो नहीं मिला, दुबारा गौन जाने पर तो मिलेगा ही। अतः हम बाजा-गाजा बजवाते हुए भगवान के धाम गौने जायेंगी और पति-परमेश्वर को लेकर कृतार्थ हो जायेंगी॥ 8॥

व्याख्या—इस पूरे शब्द में उन पर व्यंग्य है जो अपने चेतनस्वरूप एवं आत्मदेव को परमतत्त्व एवं अपना परम आश्रय न मानकर, अलग अपना पति खोजते हैं। कबीर साहेब व्यंग्य-लेखकों के आचार्य हैं। इतना बड़ा व्यंग्य करने वाला, चुटकी काटने वाला और लोगों की आंखों में उंगली डालकर जगाने वाला दूसरा मिलना मुश्किल है। हम इस शब्द की एक-एक पंक्ति पर खुलासा चिंतन करें।

"साँई के संग सासुर आई। संग न सूति स्वाद नहिं मानी, गयो जोबन सपने की नाँई।" जैसे कोई दुलहन अपने पति के साथ में ही ससुराल आयी हो, परन्तु उसका दुर्भाग्य कि वह अपने पति के साथ का सुख कभी न पायी हो। उसकी जवानी पति के संयोगजनित सुख के सपने देखते ही बीत गयी हो, कभी उसे अपने पति का आलिंगन न मिला हो। यही दशा मनुष्य की मनोवृत्ति की है। वह सदैव परमानन्द के आश्रय में पहुंचने के सपने देखती रहती है, परन्तु उसे जीवन में कभी भी परमानन्द का आश्रय नहीं मिलता। क्यों नहीं मिलता? क्योंकि वह उसे बाहर खोजती है। परमानन्द, परमशांति एवं आत्यंतिक सुख का आश्रय तो उसके साथ उसका चेतन देव है, परन्तु उसे उसका ज्ञान नहीं है। यह मनोवृत्ति दुलहन है, चेतनदेव उसका पति है। जब आदमी संसार में जन्म लेता है, तब दोनों साथ ही आते हैं। परन्तु दोनों साथ रहते हुए भी, अज्ञान के कारण परस्पर वियोग बना रहता है। इसीलिए मनोवृत्ति अपने अमृतस्वरूप चेतनदेव के साथ नहीं सोती, अर्थात समाधि में लीन नहीं होती। मनुष्य की मनोवृत्ति को स्वरूपस्थिति का स्वाद नहीं मिलता। उसे वह सुख नहीं मिलता जिसमें दुख की किरकिरी नहीं है और जो अनन्त है। मनुष्य का जीवन बीत जाता है, किन्तु उसके लिए परम सुख सपना ही बना रह जाता है। निजस्वरूप को न जानने का यही फल है। ऐसा भ्रम कि पति के साथ रहते हुए भी पति से वियोग! भला अपनी आत्मा को कोई छोड़कर कैसे रह सकता है! अपनी आत्मा से अपना कभी वियोग होना

संभव ही नहीं है, परन्तु ज्ञान न होने से वियोग-जैसा है। लोग कहावत है "लड़िका कांधे गांव गोहार !"

"जना चारि मिलि लगन सोधाये" दुलहन अपने पास में रहने वाले पति को न जानकर किसी दूसरे दूल्हे से विवाह करने के लिए लग्न शोधवाने लगी। उसे चार पंडित मिल गये। वे उसका लग्न शोधने लगे अर्थात मनुष्य की मनोवृत्ति अपने आत्मदेव पति को न जानकर सुख का आश्रय बाहर खोजने लगी। वह बाहरी पति की तलाश में पड़ गयी। बाहरी दूल्हे से विवाह करने के लिए मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार ये चार पंडित लग्न शोधने लगे। इसका अर्थ यह है कि मन बाहरी विषयों एवं कल्पित देवी-देवताओं की कल्पना करने लगा, चित्त उसका अनुसंधान करने लगा, बुद्धि उसी का निश्चय करने लगी तथा अहंकार उसी को स्वीकार करने लगा। विषयों में सुख ढूंढ़ने लगे या कल्पित देवी-देवताओं में।

"जना पाँच मिलि माँड़ो छाये" पांच जने मिलकर पहले से ही माड़व अर्थात मंडप छा दिये थे जिसमें विवाह होना था। ये पांच जने हैं पांच तत्त्व। तत्त्वों से शरीर-मंडप पहले ही बनकर तैयार है। इसमें मनुष्य की मनोवृत्तिरूपी दुलहन नये-नये पति से विवाह करती रहती है। अर्थात अपने आत्मदेव से विमुख बनी वह नाना विषयों एवं देवी-देवताओं में भटकती रहती है।

"सखी सहेलरि मंगल गावैं, दुख सुख माथे हरदि चढ़ावैं।" विवाह होने के पूर्व से ही सखी-सहेलियां विवाह के मंगल गीत गाने लगती हैं और संभावित दुलहन (कन्या) के शरीर में हल्दीयुत उबटन लगाने लगती हैं। आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी ये पांच ज्ञानेन्द्रियां मनोवृत्ति की मानो सहेलियां हैं। ये विषयों के गीत गाती हैं अर्थात मनोवृत्ति को ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध—इन विषयों की तरफ खींचती हैं और सुख-दुख की हल्दी मनोवृत्ति दुलहन के मस्तक पर मलती हैं। इन सबका अर्थ यह है कि मनुष्य की मनोवृत्ति निज चेतनस्वरूप में न रमने से वह पांचों इन्द्रियों के विषयों में रमती है, और उसके परिणामस्वरूप संसार के सुख-दुख द्वंद्व सहती है। विषयों में क्षणिक सुख मिलता है और पेट भर दुख।

"नाना रूप परी मन भाँवरि, गाँठि जोरि भाई पतियाई।" विवाह के समय वर-वधू के कपड़े की एक में गांठ बांधकर वे अग्नि के चारों ओर सात फेरे लगाते हैं। यहां नाना प्रकार के विषयों एवं कल्पित देवी-देवताओं के संस्कार जो मन में पड़ते हैं वही मानो फेरा पड़ना है। यहां फेरा का अर्थ है चक्कर। संस्कारों एवं भ्रांतियों के चक्कर में मनुष्य की मनोवृत्ति भटकती रहती है।

इस मनोवृत्ति-दुलहन ने अपने भाई से ही ग्रन्थिबंधन कर उसी को अपना पति होने का विश्वास कर लिया। अज्ञान तथा मनोवृत्ति दोनों की उत्पत्ति अविद्या से होने के कारण दोनों मानो भाई-बहन हैं। निज चेतनस्वरूप से अलग जो कुछ अपना आश्रय माना जाता है वह सब अज्ञान ही है। जीव उन्हीं से अपना ग्रंथिबंधन करता है। यही तो जड़-चेतन की ग्रंथि है। मनोवृत्ति निज चेतनस्वरूप के अलावा जहां तक अपनी अवधारणाओं को पति मानती है, सुख का कारण मानती है, वह सब अज्ञान है। इसी के लिए "गाँठि जोरि भाई पतियाई" व्यंग्य है।

"अर्घा दै लै चली सुवासिनि" जब दुलहन विवाह के बाद ससुराल पहुंचती है, तब दरवाजे पर उसके डोले के पास स्त्रियां आकर दुलहन के सामने जल गिराती हुई उसे घर में ले जाती हैं। जल गिराना, अर्घ देना कहलाता है। यह अर्घ देने का काम सुआसिन करती है। सुआसिन का अर्थ है सुहागिन, पतिवाली। विधवा यह काम नहीं करती। विधवा उस अवसर पर अशुभ मानी जाती है। सुहागिन शुभ मानी जाती है। अतः सुहागिन अर्घ देते हुए दुलहन को घर में ले जाती है। यहां सुहागिन है परोक्ष ईश्वर तथा देवी-देवताओं के उपासक भक्त-गुरु, क्योंकि वे पतिवाली हैं। उन्होंने अपनी आत्मा से अलग किसी कल्पित ईश्वर या देवता को अपना पति मान रखा है। वे मनुष्यों की मनोवृत्ति के सामने कल्पित वाणियों का उपदेश करते हैं। यही मानो वे अर्घ देते हैं। वे अपनी रोचक वाणियों से मनुष्यों की मनोवृत्तियों को अपनी ओर खींचते हैं।

दुख यह है कि "चौके राँड़ भई संग साँई" दुलहन चौके में एवं ससुराल की वेदी में पहुंचते ही रांड़ हो गयी। अचरज तो यह है कि उसका पति उसके साथ है, परन्तु वह विधवा हो गयी। तात्पर्य है कि मनुष्य की मनोवृत्तिरूपी दुलहन यह तो जानती नहीं है कि अपना चेतनदेव-पति अपने साथ ही है। स्वरूपज्ञान से वह एकदम अनभिज्ञ है, और जिस कल्पित-ईश्वर या देवी-देवता को अपना पति माना वह तो मिला ही नहीं। वह मिलने की कोई वस्तु नहीं। वह तो केवल मन की कल्पना है। अतएव उसने जिन्हें पति माना वह न मिलने से अपने आप को रांड़, विधवा एवं अभागिन समझने लगी। मनुष्य को अपने दिव्य आत्मदेव का परिचय न होने से वह बाहर भटकता है और बाहर से उसे सन्तोष मिलता नहीं। बड़े-बड़े संत-भक्त सदैव इसी अभाव में दुखी रहते हैं कि ईश्वर ने हमें दर्शन नहीं दिये। उन्हें यह पता नहीं कि अपने चेतनदेव के अलावा बाहर कोई ईश्वर नहीं, जो दर्शन दे। अतएव वे स्वरूपज्ञान तथा आत्मज्ञान के अभाव में अपने आप को सदैव विधवा माने बैठे रहते हैं।

"भयो विवाह चली बिनु दुलहा" विवाह हो जाने के बाद दुलहन बिना दूल्हे के चले तो उसका दुर्भाग्य है। मनुष्य की मनोवृत्ति ने किसी परोक्ष ईश्वर एवं देवादि से अपनी सगाई तो कर ली, परन्तु उसे न पाने से वह बिना दूल्हे के चली। यहां चली का मतलब है जीवन-यापन करना। अर्थात ईश्वर की भक्ति करते हुए भक्त जीवन-यापन कर रहा है। उसके बहुत समय बीत गये, परन्तु उसे दूल्हा न मिला। उसे मिलने वाला भी नहीं है। बाहर से जीव को कोई दूल्हा, कोई ईश्वर नहीं मिलने वाला है। संसार में जो मिलता है वह छूटता है। माया की चीजें मिलती हैं और मिलकर छूट जाती हैं। यदि ईश्वर भी कुछ है और वह मिलता है तो मिलकर अवश्य छूट जायेगा। न छूटने वाला ईश्वर तो मनुष्य की अपनी आत्मा ही है। परन्तु वह उसे समझता ही नहीं है और बाहर ईश्वर खोजता है, इसलिए वह भटकता है। अपने आप को बिना दूल्हे के समझता है।

"बाट जात समधी समुझाई।" समधी भक्त-गुरु हैं। वे भक्त-साधकों को भक्ति-पथ में चलते समय उन्हें धैर्य देकर समझाते हैं। वे कहते हैं कि तुम घबराओ मत। तुम्हें परमात्मा अवश्य मिलेगा। ध्रुव को मिला, प्रहलाद को मिला और उसने बहुत भक्तों को साक्षात दर्शन दिये। घबराने की जरूरत नहीं है। ईश्वर अवश्य मिलेगा। यदि जीवन में नहीं मिलेगा तो मरने के बाद स्वर्ग में पहुंचने पर मिलेगा। तुम प्रेम-लक्षणा भक्ति करते जाओ। तुम अपने आप को समझो कि तुम उसकी पत्नी हो और वह तुम्हारा पति है। तुम मन ही मन उसको भोजन कराओ, उसकी आरती उतारो, उसके पैर दबाओ, उसको पान के बीड़े दो, उसके साथ लिपट जाओ, वह अवश्य कृपा करेगा और तुम्हें अपना प्रेयसी बना लेगा। माधुर्य भक्ति करने वाले ऐसी ही भक्ति करते हैं। क्या वे सब समझदार नहीं हैं ! तुम्हें ईश्वर अवश्य मिलेगा।

"कहैं कबीर हम गौने जइबै, तरब कन्थ लै तूर बजैबै।" कबीर साहेब कहते हैं कि उक्त बातें सुनकर भक्त-साधकों को उत्साह जग जाता है। वे कहते हैं कि हम बाजा-गाजा के सहित कथा-कीर्तन कर भगवान के धाम गौने जायेंगी और अपने भगवानपति से मिलकर कृतकृत्य हो जायेंगी।

उक्त पूरा शब्द सगुण-उपासकों पर व्यंग्य है। जो अपनी आत्मा से अलग परमात्मा मानता है और उसको पाना चाहता है, साहेब उसको आड़े हाथों लेते हैं। कितने विद्वान नीचे की पंक्ति से कबीर साहेब को ही कहने लगते हैं कि कबीर स्वयं भगवान के धाम गौने जाना चाहते हैं। वे पूरे शब्द के अर्थप्रवाह को समझना ही नहीं चाहते, क्योंकि उनको अपना मंतव्य इसी में सिद्ध दिखता है। परन्तु किसी का अनर्थ नहीं करना चाहिए। कबीर साहेब अन्तरात्मा को

ही परमतत्त्व मानते हैं। जो निजस्वरूप को छोड़कर बाहर ईश्वर खोजता है उसे वे अनेक तर्कों एवं व्यंग्यों से जगाते हैं। गहरे में गड़े हुए भ्रम को उखाड़ने के लिए तीव्र वाणी की आवश्यकता होती है।

मनुष्य की विपरीतता पर व्यंग्य

शब्द-55

नर को ढाढ़स देखो आई, कछु अकथ कथ्यो है भाई ॥ 1॥
सिंह शार्दुल एक हर जोतिनि, सीकस बोइनि धानै ॥ 2॥
बन की भुलैया चाखुर फेरें, छागर भये किसानै ॥ 3॥
छेरी बाघै ब्याह होत है, मंगल गावै गाई ॥ 4॥
बन के रोझ धरि दायज दीन्हों, गोह लो कन्धे जाई ॥ 5॥
कागा कापर धोवन लागे, बकुला किरपहिं दाँते ॥ 6॥
माँखी मूँड़ मुँड़ावन लागी, हमहूँ जाब बराते ॥ 7॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जो यह पद अर्थावै ॥ 8॥
सोई पण्डित सोई ज्ञाता, सोई भक्त कहावै ॥ 9॥

शब्दार्थ—ढाढ़स=साहस, धैर्य। अकथ=न कथने योग्य, अन्होंन। शार्दुल=शार्दूल, एक पक्षी।[1] सीकस=ऊसर जमीन। भुलैया=लोमड़ी। चाखुर फेरें=जुते हुए खेत से घास निकालना। छागर=बकरा। छेरी=बकरी। गाई=गाय, इन्द्रियां। रोझ=नीलगाय। धरि=पकड़कर। गोह=छिपकली जाति का एक जहरीला जन्तु, जो नेवले के बराबर आकार का होता है।

भावार्थ—मनुष्य का साहस तो देखो। हे भाई, इसने कुछ अनहोनी बातें कहीं और की हैं॥ 1॥ इसने सिंह और शार्दूल पक्षी को एक हल में जोत दिया है, ऊसर में धान बो दिया है, वन की लोमड़ियों ने जुते खेत की घास को निकालने का काम किया है और बकरे ने किसानी की है। अर्थात जीव सिंह को मन की मान्यतारूपी शार्दूल पक्षी के साथ जोत दिया गया है, मनुष्य ने अपने शक्ति-बीजरूपी धान को निरर्थक क्रियारूपी ऊसर में बो दिया है। संसार के मोह एवं भ्रांतियों में जो स्वयं भूले हैं ऐसे गुरु जीव का अज्ञान दूर करने लगे हैं और बकरे-जैसे कायर लोग धर्म की खेती करने लगे हैं॥ 2-3॥

---

1. शार्दूल का अर्थ सिंह भी है और शार्दूल नाम का एक पक्षी भी होता है। सिंह इस पंक्ति में पहले आ चुका है। इसलिए यहां शार्दूल का अर्थ पक्षी ही होना चाहिए।

बकरी और बाघ का विवाह होने लगा है, गायें मंगल गाने लगी हैं, वन की नीलगायें पकड़कर दायज में दी जाने लगी हैं और विषैले गोह वर-वधू की डोली अपने कंधे पर लेकर बिदा करने चल दिये हैं। अर्थात जीव का माया के साथ ग्रंथिबन्धन होने लगा है। इन्द्रियां उसमें आनन्द के गीत गाने लगी हैं, नीलगाय के समान मन की चंचलता मानो इसमें दहेज एवं भेंट दी गयी हैं तथा राग-द्वेष से आवृत्त विषैले लोग अपने कंधे पर तरन-तारन होने का भार उठा लिये हैं॥ 4-5॥

कौए अपने कपड़े धोने लगे हैं, बकुले अपने दांत किटकिटाकर कपड़े पर इस्तरी फेरने लगे हैं, मक्खियां सिर के बाल मुड़वाने लगी हैं कि हम भी बरात जायेंगी। अर्थात कौए के समान चंचल लोग सफेदपोश होने लगे हैं, बकुले के समान कपटी लोग ठाट-बाट से रहकर अपने भेद छिपाने लगे हैं, और मक्खी के समान मलिन मन वाले मूड़ मुड़ाकर साधु-संन्यासी होने लगे हैं॥ 6-7॥

कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो ! सुनो जो इस पद का अर्थ लगायेगा और सावधान हो जायेगा, वही पण्डित है, वही ज्ञाता है और वही भक्त कहलाने योग्य है॥ 8-9॥

व्याख्या—कबीर साहेब की जितनी उलटवांसियां होती हैं सब प्रायः उन पर व्यंग्य होती हैं जो समाज में रहकर विपरीत आचरण करते हैं। साहेब कहते हैं कि ऐसे लोग साहसी होते हैं और न करने योग्य काम करते हैं। सिंह और शार्दूल-पक्षी का एक हल में जोत देना ऐसी ही घटना है। सिंह जीव है और शार्दूल-पक्षी मन है। मन का अर्थ है मन की मान्यतों। यहां मान्यतों का अभिप्राय है व्यर्थ मान्यतों एवं अहंता-ममता। जीव शुद्ध चेतन है, अपने आप में पूर्णकाम है। यदि वह अपने आप को समझकर अपने आप में स्थित हो तो कृतार्थ है, परन्तु वह बाहरी अहंता-ममता में पड़कर दुखी है।

"सीकस बोइनि धानै" सीकस में, ऊसर जमीन में धान बोना हद दर्जे की बेवकूफी है। हम अपने जीवन में ऐसी ही बेवकूफी करते रहते हैं। हम जीवनभर ऊसर में धान बोते हैं। हम अपनी शक्ति को जीवनभर राग, द्वेष, परनिन्दा, पर-अपकार एवं निरर्थक ही नहीं, अनर्थक क्रियाओं में खोते हैं। हीरा-जैसे जीवन के समय एवं शक्ति को व्यर्थ में खोकर अंत में असफल होकर संसार से विदा होते हैं। यह गलती साधारण लोग ही नहीं, किन्तु विद्वान और ज्ञानी कहलाने वाले लोग भी करते हैं।

"बन की भुलैया चाखुर फेरें" जब खेत जोतकर लकड़ी के पाटले से उसे बराबर कर दिया जाता है, तब उसमें से उखड़ी हुई घासों को निकाला जाता

है। उस घास को चिखुरी या चाखुर कहा जाता है। यदि वन की लोमड़ियां आकर घास निकालने लगें तो यह आश्चर्य है। लोमड़ियों को भुलैया क्यों कहा गया? क्योंकि वे प्रायः अपने खोदे हुए बिल को भूल जाती हैं, इसलिए फिर दूसरा खोदती हैं। यहां वन की भुलैया हैं संसार के भूले गुरु लोग जो संसार के अज्ञानरूपी घास को निकालने का दावा करते हैं। वे स्वयं तो भूले हैं। उनको सारासार का स्वयं विवेक नहीं है। ये स्वयं अनेक अन्धविश्वासों में जकड़े हैं। उन्हें स्वयं विश्वसत्ता के नियमों का बोध नहीं है और न वे स्वयं स्वरूप को ही समझते हैं। परन्तु वे जगत के गुरु बनकर चाखुर फेरते हैं। वे सबके अज्ञान को दूर करने एवं सबको मुक्ति देने की ठेकेदारी लेते हैं।

"छागर भये किसाने" बकरे किसान हो गये। बकरे कमजोर और कायर जानवर होते हैं। यदि उनके ऊपर पानी की चार बूंदें पड़ें तो वे में-में करके भागकर कोई छाया ढूंढ़ते हैं। ऐसे बकरे क्या किसानी करेंगे ! इसी प्रकार जो कायर और कपूत हैं वे क्या धर्माचरण करेंगे। परन्तु संसार में कायर लोग ही धर्मध्वजी बन गये हैं। वे त्याग और संयमरूपी धर्म से तो सैकड़ों कोस दूर रहते हैं। हां, वे धार्मिक ढोंग अवश्य करते हैं।

"छेरी बाघै ब्याह होत है" बकरी और बाघ का विवाह होना अपने आप में आश्चर्य है। सिंहवत मनुष्य जीव दीन बकरीवत माया में आसक्त होता है। सिंह अपने स्वरूप को भूलकर ही तो बकरी से विवाह करेगा। इसी प्रकार जीव अपनी महान शक्ति को भूलकर ही तो माया को अपना सहधर्मिणी बनाकर उसके अधीन होता है। माया है सांसारिक प्राणी-पदार्थों के प्रति आसक्तिरूपी कायरता। यह सिंहवत शुद्ध चेतन जीव तुच्छ विषयों का गुलाम हो जाता है। कोई तम्बाकू का गुलाम, कोई बीड़ी-सिगरेट का गुलाम, कोई गांजा-भांग का गुलाम, कोई शराब-ताड़ी का गुलाम, कोई काम-भोग का गुलाम, कोई अन्य राग-रंग का गुलाम, कोई लोभ का गुलाम, कोई ममता का गुलाम। अर्थात कहीं-न-कहीं तुच्छ वस्तुओं का यह सिंह-जीव गुलाम बन जाता है। जो सारी आसक्तियों को छोड़कर अपने आप में जग जाता है, वही मानो अपने समर्थ-सिंहस्वरूप चेतन को समझ सका है। बाकी तो मूलतः सिंह होकर भी गीदड़ बन गये हैं।

"मंगल गावै गाई" सिंह और बकरी के विवाह में गायें मंगल-गीत गा रही हैं। अर्थात जीव के माया में लिप्त होने पर इंद्रियां आनन्द मना रही हैं। जो जितना माया लिप्त होगा वह उतना इंद्रिय-लपंट होगा। इन सबके फल में जीव को मिलेगी चंचलता। यही मानो उसे विवाह में नीलगाय का दहेज मिलना है। बन के रोझ हैं नीलगायें। ये बड़ी चंचल एवं भागने वाली होती

हैं। माया-लिप्त एवं इंद्रिय-लिप्त व्यक्ति को इस मायिक विवाह में दहेज चंचलता के अलावा क्या मिलेगा ! उसका मन निरंतर भागता रहेगा।

"गोह लो कन्धे जाई" गोह विषैले जानवर हैं। वे वर-वधू के डोले को अपने कन्धे पर लेकर उन्हें उनके घर पहुंचाने लगे। संसार में ऐसे कितने धार्मिक गुरु हैं जो जनता के तरन-तारन बनते हैं। वे स्वयं राग-द्वेष एवं अनेक बुराइयों से विषधर हैं। परन्तु शिष्यों को उनकी मंजिल तक पहुंचाने की ठेकेदारी लेते हैं। ऐसे लोगों के विषय में "गुरु सहित शिष्य सब बूड़े, अन्तकाल पछिताना।" वाली बात याद आती है। वे स्वयं मानसिक दुखों में डूबे रहते हैं और दूसरों को प्रांजल एवं प्रशांत मोक्ष देने की जिम्मेदारी लेते हैं।

"कागा कापर धोवन लागे, बकुला किरपहिं दाँते। माँखी मूँड़ मुँड़ावन लागी, हमहूँ जाब बराते।" ये सारी बातें चंचल, कपटी एवं मलिन मन वालों पर व्यंग्य हैं। ऐसे-ऐसे कपटी-कुचाली एवं मलिन लोग समाज के रहबर, मार्गदर्शक, नेता, धार्मिक एवं साधु-संन्यासी बनने का ढोंग करते हैं। ऐसे लोग ही परिवार, समाज, देश तथा धर्म के स्वरूप को गंदा एवं लांछित करते हैं। कर्मचारी-समाज, अधिकारी-समाज, डॉक्टर-समाज, वकील-समाज, राजनीतिक-समाज, शिक्षक-समाज, विद्वान-समाज, व्यापारी-समाज, गृहस्थ-समाज, विरक्त-समाज, सभी क्षेत्रों को तो ये बाहर से अपने भव्य रूप बनाने वाले भीतर से चंचल, कपटी, मलिन और धूर्त लोगों ने ही खराब किया है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जो यह पद अर्थावै। सोई पण्डित सोई ज्ञाता, सोई भक्त कहावै।" कबीर साहेब अपनी बातें सन्तों से कहते हैं। सन्त वह है जो निश्छल और निर्मल है। वे संसार के सभी लोगों को निश्छल एवं निर्मल रूप देखना चाहते हैं। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति हमारे इस पद का अर्थ लगाये वही पण्डित है, ज्ञानी है और भक्त है। इस पद में कथन शैली व्यंग्यात्मक एवं उलटवांसियों से भरी है, इसीलिए इसका अर्थ करना थोड़ा कठिन है, केवल इसीलिए सद्गुरु ने ऐसा नहीं कहा है। किन्तु उनका अभिप्राय है कि जो व्यक्ति हमारे कथन के अभिप्राय को समझ ले और समझकर अपनी विपरीत चाल को छोड़ दे, वही पण्डित, ज्ञाता तथा भक्त है। पांडित्य, ज्ञान तथा भक्ति न शब्दचातुर्य है, न चमत्कारिक अर्थ-प्रस्तुति है और न व्याख्यानवाचस्पति होना है, किन्तु सत्यासत्य समझकर असत्य का त्याग और सत्य का ग्रहण है। विषयों की मलिनता, इन्द्रियों की लंपटता, छल, कपट तथा स्वार्थपरता का त्याग करना ही पण्डित होना है, ज्ञानी होना है तथा भक्त होना है।

सच्चा पथ जानो

शब्द-56

नर को नहिं परतीत हमारी॥ 1॥

झूठा बनिज कियो झूठे सो, पूँजी सबन मिलि हारी ॥ 2॥
षट दर्शन मिलि पन्थ चलायो, तिरदेवा अधिकारी ॥ 3॥
राजा देश बड़ो परपंची, रैयत रहत उजारी ॥ 4॥
इत ते उत उत ते इत रहहू, यम की साँड़ सवारी ॥ 5॥
ज्यों कपि डोर बाँधु बाजीगर, अपनी खुशी परारी ॥ 6॥
इहै पेड़ उत्पति परलय का, विषया सबै विकारी ॥ 7॥
जैसे श्वान अपावन राजी, त्यों लागी संसारी ॥ 8॥
कहहिं कबीर यह अदबुद ज्ञाना, को मानै बात हमारी ॥ 9॥
अजहूँ लेहुँ छुड़ाय काल सो, जो करै सुरति सँभारी ॥10॥

शब्दार्थ—परतीत=प्रतीत, विश्वास। बनिज=व्यापार। पूँजी=जमा, मूलधन। षट-दर्शन=योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण। तिरदेवा=ब्रह्मा, विष्णु, शंकर; रज, सत, तम, त्रिगुणात्मक क्षेत्र। अधिकारी=शासक। राजा=पंथाचार्य। देश=संप्रदाय। परपंची=प्रपंची, धोखेबाज, छलिया। रैयत=प्रजा, रिआया। उजारी=उजाड़, वीरान, जनशून्य, ध्वस्त। इत-उत=लोक-परलोक, जन्मांतर, विचलित। यम=मन, वासना। सांड़=सांड़िया, ऊंट। कपि=वानर। परारी=दूसरे के हाथ, वासनावश। पेड़=मूल। सुरति=सुरत, ध्यान, याद, लक्ष्य। संभारी=संभाल लेना, रोक लेना, संयत कर लेना।

भावार्थ—मनुष्यों को मेरी बातों पर विश्वास नहीं है॥ 1॥ मनुष्यों ने झूठे लोगों से नकली माल का व्यापार किया है, और सब मिलकर अपनी जमा पूंजी खो चुके हैं॥ 2॥ योगी-जंगमादि नाना सम्प्रदाय वालों ने अपने-अपने पंथ चला रखे हैं। जिनकी सारी पहुंच वहीं तक है जहां तक तीनों गुणों का शासन है॥ 3॥ इन पंथाचार्यों के सम्प्रदाय तो बड़े छलावापूर्ण एवं बाहरी आडंबरों से भरे हैं। ये अपनी प्रजा एवं अनुगामियों को उजाड़ एवं निष्फलक्रिया में ले जाते हैं॥ 4॥ इनके चक्कर में पड़कर यह जीव वासनारूपी ऊंट की सवारी पर चढ़कर इधर से उधर तथा उधर से इधर एवं जन्मांतरों में भटकता रहता है॥ 5॥ यह जीव उसी प्रकार अपने स्वरूप के अज्ञानवश अपनी खुशी से अपने आप को बंधनों में बंधाकर जगत-नगर में नाचता है जिस प्रकार चने के लोभ में पड़कर बंदर सुराही में अपनी खुशी से हाथ डालकर मुट्ठी बांधता है और कलंदर द्वारा रस्सी में बांधकर द्वार-द्वार

नचाया जाता है॥ 6॥ यह निजस्वरूप की भूल तथा विषयों का प्रलोभन ही जन्म-मरण का मूल है। विषय तो सारे ही मलिन होते हैं, वे चाहे स्थूल भोग के हों और चाहे ऋद्धि-सिद्धि एवं लोक-लोकांतरों के हों॥ 7॥ परन्तु संसारी आदमी तो मानो बिना नाक के होकर उसी प्रकार विषयों में आकंठ डूबा रहता है जैसे कुत्ते गंदी वस्तुओं को खाने में खुश रहते हैं॥ 8॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह मेरा ज्ञान लोगों को आश्चर्यजनक लगता है, इसलिए कौन मेरी बात मानने वाला है! लेकिन यदि कोई अपने ध्यान को सम्भाल ले, अर्थात अपने को प्रपंच से हटा ले तो मैं उसे भवबंधन से छुड़ा लूंगा॥ 9-10॥

व्याख्या—"नर को नहिं परतीत हमारी" मार्मिक वचन है। कौन विश्वास करे ऐसे फक्कड़ पर जो न अपने आप को अवतार कहता है, न ईश्वर-पुत्र कहता है, न पैगम्बर कहता है, न देवता कहता है, न कोई चमत्कार दिखाता है, न किसी खुदाई किताब की दुहाई देता है। अपनी बातें मनवाने के लिए दुनिया के लोगों को कोई झांसा तो देना चाहिए। कुछ नमक-मिर्च मिलाये बिना, कुछ झूठ बिना कौन सुनता है आवाज! खालिस ज्ञान तथा खालिस आत्मकल्याण चाहने वाले संसार में कितने हैं! अधिकतम लोग तो सांसारिक सफलता चाहते हैं, ऋद्धि-सिद्धि चाहते हैं, अपने किये हुए पाप एवं अपराधों का चुटकी बजाते क्षय चाहते हैं, कमल के समान सुन्दर हाथ, पैर, मुख वाले भगवान के दर्शन चाहते हैं और यदि मोक्ष चाहते हैं तो बिना कोई परिश्रम किये। तो क्या इन लाभों का उपाय है कबीर के पास! कबीर तो इन सबका खंडन करते हैं। वे खरे ज्ञान की बात करते हैं, और कहते हैं कि तुम्हें अपने श्रम से कल्याण करना होगा। तो इतना महंगा सौदा कौन पूछे! कौन करे इन पर विश्वास! जो धर्म के नाम पर एक भी झूठ नहीं बोलता, प्रत्युत सारी धार्मिक झुठाइयों की कड़ी आलोचना करता है, उसकी बात कौन सुने! धर्म के प्रचार के लिए बड़ी-बड़ी गप्पें चाहिए। जो बिना सिर-पैर की बातें नहीं करेगा वह धर्मोपदेशक नहीं माना जायेगा। फिर इसके उलटे जो सारी धार्मिक गप्पबाजियों की धज्जियां उड़ाता है उसकी बातों पर कौन विश्वास करे!

"झूठा बनिज कियो झूठे सो, पूँजी सबन मिलि हारी।" कबीर की वही बात सामने आ गयी जो संसार को अनसुहाती लगती है। वे कहते हैं कि मनुष्यों ने झूठे लोगों से मिलकर नकली माल का व्यापार किया है और सभी अपनी-अपनी जमा पूँजी गवां दिये हैं। जिस धन से व्यापार शुरू किया जाता है वह जमा पूंजी है, मूलधन है। व्यापार करने पर धन बढ़ना चाहिए परन्तु यदि जमा पूंजी ही खो जाये तो व्यापार असफल है। मनुष्य का अपना आपा,

अपनी चेतना, अपनी आत्मा ही उसकी जमा पूंजी एवं मूलधन है। अपने आपा को लेकर ही तो हम धार्मिक या आध्यात्मिक व्यापार करते हैं। अपने आपा को अलग रखने का उपाय ही नहीं है। हम अपनी आत्मा को लेकर ही धर्म के मार्ग में, अध्यात्म के मार्ग में चलते हैं। इसमें फल मिलना चाहिए भवबंधनों से छुटकारा, वासना का क्षय, विजाति जड़ दृश्यों का बंधन कटकर स्वरूपस्थिति। परंतु यदि हम धार्मिक तथा आध्यात्मिक कहलाकर अपनी आत्मा को ही भूल जायें, अपने चेतनस्वरूप का ही हमें भान न रह जाये, हम अपने आप को अंश, तुच्छ, प्रतिबिम्ब, आभास आदि मान लें, तो मानो हमारी पूंजी भी चली गयी। भवबंधन तो कटा नहीं, उलटे अपने आप को ही भूल बैठे। इन सबका कारण यह है कि हमने नकली माल का व्यापार करने वालों से व्यापार शुरू किया। जो गुरुजन परोक्ष मान्यता और बाह्याचार में ही उलझे हैं, जिनके पास स्वरूपविवेक है ही नहीं, उनके साथ मिलकर आध्यात्मिक व्यापार करेंगे तो हमारी जमा पूंजी तो खो जायेगी ही। "पूँजी सबन मिलि हारी" गुरु-शिष्य सब मिलकर अपना मूलधन गवां बैठे हैं। किसी को भी निजस्वरूप का ज्ञान नहीं है। सब कर्मकांड में भटक रहे हैं।

'षट दर्शन मिलि पन्थ चलायो, तिरदेवा अधिकारी।" योगी-जंगमादि षट दर्शनियों ने अपने-अपने संप्रदाय चलाये हैं। सभी संप्रदायों से समाज को कुछ-न-कुछ सद्प्रेरणा मिलती है, यह सब मान्य है, परन्तु अन्तिम लक्ष्य को देखने से पता लगता है कि सभी सम्प्रदाय वहीं तक पहुंचते हैं जहां तक तीनों देवताओं का शासन है। तीन देवता हैं ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव। ये तो प्रतीकात्मक नाम हुए। असली मतलब है त्रिगुण। सारा भौतिक एवं मानसिक जगत रज, सत एवं तम से व्याप्त है। जहां तक सांसारिक ऋद्धि-सिद्धि पाने की इच्छा है वह त्रिगुण एवं मायिक है। स्वर्ग की कल्पना है, वह भी त्रिगुण के भीतर है। किसी देवी-देवता, हाथ-पैर वाले भगवान या मन से अवधारित बाह्य ईश्वर से मिलने की इच्छा, सब त्रिगुण-शासन के भीतर है। लोकांतर मोक्ष की कल्पना भी त्रिगुणात्मक ही है। जहां तक भौतिक जगत है और जहां तक मन चलता है सब त्रिदेव के अधिकार के भीतर है, सब त्रिगुणात्मक है। गुणातीत तो निज चेतनस्वरूप ही है। मन की सारी मान्यताओं के समाप्त होने पर यह अवस्था आती है।

"राजा देश बड़ो परपंची, रैयत रहत उजारी।" किसी देश का राजा ऐसा हो जो धोखेबाज हो, वह अपनी प्रजा से छल-बलपूर्वक धन छीन ले और उन्हें ले जाकर जंगल या जनशून्य रेगिस्तान में बसा दे तो प्रजा का कल्याण कहां है ! संसार के अनेक सम्प्रदायाचार्यों की भी यही दशा है। उनके संप्रदाय

में बड़े-बड़े छल-प्रपंच हैं। धर्म के नाम पर असत्य बोलने में वे डरते ही नहीं। विश्व के शाश्वत नियमों, कारण-कार्य-व्यवस्था, वस्तुपरक एवं आत्मपरक बुद्धि से उन्हें दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। कर्मकांड, आशीर्वाद एवं पूजा के बल पर जनता को सब कुछ देने का झांसा, बात-बात में देवी-देवताओं एवं भगवान की दुहाई, अपने कर्म और श्रम पर विश्वास ही नहीं। अतएव इन राजाओं के देश, इन संप्रदायाचार्यों के संप्रदाय "बड़ो परपंची" हैं। इससे सहज बात है "रैयत रहत उजारी"। यथार्थ ज्ञान एवं रहनी के बिना अनुगामीजन शून्य में भटकेंगे ही। जहां कुछ नहीं है वहां उन्होंने सब कुछ मान लिया है। निज स्वरूप-विवेक छोड़कर अपने लक्ष्य को बाहर खोजना मानो उजाड़ में भटकना है।

"इत ते उत उत ते इत रहहू, यम की साँड़ सवारी।" यह जीव अपने स्वरूप को न पहचानकर और अपने आप में न स्थित होकर इधर से उधर तथा उधर से इधर भटकता है। क्यों भटकता है? क्योंकि इसे यम की सांड़ सवारी मिली है। पहले जमाने में लोग दूर-दूर की यात्रा ऊंट पर करते थे। ऊंट को सांड़िया तथा ऊंटनी को सांड़िनी कहते हैं। यहां सांड़िया को ही सद्गुरु ने सांड़ कहा है। यम सांड़िया है, ऊंट है। यम है वासना। वासना बाहरी चीजों एवं बाहरी अवधारणाओं की ही होती है। कोई अपनी आत्मा में अनुरक्त हो तो उसे भटकने की आवश्यकता ही नहीं है। भटकना तो तब होता है जब हम अपना लक्ष्य, अपना मोक्ष तथा अपना परमात्मा बाहर मानते हैं। बाहरी दृश्यों की ही वासनों होती हैं। वे ही जीव को लेकर भटकाती रहती हैं। जीव वासनावश संसार में यत्र-तत्र भटकता रहता है और जन्मांतरों में भी भटकता रहता है। अतएव भटकने का कारण है वासना, शांत होने का कारण है वासना का त्याग।

"ज्यों कपि डोर बाँधु बाजीगर, अपनी खुशी परारी।" कलंदर जंगल में जाकर सुराही में चने डालकर उसे वहीं रख देता है। बंदर आता है, वह चने के लोभ से सुराही में हाथ डालकर उन्हें अपनी मुट्ठी में लेता है। इतने में कलंदर उसे पकड़ने आ जाता है। बंदर चने के लोभ से न चने से भरी मुट्ठी खोलता है न उसकी मुट्ठी सुराही से निकलती है और कलंदर बंदर को पकड़ लेता है। फिर तो उसे डोरी में बांधकर गांव-गांव एवं द्वार-द्वार नचाता है। यह बंदर "अपनी खुशी परारी" हुआ है। अर्थात अपनी खुशी से पराये के हाथ में बंधा है। यह जीव इसी प्रकार अपने आप को खुशी से बंधाता है। इसे अपने अमृतस्वरूप का ज्ञान नहीं है। यह विषयों में प्रलुब्ध हो जाता है और खुशी से अपने हाथ-पैर रंगकर अपने को बंधा लेता है। यह पुत्रैषणा,

वित्तैषणा एवं लोकैषणा में बड़ी खुशी से अपने आप को बांधता है। "आपन पौ आपुहि बिसरयो" इस 76वें शब्द में सद्गुरु ने इस पर विस्तार से विचार किया है। यदि तुम कहते हो कि तुम्हें दूसरे ने बांध दिया है तो तुम झूठे हो। तुम्हें दूसरा कोई भी नहीं बांध सकता। हां, तुम्हें बांधने में संसार के महारथी लोग सहायक अवश्य होते हैं। लोग अपनी जेब से देकर तुम्हें तम्बाकू खाना सिखा देंगे। बीड़ी-सिगरेट तथा गांजा-भांग पीना-खाना सिखा देंगे, शराब-ताड़ी पीना सिखा देंगे। चोरी, व्यभिचार, छल, छद्म क्या नहीं सिखा देंगे! कोई धंधा पाने के पहले तुम्हें बड़े ठाट-बाट एवं समारोह के साथ शादी में फंसा देंगे। बस, तुम थोड़ा ढील हो जाओ, तुम्हें फंसाने के लिए लोग तैयार बैठे हैं। अतएव यह सच है कि तुम्हारे बन्धनों में लोग सहयोग करने वाले हैं, परन्तु यदि तुम न चाहो, तो तुम्हें सारा संसार मिलकर भी नहीं बांध सकता। बाहर के लोग तो तुम्हारी खुशी में शामिल हो जाते हैं। तुम बन्धनों में खुश न होओ तो तुम्हें कोई बांध नहीं सकता। तुम तो अपने मूढ़तावश स्वयं बन्धनों में आनन्द मानकर बंधते हो।

"इहै पेड़ उत्पति परलय का, विषया सबै विकारी।" जन्म-मरण का यही मूल है। संसार में भटकने का यही कारण है। अपने स्वरूप का अज्ञान तथा विषयों का प्रलोभन हमें संसार में पटक देते हैं। हम अपने आप को नहीं पहचानते, इसलिए मूढ़वत विषयों में लोभते रहते हैं। विषय तो सब विकार उत्पन्न करने वाले हैं। वे चाहे स्थूल हों और चाहे सूक्ष्म। पुत्रैषणा तथा वित्तैषणा से भी भयंकर बंधन लोकैषणा हो जाती है। लौकिक विषयों से भी प्रबल बन्धन पारलौकिक कहे जाने वाले विषय होते हैं। अपनी आत्मा से अलग ईश्वर एवं मोक्ष की तलाश भी महा बन्धन है। स्वरूपज्ञान चरमज्ञान तथा स्वरूपस्थिति चरमलक्ष्य है। इसके अलावा सब कुछ विषय है, और "विषया सबै विकारी" विषय तो सभी विकारपूर्ण ही हैं।

"जैसे श्वान अपावन राजी, त्यों लागी संसारी।" कुत्ते सूखी हड्डी को बड़े चाव से चूसते हैं। और भी वे गंदी-गंदी चीजों को खाने में बहुत खुश होते हैं। यही दशा संसार में डूबे हुए लोगों की है। जिनमें चित्त की चंचलता है, मलिनता है, क्षीणता है, और इच्छाओं की वृद्धि है ऐसे भोगों में संसारी जीव डूबे रहते हैं। नीमकीट सदृश प्राणी ऐसा विषयकीट बन गया है कि उसे यह पता भी नहीं है कि इसको छोड़कर भी कोई सुख है। वस्तुतः विषयों का त्याग कर देने के बाद आत्मानुभूति का परम दिव्य सुख प्राप्त होता है, जो नित्य है। इन्द्रियजन्य सुख मलिन एवं क्षणभंगुर हैं और उनके पीछे इच्छा-वासना तथा भटकाव का प्रबल दुख है, किन्तु आत्मजनित सुख प्रशान्त, अनन्त एवं निर्मल है।

"कहहिं कबीर यह अद्‌बुद ज्ञाना, को मानै बात हमारी।" सद्‌गुरु कहते हैं कि यह मेरा ज्ञान अद्‌भुत है, विलक्षण है और आश्चर्यजनक है। नयी वस्तु देखने में आश्चर्य लगता ही है, किन्तु समझ जाने के बाद कोई आश्चर्य न लगेगा। यह तो व्यक्ति का सहज स्वरूप ही है। जीव का सहज स्वरूप चेतन है और विषय उससे सर्वथा अलग हैं। अतएव विषयों को त्यागकर अपनी चेतना में स्थित होना बड़ी सहज दशा एवं स्वाभाविक बात है। परन्तु कौन मानता है मेरी इस बात को! प्रायः लोग किसी भगवान से मुलाकात करना चाहते हैं। जो संभव नहीं। अपनी चेतना में नहीं रमना चाहते जो उनका सहज स्वरूप है। परन्तु सद्‌गुरु कहते हैं कि यदि कोई अपने ध्यान को सम्हाल ले, अपने मन को सांसारिक प्रपंच से हटाकर आत्मकेन्द्रित हो जाये, तो मैं उसे आज ही भवबन्धनों से छुड़ा लूं। मनुष्य उलटे मार्ग में जा रहा था। किसी ने बता दिया कि तुम अपनी मंजिल से विपरीत दिशा में जा रहे हो। उसे होश हो गया। उसने उधर पीठ दे दी। उसने अपनी मंजिल की ओर मुख कर लिया, तो रास्ता सीधा हो गया। अब बस चलना बाकी है। अपनी मंजिल का सही रास्ता पा जाना बहुत बड़ी बात है। यदि हमारी दिशा गलत है तो वर्षों चलने पर भी मंजिल पर नहीं पहुंच सकते, और यदि दिशा सही हो गयी, तो आज नहीं, कल, हम मंजिल पर अवश्य पहुंचेंगे। हम भागे जा रहे थे बाहर। इतने में सद्‌गुरु मिले और बताये कि बाहर कहां जा रहे हो! जिसे तुम खोजते हो वह स्वयं तुम्हीं हो। इतना सुनकर हम रुक गये और रुक जाने से पा गये। बाहर से कुछ पाने का भ्रम मिट गया और हमारा अपना आपा नित्य प्राप्त ही है। अतएव सद्‌गुरु का यह महावाक्य "अजहूँ लेहुँ छुड़ाय काल सो, जो करै सुरति सँभारी।" बड़ा महत्त्वपूर्ण है। गुरु तो टेर रहे हैं कि तुम गलत रास्ते पर जा रहे हो, परन्तु हम अपने ध्यान को सम्हालकर उसे उनकी टेर पर लगा ही नहीं रहे हैं तो कैसे विपथ से रुकें और अपनी मंजिल की ओर अभिमुख हों! यदि हम अपनी सुरत, अपना ध्यान सम्हालकर उनकी बातों की तरफ लगायेंगे तो निश्चित है हमारा कल्याण होगा।

दूसरों की सेवा और आत्म-शोधन ही हरि-भजन है

शब्द-57

ना हरि भजसि न आदत छूटी॥ 1॥
शब्दहि समुझि सुधारत नाहीं, आँधर भये हियहु की फूटी॥ 2॥
पानी माहिं पषाण की रेखा, ठोंकत उठे भभूका॥ 3॥
सहस घड़ा नित उठि जल ढारै, फिर सूखे का सूखा॥ 4॥

सेतहिं सेत सितंग भौ, सैन बाढु अधिकाई॥ 5॥
जो सन्निपात रोगियन मारै, सो साधुन सिद्धि पाई॥ 6॥
अनहद कहत कहत जग बिनसै, अनहद सृष्टि समानी॥ 7॥
निकट पयाना यमपुर धावै, बोलै एकै बानी॥ 8॥
सतगुरु मिलैं बहुत सुख लहिये, सतगुरु शब्द सुधारें॥ 9॥
कहहिं कबीर ते सदा सुखी हैं, जो यह पदहिं बिचारै॥10॥

शब्दार्थ—हरि=आत्मस्वरूप चेतन । भजसि=भजना, चिन्तन करना, सेवा करना, अपने स्वत्व को समझकर विषयों से अलग हो जाना। आदत=गलत आदत। रेखा=टुकड़ा। भभूका=आग, क्रोध। सेतहिं सेत=बाल उजले होते जाना। सितंग=अंग शिथिल होना। सैन=सोना, निद्रा, आलस्य। सन्निपात=कफ-पित्त-वात त्रिदोष से उत्पन्न उन्मादी ज्वर, तात्पर्य में काम-क्रोध-लोभ के एकत्रीकरण का उन्माद। सिद्धि=मोक्ष। अनहद=असीम। निकट पयाना=जाने का समय निकट आ गया। एकै बानी=अहंकारपूर्ण वाणी।

भावार्थ—मनुष्य न आत्मचिंतन करता है और न उसकी गलत आदतें छूटती हैं॥ 1॥ वह निर्णय शब्दों को समझकर अपने आप को सुधारता नहीं। यह मानो बाहर की आंखों से अंधा हो गया है और इसके भीतर के विवेक-विचार के नेत्र भी फूट गये हैं॥ 2॥ पानी में हजारों वर्षों से पत्थर का टुकड़ा पड़ा हो, परन्तु उसको पानी से निकालकर यदि उसमें चोट मारी जाये तो वह आग उगलता है। इसी प्रकार मनुष्य पचास वर्षों से ज्ञान की वाणियों का पाठ करता हो परन्तु यदि उसे उसकी गलतियों के लिए टोका जाये तो वह उनका सुधार न कर क्रोधाभिभूत हो जाता है॥ 3॥ पत्थर पर हजारों घड़े पानी रोज डालो, परन्तु वह पुनः सूखा-का-सूखा ही रहता है, नरम नहीं होता। इसी प्रकार कितने लोग हैं जिन्हें हजार उपदेश करो, परन्तु वे नरम न होकर अकड़े ही रह जाते हैं॥ 4॥ आदमी के दिन तो बीतते ही हैं। उसके बाल उजले होते-होते एक दिन सब उजले हो जाते हैं और कुछ दिनों में उसके शरीर के सारे अंग भी शिथिल होकर दुर्बल हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में तो बस केवल आलस्य-निद्रा ही अधिक बढ़ जाती है। वह जीवनभर काम, क्रोध और लोभ के सन्निपात से ग्रसित रहा, अब बुढ़ापा में क्या सुधार होगा? परंतु ध्यान रहे ! जिस कामादि त्रिदोष से संसार के लोग मानसिक रोगी बनकर पतित होते हैं, उसी त्रिदोष का मार्गांतरीकरण कर, अर्थात काम को भक्ति में, क्रोध को वैराग्य में तथा लोभ को ज्ञान में बदलकर साधुजन मोक्ष प्राप्त करते हैं॥ 5-6॥ ज्ञान की बेहद वाणी कहते-कहते भी उनके आचरण किये बिना संसार के लोग पतित होते हैं। अनन्त ज्ञान के सूत्र तो पूरी सृष्टि में समाये हुए हैं, हमें

समझना चाहिए॥ 7॥ परन्तु हम कहां ध्यान देते हैं। हमारा संसार से जाने का समय निकट आता जाता है, परन्तु फिर भी हम अहंकार भरी बातें करते हैं कि हमारा यह है, हमारा वह है॥ 8॥ यदि मनुष्य को सच्चे सद्गुरु मिल जायें और वह उनकी बातों पर श्रद्धा-बुद्धिपूर्वक ध्यान दे तो उसे बहुत सुख मिलेगा। क्योंकि सद्गुरु शब्द-सुधार करते हैं। वे मिलित शब्दों का नीर-क्षीर विवेक कर सही रास्ता बताते हैं॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि वे लोग सदैव के लिए सुखी होंगे जो इस पद का विचारकर इसके अनुसार आचरण करेंगे॥ 10॥

व्याख्या—"ना हरि भजसि न आदत छूटी" हम पीछे 34वें शब्द की व्याख्या में हरि शब्द पर ऐतिहासिक विचार किये हैं। ईस्वी सन की शुरुआत में ही हरि विष्णुपरक शब्द हो गया था तथा उसके बाद वह ईश्वरपरक एवं आत्मपरक हो गया। मान लो हरि का अर्थ ईश्वर है, तो हमें यह विचार करना पड़ेगा कि उसका स्वरूप क्या है और उसका भजन कैसे करना चाहिए। यह प्रायः कहा जाता है कि हरि भीतर भी है और बाहर भी है। हमें इस कथन को परख की कसौटी में कसना चाहिए। सबके शरीर के भीतर एक चेतना एवं ज्ञान-ज्योति है जो मैं के रूप में विद्यमान है। एक शरीर में दो चेतन की अनुभूति किसी को नहीं होती। अतएव भीतर का हरि अपनी चेतना, आत्मा एवं जीव ही है। इसके अलावा भीतर कोई दूसरा हरि नहीं है। अब बाहर के हरि पर विचार कर लें।

यह मानना कि इस समस्त जड़ ब्रह्मांड में एक चेतन हरि व्याप्त है और वही ब्रह्मांड की सारी क्रिया करता है, एक असमीक्षात्मक दृष्टि है। इस दृष्टि के मूल में है पूर्वग्रह और जड़तत्त्वों के शाश्वत नियमों का अज्ञान। हम विश्वसत्ता के नियमों को जानना भी नहीं चाहते, क्योंकि हमें भय है कि इससे हमारा सर्वव्याप्त ईश्वर उड़ जायेगा। परन्तु इस जड़ प्रकृति एवं ब्रह्मांड के भीतर किसी चेतन ईश्वर के रूप में नियामक को खोजना भ्रम के अलावा कुछ नहीं है। हमें प्रकृति-सत्ता के नियमों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सर्वत्रव्याप्त, सर्वज्ञ एवं सर्वसमर्थ नियामक अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूचाल, चोरी, हत्या, व्यभिचार, डाकाजनी, कत्ल, ईश्वर के नाम पर सामूहिक कत्ल, आतंकवाद तथा हजारों-हजारों अव्यवस्था नहीं होने देता। एक अल्पज्ञ एवं असमर्थ सज्जन आदमी भी सुव्यवस्था चाहता है। फिर सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, सब जगह मौजूद ईश्वर ही सुव्यवस्था न चाहे यह बात गलत है। अतएव भावुकतापूर्ण हरि की व्याख्या "श्रद्धधानेषु शोभते" केवल श्रद्धालुओं को शोभा देती है, विवेकियों को नहीं। फिर उसका हम भजन भी कैसे कर सकते

हैं जिसका साक्षात्कार होना कभी संभव ही नहीं है। यदि कहा जाये कि विश्व के नियम ही दूसरे शब्दों में ईश्वर के नियम हैं, तो फिर विश्व के नियमों का पालन करना ही उसका भजन या उसकी सेवा होगी। इसके अलावा कुछ नहीं।

वस्तुतः हमसे बाहर जो यह प्राणियों का समूह है यही बाहर का हरि है। एक व्यक्ति व्यष्टि तथा सभी व्यक्तियों का समूह समष्टि कहलाता है। जन भाषा है 'पंचपरमेश्वर।' अतएव हर व्यक्ति के लिए उसकी अपनी आत्मा भीतर का हरि है और उससे बाहर प्राणिजगत बाहर का हरि है।

अब थोड़ा भजन पर विचार कर लें। विद्वानों ने भजन का मुख्य अर्थ सेवा माना है, दूसरा अर्थ स्मरण-चिन्तन। भजन के अर्थ स्वत्व तथा विभाजन भी किया गया है।[1] अतएव हमें भजन में क्या करना चाहिए? सेवा, स्मरण, स्वत्वबोध एवं विभाजन करना चाहिए। जो हरि बाहर है उसकी सेवा तथा जो भीतर है उसका चिन्तन, उसको ही अपना स्वत्व समझना तथा उसे जड़ प्रकृति से विभक्त कर लेना ही भजन है। हम प्राणिसमूह रूपी हरि की सेवा करें। हमारी शक्ति सीमित होने से हम सबकी सेवा तो नहीं कर सकते, परंतु सेवा का भाव रख सकते हैं और अपनी शक्ति के अनुसार सेवा कर सकते हैं। जो लोग कहते हैं कि ईश्वर की सेवा करनी चाहिए वे प्राणियों की सेवा से हटकर कौन-से ईश्वर की सेवा करेंगे। क्या पत्थर की पिंडी को नहलाना ! इसीलिए समझदार लोग प्राणि-सेवा को ही ईश्वर-सेवा एवं हरि-सेवा मानते हैं। प्राणियों के अलावा ईश्वर एवं हरि का कोई प्रत्यक्ष स्वरूप भी नहीं हो सकता।

दूसरा भजन भीतरी हरि का है जो मेरी अपनी आत्मा है। आत्मचिंतन ही भीतरी हरि का भजन है। यह सब समय बोध होना कि मेरा स्वत्व, मेरा अधिकार मेरी आत्मा पर ही है, मैं ही मेरा हूं ऐसा समझकर अपने चेतन-स्वरूप को समस्त जड़ वर्ग से अलग कर लेना सच्चा हरि-भजन है। आत्मचिन्तन रूपी हरि-भजन से ही गलत आदतें छूट सकती हैं। आत्मचिंतन

---

1. वामन शिवराम आप्टे ने संस्कृत-हिन्दी कोश में 'भज्' के अर्थ—हिस्से करना, वितरित करना, निर्दिष्ट करना, अनुभाजन करना, किसी के लिए प्राप्त करना, हिस्सा लेना, स्वीकार करना, आश्रय लेना, समर्पण करना, पहुंच रखना, अभ्यास करना, अनुगमन करना, पालन करना, उपभोग करना, अधिकृत करना, रखना, भोगना, अनुभव करना, मनोरंजन करना, सेवा करना, आराधना करना, सत्कार करना, पूजा करना, छांटना, चुनना, पसंद करना, स्वीकार करना, शारीरिक सुखोपभोग करना, अनुरक्त होना, भक्त बनना, अधिकार में करना, भाग्य में पड़ना आदि किये हैं, जो नाना ग्रन्थों में प्रयुक्त एवं प्रमाणित हैं।

का अन्तिम अर्थ तो अपने शुद्ध चेतन का स्मरण ही है, परंतु उसका एक अर्थ है अपने पूरे व्यक्तित्व का चिन्तन। अर्थात जीव और देह के संयुक्त जो यह व्यक्तित्व है इसके विषय में निरख-परख, जैसे मेरे में कितनी बुरी आदतें अवशेष हैं, कितनी छूट गयी हैं, बुरी आदतें बढ़ रही हैं कि घट रही हैं, इत्यादि। सद्गुरु ने इस शब्द की शुरुआत ही में कहा है "ना हरि भजसि न आदत छूटी" बुरी आदतें तभी छूट सकती हैं जब व्यक्ति आत्मचिंतन रूपी हरि-भजन करे। जिसे अपने आप के विषय में होश-हवास ही नहीं है, उसकी गलत आदतें कैसे छूट सकती हैं! सद्गुरु इसी पर आगे पूरा शब्द कहते हैं।

"शब्दहि समुझि सुधारत नाही, आँधर भये हियहु की फूटी।" मनुष्य निर्णय के शब्दों को पहली बात, सुनना ही नहीं चाहता, यदि सुन ले तो समझना नहीं चाहता और यदि समझ भी ले तो उस ढंग से अपने आप का सुधार करना नहीं चाहता। इसीलिए साहेब उस पर खीजकर कहते हैं कि वह मनुष्य मानो बाहर का अन्धा है और भीतर का भी। बाहर के दो चर्मचक्षु हैं, वे नष्ट हो गये हैं। क्योंकि वह आंखों से सब कुछ नश्वर देखते हुए भी संसार से सावधान नहीं होता। और उसके भीतर के विवेक-विचार नेत्र भी फूटे हैं क्योंकि वह यह नहीं समझता कि जो मिला है वह छूटेगा, जिसका संयोग हुआ उसका वियोग होगा, यह संसार का स्वभाव है।

आदमी ज्ञान की बातें जानता है। वह खूब ग्रंथों को पढ़ता है। उसे बहुत ग्रन्थ, दोहा, शब्द, श्लोक, दृष्टांत याद हैं। उसे अवसर दो तो वह लोगों के बीच में निचोड़कर सार-सिद्धांत कह देगा, परन्तु अपने जीवन में उन बातों के आचरण की जगह पर कोरा-का-कोरा रहता है। यदि उसे सुझाव दो कि तुम ज्ञान की बातें इतनी-इतनी जानते हो तो अपने आचरणों को क्यों नहीं सुधारते, तो वह इतना सुनकर क्रोध में लाल हो जायेगा। इसी बात को समझाने के लिए सद्गुरु इस शब्द में दो महत्त्वपूर्ण उदाहरण देते हैं। पत्थर का टुकड़ा बहुत दिनों से पानी में पड़ा है। उसे निकालकर ठोंको, तो उसमें से आग निकलेगी। बहुत दिनों तक पानी में रहने पर भी उसके आग का स्वभाव गया नहीं। दूसरा उदाहरण है कि अपने दरवाजे पर एक पत्थर रख लो। उस पर रोज एक हजार घड़ा पानी डाला करो और पानी डालकर जरा उसे उंगली से दबाकर देखो कि वह कुछ नरम हुआ है कि नहीं, तो देखोगे वह ज्यों-का-त्यों कठोर है। केवल कथक्कड़ी ज्ञानी की यही दशा रहती है। कितने भजनोपदेशक एवं प्रवक्ता को देखोगे कि उनका मुंह चूल्हा बना रहता है। वे उसमें पान, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट सब कुछ जा-बेजा खोसते रहेंगे। कितने

लोग स्त्री और बाल-बच्चों वाले हैं, परन्तु वे साधु का वेष बनाकर महीनों दूर तक घूमते रहते हैं, लोगों को उपदेश कर धनार्जन करते रहते हैं और वह सब घर में लाकर परिवार पोषते रहते हैं। कितने ज्ञानी नामधारियों में दूसरे-तीसरे प्रकार की हठधर्मिता रहती है। कहने का सार यह है कि वे जानेंगे बहुत, परन्तु रहेंगे कोरे-के-कोरे, और सुझाव देने पर रुष्ट होंगे।

"सेतहिं सेत सितंग भौ, सैन बाढु अधिकाई।" आदमी असावधानी में ही जीवन का समय बिता देता है। वह अपनी जवानी एवं स्वस्थ-अवस्था को विषय-भोग, राग-द्वेष एवं प्रपंच में नष्ट कर देता है। धीरे-धीरे उसके बाल पकने शुरू होते हैं। जब उसकी मूंछों में इक्के-दुक्के बाल पकते हैं तब उन्हें उखाड़कर फेंक देता है। जब कई पकने लगते हैं, तब कैंची से काट देता है और जब ज्यादा पकने लगते हैं तब खिजाब लगाकर काला बनाना चाहता है। परन्तु बाल बढ़ने पर नीचे से उजले ही निकलते हैं और वे साक्षी देते हैं कि हम पक गये हैं। इस प्रकार बाल श्वेत होते-होते उसके शरीर के अंग शिथिल हो जाते हैं। आंखों पर चश्मा लग जाता है, दांत उखड़ने लगते हैं। हाथ-मुंह में सर्वत्र झुर्रियां पड़ जाती हैं और मोटी-मोटी नसें निकल आती हैं। देखते-देखते वह कुछ दिनों में अति बूढ़ा हो जाता है, फिर तो "सैन बाढु अधिकाई" उसका आलस्य-नींद में पड़ा रहना ही अधिक होता है। ऐसी अवस्था में न तो उसके पास लोग बैठना चाहते हैं और न उससे बात करना चाहते हैं। वह जीवन भर के किये-धरे संस्कारों में ऊबता-डूबता रहता है।

"जो सन्निपात रोगियन मारै, सो साधुन सिद्धि पाई।" कफ, पित्त और वात जब तीनों नाड़ियां इकट्ठी होती हैं तब मनुष्य को सन्निपात ज्वर होता है। वह उस अवस्था में विक्षिप्त हो जाता है, उठकर भागना चाहता है, अन्यथा बातें करता है तथा बहुत पीड़ित होता है। मानसिक संताप इससे भी भयंकर है। काम, क्रोध तथा लोभ में से केवल एक जब प्रबल होता है तब उतने मात्र से आदमी पागल हो जाता है। देखते नहीं, काम के वश होकर आदमी मर्यादाविहीन होकर अपना पतन करता है और समाज में लज्जित होता है। इसी प्रकार क्रोध और लोभ में पड़कर न जाने कैसे-कैसे कर्म इंसान कर डालता है। उनका परिणाम भीतर मन से तथा बाहर समाज से, इतना ही नहीं, राजदंड से भी भुगतता है। यदि तीनों इकट्ठे हो जायें तो क्या पूछना ! जिसके जीवन में काम, क्रोध तथा लोभ ये तीनों प्रबल हैं वह यहां सन्निपात से पीड़ित है। संसार के लोग इस सन्निपात से अत्यन्त रोगी होकर मरते हैं। कम-बेश सारा संसार मानो इस सन्निपात से ग्रसित होकर बिलबिला रहा है।

सद्गुरु इस पंक्ति में एक बात बहुत मार्के की कहते हैं। वे कहते हैं कि जिस मानसिक सन्निपात से, जिस काम, क्रोध तथा लोभ के प्रभाव से संसारी

आदमी पतित होते हैं, उन्हें ही साधुजन दूसरे मार्ग में बदल देते हैं और उनके द्वारा मुक्ति प्राप्त करते हैं। शक्ति का दुरुपयोग पतनकारक है तथा सदुपयोग कल्याणकारक। विष को शोधकर उसकी औषध बन जाती है और वह प्राण बचाने वाला हो जाता है, परन्तु अन्न अमृत है, उसका दुरुपयोग करने से, अधिक खाने से वह जहर बन जाता है। हर वस्तु का सदुपयोग हितकर तथा दुरुपयोग अहितकर है।

साधु पुरुष काम को भक्ति के रूप में मोड़ देते हैं, क्रोध को वैराग्य की तरफ तथा लोभ को ज्ञान की तरफ। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने कहा है कि हर मनुष्य के मन में 'लिबिडो' होता है, जिसे हम अपनी भाषा में एषणा कह सकते हैं। काम एषणा है। काम एक रागात्मिका वृत्ति है। जब वह वृत्ति विषयों की तरफ लगती है तब इसे काम कहते हैं, परन्तु जब इष्ट एवं गुरु की तरफ लगती है तब यह भक्ति बन जाती है। मन का विषयों की तरफ आकर्षण ही तो काम है, परन्तु यदि इष्ट की तरफ एवं गुरु-संतों की सेवा-उपासना की तरफ मन का आकर्षण हो जाये तो यह भक्ति बन जायेगा। दमित वासना ही भक्ति, उपासना, सेवा, काव्य, कला आदि के रूप में फूटकर निकल आती है। अतएव साधक एवं साधु के जीवन में काम दमित होकर भक्ति बन जाता है।

क्रोध एक मनोविकार है जो किसी द्वारा हमारे प्रतिकूल घटना होने पर मन में उठता है। हमें क्रोध सदैव प्राणियों पर ही होता है और उसमें भी ज्यादातर मनुष्यों तथा स्वजनों पर। साधुजन अपनी क्रोधवृत्ति को प्राणियों पर से लौटाकर अपने दोषों पर करने लगते हैं। साधु किसी प्राणी पर क्रोध नहीं करता, किन्तु अपने दोषों, गलत आदतों एवं कमजोरियों पर करता है। इसलिए उसका क्रोध उसके कल्याण में सहायक बन जाता है। इसी प्रकार वह अपनी लोभवृत्ति को पदार्थों पर से हटाकर ज्ञान पर करता है। साधु भौतिक पदार्थों एवं धन का लोभी नहीं होता। वह ज्ञान का लोभी होता है। वह चाहता है मुझे ऐसा ज्ञान मिले जिससे मैं भवबन्धनों को तोड़कर मुक्त हो जाऊं। एक राजा ने एक संत से कहा था कि महाराज, आप महान त्यागी हैं। संत ने कहा था कि मैं तो महा लोभी हूं। महान त्यागी तो तुम हो। इस पर राजा ने स्पष्टीकरण मांगा। महात्मा ने कहा कि तुम ज्ञानधन जो महान है उसे छोड़कर तुच्छ धन सांसारिक पदार्थों में ही संतुष्ट हो, इसलिए तुम महान त्यागी हो, और मैं तो तुच्छ सांसारिक धन का त्यागकर महान धन ज्ञान का लोभी हूं। इसलिए मैं त्यागी नहीं, लोभी हूं। अतएव साधु अपनी लोभवृत्ति को सांसारिक धन एवं पदार्थों से हटाकर ज्ञान पर करता है। वह ज्ञान का

संचय कर कृतार्थ हो जाता है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं "जो सन्निपात रोगियन मारै, सो साधुन सिद्धि पाई।" जिन काम, क्रोध तथा लोभ के सन्निपात से संसार के लोग पतित होते हैं उन्हीं को साधु शोधकर उनका कल्याण-मार्ग में उपयोग करते हैं।

"अनहद कहत कहत जग बिनसै, अनहद सृष्टि समानी।" लोग ज्ञान की अनहद वाणी कहते हैं। अनहद का अर्थ है सीमातीत। लोग इतना ज्ञान जानते हैं कि यदि उनसे पूछो तो तुम सुनने में घबरा जाओगे, परन्तु वे कहने में नहीं घबरायेंगे। परन्तु यदि ज्ञान का बेहद व्याख्यान करते-करते भी संसार की मलिनता में ही डूबना है तो उस ज्ञान का क्या मतलब ! इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य बेहद ज्ञान कहते-कहते आचरण के बिना विनशता है। विचारकर देखें तो सृष्टि में तो अनंत ज्ञान समाया हुआ है। ज्ञान के असंख्य सूत्र सत्तात्मक संसार में मिलेंगे। आदमी को आंखें तथा विवेक होना चाहिए, उसके चारों ओर ज्ञान के सूत्र फैले हैं। यह प्रकृति, यह विश्वसत्ता ज्ञान की खुली किताब है। इसी से तो लेकर कागज की सारी किताबें बनी हैं। असली किताब तो यह जड़-चेतनात्मक संसार है। कागज की किताब तो उसकी एक प्रतिकृति एवं प्रतिबिम्ब है। यह ठीक है कि साधारण लोग विश्वसत्ता से उतना ज्ञान नहीं ग्रहण कर पाते, अपितु कागज की किताबों से ज्यादा ग्रहण कर सकते हैं। सार तो यहां यह है कि हम बेहद ज्ञान जानते और कहते हैं, परन्तु सांसारिकता में ही पतित होते रहते हैं तो ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है। साहेब कहते हैं कि तुम अपने किताबीज्ञान का क्या गर्व करते हो ! अनंत ज्ञान तो सृष्टि में समाया है। उसकी केवल थोड़ी छाया किताबीज्ञान लेकर तुम अहंकार करते हो। ज्ञान का अर्थ है उसका आचरण होना।

"निकट पयाना यमपुर धावै, बोलै एकै बानी।" शास्त्रज्ञान का बोझा ढोते-ढोते संसार से पयान करने का समय निकट आता जाता है। हम रोज मौत के पास सरकते जाते हैं, लेकिन हमारी संसार की गरमी नहीं जाती। हम एक ही वाणी बोलते हैं—"हम बड़े विद्वान हैं, धनवान हैं, बलवान हैं, सबसे बड़े पूज्य हैं, हमारे पास इतने-इतने प्राणी-पदार्थ या विद्या है।" हमारा अहंकार नहीं जाता, और एक दिन अचानक काल आकर सब कुछ को समाप्त कर देता है। "बोलै एकै बानी" का मतलब है अहंकार की वाणी बोलना।

"सद्गुरु मिलैं बहुत सुख लहिये, सद्गुरु शब्द सुधारें।" सच्चे सद्गुरु का मिलना जीवन की बहुत बड़ी सुखद घटना है। हम धर्मशास्त्रों के नाम पर बहुत वाणियों को पढ़ते-सुनते हैं, परन्तु स्वयं परख न होने से उनमें दिग्भ्रमित

बने भटकते रहते हैं। यह पारखी सद्गुरु की महिमा है कि वे जब मिल जाते हैं तब परख की ऐसी कसौटी देते हैं जिससे हम सारासार का निर्णय कर सकें।

"सद्गुरु शब्द सुधारें" सद्गुरु शब्दों का सुधार करते हैं। वे रोचक, भयानक तथा यथार्थ की मिलित वाणियों में से यथार्थ को निकालकर सत्य वस्तु दर्शा देते हैं और यह भी बता देते हैं कि यह-यह बातें धर्म, अध्यात्म एवं भगवान के नाम पर चलाया गया जाल है। पारखी सद्गुरु बताते हैं कि सारी वाणियां जड़-चेतनात्मक विश्वसत्ता की व्याख्या करती हैं। इसमें यह ध्यान रहे कि किसी वाणी के वैसा कहने से विश्वसत्ता वैसी नहीं होती, किन्तु विश्वसत्ता जैसी है वैसा कहने वाली वाणी ही सही मानी जा सकती है। अर्थात किसी शास्त्र की वाणी स्वतः प्रमाण नहीं होती, किन्तु यदि जिस तरह विश्वसत्ता के नियम हैं वैसा ही वर्णन वाणी करती है तो वह प्रमाण है। शास्त्र प्रमाण नहीं है, विश्वसत्ता प्रमाण है। विश्वसत्ता को पढ़ो कि उसके नियम क्या हैं, संसार के कारण-कार्य की व्यवस्था कैसी है! फिर उससे शास्त्रों की वाणियों को कसो। जो संसार के नियमों के अनुसार हों, उन्हीं वाणियों को मानो, शेष छोड़ो। इस प्रकार पारखी सद्गुरु यथार्थ ज्ञान देकर जीव को निर्भ्रांत कर देते हैं। फिर जीव अनंत सुख का भागी होता है। "सद्गुरु मिलैं बहुत सुख लहिये" वह व्यक्ति धन्य है जिसको सच्चे सद्गुरु मिल गये। सच्चा सद्गुरु का पाना ही मानो अनंत सुख का द्वार पा जाना है। बस, हमें उनके ज्ञान का उपयोग करना चाहिए।

"कहहिं कबीर ते सदा सुखी हैं, जो यह पदहिं बिचारै।" सद्गुरु कहते हैं कि वह अनंत सुख पायेगा एवं अनंत काल के लिए सुखी हो जायेगा जो इस पद का विचार करेगा और इन विचारों को जीवन में उतार लेगा।

मनोविकारों की दावग्नि बुझाओ

शब्द-58

नर हरि लागि दौं बिकार बिनु इन्धन, मिले न बुझावनहारा॥ 1॥
मैं जानों तोही से ब्यापै, जरत सकल संसारा॥ 2॥
पानी माहिं अगिन को अंकुर, जरत बुझावै पानी॥ 3॥
एक न जरे जरैं नौ नारी, युक्ति न काहू जानी॥ 4॥
शहर जरे पहरू सुख सोवै, कहै कुशल घर मेरा॥ 5॥
पुरिया जरै वस्तु निज उबरै, बिकल राम रंग तेरा॥ 6॥
कुबजा पुरुष गले एक लागा, पूजि न मन की सरधा॥ 7॥

करत विचार जन्म गौ खीसे, ई तन रहत असाधा॥ 8॥
जानि बूझि जो कपट करतु है, तेहि अस मन्द न कोई॥ 9॥
कहहिं कबीर तेहि मूढ़ को, भला कौन बिधि होई॥10॥

शब्दार्थ—हरि=ज्ञान, निजस्वरूप। दौं=दौ, दव, वनाग्नि, आग, संताप। बुझावनहारा=सद्गुरु। अंकुर= अंश। एक=वासना। नौ नारी=नौ[1] नाड़ियों से ग्रथित शरीर। शहर=हृदय। पहरू=साधक। पुरिया=पुड़िया, गठरी, वासना की ग्रन्थि। वस्तु निज=जीव का निजस्वरूप चेतन। विकल=अशांत। राम=जीव। रंग=भाव। कुबजा=कुबड़ा, नपुंसक। सरधा=श्रद्धा, वासना। खीसे=क्षीण। असाधा=असंयत, साधना-रहित।

भावार्थ—हे मनुष्य ! आत्मज्ञान में लग। तेरे भीतर तो मनोविकारों की दावाग्नि लगी हुई है, जिसमें कोई बाहरी इंधन नहीं है। इस दावाग्नि को बुझाने वाले सद्गुरु तुम्हें नहीं मिले॥ 1॥ हे मनुष्य ! मैं अच्छी तरह जानता हूं कि यह आग तुम्हारी ही भूल से लगी है। सारा संसार अपनी-अपनी आग में जल रहा है॥ 2॥ गरम पानी में अग्नि का अंश रहता है, परन्तु वह पानी जलती हुई आग को बुझा देता है। इसी प्रकार तुम भले ही कामादि तापों में पीड़ित हो, परन्तु तुम्हीं गुरु द्वारा यथार्थ दृष्टि पाकर इस ताप को बुझा सकते हो, क्योंकि तुम्हारा मौलिक स्वरूप शीतल है॥ 3॥ लोगों के मन की वासना नहीं जलती, केवल नौ नाड़ियों से ग्रथित काया जलती है तो इससे क्या कल्याण होगा। कोई यह युक्ति नहीं जानता कि काया जलने के पहले वासनों जला देनी चाहिए॥ 4॥ जैसे किसी शहर में आग लगी हो और पहरेदार सुख से सो रहे हों। जब पहरेदारों को कोई चेतावनी दे, तो वे कहें कि हमारा शहर तो सकुशल है। यही दशा असावधान साधक की है। उसका हृदय कामादि तापों में जल रहा है, किन्तु वह कहता है कि मेरे घर का कुशल है, भजन हो रहा है॥ 5॥ यदि गठरी जल जाये तो उसमें रही हुई अपनी वस्तु बच जाये अर्थात यदि वासना जल जाये तो निजात्म तत्त्व का उद्धार हो जाये। हे राम ! तेरी भावनों अशांत हैं। अर्थात मनुष्य वासनाओं के कारण उद्विग्न है॥ 6॥ किसी युवती को नपुंसक पुरुष मिल गया हो तो उसके मन की साध जैसे पूरी नहीं होती, वैसे कल्पित देवी-देवताओं की उपासना से साधक को अखंड तृप्ति नहीं मिल सकती॥ 7॥ अतएव साधक साधना एवं परमशांति के विचार ही करता रह गया और उसकी जिंदगी घिस गयी, वह बूढ़ा हो गया, अन्ततः यह जीवन साधनाहीन असंयत ही रह गया॥ 8॥ जो लोग ज्ञान प्राप्त

---

1. पीछे 28वें शब्द के शब्दार्थ में देखें।

करने के बाद भी विषयों में डूबे रहते हैं वे जान-बूझकर अपने आप के साथ छलावा करते हैं। ऐसे लोगों के समान कोई अन्य मूर्ख न होगा॥ 9॥ सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे मूढ़ का कल्याण किस प्रकार हो सकता है !॥ 10॥

व्याख्या—सद्गुरु इस शब्द में मनुष्यों को पहला आदेश देते हैं 'हे नर ! तू हरि में लग !' हरि है ज्ञान, हरि है निजस्वरूप। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आप को पहचाने और यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य ! देख, तेरे भीतर बिना इंधन के दावाग्नि लगी है। दव कहते हैं जंगल को और उसमें लगी हुई आग को दावाग्नि कहते हैं। वैसे 'दव' मात्र से भी दावाग्नि का अर्थ प्रकट हो जाता है। जंगल में आग लगती है तो उसमें लकड़ी, पत्ते, कोयला आदि इंधन रहते हैं। अन्य प्रकार से भी आग लगने पर तेल, पेट्रोल आदि इंधन होते ही हैं। परन्तु जो दावाग्नि मनुष्य के भीतर लगी है, उसमें अन्य कोई इंधन नहीं है। उसमें तो केवल मनोविकार हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, द्वेष, आशा, तृष्णा, चिंता, शोक, विकलता आदि की आग है। दावाग्नि जब लगती है, तब उसमें रहने वाले जीव उसी में घिरकर जल मरते हैं। कदाचित कोई जानवर उससे भागकर निकल भी सकता है, परन्तु मन के भीतर लगी हुई दावाग्नि से बचने के लिए भागकर काम नहीं बनता। मनुष्य चाहे जहां भागकर जाये वहीं उसके भीतर वह दावाग्नि जलती रहती है, क्योंकि वह तो मनोविकारों की आग है। मन तो सदैव मनुष्य के साथ ही रहता है। जब तक मन शुद्ध न किया जायेगा तब तक मानसिक दावाग्नि से बचने का कोई साधन नहीं है।

स्थान-परिवर्तन से मन में एकाएक थोड़ा परिवर्तन लगता है, परन्तु यह क्षणिक होता है। जब तक चित्त शुद्ध न कर लिया जाये, तब तक आदमी चाहे कहीं भी चला जाये, वह वहीं जलता रहेगा। तीर्थों में जाये, मंदिरों में निवास करे, जंगलों-पर्वतों में रहने लगे, परन्तु कोई स्थायी अन्तर नहीं आयेगा। वह देवी-देवता पूजे, ईश्वर-ईश्वर पुकारे या कुछ भी करे, चित्त शुद्ध किये बिना उसकी मानसिक दावाग्नि ठंडी नहीं होगी। आप देखते नहीं हैं कि सारे अपराध तीर्थों एवं मंदिरों में होते हैं। कितने देवता और ईश्वर वाले तथा धार्मिक वेषधारी भी राग-द्वेष की आग में जलते हैं। अतएव स्थान-परिवर्तन और बाह्याचार ज्यादा काम नहीं करेगा। इस मन की दावाग्नि को तो चित्तशुद्धि से ही बुझाया जा सकता है।

"मिले न बुझावनहारा" कबीर साहेब कहते हैं कि इस आग को बुझाने वाले सद्गुरु हैं। वे तुम्हें नहीं मिले। इसलिए तुम आज पर्यंत इस दावाग्नि में जल रहे हो। वस्तुतः सद्गुरु अपने उत्तम आदर्शों एवं वचनों से साधकों को

प्रेरित करते हैं और साधक उनसे प्रेरणा लेकर अपने मन को शुद्ध करने के लिए साधना करता है। इस प्रकार साधक का मन शीतल होता है।

"मैं जानों तोही से ब्यापै, जरत सकल संसारा।" सद्गुरु कहते हैं कि मैं यह भली-भांति जानता हूं कि यह आग तुम्हीं से फैली है। 'घर में लगा दी आग घर के चिरागों ने।' क्या तुम्हारे मन की आग किसी दूसरे ने लगायी है! ऐसा कदापि न समझना। कोई भगवान या कोई शैतान तुम्हारे मन में आग नहीं पैदा कर सकता। तुम्हारी अच्छी और बुरी वृत्तियों के अलावा कोई भगवान और शैतान है भी नहीं। तुम स्वयं अपने मन को खराब करते हो और रात-दिन जलते हो। तुम्हारे मन के खराब होने में बाहरी प्राणी-पदार्थ साधन अवश्य बनते हैं, परन्तु यदि तुम न चाहो तो दूसरा कोई साधन नहीं बन सकता।

संसार कब प्राणी-पदार्थों से शून्य होगा! संसार में सब समय सब कुछ रहेगा। तुम्हें स्वयं जगना पड़ेगा। तुम्हारी अपनी गलती से, अपनी दुर्बुद्धि से, अपने मन के पाप से तुम्हारे भीतर दावाग्नि लगी है। यही बात दूसरों के लिए भी है। "जरत सकल संसारा" सारा संसार अपनी बनायी हुई आग में जल रहा है। सद्गुरु ने 332वीं साखी में भी कहा है—"ई जग जरते देखिया, अपनी अपनी आग।" अपनी बुराइयों के लिए हर मनुष्य स्वयं जिम्मेदार है। "अपनी कमाई आप को, न माई न बाप को।"

"पानी माहिं अगिन को अंकुर, जरत बुझावै पानी।" साहेब कहते हैं, परन्तु घबराना नहीं। यह मत समझना कि तुमसे आग लगी है तो तुम आग रूप ही हो। यह भ्रम मत कर बैठना कि मानसिक विकार तुम्हारा स्वरूप है। इसके लिए सद्गुरु उक्त पंक्ति में गरम पानी का बड़ा सटीक उदाहरण देते हैं। देखो, गरम पानी में अग्नि का अंश होता है, परन्तु ऐसा गरम पानी भी यदि जलती हुई आग पर पड़ जाये तो उसे बुझा देता है। इसलिए पानी गरम नहीं था। पानी में जो आग का अंश था, वही गरम था। पानी का स्वभाव ही शीतल है। वह कभी गरम नहीं हो सकता। इसी प्रकार जीव का स्वभाव ही शीतल है, वह कभी विकारस्वरूप नहीं हो सकता। उसमें तो विकार प्रक्षिप्त है, बाहर से पड़ा हुआ है। तुमने तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, शराब की आदत बना ली, अब तुम उन आदतों में जल रहे हो, तो क्या ये सब आदतें तुम्हारी आत्मा का स्वभाव है! यह सब तो तुमने बना रखा है। काम, क्रोध, राग-द्वेषादि सारे मनोविकार तुम बना लेते हो और जिस क्षण जो विकार तुम्हारे मन में रहता है उस क्षण तुम्हें यह भ्रम होता है कि तुम वही हो। काम आने पर तुम्हें भ्रम होता है कि तुम कामरूप हो, क्रोध आने पर क्रोधरूप, लोभादि

आने पर लोभादिरूप। श्री निर्मल साहेब के वचनों में कहें तो "जा क्षण में वृत्ति जौन, ता क्षण में रूप तौन" प्रतीत होता है। परन्तु मनोविकार तुम्हारा स्वरूप नहीं है। अपना स्वरूप अपने आप के लिए विरोधी नहीं होता। आग के लिए आग विरोधी नहीं होती, न पानी के लिए पानी विरोधी होता है। यदि कामादि विकार तुम्हारे स्वरूप होते तो वे तुम्हारे लिए दावाग्नि न बनते। वे तुम्हारे लिए दुखदायी हैं, इसलिए वे तुम्हारे स्वरूप नहीं। तुम काम-क्रोधादि में क्षण मात्र के लिए पड़ते हो तो तुम्हारा नरक हो जाता है, तुम उद्विग्न हो जाते हो। तुम उन्हीं में जीवन भर नहीं रह सकते, परन्तु निष्काम-निष्क्रोध दशा में जीवनभर सुख से रह सकते हो। अतएव तुम्हारा स्वरूप निर्विकार है। हर वस्तु अपने स्वरूप में ही ठीक रह सकती है। तुम यह मत समझो कि तुम विकारग्रस्त हो तो विकारों को नष्ट नहीं कर सकते हो। देखो, गरम पानी आग को बुझा देता है, वैसे तुम विकारग्रस्त होने पर भी वास्तविकता को समझकर विकारों को नष्ट कर सकते हो। वास्तविकता यह है कि तुम स्वरूपतः निर्विकार हो, अतः बाहर से आये हुए इन विकारों को नष्ट कर सकते हो। यह तुम्हारे द्वारा लगायी हुई दावाग्नि तुम्हारे द्वारा ही नष्ट हो सकती है। तुम्हारे मन की दावाग्नि न दूसरे ने लगायी है और न दूसरा नष्ट कर सकता है। इस दावाग्नि के लगाने वाले तुम हो और इसे बुझाने वाले भी तुम हो। संत-गुरु तो केवल बाहर से सहारा दे सकते हैं।

"एक न जरे जरैं नौ नारी, युक्ति न काहू जानी।" एक है वासना, यह नहीं जलती, जलती है नौ नारी। नौ नारी का अर्थ है नौ नाड़ियां—पुहुखा, पयस्विनी, गंधारी, हस्तिनी, कुहू, शंखिनी, अलंबुषा, गणेशिनी तथा वारुणी। नौ नारी का लाक्षणिक अर्थ हुआ नौ नाड़ियों से ग्रथित शरीर। सद्गुरु कहते हैं कि नौ नाड़ियों से ग्रथित शरीर तो एक दिन जल जाता है, परन्तु एक वासना नहीं जलती। "मन मरै न माया मरे, मरि मरि जात शरीर। आशा तृष्णा न मरै, यों कथि कहहिं कबीर।" वासना न जलने से पुनः शरीर की प्राप्ति होती है। "युक्ति न काहू जानी" लोग यह तरीका नहीं जानते कि शरीर जलने के पहले ही वासना जल जानी चाहिए। सुखद जीवन वही है जिसमें देह रहते-रहते वासना का त्याग हो जाये। वासनाहीन जीवन आनन्द का सागर है, शांति का अनन्त स्वरूप है। जिसकी वासनों क्षीण हो चुकी हैं, उसके लिए शरीर रहना और न रहना दोनों बराबर है।

"शहर जरे पहरू सुख सोवै, कहै कुशल घर मेरा।" किसी शहर में आग लगी हो और शहर के पहरेदार सुख से सो रहे हों, किसी के जगाने पर भी वे कहते हों कि नहीं, सब ठीक है, हमारा शहर सकुशल है, तो इससे अधिक

प्रमाद क्या हो सकता है ! असावधान साधकों की यही दशा है। उनका हृदय मानसिक विकारों की दावाग्नि से जल रहा है, परन्तु वे समझते हैं कि हमारा कुशल-मंगल है। वे औपचारिक पूजा-पाठ आदि को साधना की इतिश्री मान लेते हैं। कितने साधकों के मोटे दोष छूट जाते हैं, वे थोड़ा भजन-पूजन से चलने लगते हैं और इतने में वे संतुष्ट होकर बैठ जाते हैं। उन्हें सूक्ष्म विवेक नहीं है कि हृदय-शहर में अभी दावाग्नि लगी है। अभी भी वे मन की मलिनता से मुक्त नहीं हुए हैं। उन्होंने अपनी थोड़ी उन्नति को ही बड़ी उन्नति मान ली है। वे रास्ते पर दस कदम चलकर ही वहीं मंजिल मानकर बैठ गये हैं। आगे बढ़ना ही नहीं चाहते।

"पुरिया जरै वस्तु निज उबरै, बिकल राम रंग तेरा।" एक गठरी है। उसमें वस्तु रखी है। कहने वाला कहता है कि यदि गठरी जल जाये तो उसमें रखी अपनी वस्तु बच जायेगी, और यदि गठरी न जली तो उसमें रखी वस्तु नहीं बचेगी। सुनने वाले को यह आश्चर्य लगेगा। गठरी जलने पर तो उसमें रखी वस्तुें भी जल जाती हैं। गठरी जलने पर उसमें रखी वस्तुओं के सुरक्षित रहने की कोई संभावना ही नहीं है। परन्तु साहेब कहते हैं कि नहीं, मेरी बात सच है। यदि गठरी नहीं जली तो उसमें रखी वस्तु सुरक्षित मत समझिए। यदि गठरी जल जाये तो वस्तु बच जायेगी। यह पुरिया, यह गठरी है वासना। इसके जल जाने से अपनी वस्तु बच जायेगी। अपनी वस्तु है अपनी चेतना, अपनी आत्मा। जीव का उद्धार तभी होगा जब वासना की गठरी, अहंता-ममता की गठरी जल जायेगी। सद्गुरु ने 322वीं साखी में कहा है "अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा।" परन्तु हम तो ऐसे मूढ़ हैं कि अहंता-ममता की गठरी मजबूत कर रखे हैं। इसको जलने से बचाने में लगे हैं। हमें सांसारिक वासनाओं में, अहंता-ममताओं में मोह हो गया है। हम उनकी गठरी बांधे रखना चाहते हैं। इसीलिए अपनी वस्तु को खोये हैं, अपनी स्वरूपस्थिति से वंचित हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम आत्मस्थिति चाहते हो तो वासना, अहंता-ममता की गठरी में आग लगा दो।

"बिकल राम रंग तेरा" राम यह रमैया राम जीव है। सद्गुरु कहते हैं कि जीव ! तेरा रंग विकल है। तेरा मनोभाव अशांत है। तेरा हृदय उद्विग्न है, तेरे मन में सदैव संताप की भट्ठी जल रही है। क्योंकि तू संसार की वासनाओं में, राग-द्वेष में उलझा है। छोड़ इस दुनिया के झमेले को। क्या रखा है संसार के कूड़े-कचड़े में। जिस माया से तेरे को केवल संताप मिलता है, उसमें तू क्यों पड़ा सड़ रहा है !

"कुबजा पुरुष गले एक लागा, पूजि न मन की सरधा।" नपुंसक पुरुष

के आलिंगन से युवती के मन की साध पूरी नहीं हो सकती, वैसे कल्पित देवी-देवताओं तथा मन की अवधारणाओं से साधक को चिर शांति एवं संतोष नहीं मिल सकता। करते रहो तीर्थ-व्रत, पूजते रहो पानी-पाषाण, भटकते रहो मंदिर-मसजिद एवं काबा-कैलाश, मानसिक मनोरंजन के अलावा वहां कुछ नहीं मिलेगा। हमारा मन जहां तक निजस्वरूप से अलग भटकेगा वहां तक परम शांति नहीं मिल सकती। परम शांति का आश्रय तो निजात्मदेव में विश्राम ही है।

"करत विचार जन्म गौ खीसे, ई तन रहत असाधा।" आदमी जीवन भर परम शांति का केवल विचार करता रहा, वह उस पथ पर चल नहीं पाया। प्राणिमात्र की अंतरात्मा अनन्त सुख चाहती है। मानव तो अधिक प्रबुद्ध है ही। वह जीवनभर यही सोचता है कि हमें ऐसा सुख मिले जो हमारी सारी इच्छाओं को तृप्त कर दे और वह सुख कभी घटे नहीं। धार्मिक पुस्तकों में अनन्त सुख, अक्षय सुख, परमानन्द, ब्राह्मी स्थिति, स्वरूपस्थिति, निर्वाणपद आदि अनेक उच्चतम भाव के शब्द सुनकर मनुष्य कुछ भजन-भक्ति तथा धर्म-कर्म में तो लग जाता है, परन्तु वह यथार्थ सद्गुरु के अभाव तथा अपने विवेक और त्याग की कमी के कारण जीवनभर कर्मकांड एवं बाह्याचार में ही लगा रहता है, और उसने जो परमानन्द एवं परम सुख के उच्च शब्द सुन रखे थे तथा जो उसकी अंतरात्मा निरन्तर चाहती है वह केवल मानसिक विचारों में रह जाता है। जीवन में उसका उसे अनुभव नहीं होता और उसका जीवन क्षीण हो जाता है। अविद्वान से विद्वान, निर्धन से धनवान, चपरासी से राष्ट्रपति जीवनभर अनन्त सुख के केवल सपने देखते हैं। इन्हीं सपनों में निर्बल होते-होते वे जीर्ण हो जाते हैं, परन्तु अनन्त सुख नहीं मिलता। अन्ततः उनका जीवन असंयत, अ-साध एवं निष्फल ही रह जाता है।

"जानि बूझि जो कपट करतु है, तेहि अस मन्द न कोई। कहहिं कबीर तेहि मूढ़ को, भला कौन बिधि होई।" साहेब कहते हैं कि जो अजान है उसकी बात छोड़िये, जो समझता ही नहीं उसको क्या दोष दिया जाये। तरस तो उस पर आती है जो शास्त्रों एवं सद्ग्रन्थों को खूब पढ़ा-लिखा है, अध्यात्म विषय को अच्छी तरह समझता है, परन्तु फिर भी अपने आप को धोखा देता है। जानना कुछ तथा करना कुछ दूसरा, यह अपने आप के साथ कपट करना है। आदमी अपने आप को निरन्तर छलता है। वह जानता कुछ है, मानता कुछ है तथा करता कुछ है। ऐसे जीवन में शांति आने का क्या प्रसंग है। सद्गुरु ऐसे आदमी के लिए यहां मन्द और मूढ़ दो शब्दों का प्रयोग

करते हैं। जो व्यक्ति सोया है उसे पुकारने पर वह जग जायेगा, परन्तु जो जागते हुए सोने की नकल कर बैठा है, वह हजार हांक पर भी नहीं बोल सकता। अज्ञानी चेत सकता है, पतित ज्ञानी के चेतने का कोई उपाय नहीं।

इस पूरे शब्द में सद्गुरु ने विविध युक्तियों से मानसिक विकारों, वासनाओं एवं अहंता-ममताओं को मिटाने पर जोर दिया है। उन्होंने मन के विकारों को दावाग्नि बताकर उसे बुझाने के लिए साधकों को प्रोत्साहित किया है।

माया ठगिनी का पर्दाफ़ाश

शब्द-59

माया महा ठगिनी हम जानी॥ 1॥
त्रिगुणी फाँस लिये कर डोले, बोले मधुरी बानी॥ 2॥
केशव के कमला ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानी॥ 3॥
पण्डा के मूरति ह्वै बैठी, तीरथ हूँ में पानी॥ 4॥
योगी के योगिनी ह्वै बैठी, राजा के घर रानी॥ 5॥
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहू के कौड़ी कानी॥ 6॥
भक्ता के भक्तिनि ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी॥ 7॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, ई सब अकथ कहानी॥ 8॥

शब्दार्थ—त्रिगुणी फांस=सत, रज, तम-युक्त बन्धन। केशव=विष्णु। कमला=लक्ष्मी। भवानी=पार्वती।

भावार्थ—हमने यह अच्छी तरह जान लिया है कि माया महा धोखेबाज है॥ 1॥ यह अपने हाथों में त्रिगुणात्मक बन्धनों की फांसी लेकर घूमती है और मीठी-मीठी बातें करके लोगों को बांध लेती है॥ 2॥ यह माया विष्णु के घर में लक्ष्मी बनकर और शिव के घर में भवानी बनकर बैठ गयी॥ 3॥ पंडे-पुजारियों के यहां मूर्ति बनकर बैठ गयी और तीर्थों में पानी बनकर लोगों को छलने लगी॥ 4॥ यह त्यागी साधु-संन्यासियों के घर में साधुनी एवं संन्यासिनी बनकर और राजा के घर में रानी बनकर बैठ गयी॥ 5॥ यह माया किसी के घर में अधिक संपत्ति बनकर और किसी के घर में थोड़ी संपत्ति बनकर बैठ गयी॥ 6॥ यह भक्तों के घर में भक्तिनि तथा ब्रह्मा के घर में सरस्वती बनकर बैठ गयी॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो ! सुनो, इस माया की कथा गिनकर बताने भर की नहीं है॥ 8॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर का यह जगत-प्रसिद्ध शब्द है जिसे लोग खूब झूम-झूमकर गाते हैं। साहेब अपनी वाणियों में सर्वत्र माया को ठगिनी तथा

धोखेबाज कहते हैं। "मन माया की कोठरी" तथा "मन माया तो एक है"[1] कहकर आपने मन में टिके हुए मोह को ही मुख्य माया कहा है। परन्तु जो कुछ मोह का आलंबन बन जाये, अर्थात जिन-जिन प्राणी-पदार्थों के द्वारा मोह एवं भ्रम पैदा हो वह सब भी माया है। साहेब कहते हैं कि माया अपने हाथों में त्रिगुणी फांस लेकर घूमती है। यह त्रिगुणी फांस क्या है? साहेब ने अपनी वाणियों में त्रिगुणबन्धन की कई जगह चर्चा की है। पीछे 32वें शब्द में भी आपने कहा है—"पाखण्ड रूप रचो इन्ह तिरगुण।" गीताकार ने भी कहा है—"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"[2] अर्थात हे अर्जुन, सभी वेद त्रिगुण का ही उपदेश करते हैं, इसलिए तुम त्रिगुण से परे हो जाओ। वस्तुतः भौतिक जगत और मानसिक जगत त्रिगुणात्मक है, जो भाव इन्हीं दोनों में जीव को फंसाये रखे वह त्रिगुणात्मक माया है। इन दोनों से ऊपर उठने पर ही जीव अपने चेतनस्वरूप में स्थित होता है। सत, रज और तम के कार्य हैं—सुख, इच्छा तथा मूढ़ता। आध्यात्मिक सुख स्वच्छ, निष्कंटक, अनन्त एवं निर्दोष है। उसमें इच्छा तथा मूढ़ता पैदा नहीं होती। परन्तु भौतिक-क्षेत्र के सुख में सावधान न रहने पर इच्छा तथा मूढ़ता पैदा होती हैं। जिस सुख में इच्छा बन जाये और उसके बाद विजाति भास-अध्यास में जड़ता हो जाये वह त्रिगुणी फांस है। जहां तक जीव अपनी चेतना से बाहर आकर्षित होता है वह त्रिगुणी फांस है। जिसमें आदमी धोखा खा जाये वही माया है। हम शरीर और प्राणी-पदार्थों को अपना माने रहते हैं, परन्तु ये एक दिन छूट जाते हैं। अतएव इन्हें अपना मानना एक धोखा है और यही माया है। यह माया मानो मीठी वाणी बोलकर लोगों को रिझाती है और रीझ जाने पर फंसाती है। वस्तुतः मीठी वाणी बोलकर फंसाने वाले नर-नारी हैं। क्योंकि मनुष्य के पास ही वर्णात्मक वाणी है। जो नर या नारी मधुर वाणी बोलकर किसी व्यक्ति को मोह में उलझा दें वे मानो माया बन गये।

साहेब इस शब्द में विष्णु, महादेव तथा ब्रह्मा को इसलिए माया में ग्रस्त बताते हैं कि उनके घर में लक्ष्मी, भवानी तथा ब्रह्मानी बैठी हैं। विद्वानों को सोचना चाहिए कि यदि कबीर स्वयं लोई या किसी स्त्री के संयुक्त होते तो वे विष्णु आदि पर कैसे उंगली उठा सकते थे! कबीर-जैसे खरे विरक्त संत को पत्नी-बच्चे वाला कहना विद्वानों का भ्रम है। साहेब कहते हैं कि यह माया राजा के घर में रानी बनकर बैठ गयी, भक्तों के घर में भक्तिनि बनकर और

---

1. साखी 104-105।
2. गीता 2/45।

साधु-संन्यासियों के आश्रमों में साधुनी तथा संन्यासिनी बनकर बैठ गयी। इस क्रम में साहेब ने स्त्रियों को माया कहा है। प्रायः साधक स्त्रियों की संगत में फिसलकर अपनी साधना से पतित हो जाते हैं। जितने साधक गिरते हैं स्त्रियों की संगत से ही। चूंकि कबीर पुरुष थे और विरक्त थे इसलिए उन्होंने स्त्रियों को माया कहा। यही कथन कल्याणार्थी स्त्रियों एवं साधिका-साधुनियों को पुरुषों पर लगा लेना चाहिए। उनके लिए पुरुष ही माया बन सकते हैं। वैसे माया अपने मन का मोह है, परन्तु स्त्री-पुरुष का परस्पर अभेद बरताव होने से यह माया-मोह उत्पन्न हो जाता है। इसलिए साधक-साधिकाओं को सावधान रहना चाहिए और संगदोष का त्याग करना चाहिए। इस प्रकार साहेब ने कहा कि प्राणियों के रूप में रहकर माया हमें दिग्भ्रमित करती है।

दूसरी है पदार्थों के रूप में माया। 'काहू के हीरा' और 'काहू के कौड़ी कानी' इसका मतलब है किसी के पास बहुत संपत्ति है और किसी के पास थोड़ी संपत्ति है, परन्तु जिसके पास जितनी है वह उसी में आसक्त है। वैसे संसार की संपत्ति काम की चीज है। उसी से जीवन-निर्वाह होता है, परन्तु यदि वह मोह का कारण बने, आसक्ति का हेतु बने तो वह माया हो जाती है। जिन पदार्थों के संयोग से हमारे मन में लोभ-मोह पैदा हों, काम, क्रोध, वैर, व्यसन, अहंकार तथा नाना प्रकार मन की मलिनतों उत्पन्न हों वे सब मानो माया बन गये।

साहेब कहते हैं कि 'पण्डा के मूरति तथा तीरथ में पानी' भी माया बन गये। पत्थर आदि निर्जीव मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा होती है, उन्हें सुलाया, जगाया, खिलाया, पिलाया जाता है, उसके सामने घुटने टेककर भोग-मोक्ष मांगा जाता है। जो अपने ऊपर बैठी हुई मक्खी को उड़ा नहीं सकती, वह निर्जीव मूर्ति चेतन मनुष्य का तारक बन गयी। मनुष्य उसे गढ़कर खड़ा करता है और स्वयं उसके सामने गिड़गिड़ाकर अपनी कल्याण-कामना करता है। यह माया नहीं तो क्या है। मूर्ति या चित्र केवल स्मारक हैं। वे जिन पुरुषों की प्रतिकृति हैं, उनकी याद दिलाते हैं। बस, इतना ही उनका उपयोग है, परन्तु यदि उनसे भोग-मोक्ष पाने का भ्रम हो गया तो यह माया नहीं तो क्या है। माया धोखा देती है, यह ठगिनी है, तो साफ है कि इसमें हम ठगाते हैं। यही बात तीर्थ में पानी की है। गंगा, यमुना, सरयू, नर्मदा कोई भी नदी हो, उसमें नहाने से शरीर साफ हो सकता है। भावना शुद्ध होने से मानसिक प्रसन्नता भी हो सकती है, परन्तु यह मानना कि इन नदियों के नाम लेने से, इनके इतने योजन के मध्य बसने से, इनके दर्शन करने से तथा इनमें डुबकी लगाने से

सारे पाप कट जायेंगे और मोक्ष हो जायेगा, यह अपने आप को तथा जनता को धोखा देना नहीं तो क्या है, और ऐसी स्थिति में यह तीर्थ का पानी माया बन गया। पारदर्शी दृष्टि वाले कबीर की नजरों में माया छिप नहीं सकती। कबीर कोई ऐसे-वैसे ज्ञानी नहीं हैं। कबीर संसार में अद्वितीय ज्ञानी हैं।

कबीर साहेब इस शब्द के अन्त में कहते हैं कि हे संतो ! "ई सब अकथ कहानी" इस माया की सूची इतनी लम्बी है कि गिनकर बता पाना असम्भव है। कहां तक बताया जाये कि यह माया है वह माया है। तुम्हारी आत्मा के अलावा सब माया है। इसलिए कहीं भी आसक्त नहीं होना, कहीं भी नहीं फंसना।

सद्गुरु-भगवान ही मोह-पाश से छुड़ा सकता है

शब्द-60

माया मोह मोहित कीन्हा, ताते ज्ञान रतन हरि लीन्हा॥ 1॥
जीवन ऐसो सपना जैसो, जीवन सपन समाना॥ 2॥
शब्द गुरु उपदेश दीन्हों, तैं छाडु परम निधाना॥ 3॥
ज्योति देखि पतंग हुलसै, पशु न पेखै आगि॥ 4॥
काल फाँस नर मुग्ध न चेतहु, कनक कामिनी लागि॥ 5॥
शेख सैय्यद कितेब निरखें, सुमृति शास्त्र विचार॥ 6॥
सतगुरु के उपदेश बिनु तैं, जानि के जीव मार॥ 7॥
कर विचार विकार परिहरि, तरण तारण सोय॥ 8॥
कहहिं कबीर भगवन्त भजु नर, दुतिया और न कोय॥ 9॥

शब्दार्थ—निधाना=आश्रय, आधार। हुलसै=प्रसन्न होते हैं। पशू=पशु, मूर्ख। निरखें=देखते हैं, पढ़ते हैं। तरण=मुक्त। तारण=अन्य को मुक्त करने वाला। भगवन्त=ज्ञान-वैराग्यादि सद्गुणयुत सद्गुरु। भजु=सेवा-भक्ति कर।

भावार्थ—माया के मोह ने मनुष्य को विमूढ़ बना दिया है। इसलिए मानो उसने उसका ज्ञान-रत्न छीन लिया है॥ 1॥ जीवन तो ऐसा है कि मानो जैसा सपना हो। निश्चय समझो कि जीवन सपना के समान है॥ 2॥ सद्गुरु तुम्हें निर्णय वचनों का उपदेश कर रहे हैं। अतएव हे ज्ञान का परम आश्रय मनुष्य ! तू माया-मोह छोड़ दे॥ 3॥ अग्नि की ज्योति देखकर पतिंगे प्रसन्न होते हैं और उसमें कूद पड़ते हैं। वे मूर्ख यह नहीं समझ पाते कि यह आग है, मुझे जला डालेगी॥ 4॥ इसी प्रकार मोहरूपी काल की फांसी में फंसा हे मूढ़ मानव ! तू कनक-कामिनी में लिपटकर जल रहा है। उनसे सावधान नहीं होता॥ 5॥ शेख और सैय्यद इसलामी किताबें पढ़ते हैं तथा पंडित लोग

स्मृतियों और धर्मशास्त्रों का विचार करते रहते हैं, परन्तु सच्चे सद्गुरु से यथार्थ ज्ञान न पाने के कारण हे मौलवियो और पंडितो ! तुम हिंसा को गलत समझते हुए भी कुर्बानी तथा बलि के नाम पर जीव-वध करते हो॥ 6-7॥ इसलिए विचार करो और माया-मोह तथा हिंसारूपी विकारों का परित्याग करो। सद्गुरु ही स्वयं मुक्तरूप तथा दूसरों को मुक्ति-पथ पर अग्रसर करने में समर्थ हैं॥ 8॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य ! ज्ञान-वैराग्य संयुक्त सच्चे सद्गुरु भगवान की सेवा-भक्ति करो। तुम्हारा पथ-प्रदर्शक उनके अलावा कोई नहीं है॥ 9॥

व्याख्या—यह शब्द कैसा मार्मिक है, विचारते ही बनता है। सद्गुरु कहते हैं कि माया-मोह ने मनुष्य को मूढ़ बना दिया है। मन का मोह ही माया है। हम जब किसी चीज में मोह जाते हैं तब मूढ़ बन जाते हैं। फिर हमें सारासार का विवेक नहीं रह जाता। रावण-जैसा प्रतापी वेद-विद्वान जब सीता के सौंदर्य में मोह गया तब वह मूढ़ हो गया और न करने योग्य काम किया पर-स्त्री-हरण। इतना ही नहीं, स्वपक्ष के पूरे योद्धाओं के युद्ध में मर जाने के बाद भी सीता को न लौटाया और स्वयं भी युद्ध में मारा गया। राम और सीता जैसे उदार राज्य को ठोकर मारकर जंगल चले जाने वाले जब एक सुनहले एवं सुन्दर हिरन में मोह गये तब ऐसा विवेक खो दिये कि लक्ष्मण के सावधान करने पर भी दोनों नहीं समझ पाये और इसका परिणाम हुआ सीता-हरण का महादुख जिससे श्रीराम भी महादुखी हुए। पृथ्वीराज संयोगिता में मोहकर अपने आप का पतन किये ही, भारत के पतन में भी कारण बने। आदमी जब किसी प्राणी एवं पदार्थ में मोहित हो जाता है तब उसके हृदय का ज्ञान-रत्न छिन जाता है। मोह जितना बढ़ता है, विवेक उतना ही नष्ट होता है, और विवेक नष्ट हो जाने पर वह इतना गिर जाता है कि उसे पशु भी नहीं कह सकते, क्योंकि पशु अपने प्राकृतिक नियमों का परित्याग नहीं करता, परंतु ऐसे पतित आदमी के लिए कोई नियम नहीं रह जाता। आदमी का मन बड़ा भावुक होता है। वह किसी के रूप, गुण, वाणी, व्यवहार आदि को अपने मन के अनुकूल पाकर उसमें मोहासक्त हो जाता है। मनुष्य प्राणी-पदार्थों में आसक्त होकर विमूढ़ हो जाता है।

"जीवन ऐसो सपना जैसो, जीवन सपन समाना॥" सद्गुरु इस पंक्ति में दो बार घूम-घूमकर कहते हैं कि जीवन सपना के समान है। वे हमारे मोहासक्त मन पर हथौड़ा मारते हैं कि हे मूढ़, तू किसमें मोहासक्त हो रहा है ! क्या तेरा है ! क्या सपने में मिले हुए अनुकूल-प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ जागने पर रह जाते हैं ! वैसे क्या ये जागृत में मिले हुए प्राणी-पदार्थ तेरे साथ सदैव

रहेंगे। आंखें खुलने पर सपने का ऐश्वर्य गायब हो जाता है और आंखें मुंदने पर जागृत का ऐश्वर्य गायब हो जाता है। हम रोज चार-छह घंटे गाढ़ी नींद में पहुंचकर अपने माने हुए शरीर तक को भूल जाते हैं। जिस दिन सदा के लिए आंखें बन्द कर लेंगे उसी दिन से हमारा सब कुछ अपना माना हुआ खो जायेगा। जीवन की सार्थकता है पर-सेवा तथा आत्म-संयम। इसके अलावा इस जिन्दगी में क्या रखा है।

"शब्द गुरु उपदेश दीन्हों, तैं छाडु परम निधाना।" कबीर साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य! तू ज्ञान-विज्ञान का परम आश्रय है। मानवेतर प्राणियों में तो थोड़ा ज्ञान होता है, किन्तु मानव ज्ञान का परम निधान है। ऐसा मूलतः ज्ञाननिधान मानव मोह-माया में मूढ़ बनकर भटकता रहे तो इससे अधिक तौहीनी और क्या होगी। कबीर साहेब कहते हैं कि हे मानव! सद्गुरु तुम्हें निर्णय शब्दों का उपदेश दे रहे हैं। तू उस तरफ ध्यान दे और माया-मोह का त्याग कर।

"ज्योति देखि पतंग हुलसै, पशू न पेखै आगि। काल फाँस नर मुग्ध न चेतहु, कनक कामिनी लागि।" मनुष्य की मोह-मूढ़ता पर कैसा सटीक तथा सचोट उदाहरण है। दीपक की ज्योति देखकर पतिंगे उसे घेर लेते हैं। वे उस ज्योति के मोह में पड़कर हर्षायमान हो जाते हैं और ज्योति में चिपकने का प्रयास करते हैं। फल यह होता है कि वे उसमें ऐंठ-ऐंठकर जल मरते हैं। उन मूर्ख पतिंगों को ज्योति में आग नहीं दिखती, किन्तु आनन्द दिखता है। वे उसमें अपनी मौत नहीं देख पाते, किन्तु सुख देखते हैं। यही दशा मनुष्य की है। वह संसार के प्राणी-पदार्थों के मोह में लिपटकर कौन-सा अनर्थ नहीं करता है! छल, धोखा, चोरी, व्यभिचार, डाका, हिंसा, हत्या, पर-स्वत्वापहरण कौन-सा अपराध मोहासक्त आदमी नहीं करता। आदमी संसार के प्राणी-पदार्थ एवं प्रतिष्ठा के मोह में लिपटकर मूढ़ बन जाता है। यह उन्हीं में रात-दिन जलता है। यह मोह ही तो काल की फांसी है। मौत काल नहीं है। मौत केवल शरीर को मारती है। मोह मनुष्य की आत्मा का पतन करता है। परन्तु कनक-कामिनी[1] में लिपटा आदमी इस मोह की फांसी को नहीं देख पाता। जैसे मोह-मूढ़ पतिंगे को ज्योति में आग नहीं दिखती वैसे विमोहित मानव को काल की फांसी नहीं दिखती।

"शेख सैय्यद कितेब निरखें, सुमृति शास्त्र विचार। सतगुरु के उपदेश बिनु तैं, जानि के जीव मार।" मुसलमानों की मुख्य चार जातियां मानी गयी

---

1. "कनक कामिनी देखि के" इस 148वीं साखी में इसकी परिभाषा देखें।

हैं—शेख, सैय्यद, मुगल तथा पठान। परन्तु शेख को शैख बनाकर इसके अर्थ होते हैं वृद्ध, गुरुजन, धार्मिक साहित्य का पंडित, खानकाह एवं दरगाह का खलीफा, महंत, अरब कबीलों का सरदार। इस शब्द में प्रयुक्त शेख का अर्थ महन्त ही है जो अपनी मजहबी किताबों का पंडित होता है। सैय्यद के अर्थ हैं नेता, सरदार, इमाम, मुहम्मद की पुत्री फातिमा से उत्पन्न अली का वंश तथा इस वंश का वंशज। साहेब कहते हैं कि शेख और सैय्यद लोग कुरान, हदीस तथा अनेक अपनी मजहबी किताबों को पढ़ते हैं। दूसरी तरफ हिन्दू पंडित स्मृतियों और शास्त्रों का अध्ययन, मनन एवं विचार करते हैं, परन्तु खेद है कि वे हिंसा को गलत समझते हुए भी कुर्बानी और बलि के नाम लेकर जीवहत्या करते हैं। हिन्दू-मुस्लिम आदि सभी मजहबों के धर्मग्रन्थों में अहिंसा, मेहरबानी, रहम, दया, करुणा आदि की प्रशंसा की गयी है, और सबका दिलरूपी धर्मशास्त्र तो हर क्षण बताता ही है कि दूसरों पर दया करो। जब तुम स्वयं पीड़ा नहीं चाहते हो तो दूसरों को पीड़ा देना मानवता कहां है। ऐसा जानकर भी ये मजहब एवं धर्म के नाम पर जीव-हत्या करते हैं, यह कितना दुखजनक है। कबीर साहेब कहते हैं कि इसमें एक मुख्य कारण है इनके गुरुओं के उपदेश की त्रुटि। मुसलमानों के धर्मशास्त्रियों ने कुर्बानी के नाम पर जीव-हत्या धर्म बतला दिया, वैसे हिन्दुओं के धर्मशास्त्रियों ने बलि के नाम पर जीव-हत्या उचित ठहरा दिया। इन्हें सच्चे सद्गुरु के उपदेश नहीं मिले। "सतगुरु के उपदेश बिनु तैं, जानि के जीव मार।" कबीर साहेब कहते हैं कि हे मुल्ला और पंडितो ! तुम्हें सच्चे सद्गुरु नहीं मिले, उनके उपदेश से तुम लोग वंचित हो, इसलिए जीव-हत्या गलत मानते हुए भी उसे करते हो। यह भी माया-मोह है, यह पूर्व-पुरुषों का एवं धर्मशास्त्रों का मोह है कि जो पूर्व पुरुषों तथा धर्मशास्त्रों ने कहा है वह सच है। ऐसा मोह भी मनुष्य को मूढ़ बनाता है। हमें परंपरा और पोथी से सार लेते हुए स्वतन्त्र विचार करना चाहिए कि उचित क्या है तथा आज के संदर्भ में प्रासंगिक क्या है।

"कर विचार विकार परिहरि, तरण तारण सोय। कहहिं कबीर भगवन्त भजु नर, दुतिया और न कोय।" इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि विचार करो, आंख मूंदकर न चलो। न प्राणी-पदार्थों एवं प्रतिष्ठा के मोह में मूढ़ बनो तथा न तो धार्मिक परंपरा एवं धार्मिक पोथियों के वचनों में मूढ़ बनो, किन्तु 'कर विचार' अर्थात स्वतन्त्र विचार करो। और विचार करने पर जो लगे कि यह विकार है, दोष है, मलिनता है, उसका निर्मम होकर त्याग करो। विकार को विकार जान लेना पहली बात है, परन्तु उस जानने की सफलता होगी उसके

त्याग में। जो विचारकर विकारों का परित्याग करता है वही तरण है और वही तारण है। वह स्वयं मुक्त है तथा दूसरों को मुक्ति की तरफ प्रेरित करने वाला है। मोह-माया एवं विषयासक्ति विकार है तथा सब प्रकार की हिंसा विकार है। जो इन्हें सर्वथा छोड़ दे वही तो तरण-तारण है, वही तो सद्गुरु है। कबीर साहेब कहते हैं कि विषयासक्ति और हिंसा को त्यागे हुए ज्ञान-वैराग्यसंपन्न सद्गुरु-भगवान![1] को भजो, उनकी सेवा करो, उनकी उपासना करो। उनके अलावा तुम्हारा अन्य पथ-प्रदर्शक नहीं है। विकारों को जीते हुए मनुष्य रूप में सद्गुरु होता है। वही हमारा पथप्रदर्शक होता है। अतएव वही भगवान है। वही कल्याणार्थियों का रक्षक है। इस शब्द में ऊपर दो बार सद्गुरु का श्रद्धापूर्वक नाम लिया गया है और कहा गया है कि उन्हीं के निर्णय शब्दों से तुम्हें सच्चा ज्ञान मिलेगा। अतएव शब्दांत में उन्हीं को भगवान शब्द से यादकर उनकी सेवा-भक्ति करने का निर्देश किया गया है। हम सत्यता के धरातल पर देखें तो यह परम सत्य है कि सद्गुरु के अलावा कोई साधक का रक्षक नहीं है। संत तो सद्गुरु रूप ही हैं। अतएव संत-सद्गुरु ही उपासनीय हैं। वे ही सच्चे भगवान हैं। वे ही रक्षक हैं।

जो लोग सद्गुरु से अलग भगवान मानते हैं, वे भी कहते हैं कि भगवान जगत का रचयिता, पालक तथा संहर्ता है। इस तरह भगवान जीव का उद्धारक न होकर संसार में डुबाने वाला ही है। वस्तुतः सद्गुरु ही भवबंधनों से जीव को बचाता है। सुन्दरदास जी एक सुन्दर कविता कहते हैं—

गोविन्द के किये जीव जात है रसातल कौं,
गुरु उपदेसे सुतौ छूटैं जम फंद तें।
गोविन्द के किये जीव सब परें कर्मनि कै,
गुरु के निवाजे सो फिरत हैं स्वछन्द तें।
गोविन्द के किये जीव बूड़त भवसागर में,
सुन्दर कहत गुरु काढ़े दुख द्वंद्व तें।
और ऊ कहाँ लौं कछू मुखतें कहौं बनाइ,
गुरु की महिमा अधिक है गोविन्द तें॥[2]

---

1. ज्ञान विराग श्रीयुत, यश अरु धर्म निधान।
ऐश्वर्य षट भागयुत, ताहि कहत भगवान॥
2. सुन्दर ग्रन्थावली 229 पृष्ठ 392।

देहाभिमानी की दुर्गति

शब्द-61

मरिहो रे तन का लै करिहो, प्राण छुटे बाहर लै डरिहो॥ 1॥
काया बिगुर्चन अनबनि भाँति, कोइ जारे कोइ गाड़े माटी॥ 2॥
हिन्दु ले जारे तुरुक ले गाड़े, यहि बिधि अंत दुनों घर छाड़े॥ 3॥
कर्म फाँस यम जाल पसारा, जस धीमर मछरी गहि मारा॥ 4॥
राम बिना नर होइहैं कैसा, बाट माँझ गोबरौरा जैसा॥ 5॥
कहहिं कबीर पाछे पछतैहो, या घर से जब वा घर जैहो॥ 6॥

शब्दार्थ—बिगुर्चन=बिगूचना, उलझन। अनबनि=बिगड़ाऊ, विविध, अनेक। अन्त=मरने पर। गोबरौरा=एक उड़ने वाला कीड़ा जो गोबर एवं मल की गोली बनाकर उसे लुढ़काता हुआ चलता है। या घर=नरतन। वा घर=पशु आदि खानि।

भावार्थ—हे देहाभिमानी ! जब तू मरेगा तब अपने माने हुए शरीर को लेकर क्या करेगा ! ध्यान रख, प्राण छूटते ही तेरा शरीर बाहर डाल दिया जायेगा॥ 1॥ शरीर तो एक उलझनरूप है और अनेक जोड़ों से बना बिगड़ाऊ है। जीव के निकल जाने पर कोई इसे जला देता है और कोई मिट्टी में गाड़ देता है॥ 2॥ विशेषतः इसे हिन्दू जला देते हैं और मुसलमान गाड़ देते हैं। इस प्रकार प्राणी के मर जाने पर दोनों सम्प्रदाय वाले इसे तिरस्कृत कर देते हैं॥ 3॥ जैसे धीमर जाल फैलाकर मछलियों को पकड़कर उन्हें मार लेता है, वैसे मनरूपी यम ने मानो कर्मों के फांस का जाल फैलाकर जीव को बांध लिया है॥ 4॥ हे मनुष्य ! आत्माराम के ज्ञान बिना तुम्हारी वही दशा होगी जो गुबरैले कीड़े की होती है। वह गोबर एवं मल की गोली बनाकर उसे लुढ़काते हुए रास्ते में चलता है और मनुष्य एवं पशुओं के पैर लगकर नष्ट हो जाता है॥ 5॥ कबीर साहेब कहते हैं कि तुम्हें पीछे पछताना पड़ेगा जब तुम इस शरीर को छोड़कर अन्य योनियों में जाने की तैयारी करोगे॥ 6॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस शब्द में शरीर की अन्तिम दशा का दिग्दर्शन कराया है। हम अबोधवश शरीर को सब कुछ मानकर इसी में आसक्त हो जाते हैं। हम जानते हुए अनजान बने रहते हैं। हम जानते हैं कि शरीर अवश्य एक दिन नष्ट हो जायेगा, परन्तु यह भ्रम सदैव बना रहता है कि अभी नहीं, कभी बिछुड़ेगा। सर्वाधिक अहंकार शरीर का होता है, किन्तु यह इतना क्षणभंगुर है कि अचानक खो जाता है। काष्ट, मिट्टी, पत्थर, लोहा, सीमेंट से बने मकान या अन्य वस्तुओं की अवधि निर्धारित की जा सकती है, परन्तु

इस शरीर की कोई अवधि नहीं मानी जा सकती। यह कब मिट जायेगा, कोई नहीं जानता है। साहेब कहते हैं, हे प्रमादी जीव, इसका क्या गर्व करता है।

शरीर छूटने पर इसको कोई लेकर क्या करेगा। मिस्र[1] के रजवाड़ों के मृत शरीर ईसा के हजारों वर्ष पूर्व सैकड़ों फीट ऊंचे अभेद्य पत्थर के पिरामिडों में मोटी और मजबूत सोने के संदूकों में रखे गये, परंतु उनका क्या हुआ ! वे जीव कभी भी अपनी देह में न आ सके। शरीर से जीव के निकलने का समय आ जाता है, तब लोग उसके शरीर को खाट से उतारकर जमीन पर लेटा देते हैं। यह प्रथा भारत में तो है ही, यूरोप में भी है।[2] इस प्रकार मरने की संभावना होते ही आदमी ऐश्वर्य भरे घर से निकालकर जमीन पर लेटा दिया जाता है। जब जीव शरीर को छोड़ देता है, तब सब लोग कहते हैं कि अब इसे ले चलो, इसकी अंत्येष्टि कर दो, हंसा तो उड़ गया, अब तो केवल मिट्टी पड़ी है। जीव के निकल जाने पर पिता पिता नहीं रह जाता, माता माता नहीं रह जाती, पुत्र पुत्र नहीं रह जाता, गुरु गुरु नहीं रह जाता। केवल रह जाती है मिट्टी। उस समय कोई नहीं कहता कि पिता लेटे हैं, माता लेटी हैं, पुत्र लेटा है, गुरु लेटे हैं। तब लोग कहते हैं कि मिट्टी पड़ी है। जीव के निकलते ही जिस शरीर की यह दशा होती है उसका क्या गर्व किया जाये।

"काया बिगुर्चन अनबनि भाँती" यह शरीर बिगुर्चन है और अनबन भांती है। बिगुर्चन एवं बिगुचने का अर्थ है उलझ जाना। 164वीं साखी में भी सद्गुरु ने "सेमर सुवना बेगि तजु, तेरी घनी बिगुर्ची पाँख" कहकर बिगुर्चन शब्द का प्रयोग किया है। वहां भी इसका अर्थ उलझ जाना ही है। अर्थ है कि हे सुग्गे, तू सेमल के फूल-फल को जल्दी छोड़ दे। तेरे पंख सेमल-फल के रोवांटे में बहुत उलझ गये हैं। यह काया बिगुर्चन, उलझनरूप है। आदमी अपने माने हुए शरीर के विकारों में कैसा उलझ जाता है, यह सर्वविदित है। यह मानव शरीर तो मन को सुलझाने की जगह है, परन्तु जीव इसी में आकर अपने मन को अधिक उलझा लेता है। पशु-पक्षियों के मन वैसे नहीं उलझे रहते हैं जैसा मनुष्य का मन उलझा रहता है। मनुष्य ज्यादा समझता है, अतएव वह अपनी समझदारी को विपरीत दिशा देकर ज्यादा उलझ जाता है। काम, क्रोध, मोह, लोभ, राग-द्वेष, तृष्णा, चिन्ता, नाना दुर्व्यसन एवं गलत आदतें बनाकर जीव उलझ जाता है। यही सब तो बिगुर्चन है। "आये थे हरि भजन को, ओटन लगे कपास"। करना चाहिए था अनासक्ति का व्यवहार,

---

1. मिस्र उत्तर-पूर्वी अफ्रीका का एक देश है जिसकी सभ्यता की गणना संसार की प्राचीनतम सभ्यताओं में की जाती है।
2. एडगर्टन दि आवर आव डेथ। धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ० 1112।

राग-द्वेष रहित प्रशांत मन, परन्तु कर डाला उलझन। यही जीवन की असफलता है। सद्गुरु कहते हैं कि काया बिगुर्चन एवं उलझन का स्थान तो बन ही जाती है, यह "अनबनि भाँती" भी है। अनबन का अर्थ है बिगड़ी स्थिति या अनेक। शरीर अनेक गांठों एवं जोड़ों से बना है और बहुत कच्चे सामान से बना है तथा अनेक विधि से बना है। इसके बिगड़ने और मिटने में देरी लगती है यही आश्चर्य है, यदि यह मिट जाये तो बिलकुल आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इतनी कच्ची काया संसार में अनेक ठोंकरें खाती हुई कई वर्षों तक बनी रहती है यही आश्चर्य होता है। इसके बिगड़ने और मिटने में क्या आश्चर्य ! सद्गुरु ने 283वीं साखी में भी कहा है "दश द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन। रहिबे को अचरज अहै, जात अचम्भौ कौन॥"

"कोइ जारे कोइ गाड़े माटी" शरीर छूटने पर इसे कोई जला देता है, कोई मिट्टी में गाड़ देता है। विशेषतः हिन्दू जलाते हैं तथा मुसलमान गाड़ देते हैं। कबीर साहेब के समय में हिन्दू और मुसलमान दो परम्परों मुख्य थीं, इसलिए इन दोनों के द्वारा मृतकों की की गयी अंत्येष्टि का संकेत किया गया है। वैसे ईसाई लोग भी मृत शरीर को जमीन में गाड़ते हैं। सब मिलाकर मृत शरीर के अंत्येष्टि-संस्कार अनेक प्रकार से किये जाते हैं, जैसे जलाना, गाड़ना, पानी में फेंक देना, खुले मैदान में छोड़ देना जिससे उसे चील्ह-गीध आदि खा लें, ऐसा पारसी करते हैं। मिस्र के लोग शव को गुफाओं में रखते थे। वैसे भारत में शव को जलाये जाने का ही प्रचलन बहुत प्राचीन है। डॉ. पांडुरंग वामन काणे लिखते हैं—"प्राचीन भारतीयों ने शवदाह की वैज्ञानिक किन्तु कठोर हृदयवाली विधि किस प्रकार निकाली, यह बताना कठिन है। प्राचीन भारत में शव को गाड़ देने की बात अज्ञात नहीं थी (अथर्ववेद 5/30/14 'मा नु भूमिगृहो भुवत्' एवं 18/2/34)। अंतिम मन्त्र का रूप यों है—हे अग्नि ! उन सभी पितरों को यहां लाओ, जिससे कि वे हवि ग्रहण करें, उन्हें भी बुलाओ जिनके शरीर गाड़े गये थे, या खुले रूप में छोड़ दिये गये थे, या जला दिये गये थे। या ऊपर (पेड़ों पर या गुहाओं में?) रख दिये गये थे।"[1]

हिन्दुओं में भी चेचक आदि विशेष बीमारियों में मरने वालों को, बच्चों को एवं साधु-संन्यासियों को जमीन में गाड़ा ही जाता है। लोकधारणा है कि शरीर छोड़ देने के बाद आत्मा पुनः गाड़े हुए शरीर के आस-पास भटकती है, इसलिए इसे जला देना चाहिए, क्योंकि शव को जला देने पर आत्मा वहां

---

1. ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वास्तानग्न आ वह पितृन् हविषे अत्तवे॥ (अथर्ववेद 18/2/34)
(धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ. 1136)

भटकने नहीं आयेगी। रही साधु-संन्यासियों की बात, तो वे देह रहते-रहते ही देह का मोह छोड़ देते हैं इसलिए उनके शव गाड़ देने पर भी कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि उनकी आत्मों संतुष्ट होती हैं। वे भटकने नहीं आतीं। मुसलमानादि में जो शव गाड़ते हैं वे यह विश्वास रखते हैं कि गाड़ने के बाद फरिश्ते आकर उसके कर्मों का लेखा-जोखा लेते हैं। जला देने पर वे उससे हिसाब कैसे लेंगे! वस्तुतः यह सब अंधविश्वास मात्र है। मृत शरीर की अंत्येष्टि कर देना है, जहां जैसे रस्म हो या सुविधा हो वह सब ठीक है। यहां सद्गुरु के कहने का अभिप्राय तो इतना ही है कि यह शरीर छूटता है और इसे गाड़, जला आदि कर सब इसे त्यागते हैं। जीव के निकल जाने पर इस नरक को कोई क्या करेगा। यदि इसे थोड़े समय के लिए रख छोड़ो तो सड़कर गंधाने लगता है। इसलिए इसे सभी को हटा देना पड़ता है।

"कर्म फाँस यम जाल पसारा, जस धीमर मछरी गहि मारा।" धीमर अपना जाल फैलाकर मछलियों को फंसा लेता है और उन्हें मारकर खा जाता या बेच लेता है। इसी प्रकार यमराज ने कर्म-फांस का जाल फैलाकर जीवों को फंसा रखा है। यह यमराज कौन है? यह है विकारी मन। विकारी मन ही यमराज है। यह कर्मों का जाल फैलाता है जो जीव के लिए फांसी बन जाता है। कर्मों के जाल का अभिप्राय है राग-द्वेषपूर्ण कर्मों का विस्तार। शरीरधारी को तो कर्म करने ही हैं। बिना कर्म के तो शरीर का निर्वाह भी नहीं हो सकता, विशेष उन्नति तो दूर की बात है। कर्मशील कबीर निष्क्रिय होने का उपदेश भी कैसे दे सकते हैं। यहां तो उन कर्मों को फांसी एवं जाल बताया गया है जो यमराज द्वारा कराया जाता है। यह मलिन मन यमराज है। इस मलिन मन ही की प्रेरणा से तो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, हत्या, व्यभिचार, वैर-विवाद, राग-द्वेष एवं सारे असंयत कर्म करता है और इन्हीं के जाल एवं फांसी में पड़कर पेट भर दुख भोगता है। राग-द्वेष एवं चिंता-शोक की आग में जलते रहना ही तो यमयातना है। कहा है—"स्वर्ग वही है जिससे मन को प्रीति मिलती है, नरक इसका उलटा (विपर्यय) है, पुण्य एवं पाप को ही क्रम से स्वर्ग एवं नरक कहा जाता है, सुख एवं दुख से युक्त मनःस्थिति ही स्वर्ग एवं नरक की परिचायक है।"[1] अतएव यह मन जब मलिन होता है तब मानो यह यमराज बन जाता है और इसका सारा विस्तार नरक बन जाता है, किन्तु जब मन पवित्र हो जाता है तब यह देव हो जाता है और इसका

---

1. मनःप्रीतिकरः स्वर्गो नरकस्तद्विपर्ययः। नरकस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तमाः॥
ब्रह्मपुराण (22/24); विष्णुपुराण (2/6/46) मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षणः।
ब्रह्मपुराण (22/47)। (धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ. 1106)

विस्तार स्वर्ग। सद्गुरु कहते हैं कि हे देहाभिमानी, तेरा मन तो यमराज बन गया है, और तुम्हें राग-द्वेष के कर्मजाल में फंसाकर नरक में गिरा रहा है।

"राम बिना नर होइहैं कैसा, बाट माँझ गोबरौरा जैसा।" कबीर देव कहते हैं कि राम-भजन बिना आदमी गोबरकीट के समान जीवनभर मानो मैले की गोली बनाकर इसे ढकेल रहा है। आप देखते नहीं गुबरैला गोबर एवं मल की गोली बनाता है और उसे ढकेलते हुए ले चलता है। पता नहीं लगता कि इसका पार्सल कहां जायेगा! इतने में किसी मनुष्य या पशु का पैर पड़ता है, गोली दूर जाकर पड़ती है या दब जाती है और गुबरैला भी अपनी जान खो बैठता है। यही दशा देहाभिमानी की है। वह इस मल-मूत्र की पोटली देह के अहंकार में चूर होकर इसे जीवनभर संसार में ढकेलता है। काल की ठोकर लगते ही यह नष्ट हो जाता है और जीव दूसरा शरीर बनाने के लिए उड़ जाता है। इस जीवन में एक राम है तथा दूसरा शरीर है। राम चेतन है, व्यक्ति का निजस्वरूप है, दिव्य है, उससे कभी न छूटने वाला है। परन्तु यदि मनुष्य ने अपने राम-स्वरूप को न पहचाना, उसमें विश्राम न पाया, किन्तु इस मलिन देह के अभिमान में डूबा रहा तो वह गुबरैला कीड़े के समान ही रहा। जो आत्माराम में लीन है वह दिव्य है, जो देहाभिमान में लीन है वह गुबरैला कीड़ा है।

"कहहिं कबीर पाछे पछतैहो, या घर से जब वा घर जैहो।" कबीर साहेब कहते हैं कि तुम्हें पीछे पछताना पड़ेगा जब इस घर को छोड़कर उस घर में जाओगे। यह घर क्या है और वह घर क्या है? कबीर साहेब लोकांतर में कोई स्वर्ग-नरक नहीं मानते, किन्तु जन्मांतर मानते हैं। वे यह मानते हैं कि जीव अमर है। वह वासनावश नाना योनियों में भटकता रहता है और जब वह वासना त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तब जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है। इस पंक्ति में वे कहते हैं कि यह जीव इस मानव-शरीर को पाकर अहंकार और विषयासक्ति में डूबा है। इसको पीछे पछताना पड़ेगा जब यह शरीर छूट जायेगा और पशु, पक्षी, कृमि-कीटादि योनियों में जाकर अंधकार में भटकेगा। प्रश्न हो सकता है कि क्या जीव जब अन्य योनियों में जायेगा, तब उसे यह याद रहेगा कि मैं पहले मनुष्य खानि में था और वहां मैंने प्रमाद में जीवन बिताया था जिसके फल में मुझे पशु आदि योनियों में आना पड़ा? याद तो नहीं रहेगा, परन्तु दुख तो भोगना ही पड़ेगा। वस्तुतः पछतावा शरीर छूटते समय होता है। जो संसार के धोखे में जीवनभर पड़ा रहता है उसे जाते समय पछतावा होगा ही।

इस प्रकार इस पूरे शब्द में सद्गुरु ने जो कुछ कहा है उसका सार यह है कि देहाभिमान को छोड़ो और आत्माराम में रमो।

स्वरूपस्थिति एवं सहज समाधि की रहनी

शब्द-62

माई मैं दूनों कुल उजियारी॥ 1॥
सासु ननद पटिया मिलि बँधलो, भसुरहि परलों गारी॥ 2॥
जारों माँग मैं तासु नारी की, जिन सरवर रचल धमारी॥ 3॥
जना पाँच कोखिया मिलि रखलों, और दुई औ चारी॥ 4॥
पार परोसिनि करों कलेवा, संगहिं बुधि महतारी॥ 5॥
सहजे बपुरे सेज बिछावल, सुतलिउँ मैं पाँव पसारी॥ 6॥
आवों न जावों मरों नहिं जीवों, साहेब मेट लगारी॥ 7॥
एक नाम मैं निजु कै गहलौं, ते छुटल संसारी॥ 8॥
एक नाम मैं बदि कै लेखों, कहहिं कबीर पुकारी॥ 9॥

शब्दार्थ—माई=चेतना-शक्ति, आत्मा। मैं=स्वरूपस्थ-वृत्ति। दूनों कुल=व्यवहार-परमार्थ। सासु=संशय। ननद=कुमति। भसुरहि=भसुर, जेठ, अहंकार। तासु नारि=अविद्या। सरवर=सरोवर, अंतःकरण। धमारी=उपद्रव। जना पाँच=पांच जने, पांच ज्ञान इन्द्रियां। कोखिया =कोख, कुक्षि, पेट। दुई=शुभ-अशुभ। चारी=चतुष्टय अंतःकरण। पार परोसिनि=साधारण दुर्व्यसन। कलेवा=सबेरे का जलपान। सहजे=सहज, स्वरूपज्ञान। साहेब=सद्गुरु। मेट=नष्ट कर दिया। लगारी=आसक्ति, लगाव। संसारी=संसारीभाव, विषयासक्ति। बदि कै=प्रतिज्ञापूर्वक। लेखों=विचार करता हूं, मानता हूं।

रूपक—एक लड़की अपनी ससुराल पहली बार जाकर अपने नैहर लौटी। हर मां अपनी लड़की से उसकी ससुराल की बात पूछती है। मां ने पूछा—"बेटी, तेरी ससुराल की स्थिति क्या है? तेरे सासु, ननद, जेठ, अन्य घर वाले, पड़ोसी तथा तेरा पति कैसा है? इन सबसे तू कैसे निपटती है?"

पुत्री ने जो उत्तर दिया वह आश्चर्यजनक है। उसने कहा—"मां, मैं नैहर-सासुर दोनों कुल की प्रकाशिका हूं। जब ससुराल में गयी तब मैंने पहले ही दिन सासु और ननद को अपनी खाट की पाटी में बांध दिया और जेठ को खूब गाली दी। ये ही लोग बहू को ज्यादा दबाने वाले हो सकते हैं और इन्हें मैंने पहले दबा दिया। मेरे घर में उपद्रव मचाने वाली एक स्त्री थी, मैंने उसकी मांग जला दी, अर्थात उसके पति को मार डाला, इसलिए उसकी तो हिम्मत ही बैठ गयी। घर में अन्य कई लोग हैं, उनमें से पांच को तो मैंने बगल में रखकर रगड़ दिया तथा दो-चार और थे, उनकी भी दशा यही कर दी। पार-पड़ोसिनें थीं, वे मुझे परेशान कर सकती थीं, तो मैंने उनका जलपान कर लिया। रह गयी मेरे पतिदेव की बात, वे तो बेचारे बड़े सरल एवं सहज

हैं। वे मेरे शरीर की सेवा के सारे काम कर देते हैं, यहां तक कि वे रात में मेरी शय्या भी बिछा देते हैं और मैं बस, केवल पांव पसारकर सो जाती हूं। माता जी, मेरी ससुराल बड़ी अच्छी है। चैन की बंसी जब रही है।''

गृहस्थ पाठक यदि ऐसी बहू पा जायें तो उनका क्या बीतेगा, यह सहज समझा जा सकता है। शायद ऐसी बहू दुनिया में कहीं न हो, परन्तु कबीर साहेब की एक-एक बात मजेदार रहती है और साथ-साथ गूढ़ अध्यात्म एवं उच्चतम साधनापरक भी। अब हम इस शब्द के आशय को समझें।

भावार्थ—स्वरूपस्थ-वृत्ति चेतनाशक्ति एवं आत्मा से कहती है कि हे माता, मैं व्यवहार तथा परमार्थ दोनों क्षेत्रों को उज्ज्वल बनाने वाली हूं॥ 1 ॥ जब मैं अपनी स्वरूपस्थितिरूपी ससुराल में गयी तब मैंने संशय और कुबुद्धि रूपी सासु और ननद को स्थिति-शय्या की पाटी में बांध दिया और अहंकार रूपी जेठ को तिरस्कृत कर दिया॥ 2॥ अविद्यारूपी नारी ने ही मेरे अंतःकरण-सरोवर में उपद्रव मचाया था, तो उसको विधवा कर दिया, अर्थात उसे शक्तिहत बना दिया॥ 3॥ आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी—इन पांच बलवान जनों को तो मैंने पेट में रख लिया। अर्थात इनको पूर्णतया वश में कर लिया। और शुभ तथा अशुभ कर्मवासनों तथा मन, चित्त, बुद्धि एवं अहंकार का भी शमन कर लिया॥ 4॥ पारपड़ोसिनि हैं नाना प्रकार के दुर्व्यसन एवं गलत आदतें, मैंने उनका जलपान कर लिया। अर्थात उनको भी पूर्ण स्ववश कर लिया, परन्तु हे मां-आत्मा, मैं बुद्धि को एक दूसरी मां मानकर उसको सदैव साथ रखती हूं॥ 5॥ सहज स्वरूपज्ञानरूपी पति ने मेरे लिए स्वरूपस्थिति एवं समाधि की शय्या बिछा दी है और मैं पैर पसारकर निश्चिंत हो उस पर सो रही हूं॥ 6॥ हे चेतनाशक्ति-मां, अब मुझे संसार में आना-जाना एवं जन्मना-मरना नहीं है, क्योंकि इसका कारण संसार की आसक्ति थी, लगाव था, उसे सद्गुरु साहेब ने उपदेश देकर मिटा दिया है॥ 7॥ मैंने तो अन्य सारी मान्यतों एवं बाह्याचार सर्वथा छोड़कर केवल एक संज्ञा, निज चेतनस्वरूप को ही पकड़ रखा है। इसी से मेरी सारी संसारी-वासनों छूट गयी हैं॥ 8॥ कबीर साहेब घोषणा करके कहते हैं कि मैं अपना यह विचार प्रतिज्ञापूर्वक रखता हूं कि निजस्वरूप चेतन ही परम तत्त्व एवं परम पद है॥ 9॥

व्याख्या—जो मनोवृत्ति समाधि में लीन हो जाती है वह अमृत बन जाती है। उसी द्वारा इस पूरे शब्द के भाव का वर्णन है। कबीर साहेब की उक्तियां विलक्षण-विलक्षण होती ही हैं। स्वरूपलीन, आत्मलीन एवं समाधिलीन मनोवृत्ति कहती है कि मैं दोनों कुल को उजागर करने वाली हूं। दो कुल हैं व्यवहार तथा परमार्थ। जिसका मन शुद्ध होता है, आत्माराम में लगा हुआ

होता है उसका मन निर्मल एवं शांत होता है, अतः उसका परमार्थ तो बना-बनाया ही है, उसका व्यवहार भी परम उज्ज्वल होता है। जिसकी मनोवृत्ति निर्मल है वह अपने साथियों से न विवाद करेगा, न उनके प्रति तनावग्रस्त रहेगा, न भोगों की चाहना रखेगा। भोगों की चाहना को लेकर ही तो सारे विवाद होते हैं और जब वही नहीं है तब किससे झगड़ा! वह मान-सम्मान को तुच्छ समझेगा। वह न किसी को कटु कह सकता है, न स्वार्थपरायण हो सकता है। वह अपने साथियों से तथा बाहरी मिलने वालों से शुद्ध प्रेमपूर्ण एवं मधुर व्यवहार करता है। जिसका मन मक्खन हो गया है, अमृत बन गया है, मधु हो गया है उससे विष कैसे निकल सकता है! मन का विष ही तो व्यक्तित्व, परिवार, समाज तथा देश में जहर घोलता है और जब मन ही अमृत बन गया तो उसका पूरा व्यक्तित्व ही अमृत बन गया, अतएव उसके द्वारा दूसरों को उद्वेग पहुंचने की बात ही समाप्त हो जाती है। वह आनन्दकंद होता है तथा दूसरों को भी अपने संपर्क मात्र से आनन्द देता है। इस प्रकार समाधि में लीन मन वाले को परमार्थ तो प्राप्त ही हो गया, उसका व्यवहार भी परम उज्ज्वल हो गया। उसके व्यवहार में प्रेम का सागर है तथा परमार्थ में अनासक्ति के हिमालय का शिखर। अतएव वह प्रेम का स्वर्ग-सुख तथा अनासक्ति का मोक्ष—सुख एक साथ भोगता है। समाधि में लीन मनोवृत्ति व्यवहार तथा परमार्थ दोनों की प्रकाशिका है, यह परम सत्य है।

ऐसी मनोवृत्ति संशय और कुमति को अपनी स्थिति-शय्या की पाटी में बांध लेती है। "सासु ननद पटिया मिलि बँधलो।" खराब स्वभाववाली सासु और ननद बहू को परेशान करने वाली होती हैं और अच्छे स्वभाव वाली सासु-ननद बहू को सुख देती हैं। यहां सासु संशय तथा ननद कुमति एवं कुबुद्धि है। जिसकी मनोवृत्ति समाधि में लीन होती है उसके भीतर आध्यात्मिक और आधिभौतिक किसी प्रकार का संशय एवं संदेह नहीं रह जाता। वह परमार्थ तथा व्यवहार दोनों में निस्संदेह होता है। वह समझता है कि निज चेतनस्वरूप ही परम तत्त्व है और निज स्वरूपस्थिति परमपद। वह यह भी समझता है कि जीवन-निर्वाह निश्चित ही होगा, उसके साधन जुटते रहेंगे, केवल मुझे श्रम एवं संयम से रहना चाहिए। इस प्रकार वह संदेहरहित होता है। उसकी कुमति मिट गयी रहती है। उसकी कुमति सुमति के रूप में तथा संशय बोध के रूप में बदल जाते हैं। यही मानो सासु-ननद को पाटी में बांध लेना है।

"भसुरहि परलों गारी" भसुर कहते हैं ज्येष्ठ को। यह बहू के पति का बड़ा भाई होता है। तात्पर्य में है अहंकार। अहंकार ही तो ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है जो सारे संसार को नचाता है। "शरीर मेरा है, धन-परिवार मेरे हैं, मैं सबसे श्रेष्ठ

हूं, मेरे सामने सब तुच्छ हैं" यह भाव ही तो अहंकार है। यही भाव तो जीव को संसार में बांधता है। समाधि में रमने वाली मनोवृत्ति ने इसको खूब गाली दी, इसका तिरस्कार किया और कहा—"देख शठ अहंकार! तू धोखे में है। यहां तेरा कुछ नहीं है। शरीर नश्वर है, प्राणी-पदार्थ भी छूटने वाले क्षणभंगुर हैं, मान-सम्मान नाम-रूप के हैं जो नाशवान हैं। इस संसार में तेरा कुछ नहीं है। मूर्ख अहंकार, तेरा घमंड करना तेरी निचाई है। संसार के बड़े-बड़े प्रतापी, धनी, बली, विद्वान कहलाने वाले मिट्टी में इस तरह सो गये कि दुनिया से उनके नामोनिशान मिट गये। अतएव तेरा यहां कुछ नहीं है। सारा संबंध झूठा है।" जिसकी मनोवृत्ति समाधि में रमती है उसमें अहंकार की गंध भी कहां हो सकती है!

"जारों माँग मैं तासु नारि की, जिन सरवर रचल धमारी।" मनुष्य का अंतःकरण एक विशाल सरोवर है। इसमें उपद्रव मचाने वाली अविद्या है। अविद्या कहते हैं विपरीत समझ को। अनित्य, अशुचि, दुख और अनात्म में नित्य, शुचि, सुख और आत्म-बुद्धि होना अविद्या है।[1] यह शरीर अनित्य है, गंदा है, दुखपूर्ण है तथा अनात्म एवं जड़ है, परन्तु इसे यह मानना कि यह नित्य बना रहेगा, यह रमणीय एवं पवित्र है, यह सुखद है तथा यह मेरा स्वरूप है—यह भाव ही अविद्या है। इस अविद्या के कारण ही मनुष्य के मन में उपद्रव मचा है। देहादि में अहंकार करके ही सारे विकार उत्पन्न होते हैं और यह विपरीत समझ का फल है। इस विपरीत समझ एवं अविद्या के कारण ही आदमी न सोचने योग्य बात सोचता है, न बोलने योग्य बात बोलता है, न करने योग्य काम करता है तथा न खाने योग्य वस्तु खाता है। इन्हीं सबके परिणाम में उसे सारी उलझनें मिलती हैं। मनुष्य के मन-सरोवर में उपद्रव मचाने वाली यह अविद्या, यह विपरीत समझ ही है। समाधिनिष्ठ मन ने उसका नाश कर दिया। उसने अविद्या को समाप्त कर दिया।

"जना पाँच कोखिया मिली रखलों" समाधिलीन मनोवृत्ति पांचों ज्ञानेन्द्रियों को अपने पेट में समा लेती है। इसका मतलब है उनको पूर्णतया वश में कर लेना। भजनानंदी व्यक्ति की इन्द्रियां संयत होती हैं। वह जानबूझकर ऐसे दृश्यों को नहीं देखता जिससे मन मलिन हो, वह न ऐसे स्पर्श करता है, न ऐसे शब्द सुनता है, न ऐसे गंध ग्रहण करता है तथा न ऐसे रस चखता है जिससे मन मलिन हो। वह अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन रखता है। इतना ही नहीं, "और दुई औ चारी" दो-चार को और अपने वश में

---

1. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (योगदर्शन 2/5)

कर लेता है। दो हैं शुभ-अशुभ कर्म और चार हैं मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार। विवेकवान अशुभ भाव एवं अशुभ कर्म तो करता ही नहीं, वह शुभ भाव रखते तथा शुभ कर्म करते हुए भी उनमें अहंकार नहीं रखता। अतएव वह शुभाशुभ को जीत लेता है। इसी प्रकार दो की संख्या में आने वाले राग-द्वेष एवं हानि-लाभ, हर्ष-शोक, मान-अपमानादि वृत्तियों को वह जीत लेता है, यह भी कह सकते हैं। ये सारे अर्थ समाधिलीन पुरुष में समाहित हैं। इसके साथ उसके मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार उसके अधीन होते हैं। वे अनियंत्रित नहीं भटकते। उसका मन आज्ञाकारी होता है और सदैव सद्विचार में रमने वाला होता है। उसका चित्त स्वरूपानुसंधान करता है। उसकी बुद्धि स्वरूपस्थिति-सुख की निश्चयवाली होती है। उसका अहं देहादि में नहीं, किन्तु निजस्वरूप चेतन में होता है। अतएव उसकी सारी वृत्ति बाहर से सिमिटकर अंतर्मुख हो जाती है।

"पार परोसिनि करों कलेवा" समाधि में लीन मनोवृत्ति कहती है कि मैंने पारपड़ोसिनियों को जलपान में खा लिया है। पारपड़ोसिनि हैं अनेक छोटे-छोटे दुर्व्यसन एवं गलत आदतें, जैसे—तम्बाकू, पान, गांजा, भांग, बीड़ी, सिगरेट, शराब, मांस, चुगली, निंदा, लाई-लगाई आदि की आदतें। यह सब तो साधक के पहले ही दूर हो जाते हैं। परन्तु स्वरूपस्थवृत्ति कहती है "संगहिं बुधि महतारी" हे माता, मैं बुद्धि को एक दूसरी माता मानकर उसे सदैव साथ में रखती हूं। यहां एक अच्छे मनोविज्ञान का परिचय है। जीवन में सद्बुद्धि की महती आवश्यकता है। सद्बुद्धि के अभाव में ही साधक आगे चलकर एकरस रहनी में नहीं चल पाता। वह यह नहीं सोच पाता कि कितने प्राणी-पदार्थों का संग्रह करना चाहिए, कितने नहीं और कैसे-कैसे प्राणी-पदार्थ संग्रहणीय हैं तथा कैसे-कैसे नहीं। सद्बुद्धि के अभाव में ही आदमी अपने साथियों में टकराता है तथा जड़ वस्तुओं में उलझता है। अतएव पवित्र मन वाले एवं आत्माराम में रमने वाले व्यक्ति के पास में सदैव सद्बुद्धि होती है।

"सहजे बपुरे सेज बिछावल, सुतलिऊँ मैं पाँव पसारी।" सहज है स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान। मनुष्य को जो कुछ मिलता है सब असहज एवं अस्वाभाविक है, साथ ही सब कुछ बदल जाने वाला है। शिशुपन गया, बालपन गया, कैशोर गया, जवानी गयी, परिपक्वावस्था गयी, बुढ़ापा भी चला जाता है, परन्तु इन सभी समयों में 'मैं हूं' यह भाव एक समान रहता है। अतएव अपना आपा, अपने चेतनस्वरूप का ज्ञान, मैं पन का बोध सहजज्ञान है। बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान सब बैठे हों, उनके बाहरी दिखावे में तो विविधता है, परन्तु वे सब आंखें मूंदकर भीतर अनुभव करें तो

क्या है, केवल चेतन। इतना ही नहीं, अनेक प्रकार के देवताओं तथा अनेक भगवानों एवं आत्म-भिन्न ईश्वर की कल्पना सब मन तक ही हैं जो विविध हैं। मन के समाप्त होने पर केवल चेतन रह जाता है। संकल्पों में ही सारा शुभाशुभ प्रपंच है, किन्तु संकल्प-शून्य हो जाने पर केवल चेतन है और गहरी शांति। चेतन ही व्यक्ति का सहज स्वरूप है। अतएव इस सहज स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान बेचारे ने मानो सहज समाधि की शय्या बिछा दी। जब निजस्वरूप चेतन के अलावा सारे भासों-अध्यासों एवं वासनाओं का त्याग हो गया तब चेतन मात्र रह गया। यही अपना सहज स्वरूप है और इसी में स्थित होना सहज समाधि में रमना है। ऐसा साधक अभ्यासकाल में संकल्प-शून्य हो जाता है, और व्यवहारकाल में राग-द्वेष एवं हर्ष-शोक-शून्य रहता है। इसलिए वह मानो सब समय सहज समाधि की शय्या पर पैर पसारकर सोता है। पूर्णतया निश्चिन्त हो जाना ही पैर पसारकर सोना है।

एक राजा एक महात्मा के दर्शन करने चले। वे महात्मा उस राजा के पूर्वाश्रम के परिचित थे। राजा को आते देखकर महात्मा पैर पसारकर लेट गये। राजा ने पूछा—"आपने पैर पसारना कब से सीखा?" महात्मा ने कहा—"जब से हाथ पसारना छोड़ दिया।" इस प्रकार स्वरूपस्थ-वृत्ति सदैव सहज समाधि में डूबी रहती है। वह निर्विकल्प अवस्था में तो समाधि में रहती ही है, व्यवहार में भी मानो समाधि में ही रहती है। ऐसा ज्ञानी पुरुष खाते-पीते, बोलते-चालते, चलते-फिरते भी मानो समाधिलीन है। जिसकी वृत्ति सब समय पदार्थ-पार है वह सब समय समाधि में है।

"आवों न जावों मरों नहिं जीवों, साहेब मेट लगारी।" आना-जाना, मरना-जीना लगाव से एवं आसक्ति से होते हैं। परन्तु यहां तो सद्गुरु साहेब ने ऐसा बोध दे दिया है कि सब तरफ से लगाव ही छूट गया है। अब कहीं लगाव, चिपकाहट, मोह, ममता नहीं रहे, फिर किस वासना को लेकर जीव जगन्नगर में भटकेगा। जिसका शराब से लगाव है वह शराब की दुकान पर जाता है, गांजा से लगाव है वह गांजे के अड्डे पर जाता है। इसी प्रकार जहां जिसका लगाव है वह वहां जाता है। यहां ज्ञानी पुरुष का दृश्य मात्र में कहीं लगाव नहीं रह गया। फिर वह किस संस्कार को लेकर देह में आयेगा! निश्चित ही यह बड़ी उच्चतम स्थिति है, किन्तु मनोवैज्ञानिक है। सारी आसक्तियों का अन्त ही जीवन्मुक्ति है।

"एक नाम मैं निजु कै गहलौं, ते छूटल संसारी।" संसारी-भाव कैसे छूटता है? अर्थात समस्त विषय-वासनाओं का त्याग कैसे होता है? इसके उत्तर में सद्गुरु कहते हैं कि निजु के नाम गहने से। यहां नाम शब्द

उपलक्षण मात्र है। यहां का अर्थ है निज चेतनस्वरूप। वैसे यहां नाम निजु कै ही कहा गया है। तो व्यक्ति का निज का नाम चेतन ही है। हमारा निजस्वरूप चेतन ही है, अतएव जो निज चेतनस्वरूप का भाव दृढ़तापूर्वक पकड़ता है उसी की सांसारिकता छूटती है। साधक जहां तक रंग-रूप वाले भगवान एवं मनःकल्पित आकारों को ग्रहण करता है, वहां तक संसारी-भाव ही है, क्योंकि भौतिक जगत तथा मानसिक जगत त्रिगुणात्मक है। इन दोनों से ऊपर उठने पर ही निजस्वरूप में स्थिति होती है। निज चेतनस्वरूप में स्थिति होने पर ये दोनों छूट जाते हैं। अतएव दृढ़तापूर्वक स्वरूपस्थिति में निमग्न होने पर ही संसारी-भाव छूटता है।

"एक नाम मैं बदि कै लेखों, कहहिं कबीर पुकारी।" कबीर साहेब घोषणा करके कहते हैं कि मैं इस एक नाम को, अर्थात इस चेतनस्थिति को प्रतिज्ञापूर्वक मोक्षदशा मानता हूं। कबीर साहेब नाम-जप मात्र से जो लोग मोक्ष होने की प्रतिज्ञा करते हैं, उनका खंडन करते हैं। इसे आप पीछे चालीसवें शब्द "पण्डित बाद बदे सो झूठा" में अच्छी तरह देख आये हैं। वहां साहेब कहते हैं कि हे पंडित, आप राम-नाम जप मात्र से मोक्ष होने की प्रतिज्ञापूर्वक बात करते हैं, यह असत्य है। परन्तु यहां स्वयं कबीर साहेब "बदि कै लेखों" कहते हैं, क्योंकि वहां केवल नाम-जप से मोक्ष मानने की बात थी और यहां दृश्य विषयों को छोड़कर निज चेतनस्वरूप में स्थित होने की बात है। इस बात का संकेत सद्गुरु ने वहां (40वें शब्द में) भी कर दिया है—"साँची प्रीति विषय माया सो, हरि भक्तन की फाँसी। कहहिं कबीर एक नाम भजे बिनु, बाँधे यमपुर जासी।" वहां भी यही बात है विषय एवं संसारी-भाव का त्याग और राम का भजन। राम-भजन निज चेतनस्वरूप की स्थिति ही है। अतएव वहां के "बाद बदे सो झूठा" तथा यहां का 'बदि कै लेखों' में विरोध नहीं है, किन्तु प्रसंगानुकूल ही है। इस प्रकार इस पूरे शब्द में स्वरूपस्थिति की दिव्य रहनी का वर्णन है।

गगन-मंडल के फूल

शब्द-63

मैं कासों कहौं को सुने को पतियाय, फुलवा के छुवत भँवर मरि जाय॥1॥
जोतिये न बोइये सींचिये न सोय, बिनु डार बिनु पात फूल एक होय॥2॥
गगन मण्डलबिच फूल एक फूला, तर भौ डार ऊपर भौ मूला॥3॥
फुल भल फुलल मलिनि भल गाँथल, फुलवा बिनशि गौ भँवर निरासल॥4॥
कहहिं कबीर सुनो सन्तो भाई, पण्डित जन फुल रहल लुभाई॥5॥

शब्दार्थ—पतियाय=विश्वास करना। फुलवा=फूल, विषय-वासना, भोग। छुवत=स्मरण या स्पर्श करते ही। भँवर=भ्रमर, मन। मरि जाय=विवेकशून्य हो जाता है। गगन मण्डल=मस्तिष्क। मलिनि=मालिन, माली, माली का काम करने वाली स्त्री, चित्तवृत्ति। गाँथल=गूंथना, माला बनाना।

भावार्थ—मैं किससे कहूं, कौन सुनेगा, यदि सुन भी ले तो कौन विश्वास करेगा कि फूल के छूते ही भंवरा मर जाता है। अर्थात इस बात के सुनने तथा समझने वाले कम लोग हैं कि भोगों का स्मरण करते ही मन विवेकशून्य हो जाता है॥ 1॥ बिना जोते, बिना बोये, बिना सींचे तथा बिना डाली-पत्ते के एक फूल होता है, वह है विषय-वासना॥ 2॥ मनुष्य के मस्तिष्क-प्रदेश में विषय-वासना के एक प्रकार के फूल खिलते हैं। इसकी शाखों नीचे तथा जड़ ऊपर हैं अर्थात विचार की जड़ मस्तिष्क ऊपर है तथा इन्द्रिय-शाखों नीचे हैं॥ 3॥ मनुष्य के मस्तिष्क में विषय-वासना के फूल खूब खिले और चित्तवृत्ति रूपी मालिन ने उसकी स्मरणरूपी अच्छी माला गूंथी। परन्तु जब भोग नष्ट हो गये तब मन-भंवरा दुखी हो गया॥ 4॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे भाई संतो ! साधारण की क्या कहें, विद्वान लोग भी इन फूलों में विमोहित हैं॥ 5॥

व्याख्या—संसार में देखा जाता है कि जहां सुगंधित फूल होते हैं वहां भंवरे अपने आप आ जाते हैं। लोक-कहावत है कि फूलों में सुगंध आती है तब भंवरों को निमंत्रित नहीं करना पड़ता, वे स्वयं आ जाते हैं। भंवरे फूलों पर बैठकर उनका रस लेते हैं और उनमें खूब मस्त रहते हैं। जब बाग में फूल नहीं रहते तब भंवरे वहां से उड़ जाते हैं। कबीर साहेब तो अपनी उलटवांसी के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। वे कहते हैं कि मैं किससे कहूं ! मेरी उलटी-सी बात कौन सुनेगा। यदि कोई सुन भी ले तो कौन विश्वास करेगा ! वह यह बात है कि फूल का स्पर्श करते ही भंवरा मर जाता है।

साहेब कहते हैं कि मैं सच कहता हूं कि फूल के छूते ही भंवरा मर जाता है। फूल है विषय-वासना तथा विषय-भोग। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध ये पांच विषय हैं। ये क्रमशः कान, चाम, आंख, जीभ तथा नाक इन पांच ज्ञानेन्द्रियों से भोगे जाते हैं। भोगने के बाद मन में इनकी वासनों बन जाती हैं। वे वासनों मन को बारम्बार विषयों की तरफ खींचती रहती हैं। फिर तो वासनों ही चंचलता का मूल हो जाती हैं। उन्हीं के कारण जीव बारम्बार विषयों की ओर प्रभावित होता है। इस प्रकार मस्तिष्क में विषय-वासनों मानो फूल हैं और बाहर संसार में पांच विषय फूल हैं। मुख्य हैं विषय-

वासनों, उनसे प्रेरित होकर ही मनुष्य स्थूल भोगों में पड़ता है। यह मन-भंवरा विषय-वासनाओं का स्मरण करते ही विवेकशून्य हो जाता है, उसका विवेकशून्य होना ही मानो मरना है। भंवरा मन है, फूल विषय-वासना है, छूना स्मरण करना है तथा मर जाना विवेकशून्य हो जाना है।

"जोतिये न बोइये सींचिये न सोय, बिनु डार बिनु पात फूल एक होय।" फूल पैदा करने के लिए खेत को जोतना, गोड़ना, बोना तथा सींचना पड़ता है। उसके पौधे होते हैं, शाखों होती हैं, उसमें पत्ते निकलते हैं, तब कहीं जाकर उसमें फूल खिलते हैं। साहेब कहते हैं, परन्तु इस विषय-वासना रूपी फूल के लिए यह सब नहीं करना पड़ता है। इसमें न जोतना है, न बोना है, न सींचना है, न इसमें पौधे होते हैं, न शाखों और न पत्ते। इसमें तो ख्याल करते ही फूल खिल जाते हैं। प्रश्न हो सकता है कि ये फूल कहां खिलते हैं? साहेब इसे अगली पंक्ति में बताते हैं—

"गगन मण्डल बिच फूल एक फूला, तर भौ डार ऊपर भौ मूला।" ये फूल खिलते हैं आकाश-मंडल के बीच में। यहां मस्तिष्क ही आकाश-मण्डल है। यही तो विचारों का केन्द्र है। यहीं मलिन-विचार आकर विषय-वासनाओं के फूल खिलते रहते हैं। अच्छे या बुरे सारे विचार पहले मस्तिष्क में आते हैं, यदि वे समाप्त नहीं कर दिये गये तो उनके अनुसार कुछ-न-कुछ इन्द्रियों में क्रियों होती हैं। इस प्रकार इन विषय-वासनाओं के फूल मस्तिष्करूप गगन-मण्डल के बीच में ही खिलते हैं। प्रश्न हो सकता है कि क्या इसमें बिलकुल ही पेड़ तथा शाखों नहीं होते? साहेब कहते हैं कि नहीं, दूसरे प्रकार से देखिए तो इस फूल के भी पेड़ तथा शाखों हैं। परन्तु संसार के पेड़ तथा शाखाओं से उलटे हैं। विषय-वासनाओं के फूल जिस पेड़ में खिलते हैं उसकी जड़ तो ऊपर है और शाखों नीचे की ओर लटकी हुई हैं। अर्थात मस्तिष्क विचारों का केन्द्र है जिसमें विषय-वासनाओं के फूल खिलते हैं। वही मूल है और वह इस शरीर में बिलकुल ऊपर है तथा इन्द्रियां शाखों हैं, वे नीचे लटकी हैं। मूल एवं जड़ में पानी डालने से पूरा वृक्ष हरा-भरा होता है। इसी प्रकार मस्तिष्क में विषय-वासनाओं के आने से शाखों अपने आप आंदोलित हो जाती हैं। यदि कोई अपने मस्तिष्क को विषय-विचारों से सींचता रहे तो उसकी इन्द्रियां अपने आप विषयोन्मुख बनी रहेंगी।

"फुल भल फुलल मलिनि भल गाँथल, फुलवा बिनशि गौ भँवर निरासल।" मनुष्य के मस्तिष्क में विषय-वासनाओं के फूल खूब खिले और चित्तवृत्तिरूपी मालिन ने उनकी अच्छी माला बनायी। अर्थात मनुष्य के मस्तिष्क में विषय-विकार आते गये और चित्त उनका अनुसंधान करता गया,

क्षण-क्षण विषयों का स्मरण करता गया और भोगों के शेखचिल्ली के भवन खड़ा करता गया। परन्तु अन्त में हुआ क्या ! विषय-वासनाओं के फूल विनष्ट हो गये और मन-भंवरा निराश हो गया। मन में जो कुछ विषय-वासनाओं का नक्शा बनाया था वह निष्फल गया। भोगों से शक्ति क्षय होने पर मनुष्य का मन हताश ही होता है। शरीर बूढ़ा होता है। इंद्रियां निर्बल होती हैं। अनुकूल प्राणी-प्रदार्थ बदल जाते हैं। अन्त में विषयी मन-भंवरा संसार से निराश होकर दूसरे बाग की शरण लेने उड़ जाता है।

"कहहिं कबीर सुनो संतो भाई, पण्डित जन फुल रहल लुभाई।" साहेब कहते हैं कि हे भाई संतो, साधारण लोग इस विषय-वासना के फूल में उलझे रहें तो लगता है कि वे अज्ञानी हैं, परन्तु शास्त्रों एवं अनेक विषयों तथा अनेक भाषाओं के विद्वान एवं पण्डित भी इस फूल में प्रलुब्ध हैं। यह आश्चर्य है। पंडित एवं विद्वान सब कुछ जानते हैं। वे बारम्बार संसार की नश्वरता, विषय-वासनाओं की सारहीनता तथा उनकी दुखरूपता का व्याख्यान करते हैं, परन्तु फिर भी वे इनमें भूले रहते हैं। अतएव शास्त्रज्ञान से कोई भव-सागर नहीं पार कर सकता। इसके लिए भक्ति, स्वरूपज्ञान, वैराग्य तथा त्याग चाहिए।

इस शब्द का एक अर्थ योगपरक भी किया जा सकता है। गगन-मंडल अर्थात खोपड़ी में एक सहस्त्रदल कमल की कल्पना की जाती है और उसमें एक ज्योति की अवधारणा की जाती है जो गगन-मंडल का फूल है। वह फूल ऊपर सहस्त्रदल में है तथा उसकी शाखा सुषुम्णा है जो नीचे नाभि और शिश्न के मध्य मूलाधार चक्र तक पहुंची है। इस सुषुम्णा को यौगिक-क्रिया द्वारा जगाकर योगी ऊपर ले जाता है और ऊपर सहस्त्रदल कमल में ब्रह्माग्नि का प्रकाश कर देता है। यही वहां का फूल है। योगियों की मनोवृत्तिरूपी मालिन इसकी अच्छी तरह से माला गूंथती है। अर्थात उनका चित्त इसी में तदाकार होता है। परन्तु साहेब कहते हैं कि यह ब्रह्म माना गया ज्योतिरूपी फूल केवल शरीर का भास-अध्यास है। यह अभ्यास के बाद नष्ट हो जाता है और शरीर छूटने पर शरीर के साथ सदैव के लिए समाप्त हो जाता है, तब योगियों को निराश होना पड़ता है। साहेब कहते हैं कि इस फूल में बड़े-बड़े पंडित लुब्ध हैं। वे इसे सत्य तथा आत्मस्वरूप मान बैठे हैं। परन्तु इस कल्पित फूल के स्पर्श से मन विवेकशून्य हो जाता है। निज चेतनस्वरूप के अलावा जहां तक भास-अध्यास में अनुराग है वह जीव को भटकाने वाला ही है।

जो लोग असंभव काम करने को सोचते हैं उन्हें लोग व्यंग्य करते हैं कि ये आकाश के फूल तोड़ना चाहते हैं। यहां भी गगन-मंडल के फूल की बात

है। चाहे विषय-वासना एवं विषय-भोग हो और चाहे खोपड़ी में कल्पित ज्योति हो, सब मन के आयाम की चीजें हैं, सब जीव के निजस्वरूप चेतन एवं आत्मा से अलग होने से छूटने वाले तथा विनश्वर हैं। अतः इनमें नित्य तृप्ति की आशा करना आकाश के फूल तोड़ने की कामना के समान मिथ्या प्रयास है। इसके परिणाम में व्यक्ति को निराशा ही हाथ लगेगी। इसलिए सारे विजाति दृश्यों को त्यागकर निजस्वरूप में ही तृप्त होना चाहिए।

साधारण लोगों को उपदेश

शब्द-64

जोलहा बीनहु हो हरि नामा, जाके सुर नर मुनि धरें ध्याना॥ 1॥
ताना तनै को अहुठा लीन्हा, चरखी चारिउ वेदा॥ 2॥
सरकुण्डी एक राम नरायण, पूरण प्रगटे कामा॥ 3॥
भवसागर एक कठवत कीन्हा, तामें माँड़ी साना॥ 4॥
माँड़ी का तन माँड़ि रहा है, माँड़ी बिरले जाना॥ 5॥
चाँद सूर्य दुइ गोड़ा कीन्हा, माँझ दीप कियो माँझा॥ 6॥
त्रिभुवन नाथ जो माँजन लागे, श्याम मुररिया दीन्हा॥ 7॥
पाई के जब भरना लीन्हा, वै बाँधन को रामा॥ 8॥
वै भरा तिहुँ लोकहिं बाँधे, कोई न रहत उबाना॥ 9॥
तीनि लोक एक करिगह कीन्हा, दिग मग कीन्हों ताना॥10॥
आदि पुरुष बैठावन बैठे, कबिरा ज्योति समाना॥11॥

शब्दार्थ—अहुठा=अहुठ, साढ़े तीन, तात्पर्य में साढ़े तीन हाथ का मानव शरीर। चरखी=सूत कातने का यन्त्र। सरकुण्डी=ताने के सूत को भिन्न रखने वाली खूंटियां। कठवत=काठ का बड़ा पात्र। माँड़ी=पकाये हुए चावल का पसेव, जो सूत पर चढ़ाया जाता है। चाँद=ईडा (नाक की बायीं) नाड़ी। सूर्य=पिंगला (नाक की दायीं) नाड़ी। गोड़ा=दो टेढ़ी बंधी हुई लकड़ियां जिन पर सूत तानते हैं। माँझ दीप=मध्य भाग, सुषुम्णा नाड़ी। माँझा=मांड़ी चढ़ा हुआ सूत। त्रिभुवननाथ=मन। माँजन लागे=मांड़ी चढ़े हुए सूत को सम और पुष्ट करने के लिए कूंची से मांजा जाता है। श्याम=गाढ़ा रंग, जिससे उस पर दूसरा रंग न चढ़े। मुररिया=टूटे हुए सूत के दोनों सिरे को एक में मिलाकर मरोड़ देना। पाई=सूत को सुलझाकर उसे शुद्ध करना। भरना=कमचियों के बीच से सूत निकाल लेना। वै=कपड़ा बुनते समय सूत को ऊपर-नीचे होने के लिए पहले ही राछ की कमचियों के छिद्रों में एक-एक सूत निकाल-निकालकर बांधते हैं इसे वय-बंधन कहते हैं। तिहुँलोकहिं=नाभि, हृदय,

त्रिकुटी। उबाना =जो सूत बाहर रह जाता है। तीनि लोक=नाभि, हृदय, त्रिकुटी। करिगह=करघा, कपड़ा बुनने का यन्त्र। दिगमग=दशों इंद्रियां।

भावार्थ—हे जोलाहे ! सूत के वस्त्र बुनने के साथ-साथ हरि नाम के भी वस्त्र बुनो, जिसका सुर, नर तथा मुनि ध्यान धारण करते हैं॥ 1॥ हरि नाम-वस्त्र बुनने के लिए जो ताना तनना पड़ता है उन्हें नापने के लिए गज यह मानो साढ़े तीन हाथ का शरीर है, और चारों वेद चरखी हैं जिससे भक्ति का सूत काता जा सकता है॥ 2॥ राम और नारायण नाम सरकंडे हैं जो तुम्हारे भक्तिजनित वस्त्र-वयन के काम को पूर्ण प्रकट करते हैं॥ 3॥ यह भव-सागर संसार मानो एक विशाल कठौता है जिसमें माया की मांड़ी सानी गयी है॥ 4॥ यह शरीर जो शोभायमान हो रहा है यह माड़ी का ही है। अर्थात दिखावा मात्र है। परन्तु इसे कोई बिरला समझता है कि यह दिखावा मात्र एवं नश्वर है॥ 5॥

योगी लोग ईडा और पिंगला को दो गोड़ा बनाते हैं जिस पर श्वास के सूत कसते हैं और सुषुम्णा को मांड़ी चढ़ा हुआ सूत॥ 6॥ योगियों का मन इसे मांजता है। अर्थात वे श्वास-सूत को अभ्यास से सूक्ष्म बनाते हैं। इन सूतों को वे गाढ़ा रंग देते हैं, जिससे उन पर दूसरा रंग चढ़ न सके। अर्थात वे प्रति श्वास में अपने भाव का रंग भरते हैं जिससे अन्य भाव न प्रविष्ट हों। टूटे हुए सूतों के सिरों को एक में जोड़ने के लिए उन्हें मरोड़ देते हैं। अर्थात सभी श्वासों का निग्रहकर योगाभ्यास करते हैं॥ 7॥ वे श्वास को शुद्ध कर कुंभक करते हैं, यही मानो पाई करके भरना देना है। राम में मन को जोड़ना ही मानो उनका वय-बंधन करना है॥ 8॥ वय-बंधन कर जब भरनी करते हैं अर्थात राम में मन जोड़कर जब योग का पट बुनते हैं, तब यह पट नाभि, हृदय तथा त्रिकुटी—इन तीनों लोकों में फैला रहता है। कोई श्वास इस वस्त्र-वयन से अलग नहीं रहता। अर्थात श्वास-श्वास में वे नाम-स्मरण करते हैं॥ 9॥ योगी लोग नाभि, हृदय तथा त्रिकुटी रूपी तीनों लोकों का मानो एक करघा बना लेते हैं और दशों इंद्रियां रूपी दशों दिशाओं के पथ को ताना बना लेते हैं, और आदि पुरुष चेतन में अपने मन को लीन करने का प्रयास करते हैं, परन्तु वे उसे न कर ज्योति में लीन हो जाते हैं। अर्थात वे कल्पित ज्योति को ही आदि पुरुष चेतन मान लेते हैं॥ 10-11॥

व्याख्या—बीजक भर में अनेक रूपकों के साथ जुलाहे के वस्त्र-वयन के रूपक के खंडरूप यत्र-तत्र आये हैं, परन्तु इस शब्द में उसका अधिक सम्पन्न रूपक आया है। इसमें जोलाहा, बीनना, ताना, अहुठा, चरखी, सरकुंडी, कठवत, मांड़ी, सानना, गोड़ा, मांझा, मांजना, मुररिया, पाई, भरना,

वय, उबाना, करिगह आदि शब्द एक साथ संग्रहीत हैं। इनमें से कई ऐसे शब्द हैं जो अब प्रचलित नहीं हैं। वे आज से पांच सौ वर्ष पूर्व प्रचलित थे। इन रूपकों को लेकर सर्वसम्मत अर्थ तो असम्भव है, परन्तु पूरे शब्द का आशय क्या है यह समझ में आ जाता है।

कबीर साहेब मस्तमौला संत थे। वे विविध समयों में विविध स्थानों में विविध ढंग से अपनी बात कहते थे। उनके सामने अनेक प्रकार के पात्र होते थे, इसलिए उन्होंने विभिन्न प्रकार की बातें कहीं हैं। इस शब्द से लगता है कि कबीर साहेब मानो जोलाहों की झोपड़-पट्टियों में चले गये हों और उन्होंने उनको सरल भाव से उपदेश दिया हो हरिनाम के वस्त्र बुनने का। वे जब पंडितों के समूह में जाते हैं तब दार्शनिक बातें कहते हैं। परन्तु यहां वे सरल, अशिक्षित एवं अबोध जोलाहों के बीच में पहुंचते हैं इसलिए वे कहते हैं कि हे जोलाहो, तुम लोग सूत के कपड़े अवश्य बुनो, परन्तु उसके साथ-साथ हरिनाम के वस्त्र का भी वयन करो। साहेब कहते हैं कि इसके लिए बाहरी गज, चरखा, ताना, सरकंडे, कठौता, मांड़ी इत्यादि की जरूरत नहीं है। हरिनाम वस्त्र बुनने के लिए तो तुम्हारा शरीर ही काफी है। इसी में हरिनाम-वस्त्र-वयन की सामग्री प्राप्त है। इसमें साहेब एक विशेष बात कहते हैं कि तुम्हें सूत कातने के लिए चारों वेदों का चरखा बनाना पड़ेगा। यहां वेदों के प्रति श्रद्धा का भाव है।

एक से पांचवीं पंक्ति के बाद वे इस शब्द में योगपरक वाणियों का प्रयोग करते हैं। रूपक जोलाहे का ही रहता है, किन्तु हरिनाम-वस्त्र-वयन की अपेक्षा वह गूढ़ हो जाता है। उसमें ईडा, पिंगला तथा सुषुम्णा द्वारा श्वास साधना और नाभि, हृदय तथा त्रिकुटी इन तीनों लोकों का करघा बनाकर हरिनाम-वस्त्र-वयन या योग-समाधि वस्त्र-वयन की बात आती है।

जहां साहेब योगी की बात करते हैं वहां वे प्रायः उनके अंतिम लक्ष्य ज्योति की बात अवश्य कर देते हैं। योगी लोग खोपड़ी में एक ज्योति की कल्पना करते हैं। उसे वे ब्रह्म कहते हैं, परन्तु वस्तुतः वह है तत्त्वों का प्रकाश या एक अवधारणा। साहेब किसी साधक का इस ज्योति में समाना कभी पसंद नहीं करते। मानो वे योगियों पर व्यंग्य करते हैं कि योगी लोग तो आदिपुरुष, अर्थात मूलपुरुष चेतन में लीन होने के लिए समाधि में बैठे थे परन्तु लीन हो गये ज्योति में। उन्होंने जड़-ज्योति को ही मूलतत्त्व मान लिया। इसी ज्योति पर व्यंग्य करते हुए सद्गुरु ने कहा है—"झिलमिल झगरा झूलते, बाकी छूटि न काहु। गोरख अटके कालपुर, कौन कहावै साहु॥"[1]

---

1. बीजक, साखी 42।

तथा "ज्योतिहि ज्योति ज्योति दै मारै, तब कहु ज्योति कहाँ समानी।"[1]

अगले 65वें एवं 66वें शब्द में योगियों के नाम लेकर उनकी आलोचना प्रस्तुत की गयी है।

योगियों पर विचार

शब्द-65

योगिया फिरिगौ नगर मँझारी, जाय समान पाँच जहाँ नारी॥ 1॥
गयेउ देशान्तर कोई न बतावै, योगिया बहुरि गुफा नहिं आवै॥ 2॥
जरि गयो कन्थ धजा गइ टूटी, भजि गयो डंड खपर गयो फूटी॥ 3॥
कहहिं कबीर यह कलि है खोटी, जो रहे करवा सो निकरे टोटी॥ 4॥

शब्दार्थ—नगर=ब्रह्मांड, खोपड़ी। पाँच नारी=पांच नाड़ियां—धनंजय, कूर्म, कृकल, नाग तथा देवदत्त। देशान्तर=दूसरी देह। गुफा=ब्रह्मांड, खोपड़ी। कन्थ=कंथा, गुदड़ी, देह। धजा=ध्वजा, श्वास। भजि=नष्ट। डण्ड=मेरुदंड। खपर=खोपड़ी। कलि=कल्पना, विषय, मलिन बुद्धि। खोटी=बुरी। करवा=मिट्टी या धातु का लोटे का काम देने वाला टोंटीदार बरतन, अंतःकरण। टोटी=मोरी, मुख, मार्ग, वासना।

भावार्थ—योगी लोग पिंड से श्वास को लौटाकर कृकल आदि पांच नाड़ियों के संयुक्त जहां ब्रह्मांडरूप नगर है उसके मध्य कल्पित ज्योति-शब्द-शून्य आदि में समाधिस्थ हुए॥ 1॥ परन्तु इन भूले हुए लोगों को यह कोई नहीं बताता कि एक दिन जब शरीर त्यागकर दूसरी देह में जायेंगे तब योगी लोग पुनः उक्त ब्रह्मांड एवं भ्रमरगुफारूप माने हुए सुरक्षित घर में ज्योति-शब्द-शून्य आदि में मिलने के लिए नहीं आयेंगे॥ 2॥ तब तो शरीररूपी गुदड़ी जल जायेगी, श्वासरूपी ध्वजा टूट जायेगी, सुषुम्णा नाड़ी का मार्गरूप मेरुदण्ड नष्ट हो जायेगा और उन्होंने जो ब्रह्मज्योति का सुरक्षित घर मान रखा है वह खोपड़ी फूट जायेगी॥ 3॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह मलिन बुद्धि बुरी बात है। जो करवा में रहेगा वही टोंटी से निकलेगा, दूध है तो दूध और पानी है तो पानी। हृदय में मलिनता है तो उसका परिणाम भटकाव एवं दुख होगा ही॥ 4॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने स्वयं हठयोग साधा था और अन्त में उसकी निस्सारता देखकर उसकी आलोचना की थी। वे हठयोग के नहीं, राजयोग के पक्षधर रहे। हठयोगी लोग शरीर संज्ञाहीन बनाकर खोपड़ी में एकाग्र होते हैं।

---

1. वही, शब्द 94।

वहां ज्योति-शब्द-शून्य आदि की कल्पना कर उन्हें ही ब्रह्मरूप एवं परमतत्त्वरूप मानते हैं। साहेब कहते हैं कि ज्योति-शब्द आदि शरीर के कार्य हैं, भास-अध्यास मात्र हैं। ये शरीर के छूटते ही समाप्त हो जायेंगे। इनका साक्षी चेतन ही व्यक्ति का अपना स्वरूप है, अतएव यही परमलक्ष्य है। निजस्वरूप में स्थिति ही परमार्थ है। ज्योति, नाद, शब्द आदि नहीं। इन सबके साधन देह, श्वास, मेरुदण्ड, खोपड़ी आदि सब नाशवान हैं।

साहेब कहते हैं कि जो करवा में रहता है वही उसकी टोंटी से निकलता है। दूध है तो दूध निकलेगा और पानी है तो पानी। 'कलि' मलिनता है। यह बुरी वस्तु है। यदि हमारे मन में मलिनता है तो उसका परिणाम भटकाव ही होगा। यदि योगी दृश्य-भास एवं जड़ाध्यासों में पड़ा है तो उसका भटकना नहीं मिट सकता। भटकना तो तब बंद होगा जब सारे दृश्य-भासों को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में स्थिति हो।

इस शब्द का अर्थ दूसरे ढंग से भी किया जा सकता है। "योगिया फिरिगौ नगर मँझारी" इस अर्धाली में आये हुए 'योगिया' शब्द में श्लेष है। इस शब्द में हठयोगी और जन्मांतरों में भटकने वाले जीव दोनों अर्थ प्रतिबिंबित होते हैं। अतएव दूसरे अर्थ में 'योगिया' का अर्थ वासनावशी जीव मानकर इस शब्द का यह अर्थ किया जा सकता है—

इस जीव ने शरीर छोड़कर और पुनः लौटकर दूसरा शरीर धारण करने के लिए गर्भवासरूपी नगर में प्रवेश किया जहां प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान रूपी पांच नाड़ियां निवास करती हैं। जीव किस दूसरी योनिरूपी देशांतर में गया इसे कोई नहीं बता सकता, और वह जीव लौटकर त्यक्त शरीर में आ नहीं सकता कि स्वयं बता जाये। यहां तो जीव-योगी की प्राण-ध्वजा टूट गयी, मेरुदण्ड नष्ट हो गया, खोपड़ी-खप्पर फूट गया और देह-गुदड़ी जलकर राख हो गयी है। अतएव पूर्व शरीर में लौटकर आने की बात ही नहीं है। साहेब कहते हैं कि जगत-वासनों ही कलि हैं, जीव को भटकाने वाली हैं। जो करवा में रहेगा वही टोंटी से निकलेगा, जीव वासनावश है तो जगन्नगर में अवश्य भटकेगा। अथवा जीव पहले गर्भवास में जाता है तभी तो गर्भ से सजीव देह निकलती है। "जो रहे करवा सो निकरे टोटी" यह तथ्य है।

शब्द- 66

योगिया के नगर बसो मति कोई, जो रे बसे सो योगिया होई॥ 1॥
ये योगिया के उलटा ज्ञान, काला चोला नहिं वाके म्यान॥ 2॥
प्रगट सो कंथा गुप्ता धारी, तामें मूल सजीवन भारी॥ 3॥

वो योगिया की युक्ति जो बूझै, राम रमै तेहि त्रिभुवन सूझै॥ 4॥
अमृत बेली छिन छिन पीवै, कहैं कबीर योगी युग युग जीवै॥ 5॥

शब्दार्थ—नगर=समाज। काला चोला=मैला मन। म्यान=मियान, मध्य भाग, तलवार आदि रखने का खोल, तात्पर्य में सुरक्षा। कन्था=गुदड़ी, शरीर। गुप्ताधारी=गुप्तरूप से धारण करने वाला। मूल सजीवन=संजीवनी बूटी, तात्पर्य में अमर चेतन। भारी=महान। युक्ति=चाल, रीति, स्वभाव। त्रिभुवन=सारा विश्व। अमृत बेली=अमृतलता, स्वरूप-स्मरण। युग-युग जीवै=मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—योग की आड़ में भौतिक-सुख की इच्छा रखने वाले योगियों के समाज में कोई मत जाओ, क्योंकि जो उनके संग में रहेगा वही "कच्चा सिद्ध माया प्यारी"[1] के अनुसार भ्रांत योगी बन जायेगा॥ 1॥ इन योगियों का ज्ञान उलटा है, पाना चाहिए निजस्वरूप की स्थिति, तो ये पाने की कोशिश करते हैं संसार के भोग। अतएव इनका मन मैला है, इनकी संगत में आत्मज्ञान की सुरक्षा नहीं है॥ 2॥ मानो यह जीव ही योगी है, इसका प्रत्यक्ष शरीर इसकी गुदड़ी है, इसके भीतर गुप्तरूप से महान अमर चेतन विद्यमान है॥ 3॥ इस जीव-योगी के स्वभाव को जो समझ जायेगा कि यह शुद्ध चेतन मात्र है, वह अपने स्वरूप-राम में ही निरन्तर रमण करने लगेगा। वह सारे विश्व का साक्षी बनकर सबसे अलग हो जायेगा॥ 4॥ वह क्षण-क्षण अपने चेतनस्वरूप का स्मरणरूपी अमृतपान करेगा। कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसा आत्मस्थ योगी सदा के लिए अमरत्व पा जायेगा, अर्थात वह अपने अविनाशी स्वरूप में स्थित हो जायेगा॥ 5॥

व्याख्या—कबीर साहेब के समय में उत्तरी भारत में योगियों का बहुत अधिक प्रचार था। योगी के नाम पर ज्यादा तो ऐसे लोग थे जो आसन, मुद्रा आदि का दिखावा कर समाज को आश्चर्यचकित करते थे, और उनसे धन एवं भोग वस्तुओं को प्राप्तकर उन्हीं में लीन रहते थे। कुछ लोग इनसे ऊपर उठते थे तो वे ज्योति, नाद, शब्द एवं शून्य को अपने योग का लक्ष्य मानकर दृश्यभास में ही रुक जाते थे। निजस्वरूप का बोध तथा सारे भास-अध्यासों को छोड़कर निज स्वरूपस्थिति की बातें दुर्लभ थीं।

इसलिए सद्गुरु ने कहा—"योगिया के नगर बसो मति कोई, जो रे बसे सो योगिया होई।" संगत का प्रभाव तो पड़ता ही है। हठयोग की प्रक्रिया सीखकर हाट-बजारे समाधि लगाना और जनता को आकर्षित कर उनसे

---

1. रमैनी 69।

सम्मान एवं भोग पाने की आशा करना तो कल्याणपथ से भटक जाना है। यही तो इन योगियों का उलटा ज्ञान है। योग का मतलब है मन की एकाग्रता, चेतन का जड़ प्रकृति से वियोग होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना, अर्थात सारी जड़ासक्ति का त्यागकर जीव का निजस्वरूप में स्थित हो जाना, परन्तु काम करने लगे इसके उलटा लोक-रिझावा, तो इसका परिणाम उलटा होगा ही। यही उनका 'काला चोला' होना है। चोला कहते हैं ढीले-ढाले अंगरखे को। दूसरे अर्थ में शरीर है। काला का अर्थ काला है ही। अतः काला चोला का लाक्षणिक अर्थ है 'मैला मन'। साहेब कहते हैं कि योग की आड़ में सम्मान और भोग चाहने वाले योगियों का मन मैला है। "नहिं वाके म्यान" म्यान किसी वस्तु को रखने का खोल होता है। उसमें किसी वस्तु की सुरक्षा रहती है जैसे तलवार म्यान में सुरक्षित रहती है। साहेब कहते हैं कि इन योगियों के पास आत्मकल्याण की सुरक्षा नहीं है। जब ये स्वयं भटके हुए हैं तब दूसरों को क्या सुरक्षा दे सकते हैं।

"प्रगट सो कन्था गुप्ताधारी, तामें मूल सजीवन भारी।" साहेब कहते हैं कि इन वेषधारी योगियों के आस-पास चक्कर काटना छोड़ दो और यह समझ लो कि प्रत्येक मनुष्य जीव मानो योगी है। योगी गुदड़ी ओढ़कर चलता है, तो प्रत्येक जीव-योगी का यह प्रकट शरीर ही मानो गुदड़ी है, जिसके भीतर गुप्तरूप से महान तत्त्व अमर चेतन विद्यमान है। बाह्य योगी अमरता प्रदान करने का दावा करता है। उसका दावा तो झूठा है, क्योंकि शरीर से कोई अमर नहीं हो सकता, परन्तु इस शरीर के भीतर विद्यमान महान चेतन स्वरूपतः अमर है। यदि हमें अपने चेतनस्वरूप का ज्ञान हो जाये तो मृत्यु-भय रह ही नहीं जायेगा, क्योंकि चेतन अमर है। इस शरीर-गुदड़ी में गुप्तरूप से बसा हुआ मूल सजीवन अमर आत्मा ही है जो भारी है, महान है, दिव्य है और व्यक्ति का अपना स्वरूप है।

"वो योगिया की युक्ति जो बूझै, राम रमै तेहि त्रिभुवन सूझै।" इस जीव-योगी की युक्ति जो बूझेगा वह अपने रामरूप में ही रमण करने लगेगा, उसे सारा संसार सूझेगा। यहां योगिया की युक्ति क्या है? युक्ति के कई अर्थ हैं—योग, मिलन, तर्क, ऊहा (सुधार), दलील, उचित, विचार, हेतु, कारण, न्याय, नीति, कौशल, चातुर्य, अनुमान, उपाय, योजना, चाल, रीति[1] आदि। हम यहां इनमें अंतिम वाला अर्थ लें चाल एवं रीति, इसका सरल शब्द स्वभाव है। यदि इस जीव-योगी का स्वभाव समझ में आ जाये, अर्थात

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।

अपने चेतनस्वरूप का लक्षण हम ठीक से समझ लें कि वह शुद्ध चेतन मात्र है तो अपने स्वरूप में ही रमने लगेंगे। अपना चेतनस्वरूप ही तो राम है और जो उसमें रमने लगेगा उसे त्रिभुवन सूझेगा। "त्रिभुवन सूझै" को हम दो ढंग से समझ सकते हैं, एक तो यह कि वह जड़-चेतन के गुण-लक्षणों को ठीक से जान लेता है, इसलिए उसी परख से वह सारे संसार को समझ जाता है कि संसार जड़-चेतनमय है और अपने अंतर्निहित गुण-धर्मों से चल रहा है। बटलोई के एक चावल को छूकर सभी चावल का ज्ञान हो जाता है कि पके हैं कि नहीं। इसी प्रकार आत्मविवेकी पुरुष अपने विवेक से मानो सारे संसार की गुण-धर्मात्मक वास्तविकता को समझ लेता है, यही त्रिभुवन सूझना है। इसे दूसरे ढंग से इस प्रकार समझ सकते हैं कि राम में रमने वाला स्वरूपज्ञानी पुरुष सारे संसार का साक्षी बन जाता है। अर्थात वह अपने आप को सबसे अलग कर लेता है।

"अमृत बेली छिन छिन पीवै, कहैं कबीर योगी युग युग जीवै।" अमृत का अर्थ है जो मृत न हो, अमर हो, वह जीव ही है।[1] अमृत का दूसरा अर्थ मीठा है। जो वस्तु बहुत मीठी होती है उसे लोग कहते हैं कि यह तो अमृत है। बेलि कहते हैं लता को, यहां इसका लाक्षणिक अर्थ होगा स्मरण। अतएव अमृत बेलि को क्षण-क्षण पीने का अर्थ है अपने अमृत-स्वरूप का निरन्तर स्मरण। युग-युग जीने का अर्थ है आवागमन से मुक्त होकर सदैव के लिए एकरस स्थिति प्राप्त कर लेना। जो सारी जड़ासक्तियों को त्यागकर निजस्वरूप के स्मरण का अमृत-पान निरन्तर करता है वह जीवन में शोकमुक्त हो जाता है तथा आगे सदा के लिए आवागमन से मुक्त हो जाता है। अंततः स्वरूपज्ञानी पुरुष को स्वरूप-स्मरण नहीं करना पड़ता। वह तो सदैव निजस्वरूप में ही विश्राम करता है।

जगत के उपादान स्वरूप ब्रह्म-मान्यता की समीक्षा

शब्द-67

जो पै बीज रूप भगवान, तो पण्डित का पूछो आन॥ 1॥
कहाँ मन कहाँ बुधि कहाँ हंकार, सत रज तम गुण तीन प्रकार॥ 2॥
विष अमृत फल फले अनेका, बहुधा वेद कहे तरबे का॥ 3॥
कहहिं कबीर तै मैं क्या जान, को धौं छूटल को अरुझान॥ 4॥

---

1. अमृत वस्तु जानै नहीं, मगन भया सब लोय।
कहहिं कबीर कामों नहीं, जीवहि मरण न होय॥ (रमैनी साखी 10)

शब्दार्थ—आन=अन्य, दूसरा। बहुधा=बहुत प्रकार। धौं=भला। छूटल=मुक्त। अरुझान=बंधा।

भावार्थ—यदि जगत का बीजस्वरूप, अर्थात अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण परब्रह्म ही है, तो हे पण्डितो! दूसरी बात क्या पूछते हो?॥ 1॥ मन, बुद्धि, अहंकारादि चतुष्टय अंतःकरण अद्वैत में कहां संभव है? सत-रज-तम—ये तीन प्रकार के गुण शुद्ध ब्रह्म में कहां से आ गये?॥ 2॥ संसाररूप परब्रह्म-वृक्ष में पाप-पुण्यकृत सुख-दुख के अनेक फल फलते हैं—यह भी कैसे? उन सुख-दुखों से मुक्त होने के लिए वेद नाना प्रकार से मार्ग बताते हैं—यह भी अयुक्त है॥ 3॥ सद्गुरु कहते हैं, अद्वैत ब्रह्म में तैं-मैं भी क्या जानते हो? कौन भला मुक्त होता है और कौन बन्धन में पड़ता है?॥ 4॥

व्याख्या—अद्वैत ब्रह्मवादी कहते हैं कि जल और उसकी तरंग, मिट्टी और उससे बने घट, स्वर्ण और उससे बने विभिन्न आभूषण जैसे दो नहीं होते, वैसे ब्रह्म से बना जगत, ब्रह्म से पृथक नहीं। इस न्याय से सब कुछ ब्रह्म ही है।

सद्गुरु उपर्युक्त मत की आलोचना करते हैं कि यदि सब कुछ ब्रह्म ही है, तो हे अद्वैतवादी विद्वानो! तुम किससे बोलते हो? ब्रह्म के अतिरिक्त मन-बुद्धि आदि एवं त्रिगुण और शरीर भी दूसरा क्या है? आपके मत से तो सब ब्रह्म ही है, फिर अध्यारोप (अन्य में अन्य का आरोपण) तथा अपवाद (खण्डन) किसमें किसका करते हो?

एक ब्रह्म में पाप-पुण्य एवं सुख-दुखरूप विष-अमृत भी आप कैसे सिद्ध कर सकते हैं? वेद-उपनिषद् जो मोक्ष का मार्ग बताते हैं, वह भी किसको? एक ब्रह्म अपने आप को उपदेश करता है, यह भी क्या लीला है?

ब्रह्म को ब्रह्म कहने की क्या गर्ज है?
जानना ब्रह्म ऐसा किसका फर्ज है?

(श्री निर्मल साहेब)

जब एक ही ब्रह्म है तब तू-तू, मैं-मैं क्या करते हो? आप अद्वैतवादी बड़े, दूसरे द्वैतवादी छोटे, यह भूल कहां से आती है? सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने त्रिज्या में सत्य कहा है—

"अद्वैत उपदेश तो सबने किया, परन्तु द्वैत सबको भासा।
जो द्वैत नहीं भासा, तो उपदेश किसको किया?"

एक ब्रह्म में कौन मुक्त होगा और कौन बन्धन में पड़ेगा? क्योंकि मुक्त एकदेशी होता है। सर्वदेशी विभु मुक्त नहीं होता। यदि व्यापक आत्मा मुक्त हो

जाये तो बन्धन में कौन रहे? यदि बन्धन में कोई नहीं है, तो संसार में सर्वत्र हाय-हाय क्यों है? अद्वैत ब्रह्मवादी उपदेश किसको करते हैं? जगत से वैराग्य कर देहादि की निन्दा कर, पहले अपनी आत्मा को सब दृश्यों से पृथक किया, फिर अन्त में जल-तरंग-न्याय सारा जड़-चेतन जगत-ब्रह्म एक हो गया "दुइ मिलि एकै होय रहा, मैं काहि लगाऊँ हेत?" (बीजक, रमैनी 71)

सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने ठीक ही कहा है—

"सारा दिन पिसान पीसा, चलनी में उठाया, हलाय देखा, तो खाली-का-खाली।
मृगतृष्णा का तोय अरु, बाँझ पूत को न्याय।
अस विचार वेदान्त का, अन्त न कछू लखाय॥"

इस सड़सठवें शब्द की व्याख्या बीजक शिक्षा में भी देखने योग्य है। ब्रह्मवादी कहते हैं—

"इस ब्रह्म को प्रपंच का कारण प्रतिपादन करने में श्रुति का केवल यही तात्पर्य है कि जिससे लोग परमाणु-प्रकृति आदि जड़ वस्तुओं को इसका कारण न मान लें।

"इसमें यह शंका हो सकती है कि दृश्य असत, जड़ एवं दुख-स्वरूप है, उसका कारण सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म कैसे हो सकता है? कार्य में सर्वथा कारण के गुणों की अनुवृत्ति हुआ करती है। कारण और कार्य की विजातीयता प्रायः देखने में नहीं आती। इसका समाधान यह है कि यद्यपि मुख्यतया तो यही नियम देखा जाता है; परन्तु कहीं-कहीं इसमें विषमता होती भी देखी गयी है। देखो, जड़ गोबर से बिच्छू आदि चेतन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार चेतन-ब्रह्म से जड़ प्रपंच की उत्पत्ति भी सम्भव हो सकती है।

"इस प्रकार यद्यपि आरम्भ में तो ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति का ही प्रतिपादन किया जाता है, तथापि अन्ततः सिद्धान्त तो यही है कि प्रपंच की उत्पत्ति ही नहीं हुई है। इसलिए यह जो कुछ प्रतीत होता है बिना हुआ ही दिखाई देता है। इसी से यह अनिर्वचनीय है। अतः आभास और निरोध—आरोप और अपवाद अर्थात बन्ध-मोक्ष अज्ञानजनित ही है।"[1]

अब देखिए इस अद्वैतवाद को। श्रुति-लेखकों के मन में यह महा भय समा गया था कि यदि हम ब्रह्म को जगत का कारण नहीं कहेंगे, तो नैयायिक और सांख्यवादी आदि जगत का कारण परमाणु-प्रकृति आदि सिद्ध कर देंगे, तो हमारे अद्वैत का पाया उठ जायेगा।

---

1. कल्याण, भाग 10, संख्या 7, पृष्ठ 1167।

जब ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, तब जगत और उसके कारण प्रकृति-परमाणु आदि तथा उनके सिद्ध करने वाले व्यक्ति—इनका अस्तित्व ही नहीं होना चाहिए। यदि सचमुच इनका अस्तित्व नहीं है, तो ब्रह्मवादी इनसे डरते क्यों हैं? डरते हैं तो वे भीतर-भीतर इनके अस्तित्व से प्रभावित हैं, केवल ऊपर से अद्वैत की बात करते हैं।

सत-चिद्-आनन्द ब्रह्म से असत-अचिद्-दुखस्वरूप जगत हो गया। कैसे हो गया? जैसे जड़-गोबर से चेतन-बिच्छू हो जाते हैं। ये वाक्य और भाव घोर भौतिकवाद को कितना पुष्ट करते हैं। जड़-गोबर में पहले ही वासनावशी अविनाशी जीव न आयें, तो चेतन-बिच्छू हो ही नहीं सकते। चावल में, गेहूं में, फल में तथा अन्य पदार्थों में देहधारी जीव पैदा हो जाते हैं तो उनमें केवल जीवों की देहों का निर्माण होता है, अमर जीवों का नहीं।

अतः नाना चेतन और जड़ सर्वथा पृथक-पृथक हैं, न चेतन से जड़ होगा, न जड़ से चेतन। कारण-कार्य के गुण-धर्मों की समानता होती है। जिस मूल द्रव्य में जो गुण-धर्म हैं ही नहीं, वे उनके कार्यों में कहां से आ जायेंगे !

सृष्टि के कारण प्रकृति-परमाणु आदि जड़-तत्त्वों को मानने वाले द्वैतवादियों के भय से ब्रह्मवादियों ने ब्रह्म से ही जगत की उत्पत्ति बतला दी; अन्यथा उनके विचार से 'सृष्टि या जगत उत्पन्न ही नहीं हुआ। यह जगत है ही नहीं। वास्तव में यह सब ब्रह्म ही है। अर्थात ब्रह्म-चेतन और जगत एक ही है।' घोर अंधकार है। जड़-चेतन की पृथकता, चेतन से पृथक जड़ जगत की प्रवाहरूप नित्य स्थिति सरलता से समझ में आ सकती है। पांच ज्ञान-इन्द्रिय एवं छठे मन से प्रतिक्षण दृश्यमान अनादि-अनन्त जगत को कौन विवेकी सर्वथा मिथ्या कह सकता है ! जिस जगत को मिथ्या कहा जा रहा है, उसी के सारे प्रमाण—जल-तरंग, घट-मृतिका, रज्जू-सर्प—लेकर ब्रह्म को सिद्ध किया जा रहा है।

जब मुझसे पृथक जगत है ही नहीं, यह सारा प्रपंच मैं ही हूं; तब बन्ध-मोक्ष भी झूठे तथा पाप-पुण्य, विधि-निषेध भी व्यर्थ, कर्तव्य-अकर्तव्य कुछ रहा नहीं। इन्द्रियां भोगों में लगी हैं, तो मेरा क्या बिगड़ता है? मैं निर्लेप आत्मा हूं। जब सब कुछ मैं ही हूं, तब क्या त्याग करूं और क्या ग्रहण करूं? जब बन्ध-मोक्ष दोनों मिथ्या हैं, तब भोग-त्याग का विचार भी व्यर्थ। केवल अद्वैत का ज्ञान हो जाना चाहिए। ज्ञान हो जाने के पश्चात भोग-त्याग की मर्यादा नहीं। यदि शुकदेवादि त्यागी थे, तो श्रीकृष्ण, जनक, वसिष्ठ, शिखध्वज आदि भोगी थे, किन्तु सभी एक समान ज्ञानी थे। ब्रह्म के अतिरिक्त

जब कुछ है ही नहीं, तब कुछ ग्रहण करने में भय क्या! यह है अद्वैत ब्रह्मवाद का निर्लिप्तवाद! इस पर हैं विचित्र-विचित्र वेदान्तिक उक्तियां! प्रमाण तो थोड़ा ही पर्याप्त है।

कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपौ जनक राघवौ।
वसिष्ठः कर्मकर्ता च ते सर्वे ज्ञानिनः समाः॥

'कृष्ण भोगी, शुकदेव त्यागी, जनक और राम राजा तथा वसिष्ठ कर्मी थे, परन्तु ये सब समान ज्ञानी थे।'

गौड़पादाचार्य जी कहते हैं—

त्रिषु धामसु यद् भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः।
वेदैतद् उभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते॥

(आगम-शास्त्र 1/5)

"तीनों अवस्थाओं में जो भोज्य है और जिसे भोक्ता कहा गया है जो इन दोनों, भोज्य तथा भोक्ता को समझ लेता है वह भोगता हुआ भी लिप्त नहीं होता।"[1]

हम यहां अद्वैतवाद की कुछ युक्तियों पर विचार करें—

कारण-कार्यवाद—"जैसे कंगन-कंठादि आभूषणों का उपादान कारण स्वर्ण है, घट का मिट्टी है और तरंग का जल है, वैसे जड़-चेतनात्मक समस्त विश्व का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म है" यह ब्रह्मवाद है। विवेक द्वारा देखने से यह मत उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि स्वर्ण, मिट्टी तथा जल विकारी हैं, अनेक परमाणुओं के समूह हैं, विरोधी तत्त्वों के उद्वेग से वे उद्वेगित होकर गतिशील होते हैं, इसलिए उनमें कार्य-पदार्थों का बनना सम्भव होता है। विरोधी तत्त्व न हों तो एक तत्त्व से कोई पदार्थ नहीं बन सकता। फिर निर्विकार, निरवयव, अखण्ड चेतन से विकार फूट-फूटकर यह चन्द्र, सूर्य, तारागण, पेड़, पहाड़, समुद्र तथा मनुष्य, पशु, पक्षी आदि हो गये—यह मानना कहां तक उचित है। पुनश्च उपर्युक्त सिद्धान्त में वेदान्त का प्रमुख 'विवर्तवाद' भी एकदम समाप्त हो जाता है और सांख्यवादियों का परिणामवाद सिद्ध हो जाता है। सत्तायुत पदार्थ का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित हो जाना, जैसे मिट्टी का घट हो जाना, दूध का दही हो जाना, सोना का आभूषण एवं जल का तरंग हो जाना, यही तो सांख्य का परिणामवाद है कि प्रकृति ही विकृत होकर महत, अहंकार, पंचतन्मात्रादि हो

---

1. 14वें शब्द की व्याख्या भी देखें।

गये। ब्रह्मवादियों ने कहा ब्रह्म ही विकृत होकर यह सब हो गया। प्रकृति तो त्रिगुण की समष्टि है इसलिए उसमें विकृति सम्भव है, परन्तु निर्विकार अखण्ड ब्रह्म में यह सब सम्भव नहीं।

विवर्तवाद—अब 'विवर्तवाद' को देखिए। विवर्त के तो कई अर्थ होते हैं, जैसे घूमना, गोलाई में चक्कर लगाना, लुढ़कना, समूह, नाच, रूपान्तर, भ्रम, आकाश, परिवर्तन, सुधार, भंवर, अविद्याजन्य मिथ्या रूप आदि, परन्तु वेदान्त के 'विवर्त' का अर्थ है 'मिथ्या परिवर्तन' अर्थात जिसमें परिवर्तन हुआ तो न हो, अपितु भ्रमवश परिवर्तन प्रतीत होता हो। जैसे दूर से रस्सी को देखकर सर्प की भ्रांति होती है, सीपी को देखकर चांदी की तथा बालुका देखकर जल की भ्रांति होती है। इसी प्रकार ब्रह्म को देखकर जगत की भ्रांति होती है।

प्रश्न होता है कि जिसने प्रथम सर्प को, चांदी को तथा जल को देख रखा है वही रस्सी देखकर सर्प का भ्रम, सीपी देखकर चांदी का भ्रम तथा बालुका देखकर जल का भ्रम कर सकता है। जिसने कभी सर्प को न देखा हो उसे रस्सी देखकर सर्प की भ्रांति होगी ही नहीं। फिर जब जगत तीनों काल में है ही नहीं, तो उसे कैसे देखा गया जिससे कि उसका भ्रम ब्रह्म को देखकर हुआ। इसके अतिरिक्त सर्प और रस्सी में, चांदी और सीपी में सादृश्यता है, इसलिए पूर्वकाल में सर्प और चांदी को देखने वाला कालान्तर में रस्सी देखकर उसमें सर्प का भ्रम तथा सीपी देखकर उसमें चांदी का भ्रम कर सकता है, परन्तु जगत और ब्रह्म में सादृश्यता नहीं है। क्योंकि जगत स्थूल, क्रियाशील साकार है जबकि ब्रह्म को निष्क्रिय-निराकार बताते हैं, फिर निराकार में साकार का भ्रम कैसे होगा?

सर्प, रस्सी तथा जिसको भ्रम होता है वह मनुष्य—ये तीनों सत्य हैं। जिस काल में रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होती है, उस काल में रस्सी में तो सर्प नहीं है, परन्तु अन्यत्र है ही, किन्तु ब्रह्मवाद में एक ही ब्रह्म होने से ये सभी दृष्टान्त अघटित हैं। ब्रह्म में जगत का भ्रम हुआ किसको, जब केवल एक ब्रह्म की ही सत्ता है? इसका उत्तर ब्रह्मवाद में नहीं है। (देखिये आगे 112वें शब्द की व्याख्या)।

स्वप्नवाद—स्वप्न का दृष्टान्त ही अद्वैतवाद की जान है। अब इसको देखें। कहा जाता है जैसे मनुष्य सोते समय अर्धनिद्रा में स्वप्न देखता है, स्वप्न में चन्द्र, सूर्य, पेड़-पहाड़ सब दिखते हैं, वहां ये सब कहां हैं? वहां स्वप्नद्रष्टा स्वयं दृश्य बन जाता है तथा अपना ही द्रष्टा रहता और अपने ही में सब प्रतीत करता है, वैसे ब्रह्म अपना ही दृश्य बन जाता है तथा अपना ही द्रष्टा रहता और अपने ही में सब प्रतीत करता है।

प्रश्न होता है कि यदि जागृत अवस्था में प्रत्यक्ष एवं सत्य-जगत का अनुभव न किया जाये तो स्वप्न होगा ही नहीं। जागृत की अपेक्षा से ही स्वप्न होता है। जागृत में जिन-जिन प्राणी-पदार्थों-परिस्थितियों को देखा, सुना या भोगा जाता है उन्हीं के संस्कार मन में टिके रहते हैं और अर्धनिद्रा में वे ही भासते हैं। जागृत के पदार्थ बिम्बरूप से हैं, अंतःकरणरूपी दर्पण पर वे ही संस्कार प्रतिबिम्ब रूप हैं जो अर्धनिद्रा में स्वप्नरूप में भासते हैं। जो कभी देखा, सुना और भोगा नहीं जायेगा उसका स्वप्न होगा ही नहीं। जिस पदार्थ का चित्र मन में कभी नहीं पड़ा रहेगा। उसका स्वप्न कैसे हो सकता है? जन्मांध को रंग-रूप का स्वप्न कभी नहीं दिखता। अतएव बिना प्रत्यक्ष जगत देखे ब्रह्म का उसका स्वप्न देखना भी विचित्र है।

कहा जाता है ऐसे भी अनेक स्वप्न होते हैं जिनका जागृति में कभी विचार नहीं किया गया है। अर्थात जो जीवन में कभी नहीं सोचा गया, उसका स्वप्न कभी-कभी आ जाता है, जैसे मैं उड़ रहा हूं, किसी अपरिचित स्थान पर गया हूं, मैं मर गया हूं, मेरा शव पड़ा है, उसे मैं देख रहा हूं, इत्यादि। परन्तु उपर्युक्त युक्ति में कोई बल नहीं है। दिन भर हम जितनी बातें सोचते तथा देखते-सुनते हैं, उन सब में कुछ का ही स्मरण रहता है, बाकी भूल जाता है। कभी-कभी पूर्व के देखे-सुने-भोगे हुए का एकाएक स्मरण हो जाता है। कभी स्मरण करने पर स्मरण होता है। बहुत-सी बातें एकदम भूल जाती हैं। परन्तु उनमें से बहुतों के संस्कार मन में रहते हैं, जिनका कभी-कभी स्वप्न में आ जाना स्वाभाविक है। मनुष्य स्वयं का भी उड़ना सोचता है, वायुयान-पक्षी आदि को उड़ते देखता ही है, मनुष्य को मरते देखता है, प्रत्येक मनुष्य कभी-न-कभी अपनी मृत्यु को भी सोचता है। स्वप्न में कितने ही अपरिचित पदार्थ हों, जड़-चेतन पदार्थ सब परिचित ही हैं और ये ही पदार्थ वहां रहते हैं। स्वप्न में स्थिरता नहीं रहती। स्वप्न देख रहे हैं कि हम काशी में हैं, इतने में देखते हैं कि हमारे सामने लखनऊ का दृश्य आ गया है। जागृति-अवस्था में मन में दृढ़त्व रहता है, निद्रा में वह दृढ़त्व नहीं रहने से स्वप्न विकृत रूप से दिखते हैं, परन्तु होते हैं वे जागृति के संस्कार ही।

महर्षि याज्ञवल्क्य जनक को उपदेश देते हुए कहते हैं—"यह स्वप्न जीव का जागृत-देश ही है। अर्थात जीव जो जाग्रत-अवस्था में देखा, सुना और भोगा रहता है, उन्हीं के संस्कार मन में पड़े रहते हैं और वे ही अर्धसुषुप्ति में स्वप्न रूप में दिखायी देते हैं।"[1]

---

1. अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इति ॥
(बृहदारण्यक उपनिषद् 4/3/14

जड़ शरीर, मन तथा प्रत्यक्ष जगत के सम्बन्ध में संस्कार बनते हैं, वे ही अर्धनिद्रा में स्वप्नरूप भासते हैं। शुद्ध अद्वैत चेतन में न जागृत अवस्था बनेगी न स्वप्न। जब ब्रह्म के शरीर और मन हों, वह प्रत्यक्ष सत्य-जगत में रहकर इन्द्रियों से क्रिया-व्यवहार करे और फिर सो जाये, तभी वह स्वप्न देख सकता है। तो ऐसा व्यवहार सब जीव कर ही रहे हैं। जड़-जगत तथा अविनाशी अगणित चेतन जीव प्रत्यक्ष हैं ही, फिर ब्रह्म की कल्पना और जगत को उसका स्वप्न कहने का क्या प्रयोजन है !

एक काल में एक व्यक्ति जो स्वप्न देखता है, वह स्वप्न दूसरे-तीसरे आदमी नहीं देखते, परन्तु इस जगत को एक काल में सभी समान देखते हैं। केशव के लिए बारह बजे दिन है तो माधव के लिए भी। रमेश के लिए गंगा की बायीं ओर काशी बसी है तो दिनेश के लिए भी। इसके अतिरिक्त जो स्वप्न एक बार देखा गया, दूसरी बार वही नहीं देखा जाता, परन्तु जो जगत आज देखा गया, कल वही देखा जाता है। इसलिए जगत स्वप्नवत नहीं, अपितु यथार्थ है। हां, उसका हमारा सम्बन्ध मनोमय द्वारा है, छूट जाने वाला है। इसलिए वैराग्य की दृष्टि से जगत को विवेकी स्वप्नवत भी कहते हैं। परन्तु अद्वैतवादियों का स्वप्नवाद उचित नहीं।

व्यापकवाद—जड़-चेतन कोई भी वस्तु व्यापक नहीं है। पृथ्वी आदि तत्त्वों के असंख्य परमाणु हैं। वे सब व्यापक नहीं। आकाश कोई द्रव्य नहीं, वह पोल या शून्य है। तत्त्वों के अखण्ड परमाणुओं में तथा अखण्ड चेतन जीवों में सन्धि न होने से उनमें आकाश व्याप्त नहीं हो सकता। इसलिए सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाये तो आकाश भी सर्वत्र व्यापक नहीं, वह अखण्ड परमाणुओं तथा अखण्ड चेतन जीवों के बाहर ही है।

यदि चेतन एक और व्यापक होता तो दूसरी वस्तु रहने का स्थान न होता, क्योंकि चेतन अखण्ड है। एक अखण्ड वस्तु से सब जगह घिर जाने से दूसरी वस्तु को रहने का स्थान कैसे हो सकता है? परन्तु प्रत्यक्ष ही नाना चेतन तथा असंख्य परमाणुओं के सहित पृथ्वी आदि अनेक तत्त्व और पोल-शून्य भी संसार में हैं। एक अखण्ड निर्विकार-निष्क्रिय चेतन-ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होने से क्रिया, परिवर्तन, विकार, निर्माण-कर्म सम्भव ही नहीं हैं, परन्तु क्रियादि सम्पूर्ण कार्य संसार में हो रहे हैं, अतएव चेतन की अद्वैतता और उसकी व्यापकता दोनों समीचीन नहीं हैं।

यदि चेतन सर्वत्र व्याप्त है और वह चेतन मैं ही हूं, तो सर्वत्र की बातें क्यों नहीं जानता? यदि कहिए अंतःकरण के माध्यम से बाह्यज्ञान होता है, सो तो ठीक है; परन्तु संसार में सर्वत्र अन्तःकरण भी व्यष्टिरूप में है, तो उन-उन

अन्तःकरणों द्वारा हमें वहां-वहां का ज्ञान करना चाहिए। जैसे व्यापक होने से हम चेतन अमेरिका में भी हैं, और वहां असंख्यों अन्तःकरण भी हैं, वे सब अन्तःकरण मेरे में ही हैं, फिर उनके माध्यम से वहां की बातें मुझे जानना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं। शरीर के हाथ-पैर आदि में कहीं कष्ट हो तो उसका अनुभव मुझे ही होता है। इसी प्रकार संसार में किसी भी शरीर-अन्तःकरण में कष्ट होने पर उसका अनुभव मुझे ही होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव चेतन का एक होना और व्यापकता दोनों विवेक और युक्ति-विरुद्ध हैं।

उत्पत्ति और लयवाद—अद्वैतवादी कहते हैं—"आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई।[1] फिर अद्वैत अवस्था को प्राप्त करने के लिए पृथ्वी को जल में लय करें, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में तथा आकाश को आत्मा में लय करें, फिर केवल एक आत्मा ही अद्वैत है।"

अब इस उत्पत्ति और लय-प्रक्रिया को देखिए। आत्मा अखण्ड, निर्विकार और व्यापक माना गया है। फिर उसमें विकार उठना, सत्-चिद्-आनन्द आत्मा (ब्रह्म) का टूटकर असत्-अचिद्-अआनन्द पृथ्वी आदि जगत का बनना कितना असम्भव है। माना हुआ निराकार अखण्ड आत्मा आकाश हो गया, वायु हो गया, माटी-पानी हो गया, यह कितनी बड़ी भ्रान्ति है !

आत्मा से आकाश उत्पन्न होने का तात्पर्य यह है कि पहले आकाश नहीं था। सर्वत्र ठोस था। फिर किस वस्तु से ठोस था? वह वस्तु कहां हटाकर कर दी गयी जिससे आकाश बनाया जा सका। वह वस्तु जहां की गयी वहां पहले आकाश रहा होगा, तब तो आकाश पहले सिद्ध हो गया। आकाश तो पोल है, उसकी उत्पत्ति क्या होगी? आकाश गुण-धर्म-द्रव्य रहित शून्य को कहते हैं, फिर उससे गुण-धर्म द्रव्य-युत वायु कैसे उत्पन्न हो गया? अभाव से भाव नहीं होता।[2] वायु के विपरीत धर्म वाली अग्नि तथा अग्नि के विपरीत धर्म वाला जल एवं जल के विपरीत पृथ्वी ये क्रमशः एक-से-एक कैसे उत्पन्न हो जायेंगे? कारण के अनुसार ही कार्य होता है। अर्थात "उपादान कारण के सदृश ही कार्य में गुण देखे जाते हैं।"[3] इस न्याय से यदि सत्-

---

1. आत्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अदभ्यः पृथिवी। (तैत्तिरीयोपनिषद् 2/1)
2. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (गीता 2/16)
   अर्थात—असत्य का भाव नहीं होता और सत्य का अभाव नहीं होता।
3. कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः। (वैशेषिक दर्शन 2/1/24)

चिद्-आनन्द आत्मा (ब्रह्म) ही सबका कारण हो, तो उसका क्रमिक विकास (कार्य) रूप जगत भी सत्-चिद्-आनन्द ही होना चाहिए। परन्तु पूर्व प्रमाण में यह भी देखा जा चुका है कि अद्वैत ब्रह्म के सिद्धान्त में जगत उत्पन्न ही नहीं हुआ है और न जगत तीनों काल में है। फिर यह आकाशादि क्रम से जगत की उत्पत्ति की बात कैसी? वास्तव में यह सिद्धांत ही ऐसा डावांडोल है कि इसमें बिना पूर्वापर विचार किये क्षण में कुछ कहा जाता है और क्षण में कुछ।

अब लय-प्रक्रिया देखिए। "पृथ्वी को जल में लय करे, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में तथा आकाश को आत्मा में लय कर अद्वैत हो जाये।" परन्तु पोथीज्ञान के अतिरिक्त इसमें क्या सार है? न पृथ्वी जल में लीन होगी, न जल अग्नि इत्यादि में। मिट्टी को जल में घोल दीजिए, परन्तु जल के कण उड़ जाने पर मिट्टी बनी ही रहती है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में कुछ काल के लिए मिश्रित भले हो जायें, परन्तु सभी तत्त्वों का स्वरूपतः अस्तित्व पृथक-पृथक ही रहता है। मिलते-मिलते सब तत्त्व एक नहीं हो जाते। कहा जाता है कि कितने ही ब्रह्मज्ञानी अद्वैत-अवस्था को प्राप्त होकर मुक्त हो गये; परन्तु जगत के सभी तत्त्व पृथक-पृथक ही बने हैं, वे उनको एक में नहीं मिला सके। अद्वैतवादानुसार जब ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं तब पृथ्वी आदि उससे पृथक मानकर उनको लय करने की प्रक्रिया बताना—यह भी भ्रम ही है। इसके अतिरिक्त पृथ्वी आदि जड़ तत्त्वों को शुद्ध चेतन में लय करने की भावना एक महा कुसंस्कार है।

प्रमाणवाद—कहा जाता है कि अद्वैतवाद की सिद्धि के लिए तर्क तथा युक्ति का कोई महत्त्व नहीं है, अथवा तर्क और युक्ति से उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसकी सिद्धि के लिए तो शास्त्र-प्रमाण ही पर्याप्त है।

प्रश्न होता है कि वेदों में तो संसार को सच माना गया है और सांसारिक भोगों की सिद्धि के लिए नाना देवी-देवताओं की उपासनों की गयी हैं। उसमें अद्वैतवाद-जैसी बात तो पुष्ट होती नहीं दिखती। उपनिषदों में भी कहीं अद्वैत-जैसी बात है, तो कहीं स्पष्ट द्वैतवाद का प्रबल समर्थन है। जगत तीनों काल में नहीं है यह उपनिषदों के विचार नहीं हैं।

वेदानुसारी प्रसिद्ध छह शास्त्र हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदांत। उनमें वेदान्त को छोड़कर शेष पांचों शास्त्र द्वैतवाद के समर्थक हैं, चेतन के साथ-साथ जड़ को भी वे सच (परमार्थसत्ता) मानते हैं। वेदान्त में भी लोक-लोकान्तर में जीवों का गमनागमन-जैसी अनेक बातें द्वैत का समर्थन करती हैं। इसके अतिरिक्त यदि वेदान्त को हम अद्वैतपरक ही मान

लें, तो अन्य पांच शास्त्रों में तो स्पष्ट द्वैतवाद ही है। शास्त्रों में अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण शास्त्र सांख्य है, वह जगत को सच तथा चेतन को नाना सिद्ध करता है। अद्वैतवादी कहते हैं—"सांख्य-न्याय आदि शास्त्र वेद-विरोधी या गौण हैं इसलिए अप्रमाण्य हैं।" वे क्यों वेद-विरोधी हैं, जब वेद में कोई निश्चित मत खड़ा ही नहीं किया गया है, जब छहों शास्त्र वेद-प्रमाण मानते हैं, तब कोई भी वेद-विरोधी नहीं। वेदान्त के अतिरिक्त शास्त्रों को वेद-विरोधी कहना अपने मन की बात है। इस प्रकार तो सांख्यवादी आदि भी वेदान्त को वेद-विरोधी कह सकते हैं। जब अद्वैत के समर्थन के लिए तर्क की प्रतिष्ठा न कर शास्त्र-श्रद्धा ही सम्बल है, तो समस्त वैदिक शास्त्रों में अवश्य श्रद्धा होनी चाहिए। अन्ततः तो केवल शास्त्र-प्रमाण से सिद्ध सिद्धान्त भ्रम से खाली नहीं हो सकता। शास्त्रप्रमाणों की आड़ में बहुत-सी झूठी बातें सच बनायी जा सकती हैं, जो स्वतन्त्र मानव-विवेक के सर्वथा प्रतिकूल है।

तर्क और युक्ति से अद्वैत नहीं सिद्ध होता, इसकी सिद्धि के लिए यदि वेद-शास्त्र ही प्रमाण हैं, तो प्रश्न होता है कि वेद-शास्त्र जगत के भीतर हैं या बाहर? यदि भीतर हैं, तो जगत मिथ्या होने से वेद-शास्त्र भी मिथ्या हुए, फिर मिथ्या का प्रमाण मान्य नहीं होगा और यदि वेद-शास्त्र जगत के बाहर और सत्य हैं तो अद्वैत नहीं रहा। एक ब्रह्म और दूसरे वेद-शास्त्र हुए।

एक निष्पक्ष व्यक्ति यदि शास्त्र-प्रमाण से अपना सिद्धान्त स्थिर करना चाहे, तो वह किस शास्त्र का अवलम्ब ले? शास्त्रों में परस्पर कुछ विरुद्ध बातें हैं। सभी शास्त्र महापुरुषों के बनाये हैं। एक को सिरे से स्वीकार कर लेना और अन्य को नास्तिक कह देना यह पक्ष से खाली नहीं होगा। अतएव सभी शास्त्रों में श्रद्धा रखने की आवश्यकता है, साथ-साथ विवेक भी। विवेक द्वारा सभी शास्त्रों के सत्यों को बिना न नु न च किये ग्रहण करना चाहिए, किन्तु पक्ष किसी का भी नहीं होना चाहिए। इसलिए केवल शास्त्र-प्रमाण से सिद्ध सिद्धान्त स्वतन्त्र विवेकी मानव को कथमपि ग्राह्य नहीं हो सकता।

सत्य को समझने के लिए श्रद्धा और साथ-साथ बुद्धि की महान आवश्यकता है। केवल श्रद्धा अन्धी है और केवल बुद्धि नास्तिका है। श्रद्धा और बुद्धि का जहां समन्वय है वहां विवेक की प्रतिष्ठा है और विवेक द्वारा ही सत्यज्ञान की उपलब्धि होती है।

अतएव जड़ से पृथक नाना चेतन जब विवेकसिद्ध हैं, तब शास्त्र-प्रमाण की दोहाई देकर उस पर भ्रम लादना किसी के लिए हितकर कैसे होगा! शास्त्र-प्रमाण मान्य हैं, परन्तु विवेकसम्मत ही। द्रष्टव्य है श्री ईश्वर कृष्ण रचित एक कारिका—

जननमरणकरणानां प्रतिनियिमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥ 18॥

प्रश्न—आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है या एक?

उत्तर—आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है क्योंकि आत्मा में नये-नये शरीर के सम्बन्ध रूप जन्म तथा उसका त्याग रूप मरण और चक्षु-श्रोत्र आदि करणों की व्यवस्था देखने में आती है। यदि सभी शरीर में आत्मा एक माना जाये तो एक के पैदा होते सब पैदा हों, एक के मरने से सब लोग मर जायें तथा एक के अन्धे या बहिरे होते ही सब लोग अन्धे तथा बहिरे हो जायें, ऐसी अवस्था हो जायेगी, इसलिए अनेक पुरुष मानना आवश्यक है। और यदि आत्मा सब शरीरों में एक ही हो तो एक पुरुष की धर्म में प्रवृत्ति होने से सारे संसार के मनुष्य एकदम धर्म ही में प्रवृत्त होने लगेंगे, ऐसा नहीं होता, क्योंकि कोई धर्म में प्रवृत्त है तो कोई अधर्म में, कोई ज्ञान में तो कोई अज्ञान में। इस प्रकार संसार के प्राणियों की प्रवृत्ति अलग-अलग देखने में आती है। इसी तरह सत, रज, तम इन तीनों गुणों के विपर्यय-परिणाम भेद से भी आत्मा की अनेकता ही सिद्ध होती है, क्योंकि कहीं-कहीं केवल सुख ही (जैसे देवताओं में), कहीं-कहीं केवल दुख ही (जैसे मनुष्यों में), कहीं-कहीं मोह (जैसे नारकीय जीवों में) पाया जाता है। अथवा त्रिगुण होने से आत्माओं का सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद होता है इसलिए आत्मा अनेक हैं यह मानना आवश्यक है। यदि एक मानें तो एक पुरुष के सुखी या दुखी होने पर सभी संसारी जीव सुखी या दुखी हो जायेंगे, और त्रिगुणों के भेद से नीच, ऊंच, मध्यम इत्यादि व्यवस्था भी नहीं बनेगी॥ 18॥[1]

श्री गुरुदयाल साहेब जी कहते हैं—

शब्द

पण्डित संशय गाँठि न छोरे।
संशय सन की गाँठि परी, तेहि दुविधा जल में बोरे॥ 1॥
जग उतपति कहैं एक ब्रह्म ते, पुनि जग में ब्रह्म बताई।
मुक्ति कहै ब्रह्म के जाने, फिर चौरासी आई॥ 2॥
जग को चारि खानि चौरासी, बड़े-बड़े कहैं सुजाना।
तेहि जग को बैराट बखाने, विश्वरूप भगवाना॥ 3॥
नित उतपति नित परलय होई, जाको जगत ब्रह्म कहो भाई।
विश्वरूप भगवान भयो, तब चौरासी केहि ठाँई॥ 4॥

---

1. सांख्यकारिका 18, टीका पं. श्री दुण्ढिराज शास्त्री।

छिन में जग को ब्रह्म बताओ, छिन में ईश बखानी।
छिन में जगत को जीव कहत हो, छिन में माया मानी॥ 5॥
जग छूटन की शरण ईश की, ईश ब्रह्म जग आया।
काकी शरण जाय दुख छूटै, मोहि कहो करि दाया॥ 6॥
निजहित कोई विदेश गया जो, वहाँ से कोई जो आया।
पूछै कुशल चार विधि बोलै, कहौ कौन थिति पाया॥ 7॥
ज्ञान कहानी अदबुद बानी, स्थिति बिनु भये दुखारी।
कहहिं कबीर समुझि कहु पण्डित, साँच एक कि चारी॥ 8॥

अर्थात—पंडितजन अज्ञानग्रंथि को नहीं खोलते। सन की गांठ पड़ने के समान उक्त अज्ञानग्रंथि को दुविधा के जल में डुबाकर अधिक पुष्ट कर रहे हैं॥ 1॥ कहते हैं जल-तरंग न्याय एक ब्रह्म से ही जगत उत्पन्न हुआ है, फिर उपादानरूप होने से ब्रह्म को जगतस्वरूप ही बताते हैं। परन्तु कहते हैं कि ब्रह्म को जानकर उसमें स्थित होने से ही मोक्ष होगा, इससे तो पुनः चौरासी-संसार में आ गये, क्योंकि ब्रह्म-जगत एक है॥ 2॥ वेद-वेदान्त के बड़े-बड़े ज्ञानी जगत को चार खानि चौरासी का स्थान कहते हैं (वास्तव में है भी), परन्तु उसी जगत को भगवान का विराटस्वरूप या विश्वरूप भगवान कहते हैं (फिर भगवान कहो या जगत, एक ही बात हुई)॥ 3॥ भाई! जिसको जगत या ब्रह्म कहते हो, उसमें तो सदैव परिवर्तन बना रहता है। यदि सारा विश्व भगवान या ब्रह्म ही है, तो चौरासी चक्कर किस स्थान पर है?॥ 4॥ क्षण में कहते हो कि ईश्वर जगत का केवल निमित्त कारण है और जगत में व्याप्त है। क्षण में कहते हो कि जगत तो जीवों के भोग-मोक्ष के लिए बना है। क्षण में जगत को माया मात्र, सत-असत से विलक्षण अनिर्वचनीय प्रतीत मात्र कहते हो॥ 5॥ जगत-बंधनों से छूटने के लिए ईश्वर या ब्रह्म की शरण लेनी चाहिए—ऐसा कहते हो। ब्रह्म-ईश्वर जल-तरंग न्याय या विराटरूप से जगत ही है। फिर किसकी शरण में जाने से जगत-बंधनों का दुख छूटेगा। कृपापूर्वक समझाने का कष्ट करो?॥ 6॥ कोई अपने स्वार्थवश परदेश गया, वहां से कोई दूसरा व्यक्ति आया, परदेश-स्थित व्यक्ति के घर वालों ने अपने आदमी का कुशल पूछा तो उत्तर में उस व्यक्ति ने चार बातें कहीं—"वह तो वहां गया नहीं। वह वहां अच्छी नौकरी पा गया है। वह बहुत-सा पैसा कमाकर आ रहा है। वह तो मर गया।" अब बताइए! पूछने वाले को सन्तोष कैसे हो?॥ 7॥ इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानियों की ज्ञान-कहानी आश्चर्यजनक वाणी-जाल है। स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति बिना ये सब दुखी हैं। श्री गुरुदयाल साहेब कहते हैं हे पण्डित! समझकर कहिए, सच्ची एक है कि उपर्युक्त चारों बातें?॥ 8॥

क्षण में जगत का अस्तित्व ही न मानना, क्षण में अद्वैत कहना, क्षण में जगत का अस्तित्व मानकर ग्रन्थ-पंथ-मत प्रचार करना, क्षण में किसी को आस्तिक किसी को नास्तिक कहना, क्षण में जड़-चेतन भिन्न विवेक करना, क्षण में जड़-चेतन एक कहना—यह सब असम्बद्ध-प्रलाप नहीं तो क्या है !

अतएव अद्वैत मत किसी प्रकार भी समीचीन नहीं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु पृथक-पृथक हैं और उनसे सर्वथा भिन्न नाना चेतन पृथक-पृथक हैं। जड़-चेतन एक मानना ही शास्त्रों में अविद्या कही गयी है। वस्तुतः सारे संकल्पों का त्यागकर स्वरूपस्थ एवं आत्मस्थ हो जाना ही असंगता है, यही अद्वैत है। अकेला रह जाना ही अद्वैत है।

भवचक्र-चरखे का वर्णन

शब्द-68

जो चरखा जरि जाय, बढ़ैया न मरै॥ 1॥
मैं कातों सूत हजार, चरखुला जिन जरै॥ 2॥
बाबा मोर बियाह कराव, अच्छा बरहि तकाय॥ 3॥
जौ लौं अच्छा बर ना मिलै, तौ लौं तुमहि बिहाय॥ 4॥
प्रथमें नगर पहुँचते, परिगौ सोग सन्ताप॥ 5॥
एक अचम्भव हम देखा, जो बिटिया ब्याहिल बाप॥ 6॥
समधी के घर लमधी आये, आये बहू के भाय॥ 7॥
गोड़े चूल्हा दै दै, चरखा दियो दृढ़ाय॥ 8॥
देव लोक मरि जायेंगे, एक न मरे बढ़ाय॥ 9॥
यह मनरंजन कारणे, चरखा दियो दृढ़ाय॥10॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, चरखा लखै जो कोय॥11॥
जो यह चरखा लखि परे, ताको आवागवन न होय॥12॥

शब्दार्थ—चरखा=शरीर, भवचक्र। बढ़ैया=मन। सूत हजार=हजारों कर्म। बाबा=अबोधी गुरु। बरहि=वर, दूल्हा, देवता। नगर=अंतःकरण। बिटिया=पुत्री, अविद्या। बाप=पिता, जीव। गोड़े=गोड़, पैर, ज्ञान की गतिशीलता। चूल्हा=भट्ठी, अज्ञानाग्नि की भट्ठी। बढ़ाय=बढ़ई, मन। मनरंजन=मनोरंजन, मन का बहलाव, मन का विषयों के राग-रंग में फंसे रहना।

भावार्थ—यदि शरीर-चरखा जल भी जाये तो भी मन-बढ़ई तो मरता नहीं, वह पुनः शरीर-चरखा बना लेता है॥ 1॥ यह संसारासक्त जीव तो यही चाहता है कि शरीर-चरखा बना रहे और मैं हजारों कर्मों के सूत सदैव कातता

रहूं॥ 2॥ यह अविवेकी जीव धर्म के नाम पर बस, इतना ही जानता है कि यह किसी देवता की पूजा कर लेता है। यह अपने गुरु से कहता है कि हे बाबा ! मेरा किसी देवतारूप दूल्हे से ग्रन्थिबंधन करा दो, और ध्यान रखना अच्छा वर देखना ! अर्थात उत्तम देवता होना चाहिए॥ 3॥ और हे गुरु बाबा ! जब तक उत्तम देवतारूप दूल्हे का संयोग न मिले, तब तक मेरी लगन आपके ही चरणों में रहेगी, मैं आप को समर्पित हूं॥ 4॥ उन छिछले गुरुओं के कल्पित उपदेश जब शिष्यों के हृदय-नगर में पहुंचे तब तुरन्त ही उसमें किसी कल्पित वस्तु को पाने के लिए शोक-संताप पैदा हो गये॥ 5॥ हमने एक आश्चर्य देखा कि पिता ने पुत्री के साथ विवाह कर लिया, अर्थात जीव ने अविद्या के साथ ग्रन्थिबन्धन कर लिया॥ 6॥ वर तथा वधू के पिता परस्पर समधी कहलाते हैं और इन दोनों के दूसरे-दूसरे समधी लमधी हुए। बहू का भाई साला कहलाता है। इन सबका साधारण अर्थ है मानसिक विकारों की सेना। ये सब मनुष्य के हृदय में आकर इकट्ठे हो जाते हैं॥ 7॥ और जीव की ज्ञान-रूपी गतिशीलता के पैरों को अज्ञानरूपी जलते चूल्हे में डालकर जला देते हैं तथा देहरूपी चरखे का अभिमान मजबूत कर देते हैं॥ 8॥ इसलिए अमर कहे जाने वाले देवलोकों का प्रलय भले हो जाये, परन्तु यह एक मन-बढ़ई नहीं मरता॥ 9॥ इस मन के राग-रंग के कारण ही शरीर-चरखा का अध्यास मजबूत बना रहता है॥ 10॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो ! सुनो, जो जीव इस शरीराभिमान एवं भवचक्र-रूपी चरखे को बन्धनरूप देख लेता है और जिसे यह सचमुच ही निस्सार एवं दुखरूप दिखाई दे जाता है, वह इससे मुक्त हो जाता है, फिर उसका आवागमन नहीं होता॥ 11-12॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर नाना उदाहरणों एवं रूपकों द्वारा ज्ञान की बातें कहकर जीव को जगाते हैं। शरीर चरखा है, किन्तु शरीर का निर्माण जिनसे होता है वे वासनों, तृष्णों महा चरखा हैं। यह शरीररूपी चरखा तो समय आने पर जल जाता है, परन्तु इसकी वासना बनी रहने के कारण मन-बढ़ई पुनः इस चरखे को बनाता है।

"मैं कातों सूत हजार, चरखुला जिन जरै।" मनुष्य का मन यही चाहता है कि यह शरीर-चरखा सदैव बना रहे और मैं इससे कर्मों के सूत कातता रहूं। दो दृष्टियां हैं, लौकिक तथा आध्यात्मिक। लौकिक दृष्टि से यह ठीक है कि मनुष्य में कर्म करने की इच्छा निरंतर बनी रहे। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि इससे भिन्न है। वहां कर्म-वासनाओं का अभाव होना चाहिए। देखने, सुनने, खाने-भोगने, करने, पाने तथा जीने तक की वासना का अंत होना चाहिए, तभी यह जीव शरीर एवं संसार-चरखे से मुक्त होता है। इसका व्यावहारिक रूप इस

जीवन में फलित होता है परमशांति की प्राप्ति। सारी इच्छाओं के अंत में ही तो परमशांति मिलती है। परन्तु यहां तो मनुष्य चाहता है कि यह देह सदैव बनी रहे और मैं खाता, भोगता तथा प्रपंचकर्मों को करता रहूं। यह भाव परमशांति एवं मोक्ष का विरोधी है।

"बाबा मोर बियाह कराव, अच्छा बरहि तकाय। जौ लौं अच्छा बर न मिलै, तौ लौं तुमहि बिहाय।" इन दो पंक्तियों में अविवेकी जीवों द्वारा देवोपासना की कामना का चित्रण है। यथार्थ सद्गुरु न मिलने से मनुष्य भटकता है। अशिक्षित ही नहीं, शिक्षित भी भटकता है। वह प्राप्त अबोधी गुरुओं एवं पुरोहितों से यही प्रार्थना करता है कि मैं आपकी शरण में हूं। आप मुझे किसी अच्छे देवता का साक्षात्कार करा दें। देवता तो सारे ही काल्पनिक एवं झूठे हैं, उनमें चित्त बहलाकर अपने समय को बरबाद करना है। सच्चा देवता तो व्यक्ति की आत्मा है। आत्मदेव को न समझकर आदमी कल्पित देवताओं में भटकता है।

"प्रथमें नगर पहुँचते, परिगौ सोग सन्ताप। एक अचम्भव हम देखा, जो बिटिया ब्याहिल बाप।" देवी-देवताओं में उलझे रहने वाले आत्मज्ञान से विहीन गुरु लोगों के उपदेश भी वही रहते हैं जिनके मनुष्यों के हृदय-नगर में पहुंचते ही वे तुरन्त इस शोक-संताप में पड़ जाते हैं कि देव-दर्शन कब होंगे, उनके साक्षात्कार कब होंगे! जो केवल मन की कल्पना है वह कब मिल सकता है। साहेब कहते हैं कि हमें तो यह आश्चर्य लगता है कि पिता पुत्री से विवाह कर रहा है। अर्थात जीव अपने द्वारा उत्पन्न हुई कल्पना से अपना ग्रन्थिबन्धन कर रहा है। स्वयं कल्पना कर देवताओं का निर्माण करता है और स्वयं उनके पैरों पड़ता है। स्वयं मन में देवताओं की माया बनाता है और स्वयं उसमें डूबता है।

"समधी के घर लमधी आये, आये बहू के भाय। गोड़े चूल्हा दै दै, चरखा दियो दृढ़ाय।" समधी, लमधी और बहू के भाई सब मानसिक विकार हैं। इन रूपकों की गहराई तथा छानबीन में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अभिप्राय इतना ही है कि मनुष्य के मन में इतने मानसिक विकार इकट्ठे हो जाते हैं कि अज्ञान की भट्ठी में उसके पैर जल जाते हैं। मनुष्य आध्यात्मिक प्रगति तभी कर सकता है जब उसके ज्ञान के पैर हों, परन्तु उसके ज्ञान के पैर को तो अज्ञान के चूल्हे में डालकर ये मानसिक विकार जला डालते हैं। इसलिए मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति तो नहीं होती, किन्तु देहाभिमान की तरफ प्रगति होती है। ये मानसिक विकारों के दल देहाध्यास-चरखे को ही मजबूत करते हैं।

"देवलोक मरि जायँगे, एक न मरे बढ़ाय। यह मनरंजन कारणे, चरखा दियो दृढ़ाय।" देव तथा देवलोक दोनों काल्पनिक हैं। परन्तु देवलोक के विषय में धारणा है कि वह बहुत काल तक बना रहता है। साहेब कहते हैं कि उसका भले प्रलय हो जाये, परन्तु इस मन-बढ़ई का प्रलय नहीं होता। "मन मरै न माया मरै, मरि मरि जात शरीर। आशा तृष्णा न मरै, यों कथि कहहिं कबीर॥" धर्मशास्त्रों के अनुसार इस लोक से लेकर ब्रह्मलोक तक अनेक बार विनष्ट हो गये, परन्तु इस मन का ज्ञान द्वारा विनाश नहीं किया जा सका, इसको वासनाओं से मुक्त नहीं किया जा सका। यदि मन न मरे तो शरीर के मरने से क्या होता है। यह पुनः शरीर बना लेता है। इस मनोरंजन के कारण ही भवचक्र का चरखा मजबूत बना रहता है। यह मन संसार का रंजन, राग-रंग नहीं छोड़ता। इसकी वासनों एवं इच्छों नहीं बुझतीं, इसलिए ये वासनों भवचक्ररूपी चरखे को और दृढ़ कर देती हैं।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, चरखा लखै जो कोय। जो यह चरखा लखि परे, ताको आवागमन न होय।" साहेब कहते हैं कि सुनो, हे सन्तो! कोई भवचक्र के चरखे को नहीं समझ पाता। साधारण लोगों को कौन कहे, बड़े-बड़े कहलाने वाले लोग भी इस चरखे को नहीं समझ पाते कि यह हमारे बंधन का कारण है। यह शरीर के अहंकार का चरखा, भोग-वासनाओं का चरखा, राग-द्वेष का चरखा, संसार के राग-रंग का चरखा, मन को कहीं भी बाहर भटकाने का चरखा यदि दुखरूप समझ में आ जाये तो जीव अवश्य इस चरखे से अलग हो जाये, वह आज ही परम शांतिपद में प्रतिष्ठित हो जाये तथा आगे सदैव के लिए कृतार्थ हो जाये।

शरीर-वीणा का वादक चेतन श्रेष्ठ है

शब्द-69

जन्त्री जन्त्र अनूपम बाजे, वाके अष्ट गगन मुख गाजे॥ 1॥
तू ही बाजे तू ही गाजे, तूहि लिये कर डोले॥ 2॥
एक शब्द मों राग छतीसों, अनहद बानी बोले॥ 3॥
मुख कै नाल श्रवण कै तुम्बा, सतगुरु साज बनाया॥ 4॥
जिभ्या के तार नाशिका चरई, माया का मोम लगाया॥ 5॥
गगन मण्डल में भया उजियारा, उलटा फेर लगाया॥ 6॥
कहहिं कबीर जन भये विवेकी, जिन जन्त्री सो मन लाया॥ 7॥

शब्दार्थ—जन्त्री=यंत्री, बाजा बजाने वाला, चेतन। जन्त्र=यंत्र, वीणा, बाजा। अनूपम=अनुपम, विलक्षण। अष्ट=आठवां सुरति कमल, जो खोपड़ी

में सबसे ऊपर माना है। गगन=खोपड़ी का आकाश। मुख=द्वार। गाजे=गर्जन करना, ध्वनि होना। अनहद=अनाहतनाद, बेहद। नाल=डण्डी, वीणा की लम्बी डण्डी। तुम्बा=लौकी का खोल, जो वीणा में दोनों तरफ लगा रहता है। चरई=खूंटी, जिसमें तार कसे रहते हैं। माया=चाम। गगन मण्डल=ब्रह्माण्ड, खोपड़ी। जन्त्री=चेतन।

भावार्थ—हे वीणावादक चेतन ! यह तेरी शरीर-वीणा अद्‌भुत बज रही है। इस वीणा के सर्वोच्च शिखर आठवें सुरतिकमल के द्वार के आकाश पर निरन्तर गर्जना हो रही है॥ 1॥ यह वीणा तो जड़ है, वस्तुतः तू चेतन ही इसे बजा रहा है, इसलिए मानो तू ही बज रहा है, तू ही गर्जना कर रहा है, तू ही मानो इस शरीर-वीणा को अपने हाथों में लेकर घूम रहा है और एक शब्द में छत्तीस प्रकार की रागिनियों को ध्वनित करते हुए निस्सीम वाणियां बोल रहा है॥ 2-3॥ इस तेरी शरीर-वीणा के अवयव इस प्रकार हैं—मुख की डंडी है, दोनों कान के तुम्बे हैं, जीभ का तार है, नाक की खूंटी है और चाम का मानो मोम लगा है। सद्‌गुरु ही इस साज को संवारकर इसका अच्छा उपयोग करने की युक्ति बताता है॥ 4-5॥ जब योगी नीचे मूलाधार से सुषुम्णा को, कुण्डलिनी जागृत कर और सातों चक्रों को वेधकर, ऊपर सुरति-कमल में ले जाता है तो यही मानो उलटा फेर लगाना है और तब गगन-मण्डल एवं सुरतिकमल में प्रकाश हो जाता है और योगी उसी में तन्मय हो जाता है॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि विवेकी तो वे जन हैं जो इस वीणायन्त्र और इसके कार्य में न रमकर वीणावादक यन्त्री चेतन में अपने मन को लीन करता है॥ 7॥

व्याख्या—रूपकों तथा अलंकारों में अपनी बातें कहने में प्रवीण कबीर देव ने इस शब्द में शरीर को वीणा के रूप में प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि यह शरीर मानो एक वीणा है। इसमें मुख डण्डी है, कान दोनों तरफ लगे तुम्बे हैं, जीभ तार है, नाक खूंटी है और मोम की जगह पर चाम लगा है। "माया का मोम लगाया" यह चाम ही तो माया बना हुआ रहता है। इसी को तो देख-देखकर आदमी रीझता रहता है। इसलिए "माया का मोम लगाया" का अर्थ है कि वीणा के कुछ अवयवों को चिपकाने के लिए जो मोम की आवश्यकता होती है वह मानो माया है, वह चाम है। यह चाम ही तो शरीर-वीणा के अंगों को एक में चिपकाकर व्यवस्थित रखता है। यह शरीर-वीणा अद्‌भुत बजती है। ऐसी वीणा न आज तक बनी है और न शायद आगे ही बनने की संभावना है। परन्तु सद्‌गुरु कहते हैं कि हे वीणावादक चेतन ! यह सब तेरी महिमा है। वीणा भला स्वयं कहीं बजती है ! यदि उसका बजाने

वाला न हो तो वह ध्वनिरहित पत्थरवत पड़ी रहेगी। विशेषता तो बजाने वाले की है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे चेतनदेव! तू महान है, तू ही इस वीणा को बजा रहा है। तू ही इसे लेकर घूम रहा है और एक शब्द में छत्तीस रागिनियां छेड़ रहा है। शब्द तो एक ही है, उसमें छह राग तथा छत्तीस रागिनियां हैं। वे इस प्रकार हैं—

1. श्रीराग—मालश्री, त्रिवेणी, गौरी, केदारी, मधुमाधवी तथा पहाड़ी।

2. वसंतराग—देशी, देवगिरि, वैराटी, टौरिका, ललित तथा हिण्डोला।

3. पंचमराग—विभास, भूपाली, कर्णाटी, पटहंसिका, मालवी तथा पटमंजरी।

4. भैरवराग—भैरवी, बंगाली, सेंधवी, रामकली, गुर्जरी तथा गुणकरी।

5. मेघराग—मल्लारी, सैरिटी, सावेरी, कैशिकी, गांधारी तथा हरशृंगार।

6. नटनारायण राग—कामोदी, कल्याणी, आभीरी, नाटिका, सरंगी तथा हम्मीरी।

इसके अतिरिक्त दूसरे भेदों से भी इसका वर्णन मिलता है।

उक्त छह राग तथा छत्तीस रागिनियों की कल्पना कर इनका वर्गीकरण करने वाला तथा इनका उपयोग करने वाला चेतन ही है। यदि इस शरीर-वीणा का बजाने वाला चेतनदेव एवं आत्मदेव न हो तो यह बेकार हो जाये। "अनहद बानी बोले" अनहद, बेहद एवं बेशुमार वाणियों को बोलने वाला भी तू ही है। तू ही ने वेद बोले, शास्त्र बोले, बाइबिल तथा कुरान बोले, तू ही ने ज्ञान-विज्ञान की असीम वाणियां बोलीं। इस विराट विश्व में चेतन ही की सर्वोच्च महत्ता है। यदि भोक्ता चेतन न होता तो भोग्य जड़ वस्तुओं का क्या मूल्य होता! यदि फूलों की सुगंधी ग्रहण करने वाला कोई चेतन प्राणी न हो तो फूलों का क्या प्रयोजन! इस सृष्टि में चेतन ही तो सम्राट है। चेतन के उपयोग के लिए ही जड़-विश्व है। साहेब कहते हैं कि हे चेतन! तुम्हारा ही सर्वोच्च महत्त्व है।

"सतगुरु साज बनाया" इस शरीर-वीणा का साज सद्गुरु ने बनाया है। यहां बनाया का अर्थ निर्मित करना नहीं है। शरीर तो जीव के कर्म-वासनावश माता-पिता के संयोग से बनता है। उसके कारण प्रकृति में निहित हैं। यहां "सतगुरु साज बनाया" का अभिप्राय है कि सद्गुरु इस शरीर-वीणा को बजाने का कायदा बताता है। वीणा रखी हो, परन्तु यदि उस्ताद उसका भेद न बताये तथा बजाने का कायदा न बताये तो वीणा ठीक से नहीं बजायी जा सकती। इस प्रकार शरीर तो बहुत जीवों को मिले हैं, परन्तु वे सब इनका

अच्छा उपयोग कहां कर पा रहे हैं ! जब सद्गुरु मिलते हैं और इस शरीर का भेद तथा इसका सही उपयोग करने की बातें बताते हैं तभी यह सार्थक होता है। अतएव इस शरीर-वीणा का वादन कैसे करना चाहिए इसका भेद सद्गुरु ही बताते हैं। इसलिए मानो सद्गुरु ने ही इस वीणा-साज को बनाया है, सार्थक किया है।

"गगन मण्डल में भया उजियारा, उल्टा फेर लगाया।" तथा "अष्ट गगन मुख गाजे" इस पर थोड़ा विचार कर लें। यह सब हठयोग की प्रक्रिया है। कबीर साहेब ने तो हठयोग भी साधा था, पीछे उसे सारहीन जानकर छोड़ दिया था। परन्तु उसका उन्हें अनुभव था। हठयोगियों द्वारा कल्पित, शरीर में छह चक्र हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा। इसके ऊपर दो चक्र और मानते हैं—सहस्रसार तथा सुरतिकमल। यह सुरतिकमल आठवां चक्र है जो सिर में सबसे ऊपर है। हठयोगी लोग सुषुम्णा को नीचे मूलाधार से उठाकर सभी चक्रों को पार करते हुए सबसे ऊपर आठवें सुरतिकमल में ले जाते हैं। यही "उल्टा फेर लगाया" का अर्थ है। अर्थात नीचे से उलटकर सुषुम्णा को ऊपर ले जाते हैं। जब सुषुम्णा ऊपर आठवें सुरतिकमल में पहुंचती है, तब वहां प्रकाश हो जाता है। यही गगनमण्डल में उजियारा होना है। यहीं आठवें सुरतिकमल के द्वार पर गगन में अनाहतनाद की गर्जना होती है, यही "अष्ट गगन मुख गाजा" का अभिप्राय है। हठयोगी इन्हीं शब्द और ज्योति के श्रवण-दर्शन में तन्मय हो जाता है।

जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया है कि सद्गुरु कबीर ने इसका अनुभव किया था, परन्तु इसे जड़ दृश्य-भास समझकर इसका त्याग कर दिया था। वे स्वतः चेतनस्वरूप की स्थिति में रम गये थे और उन्होंने अन्य जिज्ञासुओं को उसका रास्ता बताया था जिसे इस शब्द की अंतिम पंक्ति में यहां भी वे कहते हैं "कहहिं कबीर जन भये विवेकी, जिन जन्त्री सो मन लाया।" सद्गुरु विवेक को महत्त्व देते हैं। विवेक है जड़-चेतन, देह-देही तथा द्रष्टा-दृश्य का पृथक्करण। यह जीव द्रष्टा है यह दृश्य को देखता है, यह श्रोता है शब्द को सुनता है। दृश्य और शब्द से द्रष्टा और श्रोता श्रेष्ठ होता है। दृश्य और शब्द दोनों जड़ हैं, उनका द्रष्टा एवं श्रोता जीव चेतन है। यह चेतन ही यन्त्री है, जो इस शरीर यन्त्र (वीणा) को बजाता है, इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि वही विवेकी है जो शरीर-वीणा तथा उसके कार्यों में आसक्त नहीं होता, शरीर के कार्य दृश्य एवं शब्दों में नहीं रमता, किन्तु अपने मन को अपने चेतनस्वरूप में लगाता है। सद्गुरु कहते हैं कि तुम शब्द को सुनते हो, तुम्हें शब्द नहीं सुनते तथा तुम दृश्यों को देखते हो, दृश्य तुम्हें नहीं देखते। अतएव जड़ दृश्य

ज्योति एवं शब्दों के द्रष्टा, साक्षी एवं श्रोता तुम उनसे श्रेष्ठ एवं महान हो। तुम जड़ के कार्यों में न रमकर अपने चेतनस्वरूप में रमो। विवेकी वही है जो यन्त्र में नहीं, यन्त्री में मन लगाता है, वीणा में नहीं, वीणावादक में मन लगाता है एवं दृश्यों में नहीं निजस्वरूप चेतन में रमता है!

जीव-वध और मांसाहार त्याज्य है

शब्द-70

जस मास पशु की तस मास नर की, रुधिर रुधिर एक सारा जी॥ 1॥
पशु की मास भखें सब कोई, नरहिं न भखें सियारा जी॥ 2॥
ब्रह्म कुलाल मेदनी भइया, उपजि बिनशि कित गइया जी॥ 3॥
मास मछरिया तै पै खइया, ज्यों खेतन में बोइया जी॥ 4॥
माटी के करि देवी देवा, काटि काटि जिव देइया जी॥ 5॥
जो तोहरा है साँचा देवा, खेत चरत क्यों न लेइया जी॥ 6॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, राम नाम नित लेइया जी॥ 7॥
जो कछु कियहु जिभ्या के स्वारथ, बदला पराया देइया जी॥ 8॥

शब्दार्थ—एक सारा=एक समान। ब्रह्म=ब्रह्मा। कुलाल=कुम्हार। मेदनी=पृथ्वी। भइया=हुआ।

भावार्थ—जैसा मांस पशु का होता है वैसा ही मनुष्य का होता है। दोनों के रक्त भी एक समान होते हैं॥ 1॥ पशु का मांस तो सभी मांसाहारी खा जाते हैं; परन्तु मनुष्य का मांस सियार भी नहीं खाते॥ 2॥ लोकधारणानुसार पृथ्वी पर ब्रह्मा-जैसे कुम्हारवत सृष्टि-रचयिता हो गये, परन्तु वे भी उत्पन्न होकर और मिटकर कहां गये, कोई नहीं जानता। फिर तुम्हारी क्या बिसात है जो देह को मजबूत करने के भ्रम में मांस-मछली को उसी प्रकार खा जाते हो जैसे मानो तुमने उसे खेत में बो रखा था॥ 3-4॥ मिट्टी-पत्थर के देवी-देवता बना लेते हो और उनकी पूजा के नाम पर प्राणियों को काट-काटकर चढ़ा देते हो; परन्तु यदि तुम्हारे देवता सच्चे हैं, और मांस खाने के भूखे हैं तो मैदान में चरते हुए पशु-पक्षियों को पकड़कर क्यों नहीं खा जाते!॥ 5-6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! सुनो, संसारी लोग राम-नाम तो रोज जपते हैं, परन्तु प्रति घट रमने वाले राम पर दया करना नहीं जानते। जिनमें राम रमता है उन्हीं को काट डालते हैं। परन्तु हे संसार के लोगो, ध्यान दो, तुम जीभ-स्वाद के स्वार्थ में पड़कर जो कुछ हिंसा-हत्या करोगे, उसका बदला तुम्हें एक दिन देना पड़ेगा॥ 7-8॥

व्याख्या—मनुष्य मनुष्य के मांस को घृणित समझता है। उसे समझना चाहिए कि पशु, पक्षी, मछली आदि का भी मांस उसी तरह घृणित होता है। आदमी का दांत उखड़ जाये तो वह उसे अपने मुख में लिये नहीं रख सकता। इसी प्रकार असावधानी से अपने दांतों से अपने ओष्ठ का मांस कट जाये तो उसे वह न खा पायेगा और न तो अपने मुख में लिये रह पायेगा, किन्तु तुरंत उगल देगा। परन्तु वही मनुष्य पशु, पक्षी, कृमि आदि के हाड़-मांस को अपने मुख में रखकर बड़े आस्वादनपूर्वक जीमता है। यह कैसा पागलपन है !

"नरहिं न भखें सियारा जी" मनुष्य का मांस सियार भी नहीं खाते। कहते हैं कि सियार मनुष्य का मांस काट भले दें, परन्तु खाते नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि चाव से नहीं खाते। यदि खाते हैं तो थोड़ा खाते हैं। साहेब कहते हैं कि सबका मांस घृणित है, अतः किसी का मांस नहीं खाना चाहिए। जैसे मनुष्य का मांस गंदा है वैसे पशु आदि का भी।

लोग मिट्टी-पत्थर के देवी-देवता बना लेते हैं, उन निर्जीव पिंडियों के सामने सजीव की हत्या करते हैं और कहते हैं कि हम देवता को प्रसाद अर्पित कर रहे हैं। लोग देवता, देवी, ईश्वर, अल्लाह के नाम पर जीव-वध करते हैं। भला, यदि देवादि सच्चे हैं और मांस खाने की उन्हें आदत है तो एक दिन तो पता चलना चाहिए कि वे अमुक जगह अमुक पशु-पक्षी को पकड़कर खा गये हैं। वस्तुतः मनुष्य अपने जीभ-स्वादवश कल्पित देवी-देवताओं का आधार लेता है और उनकी पूजा के नाम पर अपना स्वाद पूरा करता है। ऐसे लोग उदाहरण देते हैं—"ब्रह्मा ने यज्ञों में बलि चढ़ाने के लिए पशुओं को स्वयं बनाया है और यज्ञ संपूर्ण संसार की उन्नति के लिए है, इसलिए यज्ञ में पशु का वध, वस्तुतः वध नहीं है।"[1] यह सब घोर अज्ञान का फल और जंगलीपन है। देवता और ईश्वर किसी मासूम प्राणी की हत्या करने पर प्रसन्न होते हैं, यह धारणा अत्यन्त अज्ञानपूर्ण है। यज्ञ में संसार का कल्याण तो कुछ नहीं है, हां, पुरोहितों का स्वार्थ जरूर सधता है। यज्ञ केवल पुरोहितों का पेटधंधा है।

कितने लोग खूब राम-नाम जपते हैं, पूजा करते हैं, गायत्री जपते हैं, परन्तु मांस-मछली खाये बिना नहीं रह सकते। साहेब कहते हैं कि अपने किये का बदला तो देना ही पड़ेगा। जो दूसरे का सिर काटेगा, उसका सिर एक दिन काटा ही जायेगा। अपनी करनी का फल सभी जीवों को भोगना

---

1. यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ (मनु० 5/39)

पड़ता है चाहे देर हो या सबेर। जबान से राम-नाम जप भजन नहीं है, किन्तु सब घटों में राम का वास समझकर सब पर दया एवं प्रेम का व्यवहार करना सच्चा भजन है।

ढूंढो मत ठहरो

(षटकर्मों का वर्णन)

शब्द-71

चातृक कहाँ पुकारो दूरी, सो जल जगत रहा भरपूरी॥ 1॥
जेहि जल नाद बिन्द को भेदा, षट कर्म सहित उपानेउ वेदा॥ 2॥
जेहि जल जीव शीव को बासा, सो जल धरणी अमर परकासा॥ 3॥
जेहि जल उपजल सकल शरीरा, सो जल भेद न जानु कबीरा॥ 4॥

शब्दार्थ—चातृक=चातक, पपीहा, हलके काले रंग का एक प्रसिद्ध पक्षी जो वसंत और वर्षा ऋतु में मीठे बोल बोला करता है, इसकी बोली में 'पी कहां-पी कहां' की लोग कल्पना करते हैं। कहते हैं कि यह केवल स्वाति नक्षत्र में बरसे हुए पानी को पीता है, बाकी समय बादल की तरफ देखते हुए पुकारता रहता है। जल=पानी, तृप्ति, चेतन। नाद=शब्द। बिन्द=बूंद, वीर्य। षटकर्म=अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान तथा प्रतिग्रह। जीव=सामान्य जीव। शीव=शिव, कल्याणरूप, कृतार्थरूप। अमर=अविनाशी।

भावार्थ—हे चातक! तू अपना लक्ष्य दूर समझकर कहां पुकार रहा है! तू जिस जल को दूर समझ रहा है वह तो पृथ्वी पर जगह-जगह पूरी तरह भरा हुआ है। इसी प्रकार हे मनुष्य! तू परम तृप्ति के आश्रय को दूर समझकर बाहर कहां पुकार रहा है! वह तृप्तिकारक साधन तो इस संसार में ही परिपूर्ण है॥ 1॥ परम तृप्तस्वरूप तेरी अपनी आत्मा ही है। तेरा चेतनस्वरूप ही वह स्वच्छ जल है जिससे तू सदैव के लिए तृप्त हो सकता है। इस चेतन ही ने वीर्य-शक्ति से शरीर का निर्माण किया है और शब्द-शक्ति से अध्ययन-अध्यापनादि षटकर्मों के सहित चारों वेदों की रचना की है। यही नाद-बिन्द भेद से चैतन्य सृष्टि है॥ 2॥ इस चेतन-जल में ही जीव और शिव का वास है। अर्थात यह चेतन ही जब तक अबोध है जीव है और जब अपने स्वरूप को पहचानकर स्थित हो गया तब यही शिव है। यह शीतल चेतन-जल इस पृथ्वी पर अविनाशीरूप से प्रसिद्ध है और अपना ज्ञान फैला रहा है॥ 3॥ जिस चेतन से सारे शरीरों की उत्पत्ति होती है, उसी का रहस्य व्यक्ति नहीं जानता, यही उसके भटकाव का कारण है॥ 4॥

व्याख्या—"चातृक कहाँ पुकारो दूरी, सो जल जगत रहा भरपूरी।" कवि लोग अपनी बातों को समझाने के लिए नयी-नयी कल्पना कर लेते हैं।

कवि मानते हैं कि चातक पक्षी केवल स्वाति-नक्षत्र में बरसे हुए पानी को पीता है, शेष समय तो वह आकाश की तरफ देखता रहता है और 'पी कहां-पी कहां' रटता रहता है। साहेब कहते हैं कि हे चातक! तुम दूर कहां पुकार रहे हो? न तो आकाश में कहीं कोई पीव बैठा है और न जल के लिए ही आकाश देखते रहने की आवश्यकता है। तू प्यासा है, जल पीना चाहता है, तो वह जल जगत में इस पृथ्वी पर नदी-तालाबों में परिपूर्णरूप से भरा है, उनमें से पीकर तृप्त हो जा! यह तो उदाहरण मात्र है।

यहां तो मनुष्य की तरफ संकेत है। यह मनुष्य चातक है। यह आकाश की ओर हाथ उठाकर और अपनी दृष्टि गड़ाकर पुकारता है कि हे भगवान! हमारा उद्धार करो, हमें परम शांति दो। आकाश की विशालता में उसे आशा होती है कि वहां कहीं अमृत की धारा होगी, वहां कहीं परमशांति का आश्रय परमात्मा होगा। साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य, यह तेरी भूल है। "चातृक कहाँ पुकारो दूरी" दूर कहां पुकार रहे हो! जिस जल, जिस अमृत, जिस परम शांति के आश्रय को तुम आकाश में मान रहे हो वह वहां नहीं है, वह तो इस जगत में ही है। तुम सारी इच्छाओं को छोड़कर इस संसार में जीना सीखो तो देखोगे कि तुम्हारे लिए सारा संसार आनन्द दे रहा है। तुम अपने मन, वाणी तथा इन्द्रियों की बुराइयों को सर्वथा छोड़ दो, तुम अपनी विषय-इच्छाओं को मिटा दो, तुम अपने आप को बाहर से मोड़कर भीतर आ जाओ, देखोगे सारा संसार तुम्हारे लिए मानो अमृत बरसा रहा है। जिस सुख की आशा तुम आकाश से, दूसरे लोक-लोकांतरों से करते हो, वह सुख इसी संसार में तुम्हें मिल सकता है। लोकांतर सुख तो काल्पनिक है। मनुष्य की यही सबसे बड़ी भूल है कि वह जहां रहता है वहां न संतुष्ट होकर दूसरी जगह से संतुष्ट होने की आशा करता है। यदि हम वर्तमान में संतुष्ट नहीं हैं, तो भविष्य में संतुष्ट होने की क्या आशा है। यदि हम प्राप्त परिस्थिति में तृप्त नहीं हैं तो कभी तृप्त नहीं हो सकते। हम स्वर्ग या मोक्ष की कल्पना अपनी आत्मा से अलग करते हैं, जहां हैं वहां से दूर करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपनी आत्मा को पहचानो, उसमें रमो, बस, इसी संसार में मोक्ष है, स्वर्ग है।

इस शब्द में परम सुख एवं परमशांति के लिए जल शब्द का प्रयोग किया गया है, साथ ही चेतनतत्त्व के लिए भी जल शब्द का प्रयोग है। जल स्वभाव से ही शीतल होता है। साहेब कहते हैं कि शीतलता तुम्हारा स्वभाव ही है। तुम्हारा चेतनस्वरूप शुद्ध है, शीतल है, सारे ज्ञान-विज्ञान का कारण है और सृष्टि में महत्तम तत्त्व है। तुम अपने आप को पहचानो। तुम जिस जगत में रह रहे हो उसको तुच्छ मत समझो। इसी जगत में रहकर, इसी शरीर द्वारा अपने

शुद्धस्वरूप चेतनदेव का साक्षात्कार होगा। इसी राग-द्वेष तथा धूल-धड़क्के भरे संसार तथा हाड़-चाम के ढांचे शरीर में रहते-रहते तुम्हें अमृतबोध मिलेगा। तुम इस संसार से अलग दिव्य लोक का स्वप्न मत देखो। यह तुम्हारा जगत दिव्य लोक है, बशर्ते तुम अपनी इच्छाओं को जीत लो, वासनाओं को छोड़ दो, अपने स्वरूप को पहचान लो। पूरे संसार को निर्दोष एवं अमृत नहीं बना सकते हो, परन्तु यदि तुम निर्दोष हो जाओ तो तुम्हारे लिए मानो पूरा संसार निर्दोष तथा अमृत हो जायेगा। तुम स्वयं अपने अमृतस्वरूप को पहचान लिये, उसमें रम गये, बस तुम अमृत हो, इसी संसार में रहकर तृप्त हो।

"जेहि जल नाद बिन्द को भेदा, षटकर्म सहित उपानेउ वेदा।" इसी चेतन सत्ता से नाद-बिन्द के भेद से चैतन्य सृष्टि पैदा होती है। यहां जल शब्द चेतन के लिए व्यवहृत समझ लो, अतएव जल शब्द हटा दो, चेतन ले लो। यह चेतन ही अपनी सत्ता से नाद और बिन्द इन दो सृष्टियों की उत्पत्ति करता है। नाद कहते हैं शब्द को। शब्द-शक्ति मानव में ही विकसित है। इसने अपनी नाद-शक्ति अर्थात शब्द-शक्ति से वेदादि समस्त शास्त्रों की रचना की है और यह माना है कि पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना तथा दान देना और लेना ये ब्राह्मणों के षटकर्म हैं।[1] स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप तथा होम—ये भी ब्राह्मणों के लिए नित्य षटकर्म माने जाते हैं। आगम तंत्र के अनुसार शांति, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेष, उच्चाटन और मारण[2]—ये षटकर्म कहलाते हैं। रोग, कृत्या,[3] ग्रह आदि का निवारण 'शान्ति' कहलाता है। सेवा करके सबको वश में कर लेना 'वशीकरण' है। सबकी प्रवृत्ति को रोक देना 'स्तंभन' है। मित्रों में क्लेश उत्पन्न करना 'विद्वेष' है। अपने देश से उखाड़ उत्पन्न करना 'उच्चाटन' है। प्राणियों का प्राण हरण कर लेना 'मारण' है। रति, वाणी, रमा, जेष्ठा, दुर्गा और काली इनके क्रमशः देवता माने गये हैं। तांत्रिक लोग इनकी सिद्धि करने का पाखण्ड करते हैं। हठयोग के षटकर्म हैं—धौति, वस्ति, नेति, नौलिकी, त्राटक और कपालभाति।[4]

---

1. इज्याध्ययनदानानि याजनाध्यापने तथा।
   प्रतिग्रहश्च तैर्युक्तः षट्कर्मा विप्र उच्यते॥
2. शान्ति-वश्य-स्तम्भनानि विद्वेषोच्चाटने ततः।
   मारणान्तानि शंसन्ति षट्कर्माणि मनीषिणः॥ (हिन्दूधर्म कोश)
3. मन्त्र प्रयोग से किसी को मारने के लिए एक शक्ति पैदा करने की कल्पना की जाती है, इसे कृत्या कहते हैं।
4. धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकी त्राटकं तथा।
   कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत॥ (घेरंड संहिता 1/12)

1. **धौति**—मुख से वायु खींचकर तथा पेट में फिराकर पुनः मुख से निकाल देना, कंठ तक पानी पीकर तथा पेट में फिराकर गुदा से निकाल देना, पेट की नाभि को सिकोड़कर पीठ की हड्डी से सटा देना, सूखी मिट्टी आदि से दांतों को सुबह-शाम रगड़कर खूब धोना, हाथ की उंगलियों से जीभ के मूल तक रगड़कर खूब धोना तथा रोज मक्खन जीभ में लगाकर उसको धीरे-धीरे बढ़ाना, फिर जीभ के अग्रभाग को लोहे के चिमटा से पकड़कर धीरे-धीरे खींचना, इससे जीभ बढ़ जाती है, उंगलियों से कानों को नित्य साफ करना, प्रतिदिन गले के भीतर के कौवे को अंगूठे से धोना, चिकने बेल के दंडे को मुख से हृदय तक डालकर धीरे से बाहर निकालना, खूब पानी पीकर उसका वमन कर देना—ये सब धौति कर्म में आते हैं, परन्तु मुख्य है महीन कपड़े को, जो चार अंगुल चौड़ा तथा कम-से-कम पांच हाथ लम्बा हो, मुख से निगलकर निकालना, इस क्रिया में कपड़े का एक सिरा हाथ से पकड़े रहते हैं और निगलकर आंती को साफ करते हैं।

2. **वस्ति**—पेट तक पानी में बैठकर गुदाद्वार सिकोड़ना-फैलाना तथा जमीन पर भी बैठकर सिकोड़ना-फैलाना।

3. **नेति**—सूत नाक में डालकर मुख से निकालना।

4. **नौलिकी**—पेट को वेगपूर्वक दोनों तरफ घुमाना।

5. **त्राटक**—किसी छोटी चीज पर नेत्र गड़ाकर उसे तब तक अपलक देखना जब तक आंसू न गिरे।

6. **कपालभाति**—यह तीन प्रकार का होता है—वातक्रम, व्युत्क्रम तथा शीतक्रम। ईडा (नाक के बायें छेद) से वायु धीरे-धीरे खींचकर छाती में भरना तथा पिंगला (नाक के दायें छेद) से उसे धीरे-धीरे निकालना, इसी प्रकार दायें से भरकर बायें से निकालना—वातक्रम कपालभाति है। दोनों नाकों से पानी पीकर मुख से गिराता जाये तथा मुख से पीकर नाक से गिराता जाये—यह व्युत्क्रम कपालभाति है। मुख से शीत्कार कर अर्थात सुर-सुर कर पानी पीना और दोनों नाकों से गिरा देना—शीतक्रम कपालभाति है। यह सब घेरंड संहिता के प्रथम उपदेश में वर्णित है। इनका फल शरीर-शुद्धि तो माना ही है, इनसे रोग, बुढ़ापा, मृत्यु का भी दूर हो जाना माना है और सुन्दरता तथा देवदेह का पाना भी माना है। वस्तुतः ये षटकर्म हठयोग के लिए आवश्यक होते हैं। बिना योग्य गुरु के यह सब नहीं करना चाहिए। वैसे भी प्रायः इनकी आवश्यकता नहीं है।

षटकर्म के और भी जितने रूप हैं सब चेतन मानव द्वारा ही कल्पित किये गये हैं। सारे वेद तथा शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छंद, ज्योतिष और व्याकरण छह वेदांग एवं विश्व के सारे शास्त्रों की रचना मनुष्य के नाद से एवं शब्द से

ही हुई हैं। बिंद से अर्थात वीर्य से जीव की सत्ता द्वारा देहों की रचना होती है। यही नाद-बिंद का भेद है। जीव की सत्ता से बिंद द्वारा देहों की सृष्टि होती है तथा नाद द्वारा शास्त्रों एवं समस्त ज्ञान-विज्ञान की सृष्टि होती है। दोनों सृष्टियों में चेतन का ही महत्त्व है जिसके लिए इस शब्द में लाक्षणिक शब्द जल कहा गया है।

"जेहि जल जीव शीव को बासा, सो जल धरणी अमर परकासा।" जिस जल में जीव और शिव दोनों का निवास है वह जल इस धरती पर अमर रूप से प्रकट है। जल तो लाक्षणिक शब्द हुआ, मुख्य अर्थ है चेतन। एक चेतन सत्ता में ही जीव और शिव दोनों हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि एक चेतन सर्वत्र व्याप्त है और जीव-शिव दोनों उसके प्रतिबिंब हैं। इस उलझी हुई तथा असंभव बात की यहां चर्चा नहीं है। जब एक अखंड चेतन सर्वत्र रहेगा तब वहां जीव, शिव, जगत कुछ कैसे रह सकता है ! यदि एक अखंड वस्तु सर्वत्र व्याप्त हो तो दूसरी सत्ता का रहना संभव ही नहीं है। अतएव यहां का अभिप्राय है कि जीव नाना हैं, परन्तु सभी का लक्षण एक चैतन्य है। सभी जीवों का लक्षण एक चैतन्य होने से सबमें चैतन्यता एक समान है, किन्तु सबका व्यक्तित्व अलग-अलग है। यह प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। इन्हीं चेतन जीवों में कोई जीव है तथा कोई शिव है। जो अपने स्वरूप को नहीं पहचान सका है वह जीव है और जिसने अपने स्वरूप को पहचान लिया है, जड़-वासनाओं का त्याग कर दिया है और जिसकी अपने स्वरूप में स्थिति हो गयी है, वह शिव है, कल्याणरूप है। श्री विशाल साहेब के वचनों में "अवश्य होय भव पार वह, पार जो समझे जीव। केवल निश्चय क्षीण है, निश्चय पलटि सो शीव।"[1] पारखी संत मानते हैं कि जब जीव गुरु हो जाता है तब पूर्ण हो जाता है। इसीलिए वे जीवमुख की बात न मानकर गुरुमुख की बात मानते हैं। यह गुरु हो जाना, शिव हो जाना एक ही बात है। दोनों का अर्थ है जगत से निष्काम होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना। इस प्रकार मूलतः एक ही प्रकार के चेतन में कोई जीव है और कोई शिव है। ऋग्वेद की भाषा में कोई पक्षी फल खाता है और दुखी है तथा कोई पक्षी केवल देखता है इसलिए शोकरहित है।[2] एक जीव विषयों में उलझा है इसलिए शोकित है, दूसरा केवल उसका द्रष्टा है, उससे अलग है, इसलिए चिंताहीन है। यही तो जीव-शिव का भेद है। दोनों में मौलिक भेद नहीं है, किन्तु अबोध-बोध एवं तज्जन्य स्थिति का भेद है।

---

1. भवयान, साखी सुधा, साखी 16।
2. ऋग्वेद 1/164/20।

"सो जल धरणी अमर परकासा" यही अमर चेतन इस धरती पर अपना ज्ञान फैला रहा है। इस धरती पर जहां कहीं कुछ ज्ञान का विस्तार है वह किसकी विभूति है? वह सब इसी चेतन की है। इस संसार में जड़ और चेतन दो सत्तों हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, समुद्र, पर्वत, नदी, झरने, वृक्ष, वनस्पति, सब जड़ का पसारा है। इससे भिन्न चारों खानियों की देहें, कला-कौशल तथा समस्त ज्ञान-विज्ञान जड़ का संयोग लेकर चेतन की महिमा है। "सो जल धरणी अमर परकासा।" यही अविनाशी चेतन इस धरती पर अपनी ज्ञान-रश्मियां फैला रहा है। अनन्त विश्व-ब्रह्मांड में कहीं भी ज्ञान-विज्ञान होगा वह सब चेतन की ही कला होगी।

"जेहि जल उपजल सकल शरीरा, सो जल भेद न जानु कबीरा।" साहेब कहते हैं कि जिस चेतन की सत्ता से सारे शरीरों की उत्पत्ति होती है उस चेतन के रहस्य को लोग नहीं जानते इसीलिए वे आकाश में दूर पुकारते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे चेतन मनुष्य ! तू अपने स्वरूप को समझ ! तू चेतन है, अमर है, सारे ज्ञान-विज्ञान तेरी देन है, वेद-शास्त्र सब तेरी रचना है। तू अपने आप में पूर्ण है, महान है। तू स्वयं तृप्तस्वरूप है। जगत-इच्छाओं को छोड़ देने के बाद तू स्वयं आनंदकंद है। तू दूर कहां पुकार रहा है ! तेरे अलावा तेरा क्या है ! तू परमात्मा का परमात्मा एवं परमानंद का परमानंद है। तू अपने आप को समझकर अपने आप में तृप्त हो जा, अपने आप में स्थित हो जा। तुम्हें बाहर से कुछ पाना नहीं है। "चातृक कहाँ पुकारो दूरी" दूर क्या पुकार रहा है ! जिसे तू पुकार रहा है, वह स्वयं तू ही है !

देहाभिमान छोड़कर राम- भजन करो

शब्द-72

चलहु का टेढ़ो टेढ़ो टेढ़ो॥ 1॥

दशहूँ द्वार नरक भरि बूड़े, तू गन्धी को बेड़ो॥ 2॥
फूटे नैन हृदय नहिं सूझे, मति एकौ नहिं जानी॥ 3॥
काम क्रोध तृष्णा के माते, बूड़ि मुये बिनु पानी॥ 4॥
जो जारे तन भस्म होय धुरि, गाड़े किरमिटी खाई॥ 5॥
सीकर श्वान काग का भोजन, तन की इहै बड़ाई॥ 6॥
चेति न देखु मुग्ध नर बौरे, तोहि ते काल न दूरी॥ 7॥
कोटिन यतन करो यह तन की, अन्त अवस्था धूरी॥ 8॥
बालू के घरवा में बैठे, चेतत नाहिं अयाना॥ 9॥
कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़े बहुत सयाना॥10॥

शब्दार्थ—दशहूँ द्वार=दो नाक, दो कान, दो नेत्र, मुख, गुदा, शिश्न तथा एक छिद्र खोपड़ी के तालु में माना है। गन्धी=गंदगी। बेड़ो=जहाज। किरमिटी=कीड़े तथा मिट्टी। सीकर=सियार। मुग्ध=विमोहित। अयाना=भोला, अज्ञानी। सयाना=शास्त्रज्ञानी।

भावार्थ—अहंकार में भरकर क्या टेढ़े-टेढ़े चलते हो!॥ 1॥ नेत्र-कर्णादि दसों दरवाजे तो नरक भरकर डूबे हैं। तू यह शरीर नरक का जहाज लेकर ही तो घूम रहा है॥ 2॥ तेरे बाहर के नेत्र फूटे हैं और भीतर हृदय से भी नहीं सूझता, तेरे में थोड़ी भी सद्बुद्धि नहीं आयी॥ 3॥ तू काम, क्रोध और तृष्णा से उन्मत्त होकर बिना पानी के संसार में डूब मरा॥ 4॥ मृत शरीर जला देने पर राख एवं धूल हो जाता है, गाड़ देने पर कीड़े और मिट्टी खा लेते हैं और यदि वह मैदान में पड़ा रहे तो सियार, कुत्ते और कौओं का आहार बन जाता है। तुम्हारे प्रिय माने हुए शरीर की यही विशेषता है॥ 5-6॥ हे विमोहित पागल मनुष्य! सावधान होकर देख न, मौत तुमसे दूर नहीं है। इस शरीर को सुरक्षित रखने के लिए चाहे तुम करोड़ों उपाय करो, अंतकाल में यह धूल में मिलेगा ही॥ 7-8॥ तू बालू के घर में बैठा है, तेरा शरीर क्षणभंगुर है। हे मूढ़! तू सावधान क्यों नहीं होता!॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि एक राम के भजन बिना बहुत-से ज्ञानी कहलाने वाले भी संसार-सागर में डूब गये॥ 10॥

व्याख्या—इस शरीर से जब आत्म-उद्धार के लिए साधना की जाये तथा दूसरे की सेवा की जाये, तब इसकी सार्थकता है। यही इसकी शोभा है। परन्तु हम तो साधना एवं सेवा न कर इस देह का अहंकार करने लगते हैं। हमें इस देह का ही गर्व हो जाता है। इस देह की बनावट, अंगों का लालित्य, बल और बुद्धि का इतना अहंकार हो जाता है कि हम टेढ़े होकर चलने लगते हैं। अहंकारपूर्ण व्यवहार करना ही टेढ़े होकर चलना है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं तुम क्या टेढ़े होकर चलते हो! जिस शरीर के घमंड में इतराकर टेढ़े होकर चलते हो उस पर विचार करो, वह क्या है! दोनों आंखों, दोनों नाकों और कानों में गंदा पानी, कीचड़ और अन्य गंदी वस्तुं भरी हैं। मुख थूक से भरा एक गड्ढा है। टट्टी-पेशाब की जगह महा अपावन है इसे कौन नहीं जानता! खोपड़ी में भी हड्डी-मज्जा आदि गंदी वस्तुओं के अलावा क्या है! पूरा शरीर ही हड्डी की एक झोपड़ी है। उसमें मल-मूत्र भरे हैं, गीला चाम लपेटा है। साहेब कहते हैं कि हे मानव! तू तो नरक का जहाज बना है। इसी नरक की पोटली पर तू अहंकार करता है। लगता है कि तेरी बाहर की आंखें फूटी हैं और भीतर की भी। तू बाहर की आंखों से देखकर ही समझ सकता है कि तू जिस पर अहंकार करता है वह

कूड़ा-कचड़ा है। जैसे तुम देखते हो कि किसी घूर पर कचड़ा पड़ा रहता है, यह तुम्हारे शरीर की सारी सामग्री उससे अधिक नहीं है। नाशवान तो ऐसा है कि पलक झपकते यह भूलुंठित हो जाता है और सदा के लिए बीत जाता है। यदि तुम्हारे पास विवेक-विचार के नेत्र होते तो तुम इस तथ्य को अवश्य समझते। परन्तु तुम्हारे ये भीतर के नेत्र फूटे हैं और मानो बाहर के भी फूट गये हैं। हम देखते हैं कि जवान-जवान लोग भी इस संसार से क्षण में उठ जाते हैं। इतना ही क्या, बड़े-बड़े धनपति, बड़े-बड़े विद्वान, बड़े-बड़े राजनेता क्षण-पल में सदैव के लिए चले जाते हैं। अवधि आने पर मौत किसी को नहीं छोड़ती। अपने जीवन की घटनाओं से इतिहास बनाने वाले दुनिया के बड़े लोगों को भी जाते देरी नहीं लगी, फिर तू किस अहंकार में भूल रहा है।

यह देहाभिमानी मनुष्य निरंतर काम, क्रोध तथा तृष्णा में मतवाला बना रहता है। इसमें काम धुरी है जिसके चारों तरफ क्रोध और तृष्णा नाचते हैं। यदि आदमी की कामना में भंग पड़ता है तो वह क्रोध से भभक उठता है और यदि कामना पूर्ण होती है तो तृष्णा की ज्वाला बढ़ जाती है। इसलिए ये क्रोध और तृष्णा काम के ही विस्तार हैं। यदि मनुष्य के मन से काम विदा हो जाये, वह विषयों की एवं सांसारिक वस्तुओं की कामना छोड़ दे तो उसके पास क्रोध तथा तृष्णा फटकेंगे भी नहीं। परन्तु मनुष्य काम का कीड़ा बना रहता है। वह आजीवन नाना विषय-कामनाओं में डूबा रहता है। स्त्री पुरुष की कामना करती है, पुरुष स्त्री की कामना करता है, फिर पुत्र की कामना, अधिक धन की कामना, प्रसिद्धि की कामना, पद-प्रतिष्ठा की कामना, विरोधियों के विध्वंस की कामना, अनुकूलों को संपन्न बनाने की कामना, कहां तक गिनाया जाये, कामनाओं की कोई गणना नहीं हो सकती। इसीलिए मनुष्य क्रोध और तृष्णा का जीवन भर शिकार बना रहता है। कामनाओं के न पूर्ण होने पर चिड़चिड़ाते, भड़भड़ाते एवं क्रोधावेश में जलते रहना और किंचित कामनाओं के पूर्ण होने पर उसकी तृष्णा में चित्त का जलते रहना, यही इस संसार-कीट मनुष्य का स्वभाव हो गया है। साहेब कहते हैं कि काम, क्रोध तथा तृष्णा में पागल हे मूढ़ मनुष्य ! तू बिना पानी के डूब मरा। कोई नदी-तालाब के पानी में डूब जाये तो स्वाभाविक लगता है, परन्तु मनुष्य तो बिना पानी के डूबता है। अपने अज्ञानपूर्ण कार्य में डूब जाना ही मानो बिना पानी के डूबना है।

हे देहाभिमानी ! तू इस तथ्य को समझ ! जिस देह का तुम्हें बड़ा घमंड है उसकी अंतिम दशा क्या होती है ! क्या तू इसे जानता नहीं है ! जानता अवश्य है, परन्तु तुम्हें प्रमाद है कि हम बहुत दिनों तक संसार में रहेंगे। याद रखो,

तुम चाहे जितने दिनों तक संसार में रहो, परन्तु जिस दिन जाने का समय आयेगा वह दिन आज-जैसा ही रहेगा। यह कोई नहीं जानता कि हम कब इस संसार से उठ जायेंगे। जब जीव शरीर से निकलता है, यह शरीर केवल काष्ठ के समान निश्चेष्ट पड़ा रहता है। तुरन्त इसे श्मशान ले चलो, ले चलो लोग कहते हैं। इसे यदि जला दिये तो यह राख एवं धूल हो जाता है। जब जवाहर लाल नेहरू की लाश दिल्ली के शांति-वन में जलायी गयी तब जल जाने के बाद एक विदेशी पत्रकार ने कहा था कि जो दुनिया का एक बड़ा राजनेता था वह एक घंटा में एक मुट्ठी राख हो गया। यदि इस देह को गाड़ दें तो इसे कीड़े खा जाते हैं और यह मिट्टी में बदल जाता है। यदि यह मृत शरीर कहीं जंगल, पर्वत एवं मैदान में पड़ा रहे या वहां डाल दिया जाये तो इसे सियार, कुत्ते, चील, गीध, कौए एवं अन्य जानवर खा जाते हैं। यदि इसे पानी में फेंक दें तो मछली-कछुए खा जाते हैं। साहेब कहते हैं कि हे देहाभिमानी, तेरे शरीर की यही अंतिमी बड़ाई है। यदि तूने इसे न आत्मकल्याण की साधना में लगाया और न पर-सेवा में लगाया तो इसका क्या उपयोग हुआ ! जीवन भर इस कूड़े-कचड़े का अहंकार लादे रहा और अन्त में इसका सर्वनाश हो गया।

हे विमोहित, पागल मनुष्य ! तू जागकर देख तो, तुझसे काल दूर नहीं है। जन्म के साथ मृत्यु पीछे पड़ जाती है। क्षण-क्षण बीतता है और आदमी मौत के मुख में जाता है। लोग अपना और अपने साथियों तथा बाल-बच्चों के जन्म-दिन मनाते हैं। उन्हें यह होश नहीं है कि आज उनके जीवन का एक वर्ष और बीत गया। संसार के अनेक आश्चर्यों में यह एक बहुत बड़ा आश्चर्य है कि दूसरों को मरते देखकर भी अपनी मौत की उसे याद नहीं होती। यक्ष ने जब पूछा कि सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है, तब युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"प्रतिदिन प्राणी यमसदन को जा रहे हैं, परन्तु बचे हुए लोग सदैव जीवित रहना चाहते हैं, इससे बड़ा आश्चर्य क्या होगा !"[1] यदि आदमी हरक्षण अपनी मौत की याद रख पाता तो उससे कोई बुराई न होती। तुम्हें यदि कोई पक्का निश्चय करा दे कि तुम आज शाम तक मर जाओगे तो देखोगे तुम्हारा मन कैसा हो जायेगा ! तुम्हें यह दुनिया दूसरे ढंग से दिखेगी। कई अहंकारी लोग भी मरने के समय अपने शत्रुओं से भी हाथ जोड़कर क्षमा मांगते हैं। जो व्यक्ति अपनी मौत को हरक्षण याद रखता है उसके ख्याल में न कोई शत्रु है और न कोई मित्र है। आदमी इतना घोर प्रमादी है कि इस दो दिन के जीवन में इतना अत्याचार में उतर आता है कि मानो इसे इसी संसार

---

1. अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम ॥ (महाभारत, वनपर्व 313/116

में सदैव रहना है। देहधारी को याद रखना चाहिए कि मौत नित्य उसके निकट आ रही है। मौत को याद रखें या नहीं, किन्तु वह तो हमारे सोते-जागते हर समय हमारी ओर बढ़ रही है।

प्रमादी लोग इस शरीर को अमर बनाने के लिए भी बड़ा-बड़ा प्रयोग करते हैं। कायाकल्प कर शरीर को बहुत दिनों तक रखने का भ्रम पाला जाता है। हठयोग के बल पर तो कई सौ वर्षों तक जीवित रहने की सनक रखी जाती है। इसमें सहायक होती हैं पौराणिक मिथ्या कहानियां, जिनमें लिखा मिलता है कि अमुक-अमुक व्यक्ति इतने हजार एवं लाख वर्ष तक जीवित रहे। भागवतकार ने तो यहां तक लिख डाला है कि राजा प्रियव्रत ग्यारह अरब वर्ष तक राज्य करते रहे।[1] वस्तुतः वेद के ऋषियों की बात ही सच है, उन्होंने सौ वर्ष तक जीने की कामना की है 'जीवेम शरदः शतम्'। कुछ दिन पूर्व पाश्चात्य वैज्ञानियों को एक भ्रम सवार हुआ था कि बन्दरों के शरीर में एक नस है जिसे निकालकर मनुष्य के शरीर में फिट कर दिया जाये तो वह सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहेगा। कितने लोग समझते हैं कि अधिक रस-रसायन एवं भस्म खाकर शरीर को बहुत दिनों तक रखा जा सकता है। साहेब कहते हैं कि हे विमोहित मानव ! तू इस शरीर को रखने के लिए चाहे करोड़ों उपाय कर ले, परन्तु अन्त अवस्था में तेरे शरीर की व्यवस्था धूल में ही होगी। यह तेरे उपायों से बहुत दिनों तक रुक नहीं सकता। यह तो क्षण में ही तुम्हें धोखा देकर चला जायेगा।

हे भोले ! तू मत समझ कि पक्के भवन में बैठा है। यह तेरा लोहा, सीमेंट एवं ईंटों से बना मकान कुछ निश्चित अवधि रखता है। इंजीनियर इसे बता सकता है कि इस मकान की अवधि इतने वर्षों की है। परन्तु तेरे शरीर की अवधि नहीं बतायी जा सकती। यह समझ, कि तू बालू के घर में बैठा है। बालू के घर को गिरने में क्या देरी ! इसी प्रकार तेरी काया विनशने में देरी न लगेगी। फिर भी तू इतना भोला बना है कि सावधान नहीं हो रहा है।

"कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़े बहुत सयाना।" सद्गुरु कहते हैं कि एक राम-भजन के बिना बड़े-बड़े ज्ञानी और समझदार कहलाने वाले भी भवधारा में डूब गये। राम है चेतनदेव जो हर दिल में बसा हुआ है। यह जीव, यह चेतनदेव, यह आत्मा अविनाशी है, ज्ञानरूप है। यह देह में केवल कुछ समय के लिए रहता है; किन्तु इसका लक्षण जड़-देह से अलग ज्ञानमय

---

1. भागवत 5/1/29।

है। यह देह से सर्वथा भिन्न है। यह स्वभावतः पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं प्राप्तकाम है। यह अपने इस दिव्य स्वरूप को न जानकर ही मलिन देह का अभिमान करता है, विषयों की कामना करता है और क्रोध, तृष्णा, चिन्ता-शोक आदि में जलता है। अपने पूर्णकाम चेतन स्वरूप का स्मरण करना तथा उसी भाव में स्थित रहना—यही राम-भजन है, यही जीवन की दिव्य स्थिति है, यही कृतार्थ अवस्था है। इस राम-भजन में न रहने से ही, शास्त्रज्ञान बहुत हो जाने पर भी आदमी काम, क्रोध, तृष्णा आदि की भवधारा में डूबता है। हमें केवल शास्त्र-ज्ञान मानसिक भवधारा से नहीं बचा सकता। बड़े-बड़े विद्वान तथा धुरंधर पंडित भी अत्यंत मलिन आदतों में जीवनभर लिपटे रहते हैं। इसलिए शास्त्रीय एवं बौद्धिक ज्ञान जीव का बेड़ा नहीं पार कर सकता। मनुष्य तो तभी इस जीवन में कृतकृत्य होता है जब वह राम-भजन में लीन रहता है। विषयों से विरति तथा निज चेतनस्वरूप में निरति, यही राम-भजन है।

शब्द–73

फिरहु का फूले फूले फूले॥ 1॥
जब दश मास ऊर्ध्व मुख होते, सो दिन काहेक भूले॥ 2॥
ज्यों माखी सहते नहिं बिहुरे, सोचि सोचि धन कीन्हा॥ 3॥
मुये पीछे लेहु लेहु करें सब, भूत रहनि कस दीन्हा॥ 4॥
देहरि लों बर नारि संग है, आगे संग सुहेला॥ 5॥
मृतक थान लों संग खटोला, फिर पुनि हंस अकेला॥ 6॥
जारे देह भस्म होय जाई, गाड़े माटी खाई॥ 7॥
काँचे कुम्भ उदक ज्यों भरिया, तन की इहै बड़ाई॥ 8॥
राम न रमसि मोह के माते, परेहु काल वश कूवा॥ 9॥
कहहिं कबीर नर आप बँधायो, ज्यों ललनी भ्रम सूवा॥10॥

शब्दार्थ—सहते=कष्ट सहनकर। बिहुरे=बिहुरना, छोड़ना। भूत=भूति, धन-संपत्ति। देहरि=देहलि, देहली, दरवाजे की चौखट में की नीचे वाली लकड़ी। सुहेला=प्रियजन। मृतक थान=चिताभूमि। खटोला=खटिया, अर्थी, टिकड़ी। हंस=जीव। कुम्भ=घड़ा। उदक=पानी। रमसि=रमना, निवास करना, स्थित होना। काल=अज्ञान। कूवा=कूप। ललनी=बांस की नली, बांस की वह छोटी चरखी जिसमें सुग्गा फंस जाता है। सूवा=सुग्गा, शुक पक्षी।

भावार्थ—हे मानव ! तन-धनादि के अहंकार में क्या फूले-फूले फिरते हो !॥ 1॥ जब दस महीने माता के गर्भ में उलटे मुख लटके थे वह दिन क्यों भूल गये !॥ 2॥ जैसे मधुमक्खियां बहुत कष्ट सहते हुए नाना फूलों से

पुष्परस लाकर मधु बनाती तथा इकट्ठा करती हैं और उसे छोड़ नहीं पातीं और मधु निकालने वाले आते हैं तथा उन्हें आग में झुलसाकर मधु निकाल ले जाते हैं, वैसे आदमी सोच-सोचकर अच्छे-बुरे सभी उपाय करके धन इकट्ठा करता है, किन्तु उसका सदुपयोग नहीं करता॥ 3॥ परिणाम यह होता है कि उसके जीते ही उसे चोर, डाकू या राजकर्मचारी पीड़ित कर उसके संचित धन को ले जाते हैं या उसके मर जाने के बाद हकदार बने अनेक लोग उसके संचित धन को लूटने के लिए आ धमकते हैं। भला, उसे वे सब सुरक्षित रहने कैसे देंगे !॥ 4॥ मर जाने पर लाश के साथ दरवाजे तक श्रेष्ठ साथी मानी गयी पत्नी जाती है, आगे श्मशान तक प्रियजन जाते हैं और चिताभूमि तक अर्थी जाती है। इसके बाद तो फिर जीव को अकेला ही जाना पड़ता है॥ 5-6॥ मृत शरीर को यदि आग में जला दिया गया तो वह राख हो जाता है, यदि गाड़ दिया गया तो उसे मिट्टी खा जाती है॥ 7॥ जैसे मिट्टी के कच्चे बरतन में पानी भरने पर वह उसमें ज्यादा समय तक टिक नहीं पाता, बरतन गलकर नष्ट हो जाता है और पानी बह जाता है, वैसे इस कच्चे साज शरीर की भी विशेषता है। यह भी देखते-देखते नष्ट हो जाता है और जीव चला जाता है॥ 8॥ हे मोह में मतवाला आदमी ! तू अपने ज्ञानस्वरूप चेतन-राम में नहीं स्थित होता, बल्कि अज्ञानवश सांसारिकता के कुँ में डूबता है॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि मनुष्य ने विषयों में सुख-भ्रम करके अपने आप को वैसे ही स्वतः बंधा लिया है, जैसे ललनी-यन्त्र में लगे हुए लाल मिर्चे के खाने के मोह में पड़कर सुग्गा अपने आप को स्वयं बंधा लेता है॥ 10॥

व्याख्या—आदमी थोड़े दिनों के लिए संसार में आता है। वह यहां कुछ दिनों के लिए जवानी, सुन्दरता, बल, धन, पद, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि पा जाता है और अपनी ओछी बुद्धि के कारण इन सबके अहंकार में फूल जाता है। वह अपने समान किसी को नहीं जोरता। वह नम्रता त्यागकर ऐंठ-ऐंठकर चलने लगता है, किसी से सीधे मुख बात भी नहीं करता। कबीर देव ऐसे लोगों से कहते हैं कि तुम क्यों फूले-फूले फिर रहे हो ! जिसमें तुम फूले-फूले फिर रहे हो वे कितने दिन के हैं ! "मन में सोच-विचार बुलबुला पानी का। दो दिन में मिट जाये नशा जवानी का।" ऐसे ही जिन-जिन का हमें नशा होता है वे सब थोड़े दिनों के ऐश्वर्य होते हैं। ऊंचा-से-ऊंचा पद छूटता है। प्राणी-पदार्थों का सारा संगम हवा के झोंके के समान है। फिर यह मूढ़ मानव किसमें फूलता है ! इन नश्वर वस्तुओं का अहंकार करना हद दर्जे की भूल है।

"जब दश मास ऊर्ध्व मुख[1] होते, सो दिन काहेक भूले।" मनुष्य नौ या दस महीने तक माता के गर्भाशय में शिशुरूप में उलटे मुख लटका रहता है। साहेब कहते हैं कि तुम वे दिन क्यों भूल गये! तुम नौ-दस महीने माता के मैले गर्भाशय में उलटे मुख लटके रहे। वहां तुम कितने असहाय एवं दीन-मलिन रहे! यदि कुछ दिनों तक तुम्हारा शरीर रह जायेगा तो अत्यन्त जरजर होने पर तुम्हारी दशा पुनः दयनीय हो जायेगी। कितने बूढ़ों को तुम देखते हो कि उनके मुख की लार उनके शरीर पर ही बह जाती है और वे उसे नहीं संभाल पाते। पैर रखते हैं कहीं और चले जाते हैं कहीं और। जवानी में जो रोब-दाब परिवार पर रहता है क्या बुढ़ापा में वह सब कुछ रह जाता है! रोब-दाब की तो बात ही दूर, उससे कोई बात करने वाला नहीं मिलता, उसके पास कोई बैठना नहीं चाहता। याद रखो, तुम्हारे अहंकार का नशा कुछ ही दिनों में झड़ जायेगा। तुम जिन प्राणियों पर स्ववशता का अहंकार करते हो वे ही तुम्हें अंगूठा दिखायेंगे। जिन पदार्थों का तुम्हें मद है वे खो जायेंगे। जिस शरीर का गर्व है वह निर्बल होकर असहाय हो जायेगा।

मधुमक्खियां उड़-उड़कर वनस्पतियों पर बैठती हैं। वे वहां से पुष्पों से रस खींच-खींचकर लाती हैं और अपने छत्ते में भरती हैं। मधु निकालने वाले आते हैं वे मक्खियों को आंच तथा धुवां दिखाते हैं। मक्खियां अपना छत्ता छोड़ना नहीं चाहतीं। अतएव वे आंच से झुलस जाती हैं और मधु निकालने वाले मधु निकाल ले जाते हैं यही दशा उनकी होती है जो जायज-नाजायज धन तो बटोरते हैं, परन्तु उनका अच्छा उपयोग नहीं करते। धन की सार्थकता है उसको स्वयं तथा स्वजनों के उपभोग में लगाना और दूसरों की सेवा में खर्च करना। सूम लोग यह सब नहीं करते। वे दान करना, दूसरों की सेवा में लगाना तो जानते ही नहीं, परन्तु स्वयं उपभोग करना तथा स्वजनों के उपभोग में लगाना भी नहीं जानते। वे तो पैसा-पैसा जोड़ना जानते हैं। ऐसे लोग सदैव मन से मलिन तथा भयभीत रहते हैं। उनके जीवन में ऐसा भी अवसर पड़ सकता है कि चोर-डाकू आयें और उनको बांध-मारकर उनका संचित धन उठा ले जायें, या सरकारी कर्मचारी आकर उनका धन ले जाकर राजकोष में डाल दें। अंततः उसके मर जाने पर हकदार लोग लेहु-लेहु करके तो दौड़ते

---

1. यहां ऊर्ध्व मुख पाठ है जिसका अर्थ होता है ऊपर किये हुए मुख। चिकित्सक लिखते हैं— "गर्भधारण के बाद कई महीनों तक जब भ्रूण बहुत छोटा रहता है उस समय उसका माथा ऊपर की ओर रहता है और धड़ नीचे की ओर। पर पिछले महीनों में माथा नीचे की तरफ हो जाता है और नितंब ऊपर की तरफ।" (पारिवारिक चिकित्सा, पृ. 89, एम. भट्टाचार्य एण्ड कं, 73 नेताजी सुभाष रोड, कलकत्ता-1)

ही हैं। यदि दूसरे का संचित धन किसी को मिल जाये तो वह प्रायः लम्पट ही हो जाता है। जो धन अपना कमाया होता है उसे संयम से खर्च किया जाता है, परन्तु जो धन दूसरे का कमाया होता है और यों ही मिल जाता है तो मिलने वालों को उसका भूत सवार हो जाता है। संयमी लोगों की बात अलग है। वे तो अपने कमाये हुए तथा दूसरे से पाये हुए सभी धन का अच्छा उपयोग करते हैं, परन्तु संसार में संयमी तो थोड़े लोग होते हैं। इसीलिए धन का ज्यादा संग्रह करना मनीषियों ने पाप कहा है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कमाये हुए धन का अच्छा उपयोग करता रहे। उसे बटोरकर अहंकार की गठरी न बांधे।

आदमी चाहे जितनी माया बटोरे, उसे एक दिन मरना तो है ही। मर जाने पर उसके साथ क्या जाने वाला है! धन तो घर के अन्दर ही पड़ा रह जायेगा। उसकी लाश के साथ उसकी पत्नी केवल देहली अर्थात दरवाजे के चौखट तक जाती है। वह परदा करने वाली होती है, इसलिए वह देहली के बाहर कदम नहीं रख सकती। आगे उसकी लाश के साथ मित्र एवं प्रियजन चलते हैं। जो अब दुनिया से चला ही गया है उसकी लाश को श्मशान तक पहुंचा देना सब अपना कर्तव्य समझते हैं। परन्तु क्या जीव के साथ कोई चल सकता है! कोई चलना भी चाहे तो उपाय नहीं है। अतएव जीव जिसके अहंकार में फूला-फूला फिरता था उन सबको यहीं छोड़कर अकेला चला जाता है। जीव अकेला आता है और अकेला जाता है। वह अपने मूढ़तावश यहां के थोड़े दिनों की माया में प्रमत्त होकर फूला-फूला घूमता है। सर्वाधिक अहंकार देह का होता है और उसकी अन्तिम परिणति है राख हो जाना, मिट्टी हो जाना। शरीर की क्षणभंगुरता पर साहेब मिट्टी के कच्चे घड़े का मार्मिक उदाहरण देते हैं। मिट्टी के कच्चे घड़े में पानी भर दिया जाये तो वह उसमें कब तक टिक पायेगा! यह हाड़-चाम का कच्चा शरीर संसार में कब तक चलता रहेगा। हर देहधारी मानो दया का पात्र है, क्योंकि हर देह दुखेमी और क्षणभंगुर है। वे लोग बड़े बदहवास होते हैं जो दूसरे प्राणियों को छूरा भोंकते हैं। हर आदमी का जीवन स्वयं ही दुख तथा क्षणभंगुरता से घिरा है। वह दूसरे को दुख देकर अपने दुखों को और बढ़ाता है।

आदमी जीवनभर अज्ञान और मूढ़ता के कुं में पड़ा रहता है। मनुष्य प्रलोभन में पड़कर अपने आप को स्वयं बंधा लेता है। सुग्गे को फंसाने के लिए लोग बांस की एक चरखी रख देते हैं। उसके ऊपर लाल मिर्ची लगा देते हैं। सुग्गा लाल मिर्ची को खाने के लोभ से चरखी पर बैठता है और चरखी घूम जाती है तथा वह उसमें फंस जाता है। उसके प्रलोभन ने ही उसे चरखी

में फंसाया। इसी प्रकार हम सांसारिक भोग, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि के लोभ में पड़कर स्वयं अपने आप को बंधनों में फंसा लेते हैं। साहेब कहते हैं कि हे मोह में उन्मत्त आदमी, इसीलिए तू राम में नहीं रमता। जिसका मन सांसारिकता में डूबा हो उसका मन निजस्वरूप में कैसे स्थित हो सकता है !

योग के नाम पर प्रपंच तथा अ-समीक्षा

शब्द-74

ऐसो योगिया बदकर्मी, जाके गमन अकाश न धरणी॥ 1॥
हाथ न वाके पाँव न वाके, रूप न वाके रेखा॥ 2॥
बिना हाट हटवाई लावै, करै बयाई लेखा॥ 3॥
कर्म न वाके धर्म न वाके, योग न वाके युक्ती॥ 4॥
सींगी पात्र किछउ नहिं वाके, काहेक माँगे भुक्ती॥ 5॥
मैं तोहिं जाना तैं मोहिं जाना, मैं तोहिं माहिं समाना॥ 6॥
उत्पति परलय एकहु न होते, तब कहु कौन ब्रह्म को ध्याना॥ 7॥
योगी आन एक ठाढ़ कियो है, राम रहा भरपूरी॥ 8॥
औषध मूल किछउ नहिं वाके, राम सजीवन मूरी॥ 9॥
नटवट बाजा पेखनी पेखे, बाजीगर की बाजी॥10॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भई सो राज बिराजी॥11॥

शब्दार्थ—बदकर्मी=गलत काम करने वाला। गमन=यात्रा। रेखा=चिह्न। हाट=बाजार। हटवाई=बाजार का काम, सामान बेचने-खरीदने का काम, दुकानदारी। बयाई=तौलाई, तौलने की मजदूरी, दलाली। लेखा=हिसाब, आय-व्यय का ब्यौरा, अन्दाज, विचार। युक्ती=युक्ति, उपाय। सींगी=हिरन के सींग का बना हुआ बाजा जिसे योगी बजाते हैं। पात्र=बरतन, भिक्षापात्र। भुक्ती=भुक्ति, भोजन, आहार, भोग, ऐश्वर्य। आन=सत्य, दूसरा, आकर। नटवट=नटवत, चौरासी आसन दिखाना। बाजा=सींगी बजाना। पेखनी=मुद्रा। पेखे=देखते हैं। बाजी=तमाशा। राज=सुव्यवस्था। बिराजी=अव्यवस्था।

भावार्थ—कुछ ऐसे योगी होते हैं जो गलत काम करने वाले होते हैं। उनकी यात्रा न आकाश में होती है न पृथ्वी पर। अर्थात न वे इधर के होते हैं न उधर के॥ 1॥ वे एक तरफ तो यह कहते हैं कि हम उस आत्मा में स्थित हैं जिसमें हाथ, पांव, रूप-रेखा कुछ नहीं है। फिर भी वे बिना बाजार के अपनी दुकान लगाकर बैठते हैं और अपनी धार्मिक दलाली का पारिश्रमिक मांगते हैं॥ 2-3॥ वे एक तरफ तो परम सिद्ध बनते हैं और कहते हैं कि कर्म, धर्म, योग, युक्ति सबसे हम मुक्त हैं। मैं पूछता हूं कि सींगी और भिक्षापात्र भी तो

उसमें नहीं हैं, तो फिर सींगी बजाकर भिक्षा क्यों मांगते हैं? एवं ऐश्वर्य की कामना क्यों करते हैं?॥ 4-5॥ मैंने तुम्हें समझ लिया और तुमने मुझे समझ लिया तो मानो मैं तुममें समा गया। अर्थात जैसा मैं हूं वैसा तुम हो, इस प्रकार सजातीयता का बोध हो गया॥ 6॥ परंतु यदि इसका अर्थ अजातवाद का सिद्धांत रखकर किया जाये कि निर्माण, परिवर्तन एवं जगत है ही नहीं, केवल एक ब्रह्म है, तब कहो भला ब्रह्म का ध्यान करने वाला कौन है जो योगी बनने का ढोंग कर रहा है?॥ 7॥ योगियों ने तो निजरूप राम से हटकर एक अन्य ही कल्पना खड़ी कर रखी है कि रामतत्त्व केवल एक है और वही सर्वत्र भरा है। न उसमें ज्ञान-वैराग्यादि औषध चाहिए और न जिस कारण से औषध की आवश्यकता है वह जगत-रोग ही है। वह राम अपने आप संजीवनी बूटी है॥ 8-9॥ ये योगी लोग नट के समान चौरासी आसन दिखाते हैं, सींग का बाजा बजाते हैं, त्राटक आदि मुद्रा देखते हैं और बाजीगर के तमाशा की तरह "हाट बजारे लावै तारी"[1] का तमाशा करते हैं॥ 10॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो ! सुनो, राज से बेराज हो गया। अर्थात इन लोगों ने आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्ञान और साधना दोनों गड्डमड्ड कर दिया॥ 11॥

व्याख्या—यह इस ग्रंथ में कई बार निवेदन किया गया है कि कबीर साहेब के समय में योगियों का काशी-कोशल क्षेत्र में काफी विस्तार था। जिसका विस्तार बहुत अधिक हो जाता है उसमें अधिक विकार आ जाता है यह संसार का स्वभाव है। उस समय योगियों में काफी विकृति हो गयी थी। इसीलिए कबीर साहेब ने यहां कहा "ऐसो योगिया बदकर्मी।" प्रायः योगी लोग ऐसे दिखावे तथा गलत आचरण में लग गये थे जिससे उनका वास्तविक लक्ष्य छूट गया था। इसीलिए उनके लिए सद्गुरु ने कहा "जाके गमन अकाश न धरणी" न उनकी यात्रा आकाश की ओर है और न पृथ्वी की ओर अर्थात वे न परमार्थ ही साध पा रहे हैं और न ठीक से सांसारिक भोग ही प्राप्त कर पा रहे हैं। अतएव वे "न इधर के रहे न उधर के रहे, न खुदा ही मिले न बिसाले सनम।"

"हाथ न वाके पाँव न वाके, रूप न वाके रेखा। बिना हाट हटवाई लावै, करै बयाई लेखा।" ये एक तरफ तो हाथ-पांव, रूप-रेखा से परे आत्म-तत्त्व का उच्च व्याख्यान करते हैं और दूसरी तरफ बिना बाजार के दुकान लगाते हैं। अर्थात जहां-तहां चमत्कार का पाखंड फैलाकर धार्मिक दुकान लगाते हैं, धार्मिक दलाली करते हैं और उसी तरफ रात-दिन सोचते हैं जो अपने आप

---

1. रमैनी 69।

में बहुत बड़ा छलावा है।

"कर्म न वाके धर्म न वाके, योग न वाके युक्ती। सींगी पात्र किछउ नहिं वाके, काहेक माँगे भुक्ती।" वे अपने आप को परम सिद्ध और गुणातीत प्रदर्शित करते हुए यह कहते हैं कि हम कर्म, धर्म, योग, युक्ति सबसे परे हैं। फिर भी वे सींग का बाजा बजाते हैं और भोग-ऐश्वर्य चाहते हैं। सच्चा योगी, सच्चा ज्ञानी तो सादे ढंग से केवल शरीर का निर्वाह लेता है। वह भोग-ऐश्वर्य का ठाट नहीं ठटता। एक तरफ गुणातीत होने का दावा करना तथा दूसरी तरफ ऐश्वर्य की कामना रखना पूर्णतया विसंगत है।

"मैं तोहिं जाना तैं मोहिं जाना, मैं तोहिं माहिं समाना।" यदि मैंने तुम्हें तत्त्व से जान लिया और तुमने मुझे तथ्यतः जान लिया, तो मानो मैं तुममें समा गया और तुम मुझमें समा गये। यह एक सजातीय बोध और भावनात्मक एकता का कथन है। मैं शुद्ध चेतन हूं, इसी प्रकार तुम शुद्ध चेतन हो। जितने ज्ञाता चेतन हैं जो मैं के रूप में अपने अस्तित्व का बोध करते हैं वे सब सजाति चेतन हैं। उन सबका लक्षण एक है—चैतन्य। ठीक से मैं और तुम जान लिये तो मानो मैं तुम में लीन हो गया और तुम मुझमें लीन हो गये। इसका अर्थ यह नहीं हो गया कि हमारा और तुम्हारा चेतनस्वरूप एक में घुल-मिलकर जम गया। प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि हम दोनों को यह बोध हो गया कि दोनों का लक्षण एक है। यहां दोनों का तात्पर्य सभी चेतन जीवों से है। इस वास्तविकता का बोध हो जाने पर जीवों में परस्पर दया, प्रेम, करुणा, परोपकार आदि उच्च भावों का संचार होगा। सद्गुरु पूरण साहेब ने कहा है "सब तेरे तू सबन का" सब तुम्हारे हैं और तुम सबके हो। इसी को गीताकार कहते हैं कि जो अपने में सबको तथा सब में अपने को देखता है वही सच्चा ज्ञानी या भक्त है। इस कथन का अभिप्राय लोग गड़बड़ा देते हैं। वे समझ लेते हैं कि सबकी आत्मा एक है। वे यह नहीं समझ पाते कि यदि आत्मा एक होती तो 'सबकी' न कहना पड़ता। सब हैं तो आत्मा एक नहीं है, किन्तु सभी आत्माओं के चैतन्य गुण एक हैं, परन्तु वे व्यक्तित्व में एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। भिन्न तथा अनेक हुए बिना दया, करुणा, प्रेम, समता आदि सद्गुणों की आवश्यकता ही न पड़ती।

"उतपति परलय एकहु न होते, तब कहु कौन ब्रह्म को ध्याना।" अद्वैत ब्रह्मवाद में अंततः यह माना जाता है कि यह संसार है ही नहीं। इसकी उत्पत्ति एवं प्रलय कहना निरर्थक है। गौड़पाद ने अपने आगमशास्त्र में[1] अजातवाद, अलातवाद नाम देकर यही बताया है कि संसार कभी उत्पन्न ही

---

1. देखिए 'कबीर दर्शन' अध्याय 4, स्वामी शंकराचार्य का अद्वैतवाद संदर्भ।

नहीं हुआ है, क्योंकि यह तो है ही नहीं। केवल एक ब्रह्म की सत्ता है। साहेब कहते हैं कि यदि निर्माण तथा परिवर्तनमय यह जगत नहीं है और केवल एक ब्रह्म ही है तो यह बताओ कि ब्रह्म का ध्यान करने वाला कौन है? जगत और जीव यदि हैं ही नहीं तो ब्रह्म की जिज्ञासा किसे होती है, कौन ब्रह्म का विचार एवं ध्यान करता है? इस नानत्व भरे संसार को कैसे झुठलाया जा सकता है!

"योगी आन एक ठाढ़ कियो है, राम रहा भरपूरी। औषध गुण मूल किछउ नहिं वाके, राम सजीवन मूरी।" योगियों ने हृदय-निवासी राम से हटकर एक दूसरे राम की कल्पना खड़ी कर रखी है कि राम सर्वत्र व्याप्त है। न उसमें जगत-रोग है और न उसके निवारण करने के लिए ज्ञान-वैराग्यादि रूप औषध की आवश्यकता है। वह खुद संजीवनी बूटी है। 'योगी आन' में 'आन' शब्द का अर्थ दो ढंग से समझ सकते हैं। आन का एक अर्थ होता है 'दूसरा' तथा 'अन्य' और दूसरा अर्थ होता है 'आकर'। दोनों अर्थों में मुख्य भाव में अन्तर नहीं पड़ता। पहला अर्थ ऊपर लिया ही गया है। दूसरे में अभिप्राय होगा कि योगियों ने 'आकर' एक कल्पना खड़ी की है। वस्तुतः व्यक्तियों की आत्मा एवं चेतना के अलावा कोई सर्वव्यापक राम एवं ब्रह्म है यह एक अ-समीक्षात्मक अवधारणा है। यह चर्चा कई बार की गयी है कि एक अखंड तत्त्व सर्वत्र व्याप्त होने से दूसरे तत्त्वों का रहना संभव ही नहीं होगा और न गति होगी, न जगत होगा। इसी आशंका को लेकर ब्रह्मवादी कहते हैं कि जगत और जीव तो हैं ही नहीं। परन्तु ऐसा किसी के कह देने से तो जगत और जीव का अभाव नहीं हो जायेगा। किन्हीं पूर्वजों ने जैसे भी उलटा-सुलटा लिख दिया हो उसी को लेकर सत्ता की व्याख्या करने से कभी सच्चा ज्ञान संसार के सामने नहीं रखा जा सकता। किन्तु सत्ता के गुण-धर्मों के अनुसार ही सत्ता की व्याख्या करनी चाहिए। जो सत्ता के अनुसार शास्त्रों की व्याख्या हो उसे प्रमाण मानना चाहिए, शेष छोड़ देना चाहिए। कहीं शास्त्र में लिखा हो कि संसार तीनों काल में नहीं है इसलिए संसार उड़ नहीं जायेगा। संसार के लोगों को समझाने के लिए ही ब्रह्मवादी लोग सारा माथापच्ची करते हैं, फिर कहते हैं कि संसार है ही नहीं। राम कण-कण में है यह भावना एक भावुकता है और तथ्य से दूर है। राम घट-घट में है यह अनुभूत सत्य है। राम अर्थात चेतनस्वरूप में जगत-रोग नहीं है, परन्तु जगत का रोग मन में तो है ही। मन के जगत-रोग को दूर करने के लिए ज्ञान-वैराग्यादि औषध की आवश्यकता है। राम स्वयं संजीवनी बूटी है यह सच है, निजस्वरूप के बोध तथा स्थिति से सारे भवरोग समाप्त हो जाते हैं। परन्तु योगी लोग अनुभविता

एवं निजस्वरूप चेतन राम को छोड़कर कल्पित राम का पचड़ा गाते रहते हैं जो सत्य के जिज्ञासुओं के लिए त्याज्य है।

"नटवट बाजा पेखनी पेखे, बाजीगर की बाजी। कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, भई सो राज बिराजी॥" बाजीगर जैसे तमाशा दिखाता है वैसे योगी लोग चौरासी आसन लगाकर जनता को तमाशा दिखाते हैं। वे सींग का बाजा बजाते हैं, कान मूंदकर अनाहतनाद भी सुनते हैं, कोई आधारबिन्दु बनाकर और उस पर दृष्टि गड़ाकर एकटक देखना रूपी मुद्रा देखते हैं, अनेक चमत्कार दिखाते हैं जो एक छल-कपट रहता है। साहेब कहते हैं कि यह कोई योग नहीं है। यह तो योग के नाम पर बदकर्म है। आरंभिक साधना में मन को एकाग्र करने के लिए मुद्रा देखना तथा अनाहतनाद श्रवण आदि तो ठीक है, परन्तु ये सब साधक के लक्ष्य नहीं हैं। इसके अलावा आसन-प्रदर्शन तथा योग के नाम पर नाना प्रकार के तमाशा दिखाना, चमत्कार प्रदर्शित करना, यह सब तो योग के नाम पर भ्रम पैदा करना है। यही है, 'राज बिराजी।' यह राज से बेराज हो जाना है। जो योग का फल मन-निरोध तथा स्वरूपस्थिति होना चाहिए, वह हो गया लोक-रंजन, छल-कपट और देह-भोग का साधन। योग का फल व्यवस्था होती है, परंतु यह तो अव्यवस्था हो गयी।

जाति, धर्म और अध्यात्म की एकता

शब्द-75

ऐसो भरम बिगुर्चन भारी॥ 1॥
वेद कितेब दीन औ दोजख, को पुरुषा को नारी॥ 2॥
माटी का घट साज बनाया, नादे बिन्द समाना॥ 3॥
घट बिनसे क्या नाम धरहुगे, अहमक खोज भुलाना॥ 4॥
एकै त्वचा हाड़ मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा॥ 5॥
एक बुन्द से सृष्टि रची है, को ब्राह्मण को शूद्रा॥ 6॥
रजोगुण ब्रह्मा तमोगुण शंकर, सतोगुणी हरि होई॥ 7॥
कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरुक न कोई॥ 8॥

शब्दार्थ—भरम=भ्रम, मिथ्या ज्ञान, भटकाव। बिगुर्चन=बिगूचना, उलझन। दीन=मजहब, सम्प्रदाय। दोजख=नरक। घट-साज=शरीर की सामग्री एवं अंग। नादे=नाद, प्राण, सूक्ष्म शरीर। बिन्द=वीर्य। अहमक=अज्ञानी। गूदा=मांस।

भावार्थ—संसार में ऐसा भ्रम एवं भारी उलझन है कि वेद-कुरानादि धर्मशास्त्रों, संप्रदायों एवं मजहबों का अन्तर डालकर एक-दूसरे को

नरकगामी बताते हैं और स्त्रियों को नीच दृष्टि से देखते हैं, परन्तु कौन पुरुष है और कौन स्त्री है! सबकी चेतना एक समान है। स्त्री-पुरुष तो केवल शारीरिक लक्षण हैं॥ 1-2॥ स्त्री हो या पुरुष, सबके सारे अंग मिट्टी आदि जड़ तत्त्वों से बने हैं। सबका शरीर प्राण एवं रज-वीर्य से ओतप्रोत है॥ 3॥ शरीर नष्ट होने पर जीव का क्या नाम रखोगे? हे जड़मति! तू भूल रहा है, अतः सत्य की परख कर॥ 4॥ सबके शरीर में एक प्रकार के चाम लगे हैं और एक ही प्रकार के हाड़, मल, मूत्र, रक्त और मांस भरे हैं, एक ही प्रकार के रज-वीर्य से पूरे मानव की सृष्टि-रचना है, फिर इनमें कौन ब्राह्मण है और कौन शूद्र?॥ 5-6॥ हम तो त्रिदेवों को भी मानव में ही देखते हैं, जैसे अधिक रजोगुणी लोग मानो ब्रह्मा हैं, अधिक तमोगुणी लोग शंकर तथा अधिक सतोगुणी लोग विष्णु हैं॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि आत्माराम में रमण करो, यहां न कोई हिन्दू है न मुसलमान, किन्तु सब रामरूप हैं॥ 8॥

व्याख्या—अप्रतिम स्वतंत्र चिन्तक, मानवतावादी, विशाल-हृदय कबीर देव की बातें कितनी मार्मिक, कितनी साफ, कितनी सत्य तथा कितनी जन-कल्याणकारी हैं यह सोचते ही बनता है। साहेब कहते हैं कि धर्मशास्त्रों तथा मजहबों को लेकर संसार में भारी भ्रम तथा उलझन है। वेदवादी केवल अपने आप को आस्तिक मानते हैं। वे दूसरे सभी को नास्तिक कहते हैं। जो नास्तिक है वह स्वर्ग एवं कल्याण का अधिकारी तो हो ही नहीं सकता, वह तो सीधे नरक का अधिकारी है। परन्तु वैदिक कौन है इस बात को लेकर वैदिकों में भारी उलझन है। वेदांती शंकराचार्य ने पांचरात्र वैष्णवों को अवैदिक कहा है।[1] वे ईश्वर को जगत का केवल निमित्तकारण मानने वालों को अवैदिक कहते हैं, अतः इसमें वैष्णव ही नहीं आर्यसमाजी भी आ जाते हैं। ब्रह्मवादी निश्चल दास जी कहते हैं कि "उत्तर मीमांसा (ब्रह्मसूत्र) का उपेदश वेदसम्मत है, शेष सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा वेदविरुद्ध होने से नास्तिक हैं।"[2] वैष्णव माधवाचार्य के अनुगामी नारायण ने अपनी रचना मणिमंजरी तथा मध्वविजय में शंकराचार्य को महाभारतोक्त मणिमान नामक दैत्य का अवतार कहा है।[3] वैष्णव रामानुज ने अपने श्रीभाष्य

---

1. शारीरिक भाष्य 2/2/42-45।
2. उत्तर मीमांसा उपदेशा। वेद विरुद्ध न जामे लेशा।
   शास्त्र पंच ते वेद विरुद्धं। याते जानहु तिनहि अशुद्धं॥
   (विचार सागर, तरंग 7, चौपाई 103-104)
3. महामहोपाध्याय डॉ. गोपीनाथ कविराज कृत भारतीय संस्कृति और साधना, पृष्ठ 215, संस्करण 1964।

में शंकराचार्य को छिपा हुआ बौद्ध कहा है और उनके मत को हास्यास्पद बताया है। पद्म-पुराण में शिवजी के मुख से शंकराचार्य के मायावादी मत को अवैदिक करार दिलाया गया है 'मायावादं अवैदिकम्'। शिव से कहलवाया गया—"माया की कल्पना एक मिथ्या सिद्धांत है और बुद्ध मत का ही छिपा हुआ रूप है। हे देवि! मैंने ही कलिकाल में एक ब्राह्मण (शंकराचार्य) का रूप धारणकर इस मिथ्या सिद्धांत का प्रचार किया था।"[1] परांकुशदास ने रामानुज के श्री भाष्य पर टीका लिखते हुए शंकराचार्य के अनुयायियों को बौद्धों की तरह वेदविरोधी कहा है और कहा है—हे शंकराचार्य के अनुयायियो! तुम्हारे लिए 'वेदोऽनृतः' वेद झूठे हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है—"मायावादी अद्वैत वेदांती पांचवें नास्तिक हैं जो कहते हैं कि ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है।"[2] इतना ही नहीं, वैदिक कहे जाने वाले समस्त सम्प्रदाय एवं शाखा वाले एक दूसरे को पूर्णतः या आंशिक अवैदिक कहते हैं।

यही दशा मुसलमानों की है। शिया तथा सुन्नी में काफी कटाकटी रहती है। शिया लोग मानते हैं कि हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद उनके दामाद अली को खलीफा होना चाहिए था जो हजरत की एकमात्र पुत्री फातिमा के पति थे। इसलिए शिया लोग प्रथम दो खलीफाओं को गलत उत्तराधिकारी मानकर प्रार्थना में उनके नाम नहीं लेते हैं। इन बातों को लेकर शिया-सुन्नी एक दूसरे को बुरा-भला कहते हैं। इतना ही नहीं, मुसलमानों में दर्जनों फिरके (संप्रदाय) हैं जिनमें हर एक अपने आप को कुरान, इसलाम तथा मुहम्मद का रहनुमा एवं पथ-प्रदर्शक मानता है और दूसरे सबको गुमराह, इसलिए उन्हें नरकपंथी भी कहता है। यही दशा ईसाइयों के रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट में एवं उनकी अवांतर शाखाओं में है। गिनाया कहां तक जाये प्रायः हर संप्रदाय वाला अपनी किताब को ईश्वरप्रदत्त, अपने मत को ईश्वरीय तथा अपने मूलपुरुष को ईश्वर का भेजा या उसका अवतार मानकर स्वयं को ही स्वर्ग तथा मोक्ष का अधिकारी मानता है, शेष को अंधकार में भटकने-भटकाने वाला।

कबीर साहेब कहते हैं कि न कोई किताब अलौकिक है, न कोई संप्रदाय और न कोई महापुरुष। सब इसी संसार के हैं। सभी शास्त्र आदरणीय हैं, परन्तु सबसे केवल सचाई लेनी है। सब शास्त्रों में नीर-क्षीर-विवेक करना

---

1. मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
   मयैव कथितं देवि ! कलौ ब्राह्मणरूपिणा ॥ (पद्मपुराण, उत्तरखंड, 236)
2. सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 214, सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा दिल्ली, संस्करण विक्रम 2031।

है। जो निर्णय से सही हो वही प्रमाण है, शेष वचन किसी भी ग्रन्थ के हों, चाहे वेद के या कुरान के, या बाइबिल या किसी अन्य के, त्याज्य हैं। सारे संप्रदाय मनुष्यकृत हैं। किसी संप्रदाय में रहने मात्र से किसी का कल्याण नहीं है, किंतु सच्चे ज्ञान एवं सच्चे आचरण से कल्याण है। जिसका मन पवित्र है वह स्वर्ग-सुख भोगता है और जिसका मन गंदा है वह नरक-दुख भोगता है। स्वर्ग-नरक तथा बंध-मोक्ष किसी संप्रदाय की मुट्ठी में नहीं है कि जिसे चाहे स्वर्ग दे दे और जिसे चाहे नरक दे दे।

नाना सम्प्रदाय वालों ने पुरुषों को तो श्रेय दिया, परन्तु नारियों के अधिकार को चुनौती दी। नारियां वेदमन्त्र एवं गायत्री-मन्त्र नहीं पढ़ सकतीं, वे पुरुषों के साथ मसजिद नहीं जा सकतीं। कितने मत वालों ने उन्हें मुक्ति की अधिकारिणी भी नहीं माना। कबीर साहेब कहते हैं—'को पुरुषा को नारी' अर्थात कौन पुरुष है और कौन नारी है? दोनों के शरीर में केवल कुछ अंगों की रचना में अन्तर है, इसलिए उनकी भिन्न मर्यादों रखना ठीक है। परंतु वे दोनों मनुष्य हैं। दोनों को कर्म-संस्कार लगते हैं, इसलिए दोनों समान कल्याण के अधिकारी हैं और दोनों हर दिशा में उन्नति करने के हकदार हैं। अतएव स्त्री-पुरुष में केवल कुछ अंगों का अन्तर है, न कि उनकी मानवता एवं चेतनता में।

देखो "माटी का घट साज बनाया, नादे बिन्द समाना।" सबके शरीर के अंग मिट्टी आदि जड़तत्त्वों से बने हैं। सबके शरीर प्राण, रज, वीर्य से ओतप्रोत होने से एक समान हैं। अतएव भौतिक दृष्टि से सभी मिट्टी के पुतले हैं और सभी के भीतर एक ही समान चेतन निवास करते हैं। शरीर मिट जाने पर चेतन का क्या नाम रखोगे स्त्री या पुरुष, ब्राह्मण या शूद्र तथा हिन्दू या मुसलमान? 'अहमक खोज भुलाना' मानव-मानव में किसी प्रकार का भेदभाव मानने वाले को कबीर साहेब अहमक कहते हैं। अहमक का अर्थ होता है जड़बुद्धि एवं अज्ञानी। वे कहते हैं कि मानव में जो भिन्न जातियों की कल्पना करते हैं वे भूले हैं। इसलिए साहेब उन्हें खोज करने की राय देते हैं कि वे इस बात पर अनुसंधान करें, चिन्तन और मनन करें। निष्पक्ष विचार न करने से ही मानव-मानव के बीच जाति-पांति की खाईं बनायी जाती है। यदि थोड़ा विचार कर ले तो बात सहज समझी जा सकती है। वस्तुतः हमें पूर्व के जड़-संस्कार सत्य को नहीं समझने देते हैं। हमें जड़-संस्कारों के परदे को फाड़ फेंकना पड़ेगा।

जरा विचार करो, सबके शरीर में वही चाम लगा है, वही हाड़-मांस लगे हैं। सबके शरीर में एक ही समान रक्त बह रहा है। सबके शरीर में एक ही समान टट्टी-पेशाब भरी हुई है। सबका शरीर गंदे रज-वीर्य से बना है। फिर

इनमें कौन ब्राह्मण है तथा कौन शूद्र है। सारे साहित्य एवं शास्त्रों को पढ़कर इतनी भी अक्ल नहीं आयी! जो अनपढ़ भी समझ सकता है, यह बात तथाकथित पंडित एवं विद्वान नहीं समझ पा रहे हैं, यह कितना आश्चर्य है! शरीर तो सबका गंदी सामग्री से बना है। जो सदाचारी तथा आत्मज्ञानी है वह ब्राह्मण है और जो मूढ़ तथा मलिन आचरण वाला है वह शूद्र है। इसमें जाति-पांति और परंपरा से कोई मतलब नहीं।

साहेब कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव को भी मनुष्य समाज से बाहर मत खोजो। वैसे हर मनुष्य में तीनों गुण होते हैं, अन्तर यह रहता है कि किसी में रजोगुण प्रधान है, किसी में सतोगुण तथा किसी में तमोगुण। जो रजोगुण प्रधान है उसे ब्रह्मा, जो सतोगुण प्रधान है उसे विष्णु एवं जो तमोगुण प्रधान है उसे महादेव के रूप में देखो। इस प्रकार पूरा मानव समाज त्रिदेव मानकर पूजनीय है। इसमें किसका तिरस्कार करोगे!

"कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरुक न कोई।" सद्गुरु कहते हैं कि यहां हिन्दू-मुसलमान कौन है! सबके अन्दर में तो एक ही समान चेतनराम रम रहा है। इसलिए भेदभाव की दीवार को तोड़ो। तुम्हारा चेतनस्वरूप राम है, उसमें विश्राम करो। जो निजस्वरूप में विश्राम करता है वही राम में रमता है। अपने चेतन-राम में विश्राम तथा दूसरों को रामरूप मानकर उनके प्रति प्रेम का व्यवहार करना, यही हर मनुष्य का कर्तव्य है। इसी में सारे भ्रम तथा उलझनों का अन्त है। शास्त्र-प्रमाण, संप्रदाय, मजहब, जाति, वर्ण, लिंग आदि के भेदभावों के संकुचित दायरों से ऊपर उठकर सबके भीतर रमने वाले राम को समझो। भीतरी राम में विश्राम तथा बाहरी राम का आदर, यही ज्ञान है, यही धर्म है, यही दिव्य स्थिति है, यही मानवता है और इसी में सारे विवादों का अन्त है।

जाति कहते हैं पैदा होने को। मानव मात्र की पैदाइश एक है, इसलिए पूरे मानव की जाति एक है। घोड़ी और बैल से, ऊंट और हथिनी से, बकरी और शूकर से बच्चे नहीं होते इसलिए इनकी जातियां अलग-अलग हैं। इसी प्रकार अन्य योनियों के प्राणियों को भी समझ सकते हैं। परंतु इस संसार के किसी भी नर तथा नारी से बच्चे पैदा हो जाते हैं इसलिए पूरे मानव की जाति एक है।

संप्रदाय अनेक भले हों, परन्तु धर्म एक है। धर्म है शील, सदाचार। हम जो बरताव दूसरों से अपने लिए चाहते हैं वही दूसरों के साथ करना धर्म है। अतएव मानवता ही धर्म है। मानवता है आत्मसंयम तथा पर-सेवा। बस, यही धर्म है। इसलिए मानव मात्र का एक धर्म है।

सबके भीतर एक ज्ञानगुण वाले चेतन रमते हैं। किसी की चेतना में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। इसी चेतन को राम, रहीम, खुदा, गॉड कुछ भी कह लो। इस चेतन को छोड़कर अलग कोई परमतत्त्व नहीं। अतएव आत्म-अस्तित्व में भी सबके समान गुण होने से एकता है। इस प्रकार सद्गुरु कहते हैं कि जातीय एकता, धार्मिक एकता तथा आध्यात्मिकता एकता को समझकर इनका आचरण करने से ही सारे भ्रमों तथा उलझनों का अंत है।

हम अपने स्वरूप को स्वयं भूल गये हैं

शब्द-76

आपन पौ आपुहि बिसर्‍यो॥ 1॥
जैसे श्वान काँच मन्दिर में, भरमित भूसि मर्‍यो॥ 2॥
ज्यों केहरि बपु निरखि कूप जल, प्रतिमा देखि पर्‍यो॥ 3॥
वैसे ही गज फटिक शिला में, दशनन आनि अर्‍यो॥ 4॥
मर्कट मूठि स्वाद नहिं बिहुरे, घर घर रटत फिर्‍यो॥ 5॥
कहहिं कबीर ललनी के सुवना, तोहि कवने पकर्‍यो॥ 6॥

शब्दार्थ—आपन पौ=अपना स्वरूप। भूसि=भूंकना। केहरि=सिंह। बपु=देह। प्रतिमा=परछाई। गज=हाथी। फटिक शिला=कांचवत स्फटिक पत्थर। दशनन=दांत। अर्‍यो=टक्कर मारना। मर्कट=बंदर। नहिं बिहुरे=बंधनों से नहीं छूटा। ललनी=सुग्गा फंसाने की बांस की चरखी। सुवना=सुग्गा, शुक-पक्षी।

भावार्थ—व्यक्ति अपने चेतनस्वरूप को स्वयं भूल गया है; जैसे कुत्ता कांच के मन्दिर में अपने प्रतिबिम्ब को भ्रमवश दूसरा कुत्ता मानकर उसके विरोध में भूंक-भूंककर मर गया, जैसे सिंह कुँ के पानी में अपनी प्रतिछाया देखकर तथा उसे अपना प्रतिद्वंद्वी मानकर उसे मारने के लिए कुँ में कूदकर मर गया, जैसे हाथी स्फटिक पत्थर में अपनी परछाईं देखकर तथा उसे अपना वैरी मान उसमें अपने दांतों का टक्कर मार-मारकर मर गया; जैसे बंदर संकरी सुराही में रखे हुए चने के स्वादवश उसमें हाथ डालकर चने को मुट्ठी में भरा और मुट्ठी सुराही से न निकलने से वह फंस गया और कलंदर द्वारा पकड़ लिया गया और छूटा नहीं, तथा घर-घर दांत निपोरते हुए नाचता फिरा और जैसे शुकपक्षी नलिका-यंत्र में लाल-मिर्ची के लोभ में फंसकर बधिक के हाथों में पड़ गया, वैसे यह मनुष्य अपने कल्पनात्मक राग-द्वेष एवं भोगलिप्सा में फंसकर अपना पतन कर डालता है। कबीर साहेब कहते हैं कि हे ललनी के सुवना ! तुम्हें किसने पकड़ रखा है? वस्तुतः तूने लोभवश अपने आप को पकड़ा लिया है॥ 1-6॥

व्याख्या—मनुष्य को भुलाने वाला अन्य न कोई भगवान है और न शैतान। इसने स्वयं अपने अज्ञान से अपने चेतनस्वरूप को, अपनी आत्मा को एवं अपने आपा को भूल रखा है। इसलिए अपने स्वरूप को पहचानने के लिए हमें स्वयं अपनी ओर ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा।

यह जीव कैसे अपने आप को भूलकर कहीं-न-कहीं फंस जाता है, इसको समझने के लिए सद्गुरु यहां पांच उदाहरण देते हैं। वे उदाहरण हैं कुत्ता, सिंह, हाथी, बंदर एवं शुक-पक्षी के।

एक कुत्ता कांच के मन्दिर में घुस गया। उसमें उसने अपना प्रतिबिम्ब देखा। उसे लगा यह दूसरा कुत्ता है। कुत्ते अपरिचित कुत्ते के शत्रु होते हैं। उसने कभी अपना चेहरा तो देखा नहीं था, अतः उसे अपने चेहरे की परिछाईं ही अपरिचित लगी। वह समझा कि यह कोई दूसरा कुत्ता है। उसको उसने अपना विरोधी मानकर उस पर भूंकना शुरू किया। प्रतिबिम्ब की तरफ से भी उसे भूंकने की क्रिया का आभास हुआ। कुत्ते को अधिक क्रोध आया और उसे अपना शत्रु मानकर भूंकता ही रहा और इस प्रकार भूंक-भूंककर मर गया।

हमारी दशा यही है। यह संसार एक शीशमहल है। हम इसमें अपने ही प्रतिबिम्ब देख-देखकर भूंकते हैं। जैसी हमारे मन की धारणा होती है, हमें संसार वैसा ही लगता है। हम अपनी मनोमालिन्यता के प्रतिबिम्ब दूसरों में देखते हैं। चूंकि हमारा मन अशुद्ध है इसलिए हम समझते हैं कि संसार के सारे लोगों का मन अशुद्ध है। हम अपनी आत्मा से अपरिचित हैं, इसलिए हम दूसरों में अपनी आत्मा को नहीं देख पाते, अर्थात हम यहां यह नहीं समझ पाते हैं कि सब जीव हमारे सजाति हैं। हम अपने अज्ञान तथा मनोमालिन्यतावश दूसरों को शत्रु मानकर जीवनभर जलते हैं। इस जलन को दूसरा कैसे मिटा सकेगा! इसे तो हमें स्वयं ही समझना होगा और मिटाना होगा। यदि कुत्ता समझ लेता कि इस मन्दिर में मेरे अलावा कोई दूसरा कुत्ता नहीं है तो उसे भूंकने की जरूरत नहीं पड़ती। इसी प्रकार यदि हम समझ लेते कि हमारे अज्ञान के अलावा हमारा कोई दूसरा शत्रु नहीं है तो लोगों से वैर-विरोध में कभी न पड़ते। यदि हम समझ लेते कि सब जीव हमारे सजाति हैं तो हमारे मन में सबके लिए प्रेम का सागर उमड़ता।

एक सिंह था। वह अपने खाने के अलावा निरर्थक ही अन्य जानवरों को मार दिया करता था। जंगल के जानवरों ने बैठक की और सर्वसम्मति से राय पास कर सब सिंह के पास गये। उनमें से एक ने सिंह से निवेदन किया कि आप हमारे वन के राजा हैं। आप अपने आहार के लिए स्वयं पशु की खोज

करने न जायें, किन्तु हम लोग स्वयं पारी बांधकर एक-एक प्रतिदिन आपके पास आते रहेंगे। इससे आपको परिश्रम नहीं पड़ेगा तथा आपकी प्रजा का व्यर्थ विध्वंस नहीं होगा। उक्त बातें सुनकर सिंह ने उनकी बातें मान लीं। महीनों बीत गये। एक-एक जानवर उसके आहार के लिए आते रहे। एक दिन एक खरगोश की बारी आयी। उसने अपने परिवार वालों से कहा कि आज मैं सिंह को मारकर ही लौटूंगा। सबको आश्चर्य हुआ।

खरगोश सिंह के पास देर से पहुंचा। सिंह क्रोध में बोला—मूर्ख, तूने देरी क्यों की? खरगोश ने कहा—हुजूर, हम दो भाई आपके आहार के लिए आ रहे थे, क्योंकि हम छोटे जानवर हैं। एक से सरकार का पेट नहीं भरता। रास्ते में एक दूसरा सिंह मिला। उसने हमें खाना चाहा। हमने बताया कि हम दोनों आज अपने राजा के आहार हैं। वह आग बबूला हो गया। उसने कहा कि इस वन का तो मैं राजा हूं। यहां दूसरा कौन राजा हो सकता है! अपने राजा को बुला लाओ। वह मुझसे लड़कर विजयी बन जाये तब इस जंगल का राजा बने। हुजूर, उसने हमारे एक भाई को पकड़ रखा है। अब आपकी जो इच्छा। वैसे नीति यही है कि शत्रु को मारकर ही भोजन किया जाये।

सिंह अधिक क्रोधपूर्ण होकर कहा कि वह कहां है? खरगोश ने कहा कि वह दूर एक कुें में रहता है। खरगोश उसे एक कुें के पास ले जाकर बताया कि इसी में आप को चुनौती देने वाला शत्रु है। सिंह ने कुें के पास जाकर गर्जना की। उसकी परिछाईं कुें में दिखाई दी तथा गर्जना की प्रतिध्वनि भी उसे सुनाई दी। वह उसमें सचमुच दूसरा सिंह समझा और उसको मारने के लिए उसमें कूदा तथा अपने प्राण खो बैठा।

इसी प्रकार एक मोटे ताजे हाथी को देखकर एक सियार तथा लोमड़ी के मुंह में पानी आने लगा। उन दोनों ने सोचा कि इसका मांस खाने को कैसे मिले। दोनों ने युक्ति सोच ली। दोनों ने जाकर उसका नमस्कार किया और कहा—सरकार, आप तो इस वन के राजा बनने योग्य हैं। हाथी ने प्रतिष्ठा में फूलकर कहा कि इसके लिए मुझे क्या करना पड़ेगा? उन दोनों ने कहा—सरकार! आप को केवल इतना ही करना पड़ेगा कि इस वन में एक पर्वत में आप सरीखा एक दूसरा हाथी रहता है, उसको आप मार दें, क्योंकि एक राज्य में राजा का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहना चाहिए। हाथी प्रतिष्ठा में फूलकर उस पर्वत के पास गया। पर्वत स्फटिक पत्थरों का था। उसमें हाथी का अपना प्रतिबिम्ब दिखाई दिया। उसने उसे दूसरा हाथी मानकर अपने दांत के टक्कर मार-मारकर अपनी जान खो दी। उसे सियार तथा लोमड़ी बहुत दिनों तक खाते रहे।

उक्त दोनों कल्पित कहानियां इस बात को समझाने के लिए हैं, कि आदमी अपनी झूठी प्रतिष्ठा एवं लोकैषणा में पड़कर अपनी ही परछाईं से लड़-लड़कर मरता है। मन में वैर, क्रोध एवं प्रतिष्ठा के प्रलोभन का भ्रम पड़ने पर हम अपनी परिछांईं को शत्रु मान लेते हैं। हमारी मलिन भावनों हमारे चारों तरफ प्रतिबिम्बित होती हैं और हम अपने मलिन प्रतिबिम्ब-शत्रुओं से घिरकर मारे जाते हैं। यदि हमारा मन क्रोध, वैर, विषय एवं प्रतिष्ठा-प्रलोभन से मुक्त हो तो हमें कोई पतित नहीं कर सकता है।

चौथा उदाहरण बन्दर का है। बन्दर फंसाने वाले कलंदर वन में जाकर सुराही में चने डालकर वहीं रख देते हैं। बन्दर आकर उसमें हाथ डालकर चने से मुट्ठी भरता है। सुराही का मुंह संकरा होने से मुट्ठी नहीं निकलती और चने का लोभ छोड़कर वह मुट्ठी छोड़ना नहीं चाहता। इतने में कलंदर आकर बन्दर को पकड़ लेता है। फिर वह जीवनभर कलंदर की डोरी में बंधा डंडे खाता तथा द्वार-द्वार दांत निपोरकर नाचता रहता है।

हमारी यही दशा है। हमने संसार के भोगों को मजबूती से पकड़ रखा है। हम न उन्हें छोड़ते हैं और न स्वयं संसार के बंधनों से छूटते हैं। चने का लोभ छोड़कर बन्दर मुट्ठी छोड़ देता और भाग जाता तो वह न पकड़ा जाता। चने के लोभ ने बांध दिया। इसी प्रकार हमें विषयों के लोभ संसार में बांधते हैं। यदि हम विषयों का लोभ छोड़ दें, तो हमें बांधने वाला संसार में कोई नहीं है।

पांचवां उदाहरण शुक-पक्षी का है। वह नलिका यंत्र में लगी हुई लालमिर्ची को खाने के लोभ में उस पर आकर बैठता है। बैठने से यंत्र घूम जाता है। शुक-पक्षी भ्रमवश समझता है कि मैं पकड़ लिया गया जबकि वही उस यंत्र को मजबूती से पकड़ लेता है और बधिक के हाथों पड़ जाता है। कबीर साहेब बड़े प्यार से कहते हैं—"कहहिं कबीर ललनी के सुवना, तोहि कवने पकर्‍यो" हे नलिका-यंत्र में फंसा शुक-पक्षी ! तेरे को किसने पकड़ रखा है? अरे, तूने ही लालमिर्ची को खाने के प्रलोभन में पड़कर नलिका-यंत्र पकड़ रखा है। तू स्वयं अपनी मूर्खता से उसमें फंस गया है।

हमारी भी ऐसी ही मूर्खता है। हम संसार के पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा में पड़कर स्वयं अपने आप को बांध लेते हैं। हम अपने परम दिव्य चेतनस्वरूप का बोध नहीं रखते जो पूर्णकाम, आप्तकाम एवं निष्काम है। हम अपने आप को देह मानकर इन्द्रियों के भोगों के पीछे अपने आप को संसार-प्रपंच में बेच देते हैं।

इसलिए सद्गुरु हमें इशारा करते हैं कि तुम मानसिक विकारों में पड़कर स्वयं अपने वास्तविक स्वरूप को भूले हो। इसलिए तुम्हें ही विकारों को

हटाकर जगना पड़ेगा। तुम अपने आप को शुद्ध चेतन न मानकर जड़ देह मानते हो, यही सारे दुखों का कारण है। तुम दूसरे से राग-द्वेष एवं भोगों का प्रलोभन छोड़ो, अपने आप को देह मत मानो, किन्तु अपने आप को पूर्णकाम अविनाशी चेतन समझो और सबका साक्षी बनकर अपने स्वरूप में स्थित होओ।

सूरदास जी के सूरसागर में भी इस पद से मिलता-जुलता एक पद है। प्रश्न हो सकता है कि इसका असली रचयिता कबीर हैं कि सूर! यह सर्वविदित है कि कबीर साहेब के जीवनकाल के बाद सूरदास हुए हैं। परन्तु यह तो संभव ही नहीं है कि सूरदास जैसे उच्चकोटि के कवि कबीर-रचित पद में थोड़ा हेराफेरी कर अपने नाम की छाप लगा लें। अतएव यह हो सकता है कि सूरदास जी को भी वैसा ही पद उनके हृदय में फुर गया हो जैसा कबीर साहेब ने पहले रच दिया था। फिर इसमें दो पंक्तियां अधिक भी हैं जिसके भाव भी भिन्न हैं। या सूरसागर का कोई संपादक भ्रमवश कबीर साहेब के पद में थोड़ा रद्दोबदल कर सूरदास के नाम का छाप लगा दिया हो और सूरसागर में जोड़ दिया हो।

सूरसागर का पद यह है—

आपनुपौ आपुन ही बिसर्‍यो॥
जैसे श्वान काँच मन्दिर मैं, भ्रमि भ्रमि भूकि मर्‍यो।
ज्यौं सौरभ मृग नाभि बसत है, द्रुम तृन सूंघि फिर्‍यो।
ज्यौं सपने मैं रंक भूप भयौ, तसकर अरि पकर्‍यो॥
ज्यौं केहरि प्रतिबिंब देखि कै, आपुन कूप पर्‍यो।
जैसे गज लखि फटिकसिला मैं, दसनन जाय अर्‍यो॥
मर्कट मूँठि छाँड़ि नहिं दीनी, घर घर द्वार फिर्‍यो।
सूरदास नलिनी कौ सुवटा, कहि कौने पकर्‍यो॥

(सूरसागर 2/26)

अपने पुरुषार्थ का भरोसा करो

शब्द-77

आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा॥ 1॥
इन्द्री कहाँ करे विश्रामा, सो कहाँ गये जो कहत होते रामा॥ 2॥
सो कहाँ गये जो होत सयाना, होय मृतक वह पदहि समाना॥ 3॥
रामानन्द रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके॥ 4॥

शब्दार्थ—बहुतेरा=बहुत प्रकार से, सब प्रकार से। विश्रामा=शांति। सयाना=बुद्धिमान, कला-कौशल-निपुण।

भावार्थ—हे मानव! सब प्रकार से अपने पुरुषार्थ पर आशा-भरोसा रखो। ईश्वर का रहस्य तो कोई नहीं समझ सका है॥ 1॥ देहवादी तथा इन्द्रियलंपट लोगों को कहां शांति मिल सकती है! और उनकी स्थिति भी कहां हुई जो कहते थे कि राम हमें तार देंगे॥ 2॥ बुद्धिमान और कला-कौशल में निपुण लोगों को भी कहां विश्रांति मिल सकती है। जीवन्मुक्ति पद में तो वह लीन होता है, जो संसार की अहंता-ममता से मर जाता है, अर्थात जो सारी अहंता-ममता को छोड़ देता है॥ 3॥ कबीर साहेब कहते हैं कि मैं कह-कहकर थक गया कि आत्माराम के अलावा कोई राम नहीं है जो व्यक्ति की चिरविश्रांति का आश्रय बन सके, परन्तु स्वामी रामानन्द बाहरी राम के रस में माते रह गये॥ 4॥

व्याख्या—कबीर साहेब समाज-सुधारक, जननेता तथा कवि होने के साथ एक उच्चकोटि के संत एवं अध्यात्म में लीन परमार्थपरायण पुरुष हैं, परन्तु वे सभी दिशाओं में क्रांतिकारी हैं। जब वे समाज-सुधार पर बोलते हैं तब उनकी वाणी में आग रहती है। आपको आश्चर्य होगा कि जब वे अध्यात्म पर बोलते हैं तब भी उनकी वाणी में आग रहती है। कबीर साहेब के विचार राख नहीं हैं, किन्तु आग हैं। आग ही जिन्दा है, राख तो मुरदा है। वे यहां कहते हैं—"आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा।" प्रायः सारे अध्यात्मवादी यही कहते हैं कि हम तो तुच्छ हैं, प्रभु ही समर्थ है। उसका ही भरोसा है। साहेब इसके विपरीत कहते हैं कि अपने आप का भरोसा करो, आज तक हरि का रहस्य कोई नहीं जान सका है कि वह है भी कि नहीं।

मनुष्य जब तक अपना पुरुषार्थ नहीं करेगा, उसे कुछ भी मिलने वाला नहीं है। एक अनपढ़ हलवाहक भी यह जानता है कि जब तक हम हल नहीं चलायेंगे तब तक कोई देव या ईश्वर हमारा खेत नहीं जोत देगा। अतः वह किसी देव या ईश्वर के भरोसे न बैठकर स्वयं हल चलाता है। इसी प्रकार व्यापारी व्यापार का काम करता है। नौकरी करने वाला अपनी ड्यूटी में जाता है। बिना 'घुट' किये तो मुख का ग्रास भी अन्दर नहीं जा सकता, तो अन्य काम बिना परिश्रम किये कैसे सफल हो सकता है! मोक्ष का काम जो बिलकुल व्यक्तिगत है उसके लिए दूसरे का आशा-भरोसा करना बिलकुल भोलापन है। खेत तो हम नौकर रखकर भी उससे जोतवा सकते हैं। इसी प्रकार दुकान पर नौकर रखकर भी दुकान का काम उससे करवा सकते हैं,

परन्तु हमारे मोक्ष का काम तो दूसरा बिलकुल ही नहीं कर सकता। हमारे मन की जड़-वासनों ही हमारे लिए बन्धन हैं और उनको नष्ट केवल हम ही कर सकते हैं। गुरु-संतजन केवल युक्ति बतायेंगे, काम हमें ही करना पड़ेगा।

लोग कहते हैं कि लोग खेती करते हैं, व्यापार करते हैं, परन्तु वे असफल भी हो जाते हैं। सूखा, दाहा, कीड़ों एवं बीमारी का प्रकोप होने पर फसल नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार व्यापार में घाटा हो जाता है। अतः अपने करने से कुछ नहीं होता। ईश्वर देता है तभी होता है। इसका मतलब यह हुआ कि देने-लेने की शक्ति ईश्वर अपने पास रखता है। आदमी चाहे जो करे, जब तक ईश्वर न चाहेगा तब तक आदमी कुछ नहीं पा सकता। इसका मतलब है कि आदमी ने खेती या व्यापार में खूब परिश्रम किया, परन्तु वह सफल न हुआ, तो ईश्वर ने उसे सफल न होने दिया। तो क्या ईश्वर ईर्ष्यालु या क्रूर है जो दूसरे के काम में रोड़े अटकाता रहता है? यदि उसकी खुशामद की जाये, सेवा-पूजा एवं प्रार्थना की जाये तब वह किसी का पुरुषार्थ सफल होने देता है तो इसका मतलब है कि वह आततायी मनुष्यों के समान है जो बे-वजह दूसरों के काम में विघ्न डालते हैं और जब उनके सामने हाथ जोड़ लो तथा उन्हें कुछ दे दो तब वे काम होने देते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि पूजा-प्रार्थना करने वाले भक्तों के काम में भी वह विघ्न डाल देता है और उन्हें सफल नहीं होने देता। देखा जाता है कि बहुत से भगवान-भक्त बहुत दुखी रहते हैं, तो कहा जाता है कि ईश्वर उनकी कसनी करता है या उनके अपने पूर्वजन्मों के ऐसे कर्म ही होते हैं जिनके फल बुरे हैं। उसे ईश्वर भी बदल नहीं सकता। हर हालत में भक्त लोग ईश्वर की बड़ी रक्षा करते हैं। वे उसे हर तरह से जिलाये रखना चाहते हैं। क्योंकि कमजोर मन वालों के लिए वह सहारा है, अन्धों की लकड़ी है।

वस्तुतः हम आत्म-भिन्न ईश्वर एवं देवी-देवताओं की कल्पना कर कमजोर मन वाले हो गये हैं। हम जितने ही परमुखापेक्षी होंगे उतने ही स्वावलम्बन से दूर होते जायेंगे। हम जितने कल्पित देवी-देवताओं एवं ईश्वर के भरोसे रहेंगे उतना ही अपनी उन्नति में रोड़े अटकायेंगे। कहा जाता है कि काशी नगरी की रक्षा शिवजी छह सौ देवताओं के साथ करते हैं, विश्वेश्वरनाथ काशी के राजा हैं। उनके मुख्य कोतवाल भैरव हैं, जो विश्वेश्वरनाथ मन्दिर से एक मील उत्तर एक मोटी गदा लिये नगर रक्षा में डटे हैं। परन्तु औरंगजेब द्वारा अनेक मन्दिरों सहित जब विश्वेश्वर मन्दिर को तोड़ दिया गया, तब विश्वेश्वर तथा भैरव सहित छह सौ देवता असहाय होकर मूक दर्शक बने रहे। जिनके तीसरे नेत्र खुलने से विश्व के महाप्रलय

होने की कल्पना की जाती है वे महादेव टुकुर-टुकुर ताकते रह गये और सोमनाथ का विशाल मन्दिर तोड़कर तथा उसमें से शिव-लिंग को उखाड़कर उसके साथ करोड़ों की सम्पत्ति महमूद गजनवी ले गया। हिन्दू, मुसलमान, यहूदी, ईसाई आदि सबके ईश्वर सब जगह मौजूद हैं और वे सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ भी बताये गये हैं, परंतु चोरी, घूसखोरी, मिलावटबाजी, डाका, हत्या, आतंक, धर्म तथा ईश्वर के नाम पर सामूहिक हत्या सब समय होते रहते हैं, परन्तु तथाकथित ईश्वर बेचारा असहाय बना देखता रह जाता है। दसवीं ईसा शताब्दी के उदयन जिसने ईश्वर-सिद्धि में प्रसिद्ध पुस्तक 'न्यायकुसुमांजलि' लिखी, आगे चलकर ईश्वर से अपनी मनोकामना पूर्ण न होते देखकर कहा—"हे ईश्वर ! तुम अपने ऐश्वर्य के मद में उन्मत्त हो गये हो और मेरा तिरस्कार करते हो, जबकि तुम बलशाली बौद्धों द्वारा रगड़े जा रहे थे और मैंने ही तुम्हारी जान बचायी है।"[1]

जब तक हम देवी-देवता एवं ईश्वर की धारणा से अपने आप को सर्वथा अलग नहीं कर लेते, तब तक अपने बल को नहीं समझ सकते और न अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं। देश-रक्षा, समाज-रक्षा एवं आत्म-रक्षा किसी ईश्वर या देवी-देवता द्वारा संभव नहीं है, किन्तु यह सब मनुष्य द्वारा संभव है। ईश्वर के विराट रूप की तो केवल कल्पना है, परन्तु मनुष्य का विराट रूप जगत में जाज्वल्यमान है। मनुष्य ही मनुष्य का भक्षक है तथा मनुष्य ही मनुष्य का रक्षक है। मनुष्य की बुद्धि ठीक होने पर सब ठीक होगा।

कबीर साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू अपने पुरुषार्थ पर भरोसा कर ! तेरे अपने किये हुए कर्मों का फल-भोग ही तुम्हें मिलता है। उसमें दूसरा कोई परिवर्तन करने वाला नहीं है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का सहायक हो सकता है, परन्तु कर्म तो स्वयं ही करना पड़ेगा। मनुष्य अपने कर्मों का कर्ता एवं विधाता है। अतएव तुम अपने पुरुषार्थ पर विश्वास रखो। हरि का मर्म तो कोई नहीं समझ सका। लोग हरि के विषय में केवल कल्पना करते हैं, रहस्य नहीं समझते। वस्तुतः व्यक्ति की आत्मा ही हरि है, ईश्वर है तथा ब्रह्म है। अपनी आत्मा के अलावा कोई ईश्वर नहीं है।

"इन्द्री कहाँ करे विश्रामा" जो लोग इन्द्रियपरायण हैं, विषयों में डूबे हैं, देह ही तक जिनकी बुद्धि है, उनको जीवन में कहां विश्राम मिल सकता है ! विश्राम कहते हैं आराम एवं शांति को। देहवादी एवं इन्द्रियों के विषयों में डूबे

---

1. ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि ममवज्ञाय वर्तसे।
   पराक्रान्तेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ॥ (उद्धृत सर राधाकृष्णन कृत भारतीय दर्शन, 2/37)

हुए मनुष्यों को स्थायी शांति मिलना असंभव है। देहबुद्धि से इन्द्रिय-भोग ही उद्देश्य समझ पड़ता है। विषय-भोगों से इच्छों बलवान होती हैं। इच्छाओं की प्रबलता से मनुष्य का मन स्थिर नहीं होता। भोग से इच्छा तथा इच्छा से भोग, यह ऐसा घनचक्कर है जिसमें कहीं विश्राम नहीं है। मनुष्य की देह तथा इन्द्रियशक्ति सीमित होती हैं। ये जरजर तथा शिथिल भी होती हैं। भोगों के आदतवश मन में इच्छों बलवान होने से उसे शांति नहीं लेने देतीं। अतएव जो देहेंद्रियों के विषय-भोगों में शांति एवं विश्रांति चाहता है वह भोला है। अनन्त शांति तो विषयों के त्याग से ही संभव है।

"सो कहाँ गये जो कहत होते रामा" उनको कहां विश्राम मिला जो यह कहते थे कि राम मुझे तारेंगे, या जो केवल जबान से राम-राम रटने में लगे रहे, उन्हें कहां बोध तथा कहां विश्राम! राम को तो समझना होगा, केवल राम-राम रटने से क्या होगा! राम-राम या किसी शब्द को बारंबार दोहराने से कुछ समय के लिए भावना का केन्द्रीकरण भले हो जाये, परन्तु उससे न स्वरूपबोध होगा और न तो अनन्त शांति मिल सकती है। हम जब तक माने रहेंगे कि हमारा लक्ष्य हमसे बाहर है तब तक भटकते रहेंगे।

"सो कहाँ गये जो होत सयाना" जो लोग बुद्धि में तेज, कला-कौशल में निपुण, चिकित्सा, विधि-विधान, यंत्र, वास्तु, संगीत, भाषा, व्याकरण, यान, नृत्य, खेल, युद्ध आदि में पारंगत होते हैं, वे अपने-अपने क्षेत्र में सयाने होते हैं, और उनका उन-उन क्षेत्रों में महत्त्व भी है। परन्तु क्या उनको पूर्ण शांति मिलती है। स्वरूपबोध तथा स्वरूपस्थिति के बिना कहां अनन्त शांति मिल सकती है! तुम सांसारिक कला-कौशल में पारंगत हो जाओ और अखबार, रेडियो तथा टेलीविजन द्वारा पूरी दुनिया में गूंज जाओ, करोड़ों तथा अरबों की संपत्ति के मालिक बन जाओ, परन्तु आत्मज्ञान एवं आत्मस्थिति के बिना तुम्हारा चित्त स्थायी शांति कभी नहीं पा सकता।

"होय मृतक वह पदहि समाना" उस अनन्त शांतिपद में, निर्वाण में, जीवन्मुक्ति एवं स्वरूपस्थितिपद में तो वही समा सकता है, वही लीन हो सकता है जो संसार से मर जाता है। अर्थात जो देहाभिमान छोड़कर दृश्य मात्र की अहंता-ममता का त्याग कर देता है। यह बात सामान्य व्यक्ति को अजूबी लग सकती है, परन्तु तथ्य है। सांसारिकता एवं विषयासक्ति का पूर्ण अभाव हुए बिना कोई स्वरूपस्थिति में पूर्णतया नहीं पहुंच सकता।

यदि इस चौपाई की प्रथम अर्धाली के भाव का पीछे की अर्धाली पूरक मानी जाये तो पूरी चौपाई का अर्थ इस ढंग से होगा—जो सांसारिक बुद्धि में श्रेष्ठ थे वे कहां गये? उत्तर है कि मरकर पुनः गर्भवास में गये। सांसारिक

बुद्धि वाले पुनः सांसारिकता में ही तो भटकेंगे। "जो रहे करवा सो निकरे टोटी।"

"रामानन्द रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके।" यहां रामानन्द शब्द भाववाचक नहीं किन्तु व्यक्तिवाचक है। स्वामी रामानन्द एक प्रसिद्ध संत थे। जो कबीर साहेब के समय में विद्यमान थे। इनका जन्म प्रयाग में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर हुआ था। इनका पहला नाम रामदत्त था। ये आरम्भ से ही प्रतिभावान थे। ये बारह वर्ष की उम्र में ही एक अच्छे विद्वान हो गये और दर्शन-शास्त्र पढ़ने के लिए काशी चले गये। एक दिन स्वामी राघवानन्द से इनकी भेंट हुई और उन्होंने इनको धर्म का उपदेश दिया। ये उनसे प्रभावित हो गये और दीक्षा ले लिये। पीछे इन्हीं रामदत्त का नाम रामानन्द पड़ा और एक प्रमुख तथा उदार वैष्णव संत हुए।

कहा जाता है कि कबीर साहेब अपने कैशोर से ही स्वामी रामानन्द से जुड़ गये और उन्होंने स्वामी रामानन्द की शिष्यता स्वीकार ली। अन्य साधु-संन्यासियों की अपेक्षा स्वामी रामानन्द ज्यादा उदार थे। इसलिए कबीर साहेब को स्वामी रामानन्द ज्यादा पसंद आये होंगे। यह जगत प्रसिद्ध है कि कबीर साहेब स्वतंत्र चिंतक थे। दिन बीतते गये और उनके विचार परिपक्व होते गये। कबीर साहेब मूर्तिपूजा एवं अवतार नहीं मानते थे। कबीर का राम अंतरात्मा था। स्वामी रामानन्द राम की कल्पना अपनी आत्मा से बाहर करते रहे होंगे। दोनों की काफी सन्निकटता एवं प्रेम होने से कबीर साहेब ने स्वामी रामानन्द को इस विषय पर बारम्बार समझाया होगा, परंतु स्वामी जी अपने भाव पर दृढ़ रहे होंगे। इसलिए कबीर साहेब के कंठ से यह पंक्ति निकल गयी होगी "रामानंद रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके।" रामरस में तो कबीर साहेब भी लीन रहते थे, परन्तु उनका रामरस आत्मरस था, परन्तु स्वामी रामानन्द का रामरस आत्मभिन्न एक अवधारणा में था या अवतार-मान्यता में था। माते शब्द प्रायः बीजक भर में खण्डनपरक है।

इस पंक्ति में "रामरस माते" और "हम कहि-कहि थाके" शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। "हम कहि-कहि थाके" यह भाव उसी के लिए व्यक्त किया जा सकता है, जो अति निकट का हो तथा प्रेमास्पद हो। कोई दूसरों को बहुत नहीं कहता। अपनों को ही बहुत कहा जा सकता है। इस पंक्ति से यह सिद्ध होता है कि कबीर साहेब और स्वामी रामानन्द का सम्बन्ध अकाट्य है, साथ ही दोनों के दार्शनिक विचारों का अन्तर भी अकाट्य है।

यदि यह कहा जाये कि रामानन्द के साथ जो 'रामरस माते' शब्द हैं वे विधिपरक हैं। अर्थात कबीर साहेब कहते हैं कि स्वामी रामानन्द सच्चे

रामरस में लीन थे, तो फिर "कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके" कहने की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए। आखिर कबीर साहेब स्वामी रामानंद को क्या कह-कहकर थक चुके थे! इसलिए इसका भाव साफ है। जिसका विवेचन ऊपर हो चुका है।

हरिबाजी से हटकर आत्मा राम में रमो

शब्द-78

अब हम जानिया हो, हरि बाजी को खेल॥ 1॥
डंक बजाय देखाय तमाशा, बहुरी लेत सकेल॥ 2॥
हरि बाजी सुर नर मुनि जहँड़े, माया चाटक लाया॥ 3॥
घर में डारि सकल भरमाया, हृदया ज्ञान न आया॥ 4॥
बाजी झूठ बाजीगर साँचा, साधुन की मति ऐसी॥ 5॥
कहहिं कबीर जिन जैसी समुझी, ताकी गति भइ तैसी॥ 6॥

शब्दार्थ—हरिबाजी=ईश्वरीय धोखा। खेल=तमाशा। डंक=डंका, नगाड़ा, धौंसा। डंक बजाय=जोर-शोर से कहकर सबको सुनाना। बहुरी=पुनः। जहँड़े=ठगा गये, हानि उठाये। चाटक लाया=प्रिय वचन कहकर ठगना, चाहना लगा देना। घर में डारि=अपने वश में कर लेना। बाजी=धोखा, तमाशा। बाजीगर=ईश्वर। मति=समझ। गति=स्थिति, दशा, हालत।

भावार्थ—अब मैंने ईश्वरीय धोखा का तमाशा जान लिया है॥ 1॥ बाजीगर डंका बजाकर लोगों को इकट्ठा करता है और तमाशा दिखाकर फिर समेट लेता है तथा भिक्षा में मिले पैसे-अन्न आदि को लेकर चल देता है, कहते हैं ईश्वर इसी प्रकार सृष्टि का तमाशा फैलाकर, फिर समेट लेता है। पता नहीं वह जनता से कौन-सी भीख चाहता है!॥ 2॥ इस ईश्वरीय धोखे में सतोगुणी, रजोगुणी एवं मननशील-मुनिजन भी ठगा गये हैं। इन्हें मीठे वचन सुनाकर ठग लिया गया है। माया ने इनके मन में आत्मभिन्न ईश्वर पाने की चाहना उत्पन्न कर दी है और सब को अपने फंदे में डालकर भ्रमित कर दिया है तथा अपने अधीन बना लिया है। इसीलिए लोगों के हृदय में सच्चा ज्ञान उदित नहीं हुआ॥ 3-4॥ नाना मत के साधुओं की समझ यह है कि बाजीगर ईश्वर तो सच्चा है, परन्तु उसकी बाजीगरी, उसका बनाया तमाशा जगत झूठा है॥ 5॥ कबीर साहेब कहते हैं जिन्होंने जैसा समझा उनकी वैसी गति हुई॥ 6॥

व्याख्या—'बाजी' फारसी भाषा का शब्द है। इसके अर्थ हैं खेल, तमाशा, करतब, शर्त, दावं, बारी, समय, धोखा तथा चालाकी। यहां खेल तथा धोखा दो ही शब्द उपयुक्त हैं। खेल इस पंक्ति में आगे आ गया है, इसलिए हरिबाजी का अर्थ धोखा है जिसका भाव अगली पंक्तियों में विस्तृत है जिसमें सुर, नर तथा मुनिजन का ठगा जाना बताया गया है। साहेब कहते हैं—"अब हम जानिया हो, हरि बाजी को खेल॥" अर्थात ईश्वरीय धोखा का खेल हमने जान लिया है। हरि तो हृदय-भीतर आत्मदेव है, परन्तु लोगों को यह धोखा है कि वह कहीं बाहर है और वही पूरे संसार को बनाता-बिगाड़ता रहता है। लोगों ने हरि को बाजीगर बना डाला है, जो धन पाने के लिए तमाशा दिखाता है। बाजीगर छल-कपटपूर्वक अपने हाथ की सफाई, बात की सफाई, वस्तु की बनावट, दवाई आदि से कुछ का कुछ जैसा दिखाता है। यह सारे छल-कपटपूर्ण तमाशा दिखाने के फल में वह पैसे-अन्न आदि पाता है। भावुक भक्तों ने ईश्वर को भी बाजीगर बना डाला है। परन्तु ईश्वर किस स्वार्थ के लिए छल-कपट करता है?

बाजीगर अपने तमाशे दिखाकर जनता का मनोरंजन करता है और फल में धन पाता है। कहा जाता है कि ईश्वर जीवों पर करुणा कर सृष्टि बनाता है। प्रश्न होता है कि जब सृष्टि थी ही नहीं तब जीव भी नहीं थे, फिर ईश्वर ने करुणा किस पर की? यदि सृष्टि होने पर जीव दुखी हुए तब ईश्वर ने करुणा की, तो जीव के दुख का कारण तो ईश्वर की सृष्टि ही हुई। तो यह बताना चाहिए कि करुणा से सृष्टि होती है या सृष्टि होने पर करुणा? "करुणया सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति।"[1]

यह अनन्त विश्व-ब्रह्माण्ड अपने अंतर्निहित गुण-धर्मों से अनादि-अनन्त है, परन्तु भावुक-भक्तों ने इसका रचयिता एक बाजीगर-ईश्वर खड़ा कर दिया है जो सत्य को समझने में महा उलझन है। इस बाजीगर की भावुकतापूर्ण अवधारणा में बड़े-बड़े विद्वानों की बुद्धि भी ठगा गयी है। इसी हरिबाजी में, इसी ईश्वरीय वंचना में देवता, मनुष्य एवं ऋषि-मुनि सब ठगे गये हैं। सुर, नर, मुनि सब मनुष्य ही हैं। मनुष्य से अलग न देवता हैं और न मुनि हैं। तात्पर्य यह है कि संसार के छोटे-बड़े कहलाने वाले सभी लोग इस भावुकतापूर्ण वाणी-जाल में उलझ गये हैं कि जगत एक तमाशा है, एक धोखा है और इसका फैलाने वाला बाजीगर ईश्वर है। यह मनुष्य के मन की भ्रांति है। यही माया है। इसी ने मनुष्य के मन में किसी बाहरी ईश्वर से

---

1. माधवाचार्य कृत सर्वदर्शन संग्रह, सांख्य दर्शन 10 ।

मिलने के लिए एक प्रबल चाहना पैदा कर दी है। इस मन की माया ने अपने फंदे में डालकर सबको भ्रमा दिया है। "घर में डारि सकल भरमाया" घर भ्रांति का घेरा है, भ्रांति का फंदा है। उसी में पड़कर सब भ्रमित हैं। इसीलिए "हृदया ज्ञान न आया" मनुष्य के हृदय में सच्चा ज्ञान उत्पन्न नहीं होता कि ईश्वर बाहर नहीं, हृदय के भीतर चेतना के रूप में है। बाहर है तो वह भी मेरी आत्मा-जैसा सजाति है। मनुष्य जब तक ईश्वर को बाजीगर मानता रहेगा और उसे बाहर खोजता रहेगा, तब तक उसे सच्चा ज्ञान होगा ही नहीं। ईश्वर यदि धोखे का जाल फैलाकर हमें भ्रम में डालता है तो ऐसे ईश्वर से सावधान रहना पड़ेगा। हरिबाजी में ही तो सुर, नर, मुनि जहंड़े हैं। तो कौन समझदार अपने आप को जहंड़ाना एवं ठगाना चाहेगा।

साहेब कहते हैं कि नाना मत के साधुओं की यही समझ है कि ईश्वर का तमाशा तो झूठा है, लेकिन वह स्वयं सच्चा है। प्रश्न होता है कि जब वह सच्चा है तब झुठाई एवं धोखे का काम क्यों करता है? वह माया का जाल बिछाकर सबको क्यों जहंड़ाता है, सबको क्यों ठगता है? जिसमें सच्चाई होती है उसकी सारी क्रियों लोगों के लिए सच्चे ज्ञान एवं शांति प्रदायक होती हैं। जो सच्चा होता है वह बाजीगरी नहीं करता। सच्चा तो उलझे हुए को सुलझाता है। साहेब कहते हैं कि जो जैसा समझता है वैसी उसकी दशा होती है। जो बाजीगर को ही सच्चा मानता है वह उसके धोखे में पड़ेगा। परन्तु जिसने समझ लिया कि यह सब मन का खेल है, बाजीगर माना हुआ ईश्वर ही मन का खेल है, वह काल्पनिक ईश्वर में न उलझकर अपने आत्मदेव की उपासना करता है जो सच्चा ईश्वर है। ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा-जैसे सारे शब्दों की चरितार्थता व्यक्ति की अपनी आत्मा में ही है। अतएव हमें किसी धोखेबाज बाजीगर के पीछे न लगकर अपने आत्मदेव की उपासना करनी चाहिए, अपने चेतनस्वरूप में रमना चाहिए। निजस्वरूप आत्माराम ही हमारा परम उपासनीय एवं विश्रामस्थल है। इस भाव को समझने के लिए अगला शब्द मनन करने योग्य है।

निजस्वरूप-स्थिति ही परम प्राप्तव्य है

शब्द-79

कहहु हो अम्मर कासों लागा, चेतनहारा चेत सुभागा॥ 1॥
अम्मर मध्ये दीसे तारा, एक चेता एक चेतवनहारा॥ 2॥
जो खोजो सो उहवाँ नाहीं, सो तो आहि अमरपद माहीं॥ 3॥
कहहिं कबीर पद बूझै सोई, मुख हृदया जाके एकै होई॥ 4॥

शब्दार्थ—अम्मर=अविनाशी चेतन। लागा= आसक्त होना। चेतनहारा= चेतनेवाला, ज्ञानवाला। सुभागा=भाग्यवान। अम्मर=आकाश। तारा=तारे, नक्षत्र, सितारे। उहवाँ=विजाति में, जड़ में, आकाश में। अमरपद= चेतनस्वरूप, आत्मस्वरूप। पद=निजस्वरूप का विषय।

भावार्थ—कहो, हे अविनाशी चेतन! तू किसमें आसक्त हो रहा है! तू जिसमें आसक्त हो रहा है, वह नाशवान है और तू अविनाशी है। हे सौभाग्यशाली ज्ञानवान चेतन! तू मोह-नींद से जग जा!॥ 1॥ जैसे सारे ज्योतिपिंड तारे आकाश के भीतर दिखते हैं, वैसे सारे ज्ञान-विज्ञान तेरे अन्दर दिखते हैं। सभी मनुष्य ज्ञानस्वरूप हैं, बस, अन्तर इतना ही है कि एक जगने वाला एवं ज्ञान की प्रेरणा लेने वाला शिष्य है तथा दूसरा जगाने वाला ज्ञानप्रेरक गुरु है॥ 2॥ जिस परमशांति एवं परमविश्राम को खोज रहे हो वह न विजाति विषयों में है, न आकाश में है, न आकाश में बिखरे किसी जड़-पिंड में है; वह तो तुम्हारे अविनाशी चेतनस्वरूप में है॥ 3॥ कबीर साहेब कहते हैं कि निज अविनाशी चेतनस्वरूप एवं आत्मपद को वही समझ सकता है जिसके वाणी और मन में एक ही सत्य समाया हो॥ 4॥

व्याख्या—मनुष्य का शरीर तो नाशवान है, परन्तु इसमें रहने वाला चेतन अविनाशी है। यह अविनाशी चेतन ही व्यक्ति का निजस्वरूप है। परन्तु वह इस तथ्य को नहीं समझता। वह अपने अविनाशी चेतनस्वरूप में न रमकर जड़ विजाति देह, गेह, प्राणी, पदार्थों एवं विषयों में रमता रहता है। जीव हर समय अपने आप को भूलकर अपने से भिन्न छूटने वाली नाशवान वस्तुओं में आसक्त होता रहता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "कहहु हो अम्मर कासों लागा" यहां वे संबोधन में ही मानो हमें हमारे स्वरूप की याद दिला देते हैं कि तू अविनाशी है और जिसमें तू लग रहा है, जिसमें आसक्त हो रहा है वह नाशवान है। साहेब कहते हैं कि हे अविनाशी! तू किसमें मोह कर रहा है! राग करना या द्वेष करना यही संसार में लगना है। हम जिन वस्तुओं को लेकर राग-द्वेष करते हैं वे क्षणभंगुर एवं नाशवान हैं। नाशवान वस्तुओं के लिए मुझ अविनाशी का विचलित होना मेरा घोर अज्ञान है। मनुष्य का चित्त विषयों में निरन्तर भटकता रहता है। वह अपने स्वरूप के अज्ञानवश उन्हीं का निरन्तर चिन्तन करता रहता है जो क्षण-क्षण छूटने वाले हैं। ये शरीर-संसार जीव के कभी नहीं हो सकते, परन्तु यह इन्हीं के राग-द्वेष में सदैव पचता रहता है। बड़े-बड़े अहंकारी राजे-महाराजे सब कुछ यहीं छोड़-छोड़कर चले गये, फिर भी हमारी आंखें नहीं खुल रही हैं। अति प्रिय मानी गयी देह तक जीव के साथ नहीं जाती, फिर हम किसका अहंकार कर रहे हैं!

"चेतनहारा चेत सुभागा" सद्गुरु कहते हैं कि हे सौभाग्यशाली मनुष्य! तू ज्ञानस्वरूप है, जागनेवाला है। तू अपने आप में जग जा! छोड़ दे सारे छूटने वाले प्राणी-पदार्थों का मोह। जीव का मानव-शरीर में आना ही उसका सौभाग्य है; क्योंकि इस शरीर में विवेक-साधन है। यह साधन अन्य योनियों में नहीं है। जीव मानव चोला को पाकर भी अविवेक में डूबा रहे, इससे बड़ा प्रमाद और क्या होगा! साहेब याद दिलाते हैं कि हे चेतन! तू मानव-शरीर में रहने के कारण सौभाग्यवान है। तू आज मोह-माया को छोड़कर सावधान हो जा।

"अम्मर मध्ये दीसे तारा" पहली पंक्ति का 'अम्मर' शब्द अविनाशी चेतन के अर्थ में था। परन्तु इस पंक्ति का 'अम्मर' शब्द आकाश के अर्थ में है। सारे तारे आकाश में होते हैं। यह कल्पना ही व्यर्थ है कि कोई तारा आकाश के बाहर भी होगा। आकाश का अर्थ है खाली जगह, शून्य। शून्य में, अवकाश में ही तो सारे पदार्थ रहते हैं। इसलिए समस्त जड़ वस्तुें आकाश में रहती हैं। इसमें यह भाव छिपा है कि इसी प्रकार सारा ज्ञान-विज्ञान जीव में रहते हैं। यह चेतन ही तो ज्ञान-विज्ञान का आधार है। जीव को हटा देने पर ज्ञान-विज्ञान का कोई आधार नहीं रह जायेगा।

"एक चेता एक चेतवनहारा" मानव से कीट तक सभी देहों में रहने वाले जीव चेतनस्वरूप हैं। मूलतः सब ज्ञानस्वरूप हैं। परन्तु मानव में विवेक है, इसलिए विशेष ज्ञानोदय यहीं हो सकता है। सभी मानव में विवेक-शक्ति है। उनमें अन्तर इतना ही होता है कि एक चेतता है दूसरा चेताता है, एक जागता है तथा दूसरा जगाता है। जो जागना चाहता एवं जगता है वह शिष्य कहलाता है और जो जगाता है वह गुरु कहलाता है। हर क्षेत्र में जगने-जगाने वाले होते हैं। एक सीखता है दूसरा सिखाता है, एक पढ़ता है दूसरा पढ़ाता है, एक बोध लेता है दूसरा बोध देता है, एक शिष्य कहलाता है दूसरा गुरु कहलाता है, परन्तु वे सब मूलतः एक ही समान चेतन होते हैं। गुरु-शिष्य में मौलिक अन्तर नहीं है। हर जीव में गुरुत्व है, एक-दूसरे द्वारा उसका उद्घाटन होता है। ज्ञान की पूर्ण दशा प्राप्त हो जाने पर गुरु तथा शिष्य दोनों समान स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं। देह व्यवहार में उनकी गुरु-शिष्य मर्यादा रहती है, परन्तु ज्ञान तथा स्थिति में दोनों समान स्तर के हो जाते हैं। इस प्रकार सब जीव ज्ञाननिधान हैं।

"जो खोजो सो उहवाँ नाहीं" तुम जो खोजते हो वह वहां नहीं है। जीव क्या खोजता है? जीव खोजता है परम विश्राम, परम शांति। परन्तु वह वहां नहीं है। 'वहां' या 'उहवां' का क्या भाव है? व्यक्ति की अपनी चेतना से,

अपनी आत्मा से जो कुछ अलग है वह 'उहवाँ' है, उससे दूर है। आकाश में किसी स्वर्ग की कल्पना, अपनी आत्मा से अलग किसी परमात्मा की कल्पना या संसार के किसी प्राणी-पदार्थ, भोग-वस्तु, पद, अधिकार, मान, पूज्यता, प्रतिष्ठा आदि में परमविश्राम एवं परमशांति खोजना महान भूल है। साहेब कहते हैं कि जो कुछ तुम्हारी चेतना से, तुम्हारे आपा एवं तुम्हारे स्व से अलग होगा वह तुम्हारा परम विश्रामस्थल, परमशांति का निधान बन ही नहीं सकता। तुम्हारी स्थिति पर-स्वरूप में कैसे हो सकती है! अपनी आत्मा से हटकर कहां शांति है! तुम अपने आप को छोड़कर बाहर स्थायी सुख-शांति खोजते हो, परन्तु ध्यान रहे, तुम बाहर कभी शांति न पाओगे। तुम्हें बाहर कहीं कोई न परमात्मा मिलने वाला है न अनंत शांति।

"सो तो आहि अमरपद माहीं" वह तो अमरपद में है। अनंत सुख, अनंत शांति, परमानंद, परमविश्राम, ब्राह्मीसुख, आत्यान्तिक सुख तुम जितने नाम लेते हो इन सबकी चरितार्थता स्वरूपस्थिति एवं पारखस्थिति में ही है। अमरपद तुम्हारी आत्मा है, तुम्हारा चेतनस्वरूप है। उसमें ही स्थिति होने पर तुम्हारे सारे दुखों का अन्त होगा और दूसरे शब्दों में तुम्हें परमशांति मिलेगी। यह निजस्वरूप की स्थिति ही मानो परमात्मा को, ब्रह्म को, खुदा को, गॉड को, परमपद को, परम निर्वाण को पा जाना है। क्योंकि निज चेतनस्वरूप के अलावा सब धोखा है, सब शब्दों का बवंडर है। इसलिए अपना परमविश्राम वहां न खोजकर अमरपद में खोजो। खोजना भी कुछ नहीं है, बाहर की सारी वासनों छोड़ दो, सारी दौड़ छोड़ दो और अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाओ, बस, मानो सारा श्रेय मिल गया।

"कहहिं कबीर पद बूझै सोई, मुख हृदया जाके एकै होई।" सद्गुरु कहते हैं कि इस अविनाशी पद को, अमर स्थिति को वही समझ सकता है, वही इसमें विश्राम पा सकता है जिसके मुख में तथा हृदय में एक ही सत्य समाया हो। जैसी ज्ञान की बातें मुख से कही जाती हैं, वैसे जब मन में उनको धारण किया जाता है, तभी अमर स्थिति हो सकती है। यदि हम मुख से पाठ करते हैं "काल न खाय कल्प नहिं व्यापै...अजरहम् अमरहम् अनाशी स्वरूपम्...मैं चेतन निष्काम स्वरूप" आदि किन्तु हमारे हृदय में भय, कामनादि द्वंद्व मचा रहे हैं तो यह "मुख कछु और हृदय कछु आना, सपनेहु काहु मोहि नहिं जाना" की बात हुई। हमें राग, भय, कामना, तृष्णा सारे मानसिक विकारों को सर्वथा छोड़ना होगा। मोक्ष मन की अनासक्ति है। अनासक्ति वैराग्य की पक्की दृढ़ता है। जिस संसार में हमें सब कुछ छोड़कर जाना ही है, वहां की वस्तुओं के लिए हमें क्या मोह, क्या राग तथा क्या द्वेष करना चाहिए! हमें

एक दिन शरीर छोड़कर अकेला हो जाना है, फिर शरीर के छूटने का भय क्यों! हम राग-द्वेष-विहीन, निर्भय, निष्काम, निर्द्वंद्व, तृष्णागत, परमशांति आदि बड़े-बड़े उच्च भाववाचक शब्दों को जबान से सैकड़ों बार दोहरा लेते हैं, फिर उनके भाव हृदय में क्यों नहीं धारण करते! किस कामना से हम अपने ज्ञान के अनुरूप आचरण नहीं करते! शांति से बढ़कर क्या लाभ हो सकता है! इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि स्वरूपस्थिति वही समझ सकता है, वही उसमें स्थित हो सकता है जिसमें कथनी-करनी की एकता होगी।

अपने आप को वासनाओं से मुक्त करो

शब्द-80

बन्दे करिले आप निबेरा॥ 1॥
आपु जियत लखु आप ठौर करु, मुये कहाँ घर तेरा॥ 2॥
यह औसर नहिं चेतहु प्राणी, अन्त कोई नहिं तेरा॥ 3॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, कठिन काल को घेरा॥ 4॥

शब्दार्थ—बन्दे=गुलाम, वशवर्ती। आप=स्वयं। निबेरा=निबेड़ा, छुटकारा, मोक्ष। ठौर=स्थान, जगह, स्थिति। काल=वासना, अज्ञान, कल्पना, मृत्यु। घेरा=जाल, फैलाव, विस्तार, आक्रमण।

भावार्थ—हे बंधमान जीव! तू अपने आप का स्वयं छुटकारा कर॥ 1॥ जीवन रहते ही अपने आप को समझ कि मैं कौन हूं तथा अपने आप की स्थिति कर! तू इसे समझ कि शरीर न रहने पर तेरा निवास कहां होगा॥ 2॥ हे मनुष्य! यदि तू इस सुनहले समय में नहीं सावधान हुआ तो समझ ले कि अन्त में तेरा कोई सहायक नहीं होगा॥ 3॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो, सुनो, काल का आक्रमण जबर्दस्त है॥ 4॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने उक्त चार पंक्तियों में मनुष्य-जीवन का सार कह दिया है। इतना ही सोचा-समझा जाये तथा आचरण में उतार लिया जाये तो बेड़ा पार हो जाये। वे इस शब्द में पहली बात कहते हैं "बन्दे करिले आप निबेरा।" इस छोटी पंक्ति में महत्त्वपूर्ण बात है कि तुम अपने आप का स्वयं छुटकारा कर लो। इसका मतलब है कि हम बंधे हैं, तभी हमें छुटकारा करने की राय दी जाती है। साहेब इसकी याद सम्बोधन के शब्द में ही "बन्दे" कहकर दिला देते हैं। बन्दे का अर्थ ही है जो वशवर्ती हो, बंधा हो, गुलाम हो। वैसे विनम्रता के लिए भी बड़े पुरुषों के सामने अपने आप को बन्दा, दास, सेवक, गुलाम कहा जाता है। परन्तु दोनों में भाव का बड़ा अन्तर होता

है। जो शरीर तथा संसार की वासनाओं, अहंता-ममताओं में बंधा है, तथा जो अपनी विनम्रता के लिए अपने आप को बन्दा कहता है, दोनों में कोई समानता ही नहीं है। कितने लोग 'दास' शब्द गुलामी का सूचक मानकर अपने नाम में नहीं लगाते। यह उनकी भावना है। वैसे यह समझा जा सकता है कि किसी के नाम में दास न होने से वह मुक्त नहीं होता तथा किसी के नाम में दास जुड़ा होने से वह बंधमान नहीं होता।

सद्गुरु कबीर बन्दे कहकर हमें संकेत करते हैं कि तुम वासनाओं के बन्धनों में बंधे हो। उस पर ध्यान दो और उससे अपने आप को छुड़ाओ। ध्यान रहे, तुम्हारे बन्धनों को तुमसे अलग कोई दूसरा नहीं छुड़ा सकता। बन्धन मन के हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अहंता, ममता, वासना ये ही सब बन्धन हैं और ये सब मनोगत हैं। इन्हें हमने ही बनाये हैं। इन्हें हम ही मिटा सकते हैं। बाहर के बन्धन होते रस्सी, जंजीर एवं कारावास के तो दूसरा छुड़ा सकता था। ये तो मन के बन्धन हैं जिनके निर्माता हम हैं, साक्षी हम हैं, और हम ही इन्हें नष्ट भी कर सकते हैं। संत-गुरु अपनी वाणी तथा उच्च आदर्श से हमें केवल प्रेरणा दे सकते हैं। उनकी प्रेरणा को भी हमें ही समझना तथा ग्रहण करना पड़ेगा। हमारा कोई मकान बना सकता है, भोजन बना सकता है, बिस्तर बिछा सकता है और अन्य हमारे कई काम कोई दूसरा कर सकता है, परन्तु हमारे मन के बन्धन कोई दूसरा नहीं मिटा सकता। इसे हमें ही मिटाना है इसीलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे वासनाओं में बंधा जीव ! तू इन वासनाओं से अपने आप को छुड़ा ले।

"आपु जियत लखु आप ठौर करु, मुये कहाँ घर तेरा।" इस पंक्ति में सद्गुरु ने तीन बातें कही हैं। पहली बात है जीवन रहते-रहते अपने आप को देख लो, समझ लो कि तुम कौन हो। हम सबको देखते हैं, किन्तु अपने आप को नहीं देखते। अपने आप को देखने का मतलब है अपने आप को समझना। हम सारे संसार को समझने की चेष्टा करते हैं; चिकित्सा, व्याकरण, संगीत, भौतिकविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, प्राणिविज्ञान, मनोविज्ञान, नाना कला-कौशल, सबको समझने का प्रयास करते हैं, केवल यही नहीं समझते कि 'मैं कौन हूं'। और इसके समझे बिना हमारा सारा ज्ञान अन्त में काम नहीं देता। हमें दूसरा ज्ञान परमशांति नहीं दे पाता। अपने आप को दो ढंग से समझा जाता है—एक है अपने मन-स्वभाव को समझना और उन्हें सुधारना तथा दूसरा है अपने परिनिष्ठित चेतनस्वरूप को समझना कि मैं जड़दृश्यों से पृथक शुद्ध चेतन हूं, असंग हूं, अकेला हूं, पूर्णकाम एवं पूर्णतृप्त हूं।

इस पंक्ति में सद्गुरु कबीर ने दूसरी बात कही है "आप ठौर करु"। अपना ठौर करना, अपने लिए जगह बना लेना बहुत बड़ी बात है। जब कोई

पढ़ाई में, नौकरी में, व्यापार में, खेती में, राजनीति में, फिल्म में, खेल में, संगीत में, पत्रकारिता में, साहित्य में या कहीं भी किसी क्षेत्र में अपनी जगह बना लेता है, तब वह अपने क्षेत्र में सफल माना जाता है। परन्तु जीवन की अंतिम सफलता के लिए हमें अपना ठौर खोजना होगा, हमें जगह बनानी होगी। यदि भटकते हुए आदमी को एक स्थायी मकान मिल जाये तो उसकी खुशी वही जान सकता है। हमारे भटकते हुए मन की जगह कहां है, वह कहां स्थित हो सकता है, जहां से फिर न उठना पड़े ! इस जगह की हमें खोज करनी चाहिए। हमें अपनी जगह बनानी चाहिए। यह जगह है मेरी अपनी चेतना, मेरी अपनी आत्मा। किसी के पास स्थायी घर न हो तो वह जहां-तहां भटकता है। यदि उसे स्थायी घर मिल जाये तो उसका भटकना छूट जाता है। हमारा मन इसलिए भटकता है कि उसे स्थायी घर नहीं मिला है। जब अपनी चेतना के स्थायी घर का परिचय हो जायेगा, तब कहीं नहीं भटकेगा। "आप ठौर करु" अर्थात स्वरूपस्थिति करो, अपनी आत्मा में लीन होओ। तुम्हारी स्थायी जगह तुम्हारी अपनी आत्मा ही है। तुम्हारा चेतनस्वरूप ही तुम्हारा परमाश्रय है।

इस पंक्ति में तीसरी बात है "मुये कहाँ घर तेरा" मर जाने के बाद तुम्हारा घर कहां होगा ! मनुष्य को सबसे बड़ा भय और अनिश्चितता यही है कि मर जाने के बाद क्या होगा ! मृत्युकाल में, किसी प्रकार शारीरिक कष्ट हो तो अलग बात है, अन्यथा कोई कष्ट नहीं होता। यदि उस समय मन में कोई कष्ट होता है तो केवल इसलिए कि यहां का अपना माना हुआ सब छूट रहा है तथा मरने के बाद की स्थिति का पता नहीं है। इसीलिए धार्मिकों ने कहा है कि तुम अच्छा काम करो तो मर जाने के बाद यहां से भी अच्छी जगह तुम्हें मिलेगी। स्वर्गलोक एवं मोक्षलोक की कल्पना इसी सांत्वना के लिए है। स्वर्ग और मोक्षलोक की कल्पना तो केवल रूपक है, परन्तु उसमें छिपी बातें सत्य हैं। जीव जड़ तत्त्वों से विलक्षण होने से अमर है। वह इस शरीर के मिट जाने पर भी नहीं मिटता। यदि वह वासनाओं के अधीन है तो जैसे उसके अच्छे-बुरे कर्म होंगे वैसे उसे आगे जन्मांतर में फल मिलेंगे। सत्कर्म करने वाले को कोई भय नहीं है। शरीर छूट जाने के बाद भी उनके लिए सुख का साम्राज्य है। आज अच्छे कर्म करने वाला जन्मांतर में भी सुखी रहेगा। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि जो हम आज हैं वही कल हैं। आज हमें ठीक होना चाहिए तो कल हम अपने आप ठीक रहेंगे। यदि जीव ने वासनाओं का त्याग कर दिया है, यदि वह आज ही सारी वासनाओं से मुक्त है, तो उसे मर जाने के बाद की चिंता करने की आवश्यकता ही नहीं है कि उसका घर तब कहां

होगा। बोधवान तो जानता है कि अपना स्थायी घर अपनी स्वरूपस्थिति है। जब तक हम अपना घर देह समझते थे तब तक तो भय था कि वह छूट जायेगी, परंतु जब यह समझ आ गयी कि अपना घर अपनी चेतना है, अपनी आत्मा है, तब अब अपना घर छूटने का भय कहां रहा ! देह तथा देह संबंधी प्राणी-पदार्थ तो छूटते हैं, परंतु व्यक्ति से उसकी अपनी आत्मा कभी नहीं छूटती। ज्ञानी पुरुष समझता है कि अपना चेतन घर, अपना आत्माराम घर, अपना पारखप्रकाश घर मिल गया है, अब यह कभी छूटने वाला नहीं है। अतएव साहेब कहते हैं कि मरने के बाद तुम्हारा घर कहां होगा इसे समझो। जो अपने अविनाशी चेतन-धाम को पा गया उसे मरने के बाद की चिन्ता मिट गयी। जो अपने आत्माराम में रम गया उसका शरीर कुछ दिन बना रहे या चाहे जब छूट जाये उसके लिए दोनों बराबर हैं। स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति एकरस और अमर है। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष निर्भय होता है। उसे भूत, भविष्य की चिन्ता नहीं होती।

"यह औसर नहिं चेतहु प्राणी, अन्त कोई नहिं तेरा।" यह मार्मिक चेतावनी है। आज हमारा सुनहला अवसर है। साधना के लिए स्वस्थ शरीर है, साधु-संगत मिली है, अच्छे साहित्य मिले हैं, पथ-प्रदर्शक शरणरक्षक गुरु मिले हैं, समझ भी कुछ-न-कुछ मिली है। अब हमें सावधान हो जाना चाहिए। हमें अपने स्वरूप को पहचानना चाहिए और सारी जड़-वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना चाहिए। सारे भय जड़ पदार्थों के राग का फल है। देह, गेह, प्राणी, पदार्थ, पद-प्रतिष्ठा आदि दृश्य-जगत में हमारी अहंता-ममता एवं वासना लगी है, यही हमारे भय का कारण है। हमें तत्काल सारी अहंता-ममता को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में स्थित होना चाहिए, जिससे हमारा सारा भय छूट जाये और कच्ची स्थिति से मुक्त होकर पक्की दशा में पहुंच जायें। यदि हमने यह काम अभी नहीं कर लिया तो अन्त में हमारा साथी कोई नहीं होगा। जब शरीर साथ नहीं देता तब अन्य कौन साथ देगा !

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, कठिन काल को घेरा।" सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो ! काल का घेरा बड़ा कठिन है। यहां 'काल' शब्द में श्लेष है। इसमें दो अर्थ चिपके हैं। काल का अर्थ है अज्ञान और काल का अर्थ है मौत। इस अज्ञान का घेरा, अज्ञान का विस्तार बड़ा कठिन है। जीव थोड़ा भी असावधान हो तो तुरंत अज्ञान के जाल में पड़ जाता है; क्योंकि अज्ञान का विस्तार बड़ा कठिन है। यह कोई साधक ही समझ पाता है कि उसे क्षण में ही अज्ञान कहां ले जाकर पटक दे सकता है। इसलिए वह सावधान रहता है।

हमारे मन का अज्ञान हमें क्षण-क्षण भव में डुबाने के लिए मानो तैयार बैठा है। हमें उससे सतत सावधान रहना चाहिए। साहेब ने साखीग्रंथ में कहा है—"मन को मिरतक जानि के, मत कीजै विश्वास। साधु तहाँ तक भय करें, जहँ तक पिंजर सांस।" अतएव साधक वही है जो अन्तिम सांस तक सतत सावधान रहता है।

दूसरा काल मौत है। इसका भी विस्तार कठिन है। यह इस शरीर के जन्मकाल से इसे निरन्तर मार रहा है। इस शरीर को काल निरन्तर निगल रहा है। यह इसे कब पूरा निगल लेगा, इसे कोई नहीं जानता। इसीलिए अपने कल्याण का काम अति शीघ्र कर लेना चाहिए। घर में आग लगने पर कुआं खोदने का उपक्रम करना बेकार होगा। जब तक जरा अवस्था दूर है, मौत नहीं आयी है, अपने कल्याण का काम कर लो। शीघ्रातिशीघ्र सारी वासनाओं को छोड़कर स्वरूपस्थिति कर लो। यही अपने आप को संसार से छुड़ाना है। यही अपने आप का निबेड़ा करना है। अहंता-ममता एवं वासना ही बंधन है, इसको मिटा देने पर जीव मुक्त है।

परोक्ष-भक्तिरूपी चुनरी का चित्रण तथा राम और कृष्ण-भक्ति का ऐतिहासिक अध्ययन

शब्द-81

ऊतो रहु ररा ममा की भाँति हो, सब सन्त उधारन चूनरी॥ 1॥
बालमीक बन बोइया, चुनि लीन्हा शुकदेव॥ 2॥
कर्म बिनौरा होइ रहा हो, सूत काते जयदेव॥ 3॥
तीन लोक ताना तनो है, ब्रह्मा विष्णु महेश॥ 4॥
नाम लेत मुनि हारिया, सुरपति सकल नरेश॥ 5॥
विष्णु जिभ्या गुण गाइया, बिनु बस्ती का देश॥ 6॥
सूने घर का पाहुना, तासों लाइनि हेत॥ 7॥
चारि वेद कैंड़ा कियो, निराकार कियो राछ॥ 8॥
बिने कबीरा चूनरी, मैं नहिं बाँधल बारि॥ 9॥

शब्दार्थ—ऊतो=भक्तजन। ररा ममा की भाँती=रामनाम की तरह। उधारन=उद्धार के लिए। बन=कपास[1]। बिनौरा=बिनौला, कपास के बीज। हेत=प्रेम। कैंड़ा=औजार, वह यंत्र जिससे किसी वस्तु का नक्शा उतारा जाता

1. बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, कबीर रोड, वाराणसी।

है, मानदंड, पैमाना। निराकार=परमात्मा, शिव, विष्णु[1]। राछ=ताने का तागा उठाने-गिराने का जुलाहों का एक औजार। कबीरा=उपासक, भक्त। चूनरी=चुनरी, लाल जमीन का कपड़ा जिस पर सफेद या दूसरे रंग की बूटियां बनी हों, तात्पर्य में भक्तिरूपी साड़ी। बारि=वारि, हाथी बांधने की जंजीर, हाथी फंसाने का गड्ढा या फंदा, हाथी बांधने का स्थान, तात्पर्य में बन्धन[2]।

भावार्थ—वे तो सब भक्ति-पथ के संतजन संसार के उद्धार के लिए राम-नाम की भांति किसी नाम का आधार लेकर भक्ति की चुनरी बुनते रहे॥ 1॥ इस क्रम में सर्वप्रथम वाल्मीकि ने आदिकाव्य रामायण लिखकर और श्री रामचन्द्र का महत्त्व प्रदर्शित कर मानो इस दिशा में कपास बोया। पीछे शुकदेव मुनि ने आकर उसे चुन लिया और कृष्ण-भक्ति पर प्रकाश डाला॥ 2॥ कर्मरूपी बिनौला निकालकर प्रसिद्ध भक्त जयदेव ने गीतगोविन्द लिखकर मानो उसका सूत कात डाला॥ 3॥ ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के नाम पर संसार में भक्तिरूपी चुनरी बुनने का ताना तना गया॥ 4॥ इस प्रभाव में आकर मुनिजन, देवताओं के सहित इन्द्र तथा समस्त भक्त राजे-महाराजे भी नाम जपते-जपते थक गये, परन्तु उस नामी को नहीं पाये॥ 5॥ पंडितों ने पुराणों में विष्णु की जबान से ऐसे भगवान तथा स्वर्ग का गुणगान करवाया जो बिना बस्ती के देश के समान घोर काल्पनिक है। जैसे किसी सूने एवं निर्जन घर में पहुना जाये तो उसका क्या स्वागत होगा, वैसे पंडितों ने भक्तों को कल्पित भगवान तथा स्वर्गरूपी सूने घर का पहुना बनाया और कहा कि उन्हीं से प्रेम करो॥ 6-7॥ सभी मत के भक्तों ने अपना भक्ति-नक्शा खींचने के लिए चारों वेदों को अपना औजार बनाया और परमात्मा तथा सगुणरूप विष्णु और शिव को राछ बनाया और भक्ति-चुनरी बुनने लगे। कबीर साहेब कहते हैं किन्तु मैं इस बन्धन में किसी को नहीं बांधता॥ 8-9॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने यहां सगुण भक्ति को एक चुनरी के रूपक में उपस्थित कर उसका खाका खींचा है और उसका ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उसके घोर काल्पनिकरूप का दिग्दर्शन कराया है, जो बड़ा ही रोचक तथा मार्मिक है।

"ऊतो रहु ररा ममा की भांति हो, सब सन्त उधारन चूनरी।" वे सभी संत जो सगुण भक्ति-पथ के पथिक थे जगत-जीवों के कल्याण करने के विषय में

---

1. बृहत् हिन्दी कोश।
2. बृहत् हिन्दी कोश।

सोचते रहे। उन्होंने सोच-विचार कर भक्ति की चुनरी बुनना शुरू किया। उस चुनरी के साथ राम-नाम जुड़ा। इसी भांति कृष्ण-नाम, नारायण-नाम, शिव-नाम आदि अनेक नाम जुड़े अर्थात नारायण, शिव, कृष्ण, राम आदि की भक्ति चलने लगी।

भक्ति-भावना मनुष्य के जीवन के साथ से है। विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में अनेक प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मानकर उनकी प्रार्थनों की गयी हैं। ऋग्वेद के विष्णु सूक्त तथा वरुण सूक्त में भक्ति के बीज हैं। वैदिक साहित्य में 'भक्ति' शब्द संभवतः पहली बार श्वेताश्वतर उपनिषद् में आया "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।"[1] अर्थात जैसे देव में परम भक्ति होती है वैसे गुरु में होती है।

प्रवृत्तिमूलक रागात्मक सगुण भक्ति का प्रथम सूत्रपात संभवतः यादवों में हुआ। जहां से यदुवंश का आरम्भ हुआ है उसके मूल में 'अंशु' नामक एक पुरुष थे। उनके पुत्र 'सत्वत' थे जो महान प्रतापवान राजा हुए हैं। इन्हीं के नाम से 'सात्वत-वंश' चला। 'सात्वत-वंश' को आगे चलकर यादव वंश कहा जाता है। इन सात्वतों में ही वैष्णवों का भागवत संप्रदाय शुरू हुआ। कूर्म पुराण के अनुसार सत्वत ने नारद से भागवत-धर्म का उपदेश पाया। सात्वतों के द्वारा मथुरा-वृन्दावन से लेकर मध्य भारत, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिल आदि क्षेत्रों में भागवत-भक्ति फैली और ईसा के एक हजार वर्ष बाद तमिल एवं द्रविड़ देश से लौटकर कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात होकर मथुरा-वृन्दावन में आयी। इससे प्रभावित होकर भागवतकार ने यहां तक लिख दिया कि भक्ति द्रविड़ में पैदा हुई, कर्नाटक में बढ़ी, महाराष्ट्र में कुछ पुष्ट हुई, गुजरात में बूढ़ी हो गयी, परन्तु वृन्दावन में पहुंचकर पुनः युवती हो गयी।[2]

सात्वतों की भक्ति परम्परा को सात्वत-संप्रदाय कहा जाने लगा। इसमें पहले नारायण की उपासना थी। परन्तु सात्वत-वंश में आगे चलकर श्री कृष्ण एक युगपुरुष हुए जिन्होंने स्वयं नारायण का स्थान ग्रहण कर लिया। कृष्ण पहले नारायण एवं विष्णु के अवतार माने गये। आगे चलकर परब्रह्म परमात्मा बन गये। पहले यह सम्प्रदाय एकांतिक, नारायणीय तथा सात्वत नाम से जाना जाता था। जब यह कृष्ण की उपासना से जुड़ गया तब से भागवत-संप्रदाय कहलाने लगा।

---

1. श्वेताश्वतर उपनिषद् 6/23।
2. श्रीमद्भागवतमाहात्म्य 1/48-50।

ऐतिहासिक अध्ययन के अनुसार ईसा के चार सौ वर्ष पहले गीता की रचना हुई। इसमें श्री कृष्ण पूर्ण परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हुए। तब तक दाशरथि राम की प्रतिष्ठा परमात्मा के रूप में नहीं थी। तब तक वे एक शस्त्रधारी वीर के रूप में माने जाते थे। गीताकार ने श्री कृष्ण के मुख से कहलवाया है कि मैं शस्त्रधारियों में राम हूं—रामः शस्त्रभृतामहम् (10/31)। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से कृष्ण-भक्ति ईसा के सैकड़ों वर्ष के पूर्व से प्रचलित थी, परन्तु दशरथ-पुत्र श्री राम ईस्वी सन् के आरम्भ के लगभग विष्णु के अंशावतार माने गये हैं, परन्तु उनकी पूजा-उपासना ग्यारहवीं शताब्दी तक शुरू हुई। सर रामगोपाल भंडारकर का भी कहना है कि यद्यपि ईस्वी सन् के आरम्भ से राम विष्णु के अवतार माने गये, किन्तु उनकी विशेष रूप से प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग ही आरम्भ हुई।

इतिहासवेत्ता डॉ. राजबली पांडेय लिखते हैं—"वाल्मीकीय रामायण में राम का ऐश्वर्यस्वरूप तथा चरित्र बहुत ही उच्च तथा आदर्श नैतिकता से भरपूर है। परवर्ती कवियों, पुराणों और विशेषकर भवभूति (आठवीं शताब्दी का प्रथमार्ध) के दो संस्कृत-नाटकों ने राम के चरित्र को और अधिक व्याप्ति प्रदान की। इस प्रकार रामायण के नायक को भारतीय जन ने विष्णु के अवतार की मान्यता प्रदान की। इस बात का ठीक प्रमाण नहीं है कि राम को विष्णु का अवतार कब माना गया, किन्तु कालिदास के रघुवंश काव्य से स्पष्ट है कि ईसा की आरंभिक शताब्दियों में यह मान्यता हो चुकी थी।....यद्यपि राम का देवत्व मान्य हो चुका था, परन्तु राम-उपासक कोई संप्रदाय इस दीर्घकाल में था, इस बात का प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि 11वीं शताब्दी के बाद रामसंप्रदाय का आरम्भ हो चुका था।"[1]

पहले कुरुक्षेत्र के आसपास भारत की रचना हुई। पीछे गंगा-यमुना के संगम के आस-पास वाल्मीकीय रामायण का छोटा रूप बना। इसके बाद महाभारत का रूप तैयार होकर भारत महाभारत हो गया। वाल्मीकीय रामायण में महाभारत के पात्रों तथा कथानक की चर्चा नहीं है और रामकथा के पात्रों तथा वाल्मीकीय रामायण का महाभारत में वर्णन है। "शांख्यायन आदि सूत्रों तथा पाणिनि में भारत के विषय में निर्देश मिलते हैं, रामायण के विषय में नहीं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'भारत' की रचना रामायण के पूर्व हो चुकी थी।"[2] महाभारत के प्राचीन अंश (भारत) रामकथा के पात्रों

---

1. राम-हिन्दूधर्म कोश।
2. रामकथा, पृष्ठ 46।

की ही चर्चा करते हैं, रामायण की नहीं, किन्तु महाभारत के अपेक्षया नवीन अंश रामायण की चर्चा करते हैं। ईसा के चार सौ वर्ष पहले हुए पाणिनि के अष्टाध्यायी के व्याकरण के नियमानुसार वाल्मीकीय रामायण की रचना है ऐसा विद्वान मानते हैं। रामायण के पात्रों की चर्चा तो लोकगीत में बहुत पहले से थी; परन्तु वाल्मीकि की रामायण ईसा के तीन सौ साल के पहले से बनना शुरू हुआ।

सद्गुरु कबीर सामान्य हिन्दू-परम्परा की मान्यता के आधार पर कहते हैं—'बालमीक बन बोइया, चुनि लीन्हा शुकदेव।" वाल्मीकि महाराज ने रामायण नाम का आदि महाकाव्य लिखकर मानो भक्तिरूपी चुनरी बुनने के लिए बन बो दिया। बन कहते हैं कपास को और वन कहते हैं जंगल को, यह भेद ध्यान में रखना चाहिए। वाल्मीकि ने रामायण संक्षेप में लिखी और उसमें राम का मानवीय रूप रखा, यह रूप उदात्त था। पीछे के कवियों ने उसमें कथा जोड़कर राम आदि चारों भाइयों को विष्णु का अंशावतार घोषित कर दिया। उसके बाद अन्य कवियों ने अपनी नयी-नयी रामायणों में राम को अनन्त ब्रह्मांड नायक बना दिया। वाल्मीकीय रामायण में राम को उच्चदृष्टि से देखा गया, परन्तु उनके नाम-जप की उसमें कहीं चर्चा नहीं की गयी कि राम-राम जपने से मोक्ष होगा या पाप कटेगा। यह तो पीछे की रामायणों में राम को भक्तवत्सल कहा गया तथा उनका कथा-कीर्तन करना रामायण का अर्थ माना जाने लगा। शुकदेव जी ने इस भक्ति के कपास को चुन लिया। उन्होंने ब्रह्मज्ञान सहित कृष्ण-भक्ति का वर्णन भागवत आदि ग्रन्थों में प्रस्तुत किया। अथवा कहना चाहिए कि पंडितों ने शुकदेव के मुख से भागवत पुराण में ब्रह्मज्ञान सहित कृष्ण-भक्ति का वर्णन करवाया। भागवत पुराण भक्ति का प्रमुख ग्रन्थ है जिसमें रास पंचाध्यायी तक है, उसके साथ है "महाभारत का शांतिपर्व, भगवद्गीता, पांचरात्रसंहिता, सात्वतसंहिता, शांडिल्यसूत्र, नारदीय भक्तिसूत्र, नारदपंचरात्र, हरिवंश, पद्मसंहिता, विष्णुतत्त्वसंहिता, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य आदि के ग्रन्थ।"[1]

"कर्म बिनौरा होइ रहा हो, सूत काते जयदेव।" कर्मरूपी बिनौले को निकालकर जयदेव ने इसका सूत काता। जयदेव का संस्कृत भाषा में लिखा गीतगोविन्द एक महत्त्वपूर्ण तथा ललित काव्य है। भाषा प्रांजल, सरल तथा प्रवाहपूर्ण है। यह राधामाधव का विरह काव्य श्रृंगाररस से पूर्ण है।

---

1. हिन्दू धर्म कोश, पृष्ठ 464।

गीतगोविन्द का प्रभाव कृष्ण चैतन्य पर भी पड़ा, जिनके द्वारा बंगाल में राधामाधव को श्रेय देकर एक भक्ति आंदोलन खड़ा हुआ।

"तीन लोक ताना तनो है, ब्रह्मा विष्णु महेश। नाम लेत मुनि हारिया, सुरपति सकल नरेश।" तीन लोक का अर्थ है पूरा संसार और यह पूरा संसार मानो भारतवर्ष ही है क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव की मान्यता भारतवर्ष या वृहत्तर भारत में ही है। ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर ने संसार में भक्ति का ताना तना। अथवा पंडितों ने इनके नाम के आधार पर भक्तिकाव्य फैलाया। अथवा रज, सत, तम मानो तीन लोक हैं और ये ही क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महादेव हैं। इन तीनों गुणों वाले मनुष्यों में भक्ति का प्रचार मानो भक्ति का ताना फैलाना है। सरल अभिप्राय यह है कि किसी देहधारी भगवान की अवधारणा कर उसके नाम-जपादि रूप भक्ति का प्रचलन हुआ। उस नाम को जपते-जपते मुनि, इन्द्र तथा सभी भक्त राजे-महाराजे भी हार गये, परन्तु वह भगवान उन्हें नहीं मिला। तात्पर्य यह कि भक्त-गण अपनी आत्मा से अलग किसी परमात्मा की कल्पना कर उसके नाम रटते रहे, उसका कथा-कीर्तन करते रहे, उसके लिए रोते-धोते रहे, परन्तु वह कभी भी उन्हें दर्शन नहीं दिया। कितने भक्त अपने भावावेश में एवं अपने मन की कल्पना में उसे देखते रहे, परन्तु कभी उन्हें उसका साक्षात्कार नहीं हुआ। इसलिए भक्तों के लिए "हारिया" शब्द का यहां प्रयोग किया गया।

"विष्णु जिभ्या गुण गाइया, बिनु बस्ती का देश। सूने घर का पाहुना, तासों लाइनि हेत।" पंडितों ने पुराणों में विष्णु के मुख से या वैष्णव महात्माओं के मुख से स्वर्ग का सुन्दर खाका खिंचवाया है। साकेतलोक, ब्रह्मलोक, गोलोक एवं शिवलोक तथा अनेक नाम लेकर स्वर्ग का बड़ा मनोरम वर्णन किया गया है और उसमें रहने वाले भगवान की तो सुन्दरता का वर्णन ही असंभव है। उनमें अनादि से अनन्त काल तक होने वाली रासलीला का भी प्रबन्ध कर लिया गया है। साहेब व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि यह सब बिना बस्ती के देश का वर्णन है। भक्त लोग ऐसे देश का वर्णन करते हैं जहां कोई बस्ती नहीं है। अर्थात यह सब घोर कल्पना एवं निराधार बातें हैं। सूने घर में पहुना जाये तो उसका कौन स्वागत करे! ऐसी जगह में हेत लगाना, ऐसी जगह में प्रेम करना जहां मन की कल्पना को छोड़कर कुछ नहीं है, वहां जीव को क्या मिलेगा!

"चारि वेद कैंड़ा कियो, निराकार कियो राछ। बिने कबीरा चूनरी" भक्तों ने चारों वेदों को कैंड़ा बनाया है। कैंड़ा का अर्थ है मानदंड एवं नक्शा बनाने का यंत्र। कोई भी संप्रदाय निकला तो उसके प्रवर्तक ने यही कहा कि यह वेद

समर्थित है, जिस भक्ति का मैं प्रचार कर रहा हूं, उसका मूल वेदों में है। यहां तक कि वेद के 'राधा'[1] शब्द को घसीटकर उस 'राधा' से जोड़ दिया गया जो न महाभारत में है और न रासपंचाध्यायी वाले भागवत पुराण में है, जो पीछे से भक्त-कवियों द्वारा कृष्ण की प्रेयसी बना दी गयी है। वेद विस्तृत हैं, उनमें अनेक ऐसी संज्ञों हैं जिनके उनके अपने अर्थ हैं; किन्तु उनमें से जो शब्द अपने अनुकूल पड़ते हैं संप्रदाय-प्रवर्तक लोग उसे अपना अर्थ देकर कहते हैं कि देखो, मेरे मत का वर्णन वेदों में है। यहां तक कि पौराणिक कबीरपंथियों ने ऋग्वेद (10/103/1) के 'एकवीरः' को ऐ कबीर, अर्थ कर उसमें कबीर की तलाश कर ली जबकि वहां उसका अर्थ अद्वितीय वीर है, जो इन्द्र के लिए प्रयुक्त है।

कबीर साहेब यहां कहते हैं कि समस्त भक्तिपथ के पथिकों ने वेदों को अपना कैंड़ा बनाया, अपने भक्ति-नक्शा को खींचने का औजार बनाया अथवा भक्ति-साड़ी बीनने के लिए सूत नापने का गज बनाया और निराकार को राछ बनाया। राछ वह यंत्र है जो वस्त्र बुनते समय ताने को उठाता-गिराता है। यहां निराकार का अर्थ परमात्मा या उसके सगुणरूप शिव और विष्णु है, जिसे इसके शब्दार्थ में देख लिया गया है। हिन्दू समाज के सारे भक्ति-संप्रदाय शिव और विष्णु की धुरी पर नाचते हैं। त्रिदेवों में ब्रह्मा को भक्ति-आलंबन की जगह से खारिज कर दिया गया है, केवल शिव और विष्णु ही भक्ति के आलंबन बनाये गये। पीछे के जितने महापुरुषों को परमात्मा का रूप दिया गया उन्हें विष्णु का अवतार कहा गया या शिव का। निराकार का अर्थ लोकप्रसिद्ध परमात्मा तो है ही, जिसके तथाकथित सारे अवतार भक्ति के आलंबन बने। साहेब कहते हैं कि इन्हीं आधारों को लेकर भक्तजन भक्ति की चुनरी बुनते हैं। पहले एक ईश्वर की कल्पना की जाती है, इसके बाद उसके सगुण-रूप में शिव तथा विष्णु की कल्पना की जाती है, इसके बाद इनके अनेक अवतारों की कल्पना की जाती है और इन पर वेद की मुहर मारकर सर्वमान्य भक्ति का रूप देने का प्रयास किया जाता है।

"मैं नहिं बाँधल बारि" 'बृहत हिन्दी कोश' में वारि के अर्थ—जल, वर्षा, सुगंधबाला, ह्रीवेर (एक गंध द्रव्य), एक वृत्त, सरस्वती आदि हैं तथा हाथी बांधने की जंजीर, फंदा आदि भी है। यहां पर बारि का अर्थ बन्धन है। साहेब

---

1. स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते। विभूतिरस्तु सूनृता॥ (ऋग्वेद 1/30/5)
अर्थ—धन-रक्षक और स्तोत्र-पात्र इन्द्र ! तुम्हारा ऐसा स्तोत्र तुम्हारा प्रतिभाप्रिय और सत्य हो। (टीका—रामगोविन्द त्रिवेदी, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग)

कहते हैं "मैं नहिं बाँधल बारि" मैं किसी को उक्त प्रकार की भक्ति के बन्धन में नहीं बांधता हूं।

व्यक्ति की अपनी चेतना एवं आत्मा से अलग परमात्मा, उसके साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण रूप, उसके अवतार आदि सब काल्पनिक हैं। इन्हीं कल्पनाओं की भाव-विह्वलता में पड़कर भक्त लोग भक्ति की चुनरी बुनते हैं और अपने अनुगामियों को उसे पहनाते हैं। अर्थात उन्हीं मान्यताओं में उन्हें बांधते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि मैं ऐसा बन्धन किसी को नहीं देता। आत्मा के अलावा कोई परमात्मा नहीं है जिसके चक्कर में पड़कर भटका जाये। इसीलिए साहेब ने उसे "बिनु बस्ती का देश" तथा भक्तों को "सूने घर का पाहुना" कहकर उन पर व्यंग्य किया है; और अन्त में अपने आप को इस काल्पनिक भक्ति के माया-जाल से अलग बता दिया है।

कबीर साहेब ने वैराग्य-बोधसंपन्न प्रत्यक्ष सद्गुरु-संतों की उपासना बतायी है "गुरु की दया साधु की संगति, निकरि आव यहि द्वार।"[1] गुरु से निज स्वरूपबोध प्राप्तकर अपनी चेतना में स्थित हो जाना ही परा भक्ति है। कबीर साहेब के ख्याल से जीव ही शिव है, आत्मा ही परमात्मा है और अपनी आत्मा में स्थित हो जाना ही सर्वोच्च भक्ति है।

वाल्मीकि

एक वाल्मीकि महर्षि कश्यप तथा अदिति के नवम पुत्र वरुण (आदित्य) से पैदा हुए माने जाते हैं। इनकी माता का नाम चर्षणी तथा भाई का नाम भृगु कहा जाता है। वरुण का दूसरा नाम प्रचेत भी है इसलिए वाल्मीकि को प्राचेतस भी कहा जाता है। इनके विषय में विविध कथों मिलती हैं। कोई इन्हें ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न मानता है और कोई शूद्र-कुल में। हो सकता है दोनों कुलों में भिन्न-भिन्न वाल्मीकि हुए हों। कौन वाल्मीकि रामायण लेखक थे कहना कठिन है। वैसे रामायण के लेखक को लोग यही मानते हैं कि वे निम्न कहे जाने वाले कुल में जन्मे थे। उनका नाम रत्नाकर था तथा वे कर्म से डाकू थे। वे जंगल में रहते थे और जो राहगीर मिलता था उसका सब कुछ छीनकर उसे मार डालते थे। उन्हें एक बार सप्तऋषि या नारद मिले। उनके साथ भी उन्होंने वही बरताव करना चाहा। उन्होंने कहा कि क्या यह सब पाप तुम्हारे परिवार वाले बंटायेंगे? परिवार वालों से पूछने पर वे पाप के भागीदार

---

1. बीजक, साखी 304।

होने से अस्वीकार कर दिये। रत्नाकर को ग्लानि हुई। वे इस पाप कर्म को परित्याग करने का प्रण करके तपस्या में लग गये। समाधि में बैठे रहने से उनके चारों तरफ दीमकी का ढूह लग गया। दीमकी के ढूह को वल्मीक कहते हैं। जब वे समाधि से उठकर वल्मीक से निकले तो उनको वाल्मीकि कहा जाने लगा। ये तमसा नदी के तट पर रहते थे। ये एक बार स्नान करने जा रहे थे। रास्ते में एक घटना घटी। एक क्रौंच एक क्रौंची परस्पर काममोहित होकर आलिंगन में थे। उसी समय एक व्याध ने बाण से क्रौंच को मार दिया। नर क्रौंच मर गया। क्रौंची व्याकुल हो उठी। यह दृश्य देखकर करुणावेश में वाल्मीकि के कंठ से यह अनुष्टुप छंद निकल पड़ा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

अर्थात—"हे निषाद! तूने काम-मोहित युगल क्रौंच में से एक, अर्थात नर-क्रौंच का वध किया है, इसलिए तू बहुत वर्ष तक प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकेगा।" कहा जाता है कि इसी छन्द के बाद उन्होंने रामायण की रचना की जिसका नाम वाल्मीकीय रामायण पड़ा।

शुकदेव

महर्षि वेदव्यास द्वारा किसी शुकी नामक स्त्री में शुकदेव को पैदा किया गया था। शुकदेव अपनी किशोर-अवस्था में ही माता-पिता को छोड़कर विरक्त हो गये थे। ये एक परम विरक्त के रूप में प्रसिद्ध हैं।

जयदेव

कहा जाता है कि बंगाल में अजय नदी के तट पर किंदुबिल्व नामक ग्राम में जयदेव जी रहते थे। कहते हैं कि केंदुली नाम से यह ग्राम आज भी प्रसिद्ध है। इनका जीवनकाल तेरहवीं शताब्दी में माना जाता है। ये बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के राज-दरबारी कवि थे। कहा जाता है कि ये विरक्ति भाव से रहते थे, परन्तु आगे चलकर इन्होंने एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह कर लिया। विवाह के पश्चात इन्होंने संस्कृत में 'गीतगोविन्द' नामक काव्य की रचना की। ये ज्यादा राधा के भक्त थे। इनका गीतगोविन्द शृंगाररस से पूर्ण है और जगह-जगह ज्यादा अश्लीलतापूर्ण है। जयदेव, चण्डीदास तथा विद्यापति के काव्यों से चैतन्य महाप्रभु बहुत प्रेम रखते थे तथा उन्हें गाया करते थे। बंगाल में 'राधाकृष्णगीत' नाम का काव्यग्रंथ भी जयदेव जी का ही माना जाता है।

हठयोग का दिग्दर्शन, मन के संयम से शांति

शब्द-82

तुम यहि विधि समझो लोई, गोरी मुख मन्दिर बाजै॥ 1॥
एक सर्गुण षट चक्रहिं बेधे, बिना बृषभ कोल्हू माचा॥ 2॥
ब्रह्महिं पकरि अग्नि मा होमैं, मच्छ गगन चढ़ि गाजा॥ 3॥
नित अमावस नित ग्रहण होई, राहु ग्रासे नित दीजै॥ 4॥
सुरभी भक्षण करत वेद मुख, घन बर्से तन छीजै॥ 5॥
त्रिकुटी कुण्डल मध्ये मन्दिर बाजे, औघट अम्मर छीजै॥ 6॥
पुहुमि का पनिया अम्मर भरिया, ई अचरज कोइ बूझै॥ 7॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, योगिन सिद्धि पियारी॥ 8॥
सदा रहे सुख संयम अपने, बसुधा आदि कुमारी॥ 9॥

शब्दार्थ—लोई=लोगों। गोरी मुख=कुंडलिनी। मन्दिर=नाभि। एक सर्गुण=त्रिगुणयुत मन। षटचक्रहिं=मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा। वृषभ=बैल। माचा=जोत दिया, नांधना, नहना। ब्रह्महिं=रजोगुण को। अग्नि=योगाग्नि। मच्छ=मछली, श्वास। गगन=ब्रह्मांड, ब्रह्मरंध्र। गाजा=गर्जने लगा, अनाहतनाद बजने लगा। ग्रासे=ग्रास, कौर। सुरभी भक्षण=गोमांस भक्षण, जीभ से तालुमूल का रसपान। वेदमुख=श्रेष्ठ मुख। घन=बादल, गगनगुफा। छीजै=क्षीण होना, छूना, तरबतर होना। यहां अर्थ है छूना, भीगना—'आनंद घन रसरासि पाय कै क्यों जग-छीलर छीजै।' त्रिकुटी कुण्डल=दोनों भौंहों के बीच का घेरा। मन्दिर=स्थान। औघट=दुर्गम स्थान, गगनगुफा। पुहुमि=पृथ्वी, पिंड। पनिया=श्वास। अम्मर=अम्बर, आकाश, ब्रह्मरंध्र, खोपड़ी। बसुधा=पृथ्वी। आदि कुमारी=सदा से कुंआरी, किसी की नहीं।

भावार्थ—हे लोगो ! तुम हठयोगियों की बातें इस प्रकार समझो, कहते हैं कि कुंडलिनी के पास नाभि में सदैव 'परा' शब्द बजता रहता है। यह परा शब्द ही पश्यन्ति और मध्यमा के रूप में बदलकर मुख में आकर बैखरी बन जाता है अथवा जब योगी कुंडलिनी जाग्रत करता है तब नाभि में ध्वनि होने लगती है॥ 1॥ यह त्रिगुणात्मक मन छह चक्रों को क्रमशः वेधते हुए ब्रह्मांड में पहुंच जाता है। यह मानो बिना बैल के कोल्हू जोत देना है॥ 2॥ योगी लोग रजोगुण को पकड़कर योगाग्नि में होम देते हैं और उनका श्वास ब्रह्मंड में पहुंचकर अनाहतनाद की गर्जना करने लगता है॥ 3॥ ईडा तथा पिंगलारूप चन्द्र और सूर्य को सुषुम्णा में लय करने से योगी के लिए मानो रोज

अमावस्या और ग्रहण लगे रहते हैं। इस प्रकार मानो रोज योगी राहु को भोजन देता है॥ 4॥ योगी अपनी जीभ को उलटकर और तालुमूल में लगाकर अपने श्रेष्ठ मुख से अमृतरसपान रूप गोमांस भक्षण करता है। उसकी गगनगुफा में बादल अमृत बरसते हैं और योगी उसमें भीगता है॥ 5॥ दोनों भौंहों के बीच के घेरे के ऊपर गगनगुफा में अनाहतनाद का बाजा बजता है। यही मानो त्रिकुटी कुण्डल मध्ये मन्दिर बजना है। इस गगनगुफा के दुर्गम घाट में योगी पहुंचकर तरबतर हो जाता है॥ 6॥ जमीन का पानी जैसे भाप बनकर आकाश में मानो भर जाता है, वैसे योगी पिण्ड के प्राण समेटकर ब्रह्मांड में एकाग्र कर देता है। इस आश्चर्य की बात को कोई बिरला समझता है॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो ! सुनो, योगियों को लौकिक सिद्धि प्रिय है॥ 8॥ परन्तु सदा रहने वाला एवं अनन्त सुख तो अपने मन के संयम से होता है। इसके लिए इस हठयोग की कोई जरूरत नहीं। हठयोग से जो लौकिक सिद्धि पाने की लालसा की जाती है, यह महाभ्रम है। यह वसुधा तो सदा से कुंआरी है—"यह वसुधा काहू की न भई।" लौकिक सिद्धि नाशवान है॥ 9॥

व्याख्या—"गोरी मुख मन्दिर बाजै" यह एक प्रतीकात्मक कथन है। इसका सरल अर्थ हुआ कि गोरी के मुख-मन्दिर पर बाजा बजता है या गोरी का मुख-मन्दिर बजता है। इसमें 'गोरी' मुख्य शब्द है। यह हठयोग का प्रसंग है। हठयोग में कुंडलिनी का बड़ा महत्त्व है जो एक काल्पनिक शक्ति है। कहते हैं कि नाभि के नीचे सर्प की कुंडली जैसी एक नस है, उसे कुंडलिनी कहते हैं। परन्तु डॉक्टरों की राय से वहां ऐसा कुछ नहीं है। तब योगी कहते हैं कि कुंडलिनी कोई नस नहीं, केवल एक शक्ति है। कहते हैं कि नाभि के पास कुंडलिनी का जहां निवास है वहां 'परा' शब्द की ध्वनि सब समय होती है। उसे योगी ही सुन सकता है, सामान्य लोग नहीं। यही मानो गोरी मुख मन्दिर बजना है। यह भी कल्पना है कि जब कुंडलिनी जाग्रत हो जाती है तब नाभि में ध्वनि होने लगती है। यही मानो गोरी मुख मन्दिर बजना है। यह भी माना जा सकता है कि जब कुंडलिनी जाग्रतकर सुषुम्णा को ऊपर ब्रह्मांड में ले जाते हैं तब जो वहां अनाहतनाद उठता है वही गोरी मुख मन्दिर बजना है।

"एक सर्गुण षट चक्रहिं बेधे, बिना बृषभ कोल्हू माचा।" रज, सत तथा तम ये तीन गुण हैं। मन इन तीनों गुणों वाला है। यही 'एक सर्गुण' है, जो षटचक्रों को वेधता है। मन के बिना तो कोई काम नहीं होता। योगी का मन मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा—इन छहों चक्रों को वेधकर ऊपर भ्रमरगुफा में पहुंचता है, फिर वहां अनाहतनाद उठता है

और ज्योति-प्रकाश होता है। यह बिना बैल के कोल्हू माचना है। कोल्हू, हल या गाड़ी कहीं भी बैल को जोड़ देना 'माचना' कहलाता है। साहेब कहते हैं कि योगियों का षटचक्रवेधन, नादश्रवण तथा ज्योतिदर्शन का जो निरन्तर चलने वाला कोल्हू है यह बिना बैल का चलता है।

"ब्रह्महिं पकरि अग्नि मा होमैं, मच्छ गगन चढ़ि गाजा।" यहां ब्रह्म का अर्थ रजोगुण है। ब्रह्म का अर्थ होता है बढ़ना। बढ़ना क्रिया है। क्रिया रजोगुण है। इसलिए यहां ब्रह्म का अर्थ रजोगुण करना उपयुक्त है। योगी लोग ब्रह्म को अर्थात रजोगुण को पकड़कर योग की अग्नि में होम देते हैं। इसका अर्थ है कि योगसाधना से वे रजोगुण को शांत कर देते हैं। "मच्छ गगन चढ़ि गाजा" मछली आकाश में चढ़कर गर्जने लगती है। यह मच्छ एवं मछली क्या है? इसे मन या श्वास कह सकते हैं। श्वास जब ऊपर खोपड़ी में एकाग्र होता है तब अनाहतनाद होने लगता है। इसी को ऐसा भी कह सकते हैं कि मानो मन ही गगनगुफा एवं खोपड़ी में चढ़कर गर्जने लगता है।

"नित अमावस नित ग्रहण होई, राहु ग्रासे नित दीजै।" चन्द्र-सूर्य का एक साथ हो जाना अमावस्या है। हठयोग में ईडा (नाक की बायीं) नाड़ी चन्द्र कहलाती है तथा पिंगला (नाक की दायीं) नाड़ी सूर्य कहलाती है। इनका इकट्ठा होकर सुषुम्णा में मिल जाना हठयोग की अमावस्या है। सुषुम्णा कहते हैं नाक के दोनों छिद्रों में सम श्वास चलने को। योगी चन्द्र-सूर्य नाड़ियों को सम करके रोज योगाभ्यास करते हैं। इसलिए उनके लिए मानो रोज अमावस्या लगी रहती है और उनके लिए रोज ग्रहण भी लगा रहता है। सुषुम्णा मानो राहु है और वह चन्द्र तथा सूर्य दोनों नाड़ियों को ग्रहणकर उन्हें अपने में पचा लेती है तो योगियों के लिए मानो रोज ग्रहण लगा रहता है। जब रोज ग्रहण लगा रहता है तब मानो योगी रोज राहु को ग्रास देता है, भोजन देता है। ग्रास कहते हैं ग्रहण करने को, ग्रसने को, पकड़ने को और ग्रास का अर्थ कौर, निवाला, आहार, निगलना भी होता है। ये सब अर्थ एक भाव के द्योतक हैं। पौराणिक कहानियों के अनुसार राहु चन्द्र और सूर्य को खाने के लिए भूखा रहता है, तो योगी मानो रोज चन्द्र-सूर्यरूप भोजन राहु को देता है। "राहु ग्रासे नित दीजै" सुषुम्णा-राहु को चन्द्र-नाड़ी तथा सूर्य-नाड़ीरूपी ग्रास रोज दिया जा रहा है।

पुराण की कथा है कि विप्रचिति नामक पिता और सिंहिका नामक माता से राहु पैदा हुआ था। राहु बहुत बलवान था। समुद्र मथने पर जब अमृत निकला, तब देवताओं की पंक्ति में बैठकर उसने अमृत पी लिया था। उसके आस-पास में बैठे चन्द्रमा और सूर्य इस क्रिया को देख लिये और विष्णु को

बता दिये। इसलिए विष्णु ने चक्र से राहु का सिर काट दिया। परन्तु अमृत पी लेने से वह मरा नहीं। सिर राहु तथा धड़ केतु के नाम से अमर हो गये। राहु ने चन्द्रमा और सूर्य से बदला लेने की ठानी। इसलिए राहु चन्द्रमा और सूर्य को समय-समय से ग्रस लेता है, निगल लेता है, इसी को चन्द्र तथा सूर्य-ग्रहण कहते हैं। आज एक छोटा विद्यार्थी भी जानता है कि पृथ्वी, सूर्य तथा चन्द्रमा के एक सिधाई में आने से ग्रहण लगता है। इसे कोई राहु नहीं ग्रसता है। पौराणिक कथाओं के आधार पर योग में राहु, ग्रहण आदि का प्रतीकात्मक वर्णन है।

"सुरभी भक्षण करत वेदमुख" सुरभी कहते हैं गाय को, वेदमुख का अर्थ ज्ञानमुख एवं श्रेष्ठमुख है। योगी अपने श्रेष्ठमुख से गाय खाता है एवं गोमांस भक्षण करता है। यह भी प्रतीकात्मक कथन है। हठयोगी अपनी जीभ को उलटकर कपाल-कुहर अर्थात तालु में लगाते हैं। ब्रह्मरंध्र के सहस्त्रसार कमल के मूल में 'योनि' नामक त्रिकोणाकार शक्ति का केन्द्र मानते हैं। यही चन्द्रमा का स्थान माना जाता है। कहते हैं कि इससे अमृत झरता है। योगी जीभ से उसी का पान करता है। इस क्रिया को योग के पारिभाषिक शब्द में 'गोमांस भक्षण' कहा जाता है। यही "सुरभी भक्षण करत वेदमुख" का तात्पर्य है। "अवधू गगन मंडल घर कीजै। अमृत झरै सदा सुख उपजै बंकनाल रस पीजै।" हठयोगप्रदीपिका में बताया गया है—"जो योगी नित्य गोमांस भक्षण करता है तथा अमर वारुणी का पान करता है उसको मैं कुलीन मानता हूं। इसे न करने वाले लोग कुलघातक हैं। यहां गो-शब्द का अर्थ जीभ है और उसे तालुमूल में प्रवेश कराना गोमांसभक्षण है जो महान पापों का नाश करने वाला है।"[1] यह हठयोगियों की धारणा है।

"घन बर्से तन छीजै" बादल बरसते हैं और शरीर भीगता है। योगियों की कल्पना है कि खोपड़ी की गगनगुफा के बादल गर्जनापूर्वक वर्षा करते हैं और योगी उसमें भीगता है। अर्थात योगी उस अनुभव-आनन्द में तरबतर हो जाता है। नाद होना गर्जना है, प्रकाश की चिमचिमाहट होना बिजली चमकना है, उसका अनुभव वर्षा है। "छीजै" के अर्थ क्षीण होना तथा छूना दोनों हैं। दोनों अर्थ योगी में लग जाते हैं। योगी योग-साधना में अपने शरीर को स्वल्पाहार देता है। इसीलिए उसका शरीर क्षीण अर्थात दुबला हो जाता है, परन्तु शरीर

---

1. गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिवेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकः॥
गोशब्देनोच्यते जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥ (हठयोग प्रदीपिका 3/47-48)

दुबला होने पर भी उसके मुख का तेज बढ़ जाता है। हठयोगप्रदीपिका में सिद्धि के आठ लक्षण बताये गये हैं—"शरीर दुबला हो जाता है, मुख प्रसन्न हो जाता है, नाद प्रकट होता है, नेत्र निर्मल हो जाते हैं, रोग का अभाव हो जाता है, वीर्य पर विजय हो जाती है, अग्नि प्रदीप्त हो जाती है तथा नाड़ी शुद्ध हो जाती है।"[1] इस प्रकार योगी का शरीर क्षीण होता है। छीजै का अर्थ छूना, स्पर्श करना एवं तरबतर होना भी है। योगी अपने अनुभव में तरबतर होता है।

"त्रिकुटी कुण्डल मध्ये मन्दिर बाजे" दोनों आंखों के ऊपर दोनों भौंहों के बीच के स्थान को 'त्रिकुटी' कहते हैं। यदि 'कुण्डल' का अर्थ कुण्डलिनी लिया जाये तो अर्थ होगा कि कुंडलिनी के पास स्थित मूलाधार चक्र से लेकर त्रिकुटी स्थित आज्ञाचक्र तक छहों चक्रों का वेधना ही त्रिकुटी कुण्डल मध्ये मन्दिर बाजना है। यदि त्रिकुटी से लेकर ऊपर गगनगुफा के गोलक को कुण्डल कहा जाये, तो गगनगुफा में होता हुआ अनाहतनाद ही मन्दिर बाजने का मतलब होगा। अर्थात गगनगुफा रूपी मन्दिर में अनाहतनाद के बाजे बजते हैं। यही अर्थ ज्यादा ठीक लगता है। "औघट अम्मर छीजै" अर्थात उस दुर्गमघाट रूपी गगनगुफा के अमृत-रस से योगी भीगता है। यहां भी छीजै का अर्थ स्पर्श करना एवं भीगना अधिक उपयुक्त लगता है।

"पुहुमि का पनिया अम्मर भरिया, ई अचरज कोइ बूझै।" पृथ्वी का पानी गरमी और हवा के संयोग से भाप बनकर आकाश में भर जाता है, इस अचरज भरी बात को कोई बिरला समझता है। इसी प्रकार नीचे पिंड के श्वास को योगी ऊपर ले जाकर गगनगुफा एवं सहस्रकमल में भर देता है जहां नाद होने लगता है तथा प्रकाश जल जाता है। इस आश्चर्य भरे विषय को कोई योगी ही समझता है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, योगिन सिद्धि पियारी।" कबीर साहेब संतों से कहते हैं कि इन योगियों को सिद्धि बहुत प्यारी लगती है। ये जनता को चमत्कार भरे काम दिखाकर उनसे ऐश्वर्य, सम्मान एवं पुजापा पाने की चेष्टा रखते हैं। यदि चुहिया को पाने के लिए पहाड़ खोदा जाये तो यह मिथ्या श्रम है। यदि हठयोग के बहुत परिश्रम के बाद केवल नादश्रवण एवं ज्योतिदर्शन फल माना जाये और लोगों को चमत्कार दिखाकर लौकिक धन एवं सम्मान पाने की चेष्टा हो, तो यह कोई विवेक की बात नहीं हुई।

---

1. वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाड़ीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्॥ (हठयोग प्रदीपिका)

"सदा रहे सुख संयम अपने" सदा रहने वाला सुख, आत्यंतिक सुख, परमानन्द, परमशांति तो अपने मन का संयम करने में है। ये षटचक्र वेधन, जीभ उलटाकर खोपड़ी का मैला पानी चाटना, खोपड़ी की ध्वनि तथा प्रकाश सब व्यर्थ का श्रम है। अनन्त आत्मिक सुख प्राप्त करने के लिए तो विवेक एवं द्रष्टा-अभ्यास द्वारा केवल अपने मन को वश में कर लेना चाहिए। जहां अपने मन का पूर्ण संयम हुआ, वहां एकरस समाधि-सुख है। सिद्धि द्वारा संसार के ऐश्वर्य और सम्मान पाने का मोह तो महा अज्ञान है। यह माया किसकी चेरी बनकर रही है! 'बसुधा आदि कुमारी' है। "यह बसुधा काहू की न भई।" संसार की माया किसके पास रहने वाली है। अर्थात संसार के सारे ऐश्वर्य और सम्मान नाशवान हैं। अतः इनके मोह को छोड़कर और मन को अपने वश में करके सच्चे अर्थ में सुखी होना चाहिए।

धर्म के नाम पर हत्या करना निंदनीय है

शब्द-83

भूला बे अहमक नादाना, जिन्ह हरदम रामहिं ना जाना॥ 1॥
बरबस आनि के गाय पछारी, गरा काटि जिव आपु लिया॥ 2॥
जीयत जीव मुर्दा करि डारे, ताको कहत हलाल हुआ॥ 3॥
जाहि माँसु को पाक कहत हो, ताकी उत्पति सुन भाई॥ 4॥
रजो बीर्य से माँस उपानी, सो माँस नपाकी तुम खाई॥ 5॥
अपनी देखि कहत नहिं अहमक, कहत हमारे बड़न किया॥ 6॥
उसकी खून तुम्हारी गर्दन, जिन्ह तुमको उपदेश दिया॥ 7॥
स्याही गई सफेदी आई, दिल सफेद अजहूँ न हुआ॥ 8॥
रोजा बाँग निमाज क्या कीजै, हुजरे भीतर पैठि मुवा॥ 9॥
पण्डित वेद पुराण पढ़ै सब, मुसलमान कुराना॥10॥
कहहिं कबीर दोउ गये नरक में, जिन्ह हरदम रामहिं ना जाना॥11॥

शब्दार्थ—बे=अरे, अबे। अहमक=जड़मति। नादाना=नादान, नासमझ। हरदम=हर सांस, हर प्राणधारी। बरबस=जबर्दस्ती, बलपूर्वक, व्यर्थ। पछारी=पैर बांधकर गिरा देना। हलाल=जायज, विहित। पाक= पवित्र। उपानी=पैदा हुआ। स्याही गई=काले बाल वाली जवानी चली गयी। सफेदी आई=उजले बाल वाला बुढ़ापा आ गया। रोजा=रमजान के महीने में नित्य दिन भर उपवास रहना। बांग=अजान, ईश्वर को पुकारना। निमाज=नमाज, मुसलमानों की प्रार्थना-पद्धति। हुजरे=हुजरा, कोठरी, उपासना करने का कमरा जो प्रायः मसजिद के पास होता है।

भावार्थ—अरे जड़मति नासमझ ! वह गहरी भूल में है जो हर प्राणधारी को राम नहीं समझता॥ 1॥ बलपूर्वक गाय को घसीट लाया, उसके पैरों को बांध दिया और बे-रहम होकर उसके गले को रेतकर काट डाला, इस प्रकार तूने खुद उसकी जान ले ली॥ 2॥ जीवित प्राणी को मुरदा कर दिया और इसे कहता है कि यह जायज काम हुआ॥ 3॥ हे भाई ! जिस मांस को तू पाक कहता है, जरा उसकी पैदाइश तो सुन॥ 4॥ वह मांस वस्तुतः रज और वीर्य से पैदा हुआ है, इसलिए वह नापाक है, परन्तु तूने उसे खा लिया॥ 5॥ हे जड़मति ! तू इसे क्यों नहीं कहता कि यह बेहद बेरहमी है और गंदी चीज खाना है। तू कहता है कि हमारे बड़ों का यह आदेश है तथा उन्होंने ऐसा किया है॥ 6॥ परन्तु ध्यान रहे, जिन्होंने तुम्हें ऐसा उपदेश दिया है इस हत्या का पाप उन पर भी जायेगा और एक दिन तुम्हारी भी गरदन कटेगी॥ 7॥ स्याही चली गयी, सफेदी आ गयी, परन्तु तुम्हारा दिल तो अभी भी सफेद नहीं हुआ॥ 8॥ ऐसे बेरहमी का काम करने वाले के लिए रोजा रहना, बांग पुकारना तथा नमाज पढ़ना क्या मतलब रखता है ! प्रार्थना की कोठरियों में बैठकर मरने से भी क्या लाभ होगा !॥ 9॥ कबीर साहेब कहते हैं कि पंडित लोग वेद-पुराण पढ़ते हैं और मुसलमान लोग कुरान पढ़ते हैं; परन्तु जिन्होंने हर प्राणधारी को राम नहीं समझा और जीव हत्या करते रहे तथा उसे धर्म बताते रहे, वे सब नरक में जायेंगे॥ 10-11॥

व्याख्या—जो धार्मिक कहलाने वाले लोग ईश्वर की प्रार्थना करते हैं और जीवों की हत्या करते हैं, कबीर साहेब कहते हैं कि यह उनकी भूल है, जो हर प्राणी को ईश्वर नहीं समझते हैं। यदि देहधारी जीवों को हटा दिया जाये तो राम-रहीम का क्या मतलब होगा ! क्या इन देहधारी जीवों के अलावा कोई राम-रहीम है ! और इनके साथ रहमदिली के व्यवहार के अलावा कोई पूजा-उपासना है ! प्रत्यक्ष राम-रहीम पर छूरी चलाना और शून्य में राम-रहीम पुकारना हद दर्जे की नासमझी है।

लोगों की अक्ल तो देखो ! ये ईश्वर के भक्त ईश्वर के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने के लिए मूक प्राणधारियों को लाकर, उनके पैरों को बांधकर और उन्हें गिराकर उनके गले पर छूरी रेतते हैं और इसके साथ निहायत रहम करने वाले रहीम का नाम लेते हैं। भला, रहम करने का स्वभाव वाला बेरहमी के काम से खुश होगा ! क्या ऐसा भी ईश्वर हो सकता है जो मासूम जानवरों की हत्या करने से खुश हो ! यह ईश्वर की व्याख्या क्रूर शैतान में क्यों कर रहे हो ! जीव-हत्या तो हराम का काम है, यह हलाल कैसे हो गया ! इसे जायज

कहें, धर्मानुकूल कहें तो अधर्म किसे कहें ! यह अन्धविश्वास कि किसी जीव की हत्या करने से कोई देव या ईश्वर खुश होता है घोर जंगलीपन है और साथ-साथ इसके नाम पर मांस खाने का लोभ है। आज के विज्ञान-युग में भी आदमी जंगलीपन से छूट नहीं पाया है। अनपढ़ ही नहीं, पढ़े-लिखे लोग भी घोर अन्धविश्वासी हैं। सभ्य और शिक्षित होने की डींग मारने वाला आदमी अभी भी मानो पत्थर-युग में है।

किसी देवता या ईश्वर का नाम लेकर जीव-हत्या करने से उसका मांस कैसे पवित्र हो गया ! मांस कैसे बनता है इसे कौन नहीं जानता। रज-वीर्य से मांस बनता है। लोग रज और वीर्य को कितनी घृणा की दृष्टि से देखते हैं। पेशाब के कतरे को कितना नापाक माना जाता है ! परन्तु उसी पेशाब से बना मांस पाक कैसे हो गया ! और फिर मांस का वर्तमान स्वरूप भी गन्दा है। इस कारण पेशाब पर न भी ध्यान दें तो कार्यरूप मांस स्वयं गन्दी चीज है।

लोग कितने जड़मति हैं ! वे स्वयं अपनी आंखों की देखी बातों पर विश्वास नहीं करते, कहते हैं कि हमारे पूर्वजों ने ऐसा फ़रमान किया है और उन्होंने खुद ऐसा किया है। हमारे पूर्वजों ने जो कुछ कहा या किया है वह सब जायज नहीं हो जायेगा। हमें यह देखना पड़ेगा कि हम जो करने जा रहे हैं वह उचित है कि अनुचित। कहा जाता है कि हमारे पूर्वज इब्राहिम ने ईश्वर के नाम पर अपने पुत्र की कुर्बानी की थी, तो वहां बेटा न कटकर एक दुम्मा भेड़ा कटकर गिर गया।[1] यह कथन ही कपोलकल्पित है। जब बेटे को छूरी से काटा जायेगा तब बेटा ही कटेगा, वहां दुम्मा भेड़ा कैसे कट जायेगा। यदि यह ठीक है और अपने पूर्वजों की लीक पर चलना है तो लोग अपने बेटे की

---

1. यह कथा बाइबिल में लोक कहावत से हटकर इस प्रकार है—
पुरानी बाइबिल के उत्पत्ति-प्रकरण के 22वें अनुच्छेद में लिखा है कि ईश्वर ने इब्राहिम की परीक्षा लेने के लिए उसको आज्ञा दी कि तुम अपने पुत्र इसहाक की होमबलि करके चढ़ा, अर्थात उसकी कुर्बानी कर। जब इब्राहीम ने परमेश्वर की आज्ञा मानकर और सूखी लकड़ियों पर इसहाक के हाथ-पैर बांधकर लेटा दिया और छूरी निकाल उसका वध कर उसकी लाश का हवन करना चाहा, तो परमेश्वर ने आवाज देकर रोक दिया और कहा कि तुम्हारी परीक्षा पूरी हुई। इब्राहीम ने सिर उठाकर देखा तो वहां झाड़ी में एक भेड़ा उलझा है। उसने उसको लाकर उसकी परमेश्वर के नाम पर होमबलि की।
उपर्युक्त कहानी ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप की कथा की याद दिलाती है। जिसमें अजीगर्त ब्राह्मण ने राजा हरिश्चन्द्र से कुछ गायें लेकर अपने पुत्र शुनःशेप का वध कर उसका हवन करना चाहा था और शुनःशेप के करुण-क्रंदन पर विश्वामित्र ने उसे बचाया था। यह कथा संक्षिप्तः कबीर दर्शन, अध्याय 4 के 'स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज' संदर्भ में दी गयी है।

कुर्बानी करें और वहां अपने आप दुम्मा भेड़ा कट जाये तो बात मान ली जाये। किसी ने कहा है—

जो तू दावा करे दावा मुसलमानी करे।
अपने बेटे की खुदा के नाम कुर्बानी करे॥

वस्तुतः कुर्बानी तो किसी की भी नहीं करनी चाहिए। कुर्बानी करनी चाहिए अपने मन के मोह की। कुर्बानी का असली अर्थ है अहंता-ममता का त्याग। जीव-हत्या करने वाले तथा जीव-हत्या का आदेश देने वाले दोनों अपराधी हैं, परन्तु धर्म के नाम पर जीव-हत्या करने वाले तो घोर अपराधी हैं।

लोगों के काले बाल उजले हो जाते हैं, परन्तु यदि उनके मन नहीं उजले हुए तो बाल उजले होने से क्या हुआ ! यदि आदमी में प्राणियों के प्रति दया-रहम का भाव एवं बरताव न आये तो उसका शारीरिक बुढ़ापा होने से क्या हुआ। मनुष्य का मन वृद्ध होना चाहिए। अगर दिल पाक नहीं है तो रोजा, बांग और नमाज बेकार हैं। जिसका दिल बेरहम है वह धार्मिक क्रियाकांड एवं बाह्याचार करके क्या फल पायेगा ! घण्टों प्रार्थना की कोठरी हुजरा में बैठकर इबादत करना बेकार है, अगर दिल में दया नहीं है। "हुजरे भीतर पैठि मुवा" यह तो प्रार्थना की कोठरी में बैठकर केवल जड़मति होना है।

कबीर साहेब कहते हैं कि मैं केवल मुसलमानों को नहीं, किन्तु सबको कहता हूं। हिन्दू पंडितों को भी देखता हूं कि वे वेद-पुराण पढ़ते हैं और भी अपने अनेक धर्मग्रन्थ पढ़ते हैं, मुसलमान लोग कुरानशरीफ तथा अन्य अनेक किताबें पढ़ते हैं। यह सब ठीक है। धर्मग्रन्थ पढ़ना चाहिए। धर्मग्रन्थ पढ़ने का मतलब यही होना चाहिए कि हमारे ख्याल ठीक हों, विचार अच्छे हों, हमारे दिल में दया और रहम का राज्य हो। परन्तु सारे धर्मग्रन्थ पढ़ने के बाद यदि जबान और हाथों में छूरी है तो धर्मग्रन्थ पढ़ने का क्या मतलब है ! कबीर साहेब के सामने हिन्दू और मुसलमान कहलाने वाले लोग थे, इसलिए इन दोनों के नाम उन्होंने लिये; परन्तु उनका कथन सार्वभौमिक है। साहेब कहते हैं कि वे सभी लोग नरक में जायेंगे जो हर प्राणी को राम-रहीम न समझकर उसके साथ दुर्व्यवहार करते हैं। नरक की कोई अलग जगह नहीं है, मन की मलिनता ही नरक है और उसके परिणाम में जन्म-जन्मांतरों तक दुख पाना निश्चित है। जो दूसरों को दुख देने की आज्ञा देगा या स्वयं दुख देगा वह देर-सबेर दुख पायेगा। "जो सिर काटे आन कै, अपनो होय कटाय।"